श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके संरक्षक

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स,
संरक्षक, अध्यक्ष एवं प्रधान ट्रस्टी, सदर मेरठ

(२) श्रीमती सौ० फूलमाला देवी, धर्मपत्नी
श्री ला० महावीरप्रसाद जी जैन, बैंकर्स, सदर मेरठ।

(३) वर्णीसंघ ज्ञानप्रभावना समिति, कार्यालय, कानपुर

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला के प्रवर्तक महानुभावों की नामावली —

१	श्रीमान्	लाला लालचन्द विजयकुमार जी जैन सर्राफ,	सहारनपुर
२	,,	सेठ भवरीलाल जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
३	,,	कृष्णचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
४	,,	सेठ जगन्नाथ जी जैन पाण्ड्या,	झूमरीतिलैया
५	,,	श्रीमती सोवती देवी जी जैन,	गिरिडीह
६	,,	मित्रसैन नाहरसिंह जी जैन,	मुजफ्फरनगर
७	,,	प्रेमचन्द ओमप्रकाश जी जैन, प्रेमपुरी,	मेरठ
८	,,	सलेखचन्द लालचन्द जी जैन,	मुजफ्फरनगर
९	,,	दीपचन्द जी जैन रईस,	देहरादून
१०	,,	बारूमल प्रेमचन्द जी जैन,	मसूरी
११	,,	बाबूराम मुरारीलाल जी जैन,	जगाधरी
१२	,,	केवलराम उग्रसैन जी जैन,	ज्वालापुर
१३	,,	सेठ गैंदामल दगड़ू शाह जी जैन,	सनावद
१४	,,	मुकुन्दलाल गुलशनराय जी, नई मंडी,	मुजफ्फरनगर
१५	,,	श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्द जी जैन,	देहरादून
१६	,,	जयकुमार वीरसैन जी जैन, सदर	मेरठ
१७	,,	मंत्री जैन समाज,	खण्डवा
१८	,,	बाबूराम अकलंकप्रसाद जी जैन,	तिस्सर
१९	,,	विशालचन्द जी जैन, रईस	सहारनपुर
२०	,,	बा० हरीचन्द जी ज्योतिप्रसाद जी जैन, ओवरसियर,	इटावा
२१	,,	सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलाल जी जैन, संघी,	जयपुर
२२	,,	मन्त्राणी, दिगम्बर जैन महिला समाज,	गया
२३	,,	सेठ सागरमल जी पाण्ड्या,	गिरिडीह
२४	,,	बा० गिरनारीलाल चिरंजीलाल जी, जैन	गिरिडीह
२५	,,	बा० राधेलाल कालूराम जी मोदी,	गिरिडीह
२६	,,	सेठ फूलचन्द बैजनाथ जी जैन, नई मण्डी,	मुजफ्फरनगर

२७	श्रीमान्	सुखबीरसिंह हेमचन्द जी सर्राफ,	बड़ौत
२८	,,	गोकुलचंद हरकचंद जी गोधा,	लालगोला
२९	,,	दीपचंद जी जैन ए० इंजीनियर,	कानपुर
३०	,,	मंत्री, दि० जैनसमाज, नाई की मंडी,	आगरा
३१	,,	संचालिका, दि० जैन महिलामंडल, नमक की मंडी,	आगरा
३२	,,	नेमिचन्द जी जैन, रुड़की प्रेस,	रुड़की
३३	,,	मक्खनलाल शिवप्रसाद जी जैन, चिलकाना वाले,	सहारनपुर
३४	,,	रोशनलाल के० सी० जैन,	सहारनपुर
३५	,,	मोलहड़मल श्रीपाल जी, जैन, जैन वेस्ट	सहारनपुर
३६	,,	बनवारीलाल निरंजनलाल जी जैन,	शिमला
३७	,,	सेठ शीतलप्रसाद जी जैन,	सदर मेरठ
३८	,, ❀	गजानन्द गुलाबचन्द जी जैन, बजाज	गया
३९	,, ❀	बा० जीतमल इन्द्रकुमार जी जैन छाबड़ा,	झूमरीतिलैया
४०	,, ❀	इन्द्रजीत जी जैन, वकील, स्वरूपनगर,	कानपुर
४१	,, ❀	सेठ मोहनलाल ताराचन्द जी जैन बड़जात्या,	जयपुर
४२	,, ❀	बा० दयाराम जी जैन आर. एस. डी. ओ.	सदर मेरठ
४३	,, ❀	ला० मुन्नालाल यादवराय जी जैन,	सदर मेरठ
४४	,, X	जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमार जी जैन,	सहारनपुर
४५	,, X	जिनेश्वरलाल श्रीपाल जी जैन,	शिमला

नोट:—जिन नामों के पहले ❀ ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत सदस्यताके कुछ रुपये आ गये हैं, शेष आने हैं तथा जिस नामके पहले X ऐसा चिन्ह लगा है उनकी स्वीकृत सदस्यता का रुपया अभी तक कुछ नहीं आया, सभी बाकी है।

शान्तमूर्ति न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी "सहजानन्द" महाराज
द्वारा रचित

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान ॥ १ ॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥ २ ॥

सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ॥ ३ ॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ॥ ४ ॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम।
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥ ५ ॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन प्रथम भाग

तज्जयतु परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥१॥

पुरुषार्थसिद्ध्युपायका मगल आचरण—यह अमृतचन्द्रजी सूरि कृत पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थका मंगलाचरण है। पुरुषार्थसिद्ध्युपायका अर्थ है पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय। पुरुषार्थ है रत्नत्रय। ससारके सकटों से छूटनेका जो उद्यम है वास्तवमें पुरुषार्थ तो यही है। जिसमें पुरुषका वास्तविक अर्थ सिद्ध हो, प्रयोजन सिद्ध हो उसे पुरुषार्थ कहते हैं। पुरुषार्थ नाम है रत्नत्रयका। उसकी सिद्धिका उपाय इस ग्रन्थमें बताया है। यद्यपि पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय तो पूर्णरत्नत्रय है। जिन-मुनिजनोंके द्वारा ग्रहण किया गया सम्यक्चारित्र मार्ग है किन्तु इस ग्रन्थमें श्रावकोंके लिए उपदेश दिया गया है। श्रावकोंके द्वारा भी जो आचरण किया गया रत्नत्रय है वह भी मोक्षका मार्ग है। एक साक्षात मार्ग और एक परम्परामोक्षमार्ग। गृहस्थजन साक्षात् मोक्षका मार्ग नहीं पा सकते। वे परम्पराका ही मोक्षमार्ग धारण करते हैं अथवा मूलतः मार्ग परम्परासे ही गिना जाता है।

पुरुषार्थसिद्धिका प्रारम्भ—सम्यग्दर्शन भी एकदेश मोक्षका मार्ग है। चाहे व्रत भी न हुआ हो, अविरत सम्यग्दृष्टि हो क्योंकि मोक्षमार्ग है भावात्मक। वह कोई द्रव्यरूप नहीं है। जैसे कि सड़क होती है, उस पर चलते हैं किन्तु वह एक स्वाधीनभाव है। अपने आपके सहज ज्ञायकस्वरूपका दर्शन होना यह भी मुक्तिका उपाय है। तो मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शनसे प्रारम्भ हो जाता है। हां, किसी एक ऐसी दृष्टिसे कि सम्यग्दर्शनमें तो मोक्षका उपाय दिखाया गया है, अब उसपर जो चलता है उसका नाम है चारित्र। तो उस चारित्रकी दृष्टिसे मोक्षका मार्ग पंचमगुणस्थानसे शुरू होता है। सम्यग्दर्शनमें जान लिया कि यह मार्ग है पर उस मार्गपर चलने पर कुछ दृष्टिमें स्थिर होना, आत्मदर्शनमें प्रगति करना, इस प्रकार यदि मोक्षके मार्गपर चलना अर्थ किया जाय तो वह एक दार्शनिकके व्रतसे प्रारब्ध है।

सर्ववेदी परम तेजका जयवाद—पुरुषार्थ सिद्धिके उपायके प्रसगमें श्री अमृतचन्द्र जी सूरि उस परम तेजका जयवाद कर रहे हैं कि जो पुरुषार्थ की सिद्धि होने पर प्रगट हुआ करता है वह परमज्योति जयवंत हो, जिस ज्योतिमें एक साथ अनन्त पर्यायोंसे सहित समस्त पदार्थ ऐसे प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे कि दर्पणके तलमें दर्पणके समक्ष जो आया हो वह सब प्रतिबिम्बित होता है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान का स्वभाव जानना है। जाना वह जाता है जो कि सत हो। तब जितने भी सत हैं वे सबके सब ज्ञान में अवश होकर प्रतिबिम्बित होते हैं। यदि कुछ पदार्थ प्रतिबिम्बित हों कुछ न हों, ऐसी बात रहे तो इसका अर्थ यह है कि अभी ज्ञानमें कलंक लगा है, कुछ मलिन है तभी वह सब सत्को नहीं जानता। ज्ञानको जाननेके लिए यह जरूरी नहीं है कि सामने पदार्थ हो तब जाना जाय। यह तो छद्मस्थ जीवोंमें जिनके मतिज्ञान और श्रुतज्ञान है उनको मतिज्ञानमें यह बात बनती है कि सामने पदार्थ हो तो उसे जाने उस समय भी वह मतिज्ञान ज्ञानके द्वारा जानता है, सामने है इसलिए नहीं जानता किन्तु मतिज्ञानकी उत्पत्तिका निमित्त ही ऐसा है। तो ज्ञानके लिए यह जरूरी नहीं है कि सामने कोई पदार्थ हो तो उसे जाने। ज्ञानका काम जानना है और वह सत्को जानता है। तो कहीं भी कोई सत हो वह सब ज्ञानमें ज्ञात

हो जाता है। चाहे वह भूतकालमें किसी पर्यायमें सत् हो। सत् जो कि सदैव रहता है वह अतीतकालमें किसी पर्यायरूपमें पदार्थ था, जिस किसी पर्यायमें पदार्थ होगा, जिस किसी रूप पर्यायमें पदार्थ वर्तमान में है उन सबको ज्ञान जान लेता है, हम आप नहीं जान पाते। तो यह ज्ञानावरण कर्म लगा है उसके उदयमें ऐसा होता है, पर ज्ञानके स्वरूपकी ओरसे कोई प्रतिबंध नहीं है कि ज्ञान इतनेको जाना करे, इतने को न जाने। ज्ञानका स्वभाव समस्त सत्को जानने का है।

ज्ञानमे त्रिकालज्ञताका स्वभाव—यद्यपि वर्तमान परिणमनको ही लोकमें सत् कहा करते हैं कि वह है मगर सत् था यह भी तो 'सत्य' है। अतीत कालमें जो परिणमन हो चुका है वह यद्यपि आज नहीं है फिर भी किसीके ज्ञानमें वह सत् रूप प्रतिभास होता है और हम आपके ज्ञानमें भी अतीत की बात सत रूपसे प्रतिभात होती है। १०-२० वर्ष पहिले जो कुछ बात हुई है, जाना है, वह आज यद्यपि नहीं है तब भी हम जानते हैं क्योंकि वह सत् था। तो जैसे 'था' वाला सत् वर्तमानमें नहीं है फिर भी ज्ञानमें ज्ञात होता है इसी प्रकार 'होगा' वाला सत भी वर्तमानमें नहीं है। फिर भी ज्ञानका स्वभाव ऐसा है कि वह भी ज्ञानमें ज्ञात होता है। और कुछ इस दृष्टिसे भी परख लें कि हम आप यद्यपि भविष्यकालकी बातको जानते नहीं हैं लेकिन अंदाज रूपसे प्रोग्रामरूपसे सम्भावना रूपसे हम भविष्यकी बातको तो जानते हैं, अब वह सत्य निकले या न निकले यह एक दूसरा प्रश्न है, पर आदतकी बात बतला रहे हैं कि ज्ञानमें ऐसी आदत है स्वभाव है कि वह अतीतको भी जाने, वर्तमानको भी जाने और भविष्यको भी जाने। अब अतीतसे अतीतको कितना जाने ? इसकी सीमा ज्ञानमें नहीं की जा सकती है क्योंकि ज्ञाननेत्र पदार्थ में दौड़ दौड़कर, लग लगकर, छू छू कर नहीं जानता जिससे कभी ऐसा कह दिया जाय कि ज्ञान जहा तक छू सकता है वहां तक ज्ञान जाने। ज्ञान तो अपने आपके आत्मप्रदेशोंमे ही अवस्थित रहता हुआ, रंचमात्र भी प्रदेशोंसे बाहर न जाकर अपने ज्ञानस्वभावके कारण जानता रहता है। तब इस विधिसे जाननहार ज्ञानके लिए सीमा नहीं बन सकती। तब अतीतमें जानन जो कुछ होता है अनन्त वह सब प्रतिबिम्बित होता है।

अनन्तका अनन्तरूपमे ज्ञान—यहा यह शका की जा सकती है कि वह सारा अनन्त प्रतिबिम्बित हो गया तो उसका अन्त समझना चाहिए। भगवान सर्वज्ञदेव ने अतीतको सब जान लिया तो उस सबसे पहिले तो कुछ नहीं है। तब उसकी आदि हो जायेगी लेकिन आदि यों नहीं बन सकती कि सर्वज्ञके ज्ञानमें वह अनन्त अनन्तरूपसे ही प्रतिभात है। हम ऐसे विशिष्ट विशुद्ध ज्ञानको प्रभुके अनन्त ज्ञानको अपने ज्ञानसे मापकर उसका स्वरूप जानना चाहें तो नहीं जान सकते। जो बहुत होड़ मचाता है और अपने बड़े पैर फैलाता है तो उससे उसे सिद्धि नहीं होती है बल्कि अनर्थ ही कुछ हो जाय। हम अपने ज्ञानसे सर्वज्ञदेवके ज्ञान को मापें तो न तो ज्ञानकी महिमा हमारे ज्ञानमें आ सकती है और न प्रभुकी वह वास्तविक प्रभुता हमारे ज्ञानमें आ सकती है। सर्वज्ञका ज्ञान अथवा यह परमज्योति, यह ज्ञानस्वभाव समस्त अनन्त पर्यायोंसे सहित समस्त गुण समस्त द्रव्योंको एक साथ स्पष्ट जानता है, इसके लिए अनेक जगह आवलेका दृष्टान्त दिया गया है। जैसे हाथपर रखा हुआ आंवला स्पष्ट ज्ञात होता है। आंवले का दृष्टान्त यों दिया कि उसकी समस्त कलिकायें जो करीब ६ हुआ करती हैं वे सबकी सब हाथ पर ज्ञात हो जाती हैं अथवा जैसे हाथपर रखा हुआ आंवला स्पष्ट ज्ञात हो रहा है या अन्य कोई पदार्थ ले लो ऐसे ही स्पष्ट सर्वज्ञके ज्ञानमें सारा विश्व प्रतिबिम्बित होता है।

विशुद्ध ज्ञानमे निर्विकल्पता—इस प्रसगमें एक चर्चा की जा सकती है कि सर्वज्ञके ज्ञानमें क्या यह

सब भी प्रतिभात होता है कि जम्बूद्वीप एक लाख योजनका है, लवण समुद्र दो लाख योजनका है, यह इतनी मापका है अथवा मध्यलोकमें इतने चैत्यालय हैं या इस नगरमें इतने घर हैं. क्या यह सब भी प्रतिभात होता है ? इस सम्बन्धमें यह जानना चाहिए कि कोई संख्या बताना, माप बताना आदिक ये सब आपेक्षिक चीजें हैं, कल्पनामें लाई हुई बात है। यद्यपि कल्पनामें लाई हुई ये सब बातें सही उतरती हैं, गणितके अनुसार हैं लेकिन किसी भी वस्तुको निरखकर जैसे यह मेरी है, यह उसकी है यों कहना मनोभावना है। इसी प्रकार फुट, हाथ, कोश, मील, मीटर आदिका माप भी मनोभाव है। जिसको देख कर एक परिचित व्यक्ति जान सके, अपरिचित न जान सके वह बात काल्पनिक समझिये। जैसे किसी एक मकानको देखकर जर्मनी अथवा रूस आदिका कोई भी पुरुष यह तो जानता रहेगा ना कि यह मकान है इतना बड़ा है, मजबूत है, ऐसे रंगका है कोई भी जान लेगा मगर यह मकान अमुक साहबका है यह बात तो पड़ौसी या परिचित ही जानेगा। तो यह मकान इसका है, यह बात उस मकानमें न मिलेगी। उसमें न वह स्वरूप है। मकानमें मकानका स्वरूप है, यह तो एक दृष्टान्त की बात है। अभी विशुद्ध ज्ञानकी बात लीजिए तो ज्ञानके शुद्ध प्रवर्तनमें यह भी कल्पना नहीं उठाई जा सकती है कि यह इतने हाथ लम्बा है, इतने मील लम्बा है। ज्ञानने तो उस पदार्थको जैसा है वैसा जान लिया है और जिस पर्यायमें परिणत हैं उस पर्यायपरिणतिको जान लिया, पर यह इतना बड़ा है, यह उससे छोटा है, यह इतने मापका है ये सब श्रुतज्ञानकी बातें हैं।

मतिज्ञानकी निर्विकल्पताका उदाहरण—अथवा कुछ अपन समझनेके लिए ऐसा जान लें कि जैसे मतिज्ञान निर्विशेषरूपसे जानता है इसी प्रकार केवलज्ञान भी निर्विशेषरूपसे जानता है। जैसे केवलज्ञान को निर्विकल्प बताया है इसी प्रकार मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानको भी निर्विकल्प बताया है। केवल श्रुतज्ञान ही सविकल्प ज्ञान है और जितनी कल्पनाएँ उठती हैं वे सब श्रुतज्ञानमें उठती हैं। यह अमुकका रिश्तेदार है यह बात सत्य नहीं है। यह आपकी कल्पनामें बैठी हुई बात है। किसी भी पदार्थका माप होना कि यह दो हाथ लम्बी चीज है, यह स्वरूप इस पदार्थमें नहीं पड़ा हुआ है। पदार्थमें जो स्वरूप पड़ा हुआ है वह सबको एक समान ज्ञात होगा। भारतीय लोग इसे दो हाथका कहेंगे तो अन्य जगहके लोग इसे तीन फिटका कहेंगे तो कहीं के लोग सेन्टीमीटर वगैरहमें कहेंगे। यदि वस्तुमें वह स्वरूप वैसा होता तो जितने लोग जानते हैं उन सबको एक समान प्रतिभान होता। पहिले तो यह जान लिया है कि रिश्तेदार आदिक ये सब काल्पनिक हैं। जैसे हम लोग जानते हैं कि मकान मेरा है यह मेरा अमुक है यह बात यदि सर्वज्ञके ज्ञानमें भी ज्ञात हो जाय तो वह परमार्थ हो जायेगी। रजिस्ट्री से भी बढ़कर रजिस्ट्री हो जायेगी।

आगमका प्रणेतृत्व--अब रही यह बात कि आगममें जो यह वर्णन है कि जम्बूद्वीप अधोलोक मध्यलोक आदिक का इतना इतना विस्तार है यह विस्तारका बताना किसकी देन है? मूल निमित्तसे प्रभुकी। प्रभुकी जो दिव्यध्वनि खिरती है उस दिव्यध्वनिको एकमतसे तो निरक्षर माना गया है। दिव्यध्वनिमें कोई अक्षर नहीं, उस निरक्षरी दिव्यध्वनिको सुनकर प्राणी अपनी बुद्धिके अनुसार उसको समझते हैं अथवा ऐसा अतिशय समझिये कि जो जितने क्षयोपशम वाला है वह अपने क्षयोपशमके अनुसार उसका उतना मतलब जान जाता है। जैसे केवलज्ञान एक महान ज्ञान है तो उतना महान न सही, उतना अनन्त और पूर्ण न सही, लेकिन अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानकी भी महिमा कम नहीं है। जैसे केवलज्ञानी पुरुष भूत भविष्यकी बात निर्विकल्पतासे जान लेते हैं इसही प्रकार कुछ सीमामें अवधिज्ञान और

मनःपर्ययज्ञानी भी जान लेते हैं और अवधिज्ञानका विषय तो सारा लोक बताया गया है। सर्वावधिज्ञान का विषय समस्त लोक है और ऐसे ऐसे लोक ऐसे ऐसे मूर्तपदार्थ यदि इससे भी असंख्यातगुने होते तो वह भी सर्वावधिज्ञानका विषय बन जाता है। इन ज्ञानोंकी भी महिमा कम नहीं है और फिर भी जिनके मतसे दिव्यध्वनि अक्षरमय है तो भी दिव्यध्वनिका खिरना केवलज्ञानकी पर्यायसे भिन्न चीज है। ऐसा एक निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है कि विशिष्ट केवलज्ञानीके देहसे ऐसी विशिष्ट दिव्यध्वनि निकलती है जो कि द्वादशागके विषयका प्रतिपादन करने वाली है। ऐसा होते हुए भी केवलज्ञानके परिणमनसे यह परिणमन भिन्न है। केवलज्ञान निर्विकल्प है और यह ध्वनि सविकल्पके विषयका भी प्रतिपादन करने वाली है।

निर्विकल्पतामें नवजातशिशुके ज्ञानकी एक झाकी—केवलज्ञानकी निर्विकल्पताका अंदाजा करने के लिए यों समझिये कि जैसे तुरन्तका जाया हुआ पुत्र कमरेमें सब कुछ निरखकर भी कुछ भी विकल्प नहीं कर पाता कि यह पीला है, यह बड़ा है जैसे वह विकल्प नहीं करता, जानता तो है ही। यह एक मात्र दृष्टान्त दिया है। पूर्णरूपसे न खोज करना कि क्या उस बालकका ज्ञान निर्विकल्प हो गया? केवलज्ञान समस्त पदार्थोंके गुण और पर्यायोंको जानता तो है पर उसमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं करता। अतएव सब कुछ जानकर भी उनके ज्ञान द्वारा न तो यह व्यवस्था बनाई जा सकती है कि यह इतना बड़ा है, इतना चौड़ा है और न यह व्यवस्था बनायी जा सकती कि यह इसके बाद है, यह इसके बाद है।

क्षेत्रकृत कालकृत विकल्पका भी विशुद्ध ज्ञानमें अभाव—यद्यपि जो चीज जिसके बाद है उस ही रूपसे अवस्थित जाना गया है लेकिन उस निर्विकल्पज्ञानमें यह विकल्प न होगा कि यह इसके बाद है। जैसे नवजातशिशुको वे सब पदार्थ वैसे ही ज्ञात हो रहे हैं जो यहा हैं, जो जिसके बाद हैं, जो जिस जगह स्थित हैं किन्तु उसके ज्ञानमें यह विकल्प तो नहीं होता कि यह पदार्थ इसके बाद है। यों ही केवलज्ञानमें भी क्षेत्रकृत यह विकल्प नहीं होगा कि यह चीज इसके बाद है और जैसे क्षेत्रकृत विकल्प नहीं होता, इसी तरह कालकृत विकल्प भी न होगा। जब केवलज्ञान समस्त सतको एक साथ ग्रहण करता है और साथ ही निर्विकल्परूपसे है तो उस केवलज्ञानमें यह विकल्प नहीं सम्भव है कि इसके बाद अब यह पर्याय होगी इसके बाद यह पर्याय होगी। यद्यपि जान गए वैसा ही, पर यह विकल्प श्रुतज्ञानका है।

परात्पर परमज्योतिका जयवाद दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशागके पाठी गणधर देवने जो व्याख्यान किया है वह सब व्याख्या आगमरूपमें है, हम आपको प्राप्त है और उस ध्वनिको समझने वाले वे गणधर देव एक अपनी ही महिमाके थे, उससे भी परात्पर केवलज्ञानके स्वरूपकी बात चल रही है कि वह उत्कृष्ट ज्योति कितनी निर्विकल्प है और निर्विकल्प है इसी कारण समस्त सतको जानने वाली है, ऐसी उत्कृष्ट ज्योति जयवंत हो जिसमें रंचमात्र भी खेद नहीं है, परम आनन्दका धाम है। ऐसी परमज्योति जयवंत होओ। यदि जयतुकी जगह जयति करा जाय तो इसका अर्थ है कि वह परमज्योति जयवंत होती है। ऐसी उस परमज्योतिका स्मरण करते हुए पुरुषार्थसिद्ध्युपादके रचयिताका जो कुछ वक्तव्य है उसे इसके आगे कहेंगे।

श्रेय स्वरूपका जयवाद—इस आत्माका श्रेयस्कर जो पद है उस पदका यहा जयवाद किया है। किसी तीर्थंकरको या अन्य महापुरुषका नाम लेकर गुणानुवाद नहीं किया। इससे ग्रन्थाकारकी परीक्षा प्रधानता सिद्ध होती है। यद्यपि किसी तीर्थंकरका नाम लेकर भी नमस्कार करते तो कोई दोष न था, विपत्ति न थी, वह भी मगलाचरण है और स्वरूपभक्ति है, फिर भी एक आध्यात्मिक मर्मके प्रणेता

अमृतचन्द्रजी सूरि अध्यात्मरुचि होनेके कारण एक अन्तरतत्त्वका जयवाद करते हैं और यह अन्तस्तत्त्व पर्यायदृष्टिसे तो प्रभुसे सम्बन्धित होकर नमस्कारमें आया है, किन्तु द्रव्यदृष्टिसे एक अत:परमज्योति को नमस्कार किया है, जो इसका स्वरूप होता है वह व्यक्तिसे बाधा हुआ नहीं होता। यद्यपि व्यक्तियोंको छोड़कर सामान्य स्वरूप अन्य कुछ नहीं है, परमज्योति अन्य कुछ नहीं है, लेकिन जब केवल उस ज्ञान-स्वभावका स्तवन हो तो वहां केवल ज्ञानस्वरूप ही आता है, व्यक्तिसे बँधा हुआ ध्यानमें नहीं आता। ऐसी उस परमज्योतिका जयवाद किया है।

ज्ञेय-ज्ञायक भावमें कर्तृत्वके अभावकी झांकी—इसमें जो दर्पण का दृष्टान्त दिया है कि जैसे दर्पणमें पदार्थकी पंक्तियां, पदार्थ समूह एक साथ प्रतिबिम्बित होता है इस दृष्टान्तमें भी अनेक मर्मोंका संकेत होता है। जैसे दर्पण अपने स्थानको छोड़कर पदार्थके पास जाकर अपनेमें प्रतिबिम्ब लेता है लेकिन दर्पण अपने ही स्वरूपमें स्वच्छ रहकर अपनेमें अपना प्रतिबिम्ब लेता है और वह जिस पदार्थको प्रतिबिम्ब बनाता, जिसका प्रतिबिम्ब आता है उसको आकार सदृश दर्पण अपना प्रतिबिम्ब बनाता है। वह पदार्थ पर जबरदस्ती नहीं करता कि हम गुणोंमें झलक ही जावें किन्तु दर्पण का स्वभाव है कि उसमें पदार्थ प्रतिबिम्बित हो जाते हैं, इसी प्रकार यह परमज्योति पदार्थके पास जा जाकर उन्हें प्रतिबिम्ब नहीं देता है किन्तु यह ज्योति तो अपने आत्माके आश्रयमें ही रहती है। उसका ऐसा स्वभाव है कि जो सत् है वह सब इसमें प्रतिबिम्बित हो जाय।

दर्पणके दृष्टान्तमें दार्ष्टान्तिकी दो खूबियोंकी झलक—यहां दर्पणका दृष्टान्त देनेसे उसमें दो तत्त्वोंका मर्म आया। जैसे दर्पण पदार्थोंपर जबरदस्ती नहीं करता कि तुम हमारेमें झलक ही जावो, इसी तरह यह ज्ञानशक्ति यह परमज्योति पदार्थपर जबरदस्ती नहीं करता है कि तुम हममें झलक ही जावो। बल्कि यदि ज्ञानरूपमें कल्पनारूपमें जबरदस्ती करने लगे कि मुझमें यह पदार्थ झलक ही जाये तो न झलकेगा अर्थात् जब यह आत्मा जानजानकर पदार्थोंको जानना चाहता है तो चूँकि यह राग भरी चेष्टा है अतएव वह सर्वज्ञ नहीं बन सकता। दूसरा मर्म यह आता है कि दर्पण केवल अपने आपमें प्रतिबिम्बरूप से परिणमता है। पदार्थ नहीं परिणमते। पदार्थका कर्तव्य नहीं है दर्पणमें प्रतिबिम्ब कर देनेका और दर्पण का कर्तव्य नहीं है किसी पदार्थको अपना लेनेका, पदार्थ पदार्थकी जगह है, दर्पण दर्पणकी जगह है। ऐसा निमित्तनैमित्तिक योग है और ऐसा दर्पणका स्वभाव है कि उसमें प्रतिबिम्ब आ जाता है। इसी प्रकार आत्मा पदार्थका कुछ नहीं करता है, आत्मा आत्माके स्थानमें है, पर जैसे अन्य पदार्थको निमित्त करके अर्थात् विषय बनाकर जो ग्रहण होता है उसके आकार ज्ञात हुआ है तो जानन बना है ऐसा विशुद्ध जानन जिस ज्योतिमें हुआ करता है वह ज्योति जयवंत हो।

ज्ञायकस्वरूपकी मंगलता—जो सर्वोत्कृष्ट पदार्थ है, मंगलभूत है, पापोंको गला दे, समस्त सुखोंको ला दे, जो लोकमें उत्तम है, जिसका शरण गहना ही वास्तविक शरण है ऐसा यह शुद्ध ज्ञायकस्वरूप ही ज्ञानी संत पुरुषके एक ही बारमें, एक ही नजरमें आ जाता है और जिसे इस सर्वोत्कृष्ट शरणभूत ज्ञायक-स्वरूपका परिचय हुआ है अर्थात् मात्र जानन परिणमनमें जो अनुभवन होता है वह अनुभवन जिसे जगा है, राग, द्वेष, मोहके विकल्प हटकर केवलज्ञाता रहनेमें जिसे आनन्दका अनुभव हुआ है उस अनुभवका स्वाद लेनेके बाद उस ज्ञानीको फिर उससे कम बात सुहाती नहीं है और यही कारण है कि ज्ञानी पुरुषों को विषय सुखोंमें रुचि नहीं होती, ऐसी यह परमज्योति जयवंत हो अर्थात् मुझमें भी विराजमान ज्ञायकस्वरूप पूर्णविकसित हो। राग, द्वेष, मोहसे रहित होकर केवल इस ज्योतिका ही विलास हो ऐसी

परमज्योति को नमन करके अब आचार्यदेव अनेकान्तको नमस्कार करते हैं।

ज्योतिर्विज्ञानके उपायको नमन—देखिये उस ज्योतिको जाननेका जो उपाय है अब उस उपायको नमस्कार किया जा रहा है। आज्ञाप्रधान पद्धतिमें इसके मुकाबलेमें तीर्थंकर देवको नमस्कार किया जाय और फिर शास्त्रको नमस्कार किया जाय, यह पद्धति है और अध्यात्मदृष्टिकी यहा यह पद्धति प्रदर्शितकी गई है कि परमज्योतिको नमस्कार करके फिर परमज्योतिके परिचयके उपायभूत स्याद्वादको नमस्कार किया है जिसके प्रसादसे परमज्योति पूर्ण विकसित हो जाय इस प्रकार पूर्ण मगलाचरण किया है। अब इस तीसरे छन्दमें उस परमज्योति पर अधिकार पानेके लिए उसके परिचयका कारणभूत जो स्याद्वाद है उसे नमस्कार किया जा रहा है।

परमागमस्य बीजं निषिद्धजात्यन्धसिन्धुरविधानम्।
सकलनयविलसितानां विरोधमथनं नमाम्यनेकान्तम् ॥२॥

अनेकान्तको प्रणमन—अब उस अनेकान्तको नमस्कार करते हैं, जो परम आगमका बीजभूत है। यद्यपि अनेकान्तका प्रयोजन और फलकी दृष्टिसे अनेकान्तकी भी दो श्रेणिया बन जाती हैं, एक तो वह प्रथम पद्धति जिसमें पदार्थ अनेकान्तात्मक दिखते हैं। पदार्थ अनेक धर्म वाला है, अनित्य है, नित्य है, एक है, अनेक है, यों नाना धर्मरूप पदार्थ ज्ञानमें आये ऐसे पदार्थको अनेकान्त कहते हैं। लेकिन यह समझियेगा कि हम पदार्थोंको अनेकान्तात्मक जानते ही रहें, ऐसी बराबर हम चर्चा करते ही रहें तो हम को निराकुलता कहा मिलेगी? विकल्प ही किया, बहुत बहुत चर्चावोंमें ही तो रहे। पदार्थ नित्य भी है, अनित्य भी है और और भी जितनी बातें पदार्थोंके सम्बन्धमें जान ली जायें उन समस्त धर्मोंकी चर्चा करते रहनेमें आखिर निर्विकल्प अनुभव कहा जगेगा? तब अनेकान्तका यह अर्थ लगायें कि ऐसी स्थिति मिल जाना कि 'एक अपि अन्त न विद्यते स अनेकान्त' जहां एक भी धर्म उपयोगमें नहीं रहे। पहिले अनेकान्त धर्म उपयोगमें रहे वह है ज्ञानमचपर एक अपना विस्तार बनाने की रीति। जब अनेक धर्मोंका ज्ञान भली प्रकार हो गया, धर्मका परिचय भी बन गया अब तो वह स्थिति चाहिए कि केवल एक अद्वैतस्वरूप ही अनुभवमें रहे, पदार्थगत धर्म अब अनुभवमें नहीं आये, उपयोगमें नहीं आये। तब आखिरी स्थिति ऐसी बनती है कि जहां एक भी धर्म अब नहीं है ऐसी स्थिति हो जाती।

निर्विकल्प स्थितिमें पहुचनेका दार्शनिक यत्न—देखिये सभी दर्शनोंने यह कोशिश की है कि हम उस पदवीमें पहुच जायें जहा एक भी धर्म दृष्टिमें न रहे, अर्थात् कोई एक खण्डतत्त्व ज्ञानमें न रहे, अद्वैत ही उपयुक्त रहे लेकिन उस खण्डतत्त्वको पहिचानने लिए जो पद्धति चाहिए थी उस पद्धतिके न माननेसे उनका वह अखण्ड तत्त्व ब्रह्माद्वैत वह केवल एक कहना मात्र रह गया और वह कहना मात्र यों रह गया कि उस सिद्धान्तमें कोई पहिले बोले तो अद्वैत ब्रह्म, अन्तमें बोले तो अद्वैत ब्रह्म। परिचय कैसे हो सकेगा किन्तु अनेकान्तमें सर्वप्रथम स्याद्वाद शैलीसे अनेकान्तात्मक शैलीका परिचय कराया और जब वह परिचय हो गया तब यह ज्ञानी अपनी ज्ञानकलासे निर्विकल्प अनुभूतिमें पहुचता है जिसे आप अखण्ड अद्वैत, अपरिणामी, द्रव्यरूप, सामान्य निर्विशेष किन्हीं भी शब्दोंमें कहें वह वस्तुत तो किन्हीं भी शब्दों द्वारा कहनेमें नहीं आता। यह है जैन शासनकी देन। कितनी बड़ी देन है? इस तरह कल्याणार्थी पुरुषको सही पद्धतिसे ज्ञान कराकर फिर उसे अन्तमें निर्विकल्प आत्मस्वरूपमें विश्राम कराया है। पारखी ही परख सकते हैं। तो ऐसा जो परमागमका बीज है स्याद्वाद, स्याद्वादकी मुद्रासे जो चिह्नित है ऐसे अनेकान्तको मैं नमस्कार करता हू।

स्याद्वादकी मुद्रासे जिनशासनवचनकी पुष्टि—जिस परिचयमें स्याद्वादकी मुद्रा न लगी हो, जैनशासनके वचन नहीं हैं, जैसे किसी व्यापारीका एक व्यापार चिह्न होता है जिससे कि वस्तु की प्रीतीति हो जाती है कि यह यहां का बना हुआ है और सही है, इसी प्रकार इन समस्त प्रत्येक वचनोंमें स्याद्वादकी मुद्रा चिह्नित है जिससे यह पहिचान होती है कि ये सब सम्यक्वचन हैं। उस स्याद्वाद मुद्रासे मुद्रित परमागम का यह बीज है जिसने कि एक जन्मसे अन्धे पुरुषोंके द्वारा कहे हुए हाथीके विधान का प्रतिषेध कर दिया है। एक दृष्टान्त बहुत प्रसिद्ध है कि चार अंधे लोग एक हाथी को परखनेके लिए चले। एक अंधे आदमी ने कहा कि हाथी खम्भा जैसा होता है क्योंकि उसने पैरोंको छुवा था, तो कोई कहता है कि हाथी सूप जैसा होता है, उसने कान छुवा था। कोई अंधा कहता है कि हाथी ढोल जैसा होता है क्योंकि उसने पेट छुवा और कोई कहता है कि हाथी मूसल जैसा होता है क्योंकि उसने सूँड छुवा था। अब वे जब चर्चायें करने लगे तो आपसमें लड़ने लगे। तभी एक सूझता पुरुष आया और बताया कि तुम सब लोग ठीक कह रहे हो। जो खम्भा जैसा बताता है वह हाथीके पैरोंकी दृष्टिसे कह रहा है, जो सूप जैसा कहता है वह हाथीके कानोंकी दृष्टिसे कहता है, जो मूसल जैसा कहता है वह हाथीकी सूँडकी दृष्टिसे कहता है और जो ढोल जैसा कहता है वह हाथीके पेटकी दृष्टिसे कहता है, इसी तरह समझिये कि समस्त दृष्टियों के विलासमें मुग्ध हुए एकान्त परिचयका जो 'मंतव्य' है उससे जो उनमें परस्पर विरोध होता है उस विरोधको दूर कर सकने वाला यह स्याद्वाद है।

विरोधमथन अनेकान्त—वस्तुके स्थान, वस्तुके स्वरूप, वस्तुके आधार सभी विषयोंमें जो विरोध दूर कर देता है वह है परमागमका बीज अनेकान्तस्वरूप। जैसे प्रमाणके स्वरूपमें ही लोग विवाद करते हैं। कोई कहते हैं कि जिन जिन पदार्थोंके रहनेसे ज्ञान बनता है उन-उन पदार्थोंका जुट जाना ही प्रमाण है। यह एकान्त किया जानेसे असत्य हो गया और उपादानकी दृष्टि छोड़ देनेसे असत्य हो गया। उपादान तो ज्ञान है, आत्माका उपयोग है वह प्रमाण है। पर वह समस्त स्थानोंका, कारकोंका जो जुट जाना है यह इस प्रमाणकी उत्पत्तिमें कुछ परिस्थितियोंमें साधन कारणभूत है, अतएव उनके बिना सम्बन्ध न होने की बात न कहते। सम्बन्ध है उनसे। कोई कहते हैं कि इन्द्रियका और पदार्थोंका भिड़ाव होना वह प्रमाण है। एकान्त होनेसे यह असत्य है, पर इसका जरा भी सम्बन्ध न हो प्रमाणमें, ऐसी बात तो नहीं है। मतिज्ञानकी उत्पत्ति इन्द्रिय और पदार्थोंकी अभिमुखतासे हुआ करती है, पर किसी जगहमें एक साधन बन जाय ऐसा, उससे कहीं सभीका स्वरूप न बन जायेगा। यहां भी उपादानभूत ज्ञान ही वास्तविक प्रमाण है। इस प्रकार जो जो भी विषय जिन-जिन लोगोंने अपनी दृष्टियोंसे लिया है उन सबके विरोध को दूर कर देने वाला यह अनेकान्त है।

स्याद्वादकी उपयोगिता—देखिये अनेकान्त स्याद्वादके बिना कोई शब्द भी नहीं बोल सकता। जहां कुछ शब्द बोला वहां अनेक धर्म आ ही जायेंगे। यदि कोई यह कहे कि यह बात सच है तो इसमें क्या यह बात न आयेगी कि यह झूठ नहीं है। सच है व झूठ नहीं है इन दोनों की परस्पर अपेक्षा है। कोई दूसरेको मना करे, अजी तुम बिल्कुल झूठ कहते हो कि झूठ नहीं है तो इसका अर्थ है कि यह सच नहीं है। कोई इसका विरोध करे कि तुम झूठ कहते हो जो यह कहे कि सच है तो इसका अर्थ है कि झूठ है प्रमाणता कहां सिद्ध हुई? कुछ भी बात कहो उसके साथ प्रतिपक्षी लगा हुआ होता है। प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक धर्म, प्रत्येक ज्ञान सब प्रतिपक्षी हैं। जैसे एक घड़ीको ही कहा कि यह घड़ी है तो इसके साथ यह भी तो साथ लगा हुआ है कि घड़ीके सिवाय घड़ीको छोड़कर अन्य कुछ चीज नहीं है। यदि इसमें से

किसी एक को भी मना किया जाय तो घड़ीका अस्तित्व न रहेगा। घड़ी है इसे मना करने पर घड़ी क्या रही ? अन्य चीज नहीं है इसको मना करने पर घड़ी क्या रही ? फिर तो अन्य चीज हो गई। है भी कहा जाय तो उसमें भी अनेकान्त पड़ा हुआ है। तो प्रत्येक शब्द प्रत्येक व्यवहार अनेकान्तमय है।

लोकव्यवहारमें भी स्याद्वादकी उपयोगिता--अभी तो यह सिद्धान्तकी बात कह रहे हैं। हम आप सब का लोकव्यवहार भी अनेकान्तके बिना चल नहीं सकता। दूसरोंसे व्यवहार करते हैं, लेनदेन करते हैं तो दोनों बातें चित्तमें हैं तब लेन देन चलता है, नित्य भी और अनित्य भी। यह मनुष्य वहीका वही है। जैसे आज किसीको कुछ रुपया दे रहे हैं और दो साल बाद उससे लेंगे और यह भी चित्तमें है कि दो सालका समय गुजरेगा तब हमको लाभ होगा। परिणमन भी चित्तमें है, नित्यपना भी चित्तमें है, अनेक व्यवहार करते हैं। किसी एक पुरुषमें ही पिता पुत्र मामा भान्जा आदिक अनेक सम्बन्ध हम समझते हैं और समय-समय पर उन सम्बन्धोंका हम प्रयोग करते हैं तो यह सब अनेकान्तकी ही तो बात है। खान पान व्यवहार सब कुछ लुप्त हो जायेगा यदि अनेकान्तरूप सब कुछ न होता। गेहूं है, यदि वह परिणमकर आटा बनकर सिककर रोटी न बनती, ऐसा परिणमन न होता तो क्या कोई खा लेता ? और कदाचित् ऐसा परिणाम हो जाय कि गेहूंमें हाथ लगाते ही रेत बन जाय तो क्या उसे कोई खा लेगा ? गेहू अपने उपादानको अन्त तक न छोड़ेगा। रोटी बनने तक गेहूं की ही बात रहेगी उसमें। वह अन्वय न मिटेगा। वह नित्य न मिटेगा तब रोटी खा सकते हैं और कदाचित् नित्य ही बना रहे तो उसमें परिणमन ही नहीं होगा। जैसे एक मोटे रूपमें दृष्टान्त ले लो कि वह कुलड़ू मूँग जो १० दिन भी पानीमें पकायें तो भी सीझती नहीं है, पत्थर जैसी ही रहती है। ऐसे ही यदि गेहूं नित्य ही रहे, उस कुलड़ू मूँगकी तरह कुछ भी परिणमन न कर सके तो उसे कौन खा लेगा ? नित्यानित्यात्मक पदार्थ है तब खानपानका, व्यवहार का, लेनदेनका यह सब व्यवहार हमारा बनता है। न केवल नित्य होनेमें व्यवहार बनेगा और न केवल अनित्य होनेमें व्यवहार बनेगा। तो यह अनेकान्त व्यवहार व्यवहारमें भी उपकारी है, कल्याणके लिए भी उपकारी है।

परमज्योतिकी प्राप्तिका प्रथम परम उपाय--उस परमज्योतिको प्राप्त कर लेनेके उपायमें यह स्याद्वाद ही समर्थ है। हम उस ज्योतिको अन्य समस्त परभावोंसे पृथक् समझ सकें ऐसी कला स्याद्वादकी कृपासे ही तो प्राप्त होती है यह अपने आपके सहज सत्त्वके कारण अपना सहजस्वरूप है और समस्त परपदार्थ परभावोंसे न्यारा है, ऐसी बात समझमें आये तभी तो यह उपयोग विकारोंको न ग्रहण करके केवल एक ज्ञानस्वरूपको ही ग्रहण करेगा। यह सब स्याद्वादकी ही तो कृपा है। जैनशासनका अगर कोई खास काम है, इसकी कोई खास विशेषता है तो यह एक प्रमुख विशेषता है कि स्याद्वादकी विधिसे वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय कराया गया है जिस यथार्थ निर्णयके कारण जीवका मोह दूर होता है और मोह दूर हो जाना ही एक श्रेय चीज है, कल्याणभूत बात है। तो जो उस ज्योतिको प्राप्त करानेमें उपायभूत है परमागमका बीज अनेकान्त स्वरूप है उस अनेकान्तको मैं नमस्कार करता हू।

लोकत्रयैकनेत्रं निरूप्य परमागमं प्रयत्नेन।
अस्माभिरुपोद्ध्रियते विदुषां पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥३॥

निरूप्यमाण परमागम --ग्रन्थकर्ता कहते हैं कि परमागमको बड़े प्रयत्नसे निरख करके मैं इस पुरुषार्थ सिद्ध्युपायका उपोद्धरण करूंगा, जो परमागम तीनों लोकको प्रकाश करनेके लिए नेत्रके समान है अर्थात् जैसे नेत्र अवलोकन करते हैं स्पष्ट, इसी तरह यह परमागम तीनों लोकका अवगम कराता है।

कितना बड़ा लोक है। यों तो वैज्ञानिक पद्धतिमें जितना जो कुछ आखों दीखा या जहां तक पहुंच हो उतनी ही दुनिया मानी जाती है किन्तु जहा तक यहांके मनुष्योंकी पहुंच है क्या दुनिया उतनी ही है? परमात्माने उस समस्त लोकको बताया जिसे अवधिज्ञानियोंने अपने अवधिज्ञानमें भी जाना और केवलज्ञानियोंने अपने केवलज्ञानमें समझा। वे हैं ऊर्द्धमध्य और अधोलोक। उन समस्त लोकोंमें किस जगह क्या क्या रचना है और अतीत कालमें क्या हुआ था, भविष्य कालमें क्या होगा, इन सबका संक्षेपसे दिग्दर्शन कराने वाला यह जैन परमागम है। इस परमागमका प्रयत्नपूर्वक हमने निरूपण किया है। निरूपणका अर्थ लोग प्रतिपादन कर लेते हैं, पर उसका अर्थ है 'भली प्रकारसे अवलोकन करना' ऐसे परमागमको जानकर, निरखकर, तथा उसका मर्म पहिचान कर अब पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय इस ग्रंथ में कहेंगे।

पुरुषार्थ – पुरुष नाम है आत्माका और उसका अर्थ है अर्थात् प्रयोजन है शाश्वत शान्तिका मिलना। आत्माको शाश्वत शान्ति मिले, उसका उपाय इस ग्रन्थमें कहा जायेगा। पुरुषार्थ ४ बताये गये हैं—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष। इन चार पुरुषार्थोंमें से मोक्ष पुरुषार्थकी बात कही जा रही है। पूर्व तीन पुरुषार्थ तो इस लोकमें गृहस्थों के लिए बताये गए हैं और चतुर्थ पुरुषार्थ संसारके संकटोंसे सदाके लिए छूटनेके लिए बताया गया है। मोक्षपुरुषार्थ अर्थात् शरीरसे, कर्मसे, विकारोंसे छूट जानेका जो उपाय है उसे कहते हैं मोक्षपुरुषार्थ। जब यह जीव विकार और विकल्पके अनुभवमें नहीं रहता तो फिर इसे शान्तिके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। स्वयं ही अपने आप शान्ति आ जाती है। जब यह जीव विकार और विकल्पोंमें, रागद्वेष भावोंमें, किसी चिन्ता शल्य शोक इनमें जब नहीं फँसता है तो स्वयं ही इसे आत्मा ज्ञाननेत्रसे स्पष्ट झलकता है। इस अपने आत्माके निकट पहुंचने में ही जीवको शान्ति लाभ है। अन्य कितने ही उपाय कर डालें, पर अन्य उपायोंसे जीवको शान्ति नहीं मिल सकती। धनिक बनाना, इज्जत पोजीशन आदिकी चाह करना—ये सब असारभूत बातें हैं।

पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी आवश्यकता—अहो, कैसा अज्ञानका अंधेरा छाया है कि इस मायामयी दुनिया में लोग अपने नामका विकल्प किया करते हैं, पर यह तो बताओ कि इस दुनियाके लोगोंने कुछ नाम ले लिया तो उससे इस आत्माका क्या हित होगा? लोग इस दुनियाको अपनी ओर आकर्षण करनेमें अपना भला समझते हैं और इस होड़में आजके मानव लग रहे हैं और आत्महितकी बात चित्तमें भी नहीं देते। विरले ही पुरुष ऐसे होते हैं जो मात्र आत्महितकी धुन रखते हैं अन्यथा लोक तो यह रहा है, बाहरी झगड़ोंमें ही आकर्षित हो रहा है। उन सब झगड़ोंके अभावकी साधनाके लिये इस ग्रन्थमें मोक्ष पुरुषार्थकी सिद्धि करनेका उपाय कहा जायेगा।

मुख्योपचारविवरणनिरस्तदुस्तरविनेयदुर्बोधाः ।
व्यवहारनिश्चयज्ञाः प्रवर्तयन्ते जगति तीर्थम् ॥४॥

मुख्य और उपचार विवरण—पदार्थका स्वरूप जाननेके लिए दो प्रकारके विवरण होते हैं—एक मुख्य विवरण और एक उपचार विवरण। मुख्य और उपचारका सही स्वरूप समझ लेने पर समस्त अज्ञान दुर्बुद्धि कुमति समाप्त हो जाती है। किसी भी वाक्यमें यह निरखना चाहिए कि यह वाक्य मुख्य कथन करता है अथवा उपचार कथन करता है। एक सामनेसे कोई सिंह आ रहा है और कहें कि यह सिंह आया और एक पुरुषका नाम सिंह हो और कहें कि यह सिंह आया तो इन दोनों बातोंका आशय क्या एक है? सिंह आता हो तब सिंह बोलना मुख्य कथन है और एक किसी पुरुषका नाम सिंह रखकर कहें

कि यह सिंह आया तो यह उपचार कथन है। मुख्य कथन सीध उस ही वस्तुको ग्रहण करता है और उपचार कथन एक दूसरी वस्तुका ग्रहण करता है।

वचनव्यवहारमें मुख्य व उपचार कथनकी छांट—अपनी बोलचालमें भी इस प्रकारकी छांट करना यह भी एक ज्ञानकला है। इसमें मुख्य बात क्या है और औपचारिक बात क्या है ? घी का घड़ा उठा लावो, पानी का लोटा ले आवो, नहानेकी बाल्टी ले आवो आदि कितनी ही बातें व्यवहारमें बोली जाती हैं पर क्या यह मुख्य कथन है ? यह कथन उपचारका है। कोई घी का भी घड़ा होता है क्या ? अरे जिस घड़ेमें घी रखा है उसे लोग घीका घड़ा बोल देते हैं। तो यह घी का घड़ा कहना उपचार कथन है। कोई बाह्यवस्तु हमें दुःख नहीं देती यह बात बिल्कुल निश्चित है। हम ही अपनी कल्पनाएँ बनाकर किसी बाह्यवस्तु पर दृष्टि देकर दुःखी होते हैं वहां यह कहना कि इस पुरुषने इसे दुःखी कर दिया, यह मुख्य कथन है या उपचार कथन है ? उपचार कथन है। निमित्तनैमित्तिक भाव ऐसा है कि जिसमें यह सारा विश्व गुंथा हुआ है। हम शुभ अशुभ परिणाम करते हैं उसका निमित्त पाकर पुद्गलकर्म बंध जाते हैं और जब पुद्गल कर्मका उदयकाल आता है तो यह जीव क्रोधादिकरूप परिणम जाता है। वहां यह कहना कि देखो कर्मने इसे क्रोधी बना दिया अथवा कर्मने इसे परतन्त्र कर दिया, यह कथन उपचार कथन है। तथ्य वहां यह है कि कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर यह जीव अपनेमें विकारभाव उत्पन्न करके स्वतन्त्रता से स्वयं परतंत्र होता है। निमित्तनैमित्तिक भावका निषेध नहीं किया जा सकता है, तिसपर भी प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र है अर्थात् केवल अपने ही परिणमनसे परिणमते हैं, तो इस सब कथनमें यह जानते रहना चाहिए कि यह मुख्य कथन है अथवा यह उपचार कथन है।

व्यवहार और निश्चयके यथार्थ मर्मज्ञोंकी तीर्थप्रवृत्ति—मुख्य और उपचार, इन दो प्रकारके कथनोंके विवरणसे दूर हो गया है समस्त अज्ञान जिनका ऐसे लोक ही, व्यवहार और निश्चयके यथार्थस्वरूपको समझने वाले लोग ही तीर्थमें परिणति करते हैं अर्थात् धर्मका पालन करते हैं, धर्ममार्गमें बढ़ते हैं। व्यवहारभाषामें अनेक कथन उपचारके आते हैं। दीपकने इस पुस्तकको प्रकाशित कर दिया, हाथने यह छाया बना दी, आगने पानीको गर्म कर दिया, अमुकने उसे क्रुद्ध कर दिया आदि कितनी ही बातें बोलते रहते हैं, पर और उपाय क्या है जल्दी बोलनेका ? यह सब यों हो गया कि इस दीपक का निमित्त पाकर यह पुस्तक अंधकार अवस्थाको छोड़कर प्रकाश अवस्थामें आ गयी। इस हाथका निमित्त पाकर यह नीचेकी जमीन प्रकाश अवस्थाको छोड़कर उतने हिस्सेमें कुछ छायारूप परिणम गई। अग्निका सन्निधान पाकर पानी अपनी शीतल अवस्था को त्यागकर उष्ण अवस्थाको प्राप्त हो गया। निमित्त नैमित्तिक भाव सब जगह है और उसके बिना विभाव परिणमन नहीं होता, तिस पर भी प्रत्येक पदार्थ निमित्तका अंशमात्र भी ग्रहण किए बिना अपने आपके ही पूरे परिणमनसे परिणमते रहते हैं। यों सर्व परिस्थितियोंमें व्यवहार और निश्चयका जो यथार्थ स्वरूप जानते हैं वे ही धर्मतीर्थमें परिणति करते हैं।

स्वातन्त्र्यके चिन्तनमें लाभ—भैया ! हमें छूटना है विकारोंसे। जो कर्मविकार उत्पन्न करते हैं, वे नाम खायेंगे, वे शिथिल होंगे तो ये विकार मिटेंगे। ऐसी आशामें तो हम अपनेमें कोई मार्ग ही न पा सकें। तथ्य वहां यह है कि कर्मोदय तो निमित्त है, पर परिणमनने वाले तो हम स्वयं हैं। हम ज्ञानमात्र हैं। जितना भी हमें अवकाश मिले उतना ज्ञानकी ओर आयें। हम ही विकार अवस्थाको त्यागकर निर्विकार रूप बनेंगे ऐसी सामर्थ्य हममें है, ऐसी श्रद्धा हो तो हम यह उत्साह बना सकेंगे कि इन विकार भावों को त्याग कर निर्विकारस्वरूपमें अपनी दृष्टि लगायें। जब तक आत्माकी शक्तिका भान न होगा तब तक

हम विकारोंसे छूटनेका उत्साह नहीं बना सकते। हम दीन हैं, गरीब हैं, हम लोगोंके सहारे रहते हैं, हमारी इज्जत पोजीशन सब उन लोगोंसे है, यों जब तक परतंत्र बुद्धि रहेगी तब तक यह अपनेमें बल कहां बढ़ा सकेगा? निमित्तनैमित्तिक भाव होकर भी हमें स्वतन्त्रताके चिन्तनमें अधिक यत्न करना चाहिए।

स्वातन्त्र्यकी रुचि न होनेका कारण— देखो भैया! बात दोनों हैं कि नहीं। निमित्तनैमित्तिक सम्बंध भी है और समस्त वस्तुओंका स्वतंत्र-स्वतंत्र परिणमन है। इन दोनों बातोंमें से एक निमित्तनैमित्तिक भावको ही लेनेकी रुचि जगा लेना और स्वतंत्रताकी ओर रुचि न जगना—इसका अर्थ क्या है? सीधा अर्थ है— संयोगबुद्धि है, पर्यायबुद्धि है। व्यवहारमें एक रुचि जगी हुई है, उससे क्या कल्याण होगा? अनादिकाल से अब तक यह जीव व्यवहारबुद्धिमें ही रहा। अहंकार, ममकार, कर्तृत्वबुद्धि, भोक्तृत्वबुद्धि—इनमें ही इसका समय बीता और इनमें समय बीतनेका कारण है अज्ञान, वस्तुस्वरूपका स्वतंत्र दर्शन न होना। अब मन पाया है, ज्ञान हुआ है, धर्मका समागम हुआ है, तब यह चाहिए कि हम अपने आत्माकी शक्ति का भान करें।

स्वसामर्थ्यके भानके अभावमें पारतन्त्र्य— एक सिंहका बच्चा किसी गडरियाने पाल लिया। अब वह बकरियोंके बीच रहने लगा। बकरियोंकी तरहसे सिंहके बच्चेके भी कान पकड़कर गडरिया ले जाता। वह सिंहका बच्चा दीन होकर चलने लगा। जब उसे कोई अवसर मिल जाए, अपने बलका पता हो जाए तो झट दहाड़ करके छलांग मारकर निकल जाये। ऐसे ही यह जीव भ्रमवश पराधीन बन रहा है, इसे अभी अपनी शक्तिका भान नहीं है। जब कभी अवसर मिले, अपनी शक्तिका भान हो जाए तो यह अपनी पराधीनताको एकदम समाप्त कर देता है। जब तक पराधीन है, तब तक अपने आपमें यह उत्साह ही क्या करेगा? प्रभु अरहंतदेवके एक समवशरणकी परिस्थितिमें उनके परोक्ष दर्शन करते हुए जब उनके गुणों पर दृष्टि पहुंचेगी तो एक बहुत विशेष आह्लाद होगा और वह यों होगा कि उस गुणदृष्टिके होते ही अपने आपके गुणोंका विकास होने लगता है और जब ऐसे उनके गुणोंकी अपने गुणोंकी एक समानता-सी बनती है, तब यह समस्त विकल्पोंको छोड़कर उस समय आनन्दका अनुभव करता है। आत्मशक्तिका भान हो जाना—यह भी बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

सहजभावकी दृष्टिका पुरुषार्थ— हम आप सब स्वयं आनन्दमय हैं। कष्टका कहीं नाम ही नहीं। क्या कष्ट है? यह परिग्रह, धन आये अथवा न आये, पर मनके विचार, मनकी भावना विचित्र होगी। अपने इस अनन्त समृद्धिशाली परमधनी ऐश्वर्यचमत्कारसम्पन्न निज प्रभुके निकट शुद्ध रहना बन सके तो इससे बढ़कर और समृद्धि क्या है? ये बाहरी चीजें नष्ट हो जाने वाली हैं और जब तक रहती हैं, तब तक अनेक विकल्पोंका कारण बनती हैं और तृष्णाका उत्पादक बनती हैं। जब तृष्णा जग गई तो पाये हुए धनसे लाभ क्या? उसका सुख भोग ही नहीं सकता, क्योंकि उसकी दृष्टि और अधिक धन पानेके लिए लग गयी है। सब पाये हुए धनका भी वह सुख पा नहीं सका। असार विनश्वर पराधीन परविभावकी आशामें क्यों रहा जाय? हो रहा है गुजारा? गुजारा ही मात्र करनेका यहां काम है, क्योंकि इससे अधिक कुछ और होना नहीं है। परसंग तो आत्महिंसा है। मैं अपने इस शुद्ध निराकुल ज्ञायकस्वरूप निज आत्मप्रभुके निकट रहूं—ऐसा यत्न बन सके तो उससे बढ़कर इस लोकमें और कोई दूसरा काम नहीं है। यही सच्ची कमाई है, अद्भुत वैभवका अर्जन है।

[illegible]— अपने आनन्दमय स्वरूपके दर्शनकी बात प्राप्त होती है सम्य-

ज्ञानसे और सम्यग्ज्ञान यह है कि जो पदार्थ जैसा है तैसा ही भान रहे और सीधा वह ही पदार्थ भानमें रहे। उपचारसे या परम्परासे या निमित्त आदिककी बुद्धिसे निरखियेगा तो वहां हम सीधा पदार्थको नहीं जान सकेंगे, यद्यपि ये उपाय हैं पदार्थको जाननेके। अगर कोई पुरुष केवल उपाय तक ही रहे और उपेय पर न पहुचे तो उससे उपायका क्या उठता है? कोई पुरुष किसी राजासे मिलनेके लिए जाता है तो दरबानसे कहता है कि मुझे राजासे मिलना है, मिला दो। दरबान उसे ले जाता है, पर दरबानका साथ कब तक रहता है? जब तक वह राजाके निकट नहीं पहुंचता। तब तक वह दरबानका भी उपकार मानता है कि मुझे यह पहुंचा रहा है। यदि निकट पहुचने पर भी वह दरबानकी प्रीति ही बनाए रहे तो वह राजाके पास पहुचेगा कैसे? लेकिन वहा वह दरबानको छोड़कर राजासे बात करता है। इसी प्रकार हमारे मे जाननेके अनेक उपाय हैं--नय, व्यवहारनय, निश्चयनय। इन सब उपायोंसे हम उस अन्त:पदार्थको जानेंगे। अब जान लेनेके बाद भी हम उन नयोंको ही पकड़े रहें, उलझनमें ही रहें, विवाद कर बैठें, हम उस निराकुल शांतप्रभुके स्वभावका अनुभव न करें तो यह ज्ञान पाया किस लिए है?

वर्तमान ज्ञानोपयोग-- हम आप सबने जो ज्ञान पाया है, वह अनन्त पुरुषोंके मुकाबले अच्छा ज्ञान पाया है। क्षयोपशम अच्छा मिला है। जिस ज्ञानसे हम बड़े-बड़े व्यापारोंके काम सुलझा लेते हैं, जिस ज्ञानसे हम लौकिक बड़ी विकट समस्याओंका हल कर डालते हैं, क्या उस ज्ञानसे हम इतना नहीं कर सकते कि जान जाऊँ मैं कि यह मैं आत्मा क्या हूं? पर इस ओर रुचि हो तो जानने में देर न लगे। अन्य लौकिक विद्याके परखनेमें विलम्ब न लगेगा। बस, केवल एक रुचि भरकी आवश्यकता है, इसीके लिए ही स्तवन है, बारह भावनाएँ हैं, स्वाध्याय है, सत्सग है, सयम है, चारित्र है, व्रतनियम है। सब कुछ एक इतने मात्रके लिए है कि अपने आपको जान जाऊँ, जैसा कि यह मैं विशुद्ध ज्ञानस्वरूप हू और इस ही जाननेमें निरन्तर बना रहू, इतने मात्र कामके लिए जीवनभर इतने सब श्रम करने होते हैं। अपने जीवनका कुछ न कुछ लक्ष्य तो होना ही चाहिए।

लक्ष्यभ्रष्टोंके अर्थसिद्धिका अभाव— लक्ष्यविहीन नाविक नदीमें कभी पूरब, कभी पश्चिम, कभी उत्तर और कभी दक्षिण दिशामें डोलता रहता है। वह किसी किनारे पर नहीं पहुच सकता। उसे तो लोग उन्मत्त बुद्धि वाला कहते हैं। यों ही समझो कि जो मानव अपने जीवनका कुछ लक्ष्य नहीं बनाता है, उस की सभी चेष्टायें उन्मत्त जैसी होती हैं। मैं केवल ज्ञानानन्दमात्र हू, इस प्रकारका अनुभव ज्ञान द्वारा जगे, एकरस होकर मेरी परिणति बने, जहां एक निर्विकल्प अनुभूति होती है, समस्त विकल्प जहा नष्ट हो जाते हैं—ऐसी मेरी निज अनुभूति बने, इतने मात्रके लिए ही मेरा सब कुछ आचरण है, धर्मपालन है। एक लक्ष्य अपने आपका बने तो अपनेको श्रेयकी प्राप्ति होगी, कुछ मिलेगा, आत्मलाभ होगा, इससे विशुद्ध लक्ष्य बनानेका भरसक प्रयत्न करना चाहिए। इतनी बात तो समझमें रखनी ही चाहिए कि वैभव से मुझे क्या प्रयोजन? जब जितना उदयमें है उतना आयेगा, उदयमें नहीं है तो न आयेगा, उसके आन से लाभ कुछ नहीं, उसके न आनेसे हानि कुछ नहीं। जैसी स्थिति होगी, वैसे ही हमारे शरीरकी स्थिति बनी रहेगी। कर्तव्य तो हमें अपने आपके हितमार्गका साधन करना है। यह लक्ष्य बनायें और इस ओर अपनी दृष्टि दें। इसी बातको बतानेके लिए इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थका अवतार हुआ है।

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

भूतार्थ और अभूतार्थ नय-- नय दो प्रकार के हैं— एक निश्चयनय और दूसरा व्यवहारनय।

निश्चयनय तो भूतार्थ है और व्यवहारनय अभूतार्थ है। भूतार्थका अर्थ है भूत अर्थ वाला। भूत मायने जो है--ऐसे अर्थको जो बताये उसे भूतार्थ कहते हैं। अभूतार्थका अर्थ है-- अ मायने नहीं, भूत मायने होना। ऐसे अर्थको बताये जो न हो, वह अभूतार्थ है। वस्तु जैसा है, सीधा उसका जो दर्शन कराये, उसे निश्चयनय कहते हैं और किसी वस्तुमें वह बात तो नहीं है, पर किसीके सम्बन्धसे कोई बात मान लेना यह व्यवहारनय है, अभूतार्थ है। यह सारा विश्व, जगत्के प्राणी भूतार्थके ज्ञानसे तो विमुख हैं और अभूतार्थकी दृष्टिमें अनादिकालसे लगे ही आ रहे हैं अर्थात् व्यवहारमें तो ये जीव अनादिसे पगे चले आ रहे हैं, पर निश्चयकी दृष्टि इस जीवको नहीं हुई, इसी कारण उस व्यवहारदृष्टिके विषको दूर करनेके लिए, जिसमें यह जीव अनादिसे पगा चला आ रहा था, उस दृष्टिविषको दूर करनेके लिए निश्चयनयका अधिकतर उपदेश दिया गया है।

भूतार्थ और अभूतार्थका विवरण— भूतार्थका उदाहरण ऐसा समझिये कि जिस पदार्थमें जो सहज-स्वभाव है, अनादि अनन्त शाश्वत् जो पारिणामिक भाव है, उसका प्रतिपादन करे वह है भूतार्थ। आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है, आत्मा ज्ञायकस्वरूप है— ऐसी दृष्टियां दिखाना सो निश्चयनय है और जो बात सीधे जिस पदार्थमें नहीं है, किन्तु कोई अन्यका आश्रय करके बात बताए, वह व्यवहारनय है। जैसे ये देव, मनुष्य, तिर्यंच, पशु, पक्षी इन्हें निरखकर कहते हैं कि ये जीव हैं तो यह है अभूतार्थ अर्थात् जो आंखों दिख रहा है वह जीव कहां है? जीव तो किन्हीं भी इन्द्रिय द्वारा गोचर नहीं होता। जो इन्द्रिय-गोचर है, वह सब पौद्गलिक है, अजीव है, उसे जीव कहना यह है अभूतार्थ, व्यवहारकी बात। सो देख ही लो प्रायः करके लोग ऐसा समझ रहे हैं, तभी तो परस्पर व्यवहार भी करते हैं। यह जीव है, यह मनुष्य है, पुरुष है, आत्मा है, यह है व्यवहारकी बात।

व्यवहारनयका तत्त्वसे सम्बन्ध-- भैया! व्यवहारनय भी एकदम अटपट नहीं बोल दिया जाता। लगाव हो, सम्बन्ध हो, तथ्य हो, फिर परका आलम्बन लेकर बताना, यह है व्यवहारनय। जैसे पशु-पक्षी को देखकर हम कहते हैं यह जीव है। क्या उसमें जीव नहीं है? जीव है, पर जीवका जो सहजस्वरूप है, जो जीवके ही सत्त्वके कारण जीवमें शाश्वत् पाया जाता है, उस रूपमें निरखकर तो नहीं कहा जा रहा यह। अब यह व्यवहार बन गया। कोई व्यवहार होता है सद्भूत, कोई व्यवहार होता है असद्भूत। जैसे आत्मा तो चैतन्यस्वरूपमात्र है, उसे यों समझना कि जिसमें ज्ञान है, दर्शन है, वह आत्मा है, उसे भेद करके समझाना--यह सद्भूत व्यवहार है और जैसे इस शरीरको देखकर कहते हैं कि यह जीव है तो यह असद्भूत व्यवहार है अथवा जैसे घड़ेमें घी रखा रहे तो उसे घीका घड़ा कहते हैं--यह असद्-भूतव्यवहार है।

प्राणियोंकी भूतार्थबोधविमुखता— इस जीवने पदार्थके निरपेक्ष वास्तविक स्वरूपका परिचय नहीं किया, इसी कारण सहजस्वरूपको छोड़कर अन्य-अन्य रूपोंमें इस जीवने पदार्थका स्वरूप माना है। निश्चयनयसे अपने आत्मतत्त्वका परिज्ञान कर लेना--यह बंधनके तोड़नेका उपाय है। व्यवहार तो निश्चयनयके जाननेका उपाय है। व्यवहारमें ही रहना चाहिए। पहिली पदवीमें निश्चयनयकी बात सुननी भी न चाहिए, जाननी भी न चाहिए। ऐसा प्रमाद अथवा ऐसी बुद्धि स्वयं सोचलो, इस जीवकी उन्नति कष्ट कर सकने वाली होगी। जो परमशरण है, जो वस्तुगत बात है, उसको सुनने और समझने से भी निरुत्साह आ जाएगा तो फिर किस स्वरूपमें उत्साह किया जाए? यह बुद्धि केवल बाहरी-बाहरी पदार्थोंमें ही भटके तो इसको तत्त्व कहां मिलेगा? अतः बड़े प्रयत्नोंसे निश्चयकी बातको समझना

चाहिए। अपने आपके स्वरूपका परिचय करना चाहिए कि मैं स्वयं सहज किस स्वरूप रूप हू ?

भूतार्थबोधविमुखतामें प्रायः सर्वसंसारकी स्थिति—संसारमें अनन्त जीव हैं—एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय और असैनी पञ्चेन्द्रिय तक तो मन बिना होनेके कारण इस तत्त्वज्ञानसे अनभिज्ञ थे। अब जो सज्ञी जीव हैं, उनमें देखलो। ये असंख्याते तिर्यंच और देव, नारकी तथा ये संख्याते मनुष्य इनमें भी कितने जीव ऐसे हैं जो निश्चयनयकी दृष्टि करते हों और निश्चयनयके विषयभूत अतस्तत्त्वमें रुचि लगाये हों। प्राय सारा ही ससार इस निश्चयनयके ज्ञानसे अनभिज्ञ है। यह तो खेदकी बात है तब लक्ष्य अपना ठीक सही बनानेके लिए उत्कृष्ट अंतस्तत्त्वका ज्ञान करना ही चाहिए। सामान्य जीव स्वरूपके सम्बन्धमें पशु पक्षी आदि हों अथवा साधु मनुष्य हों सब ज्ञानी जीवोंका लक्ष्य एक रहता है और सबके उपयोगमें वह सहज ज्ञायकस्वरूप अंतस्तत्त्व समाया हुआ है।

भूतार्थबोधविमुखतापर खेद—अब समझ लीजिए कि जिस तत्त्वके ज्ञानसे पशुपक्षी भी सम्यग्दृष्टि होते हैं और उनकी प्रगति होती है उस निश्चय तत्त्वके लिए हम मनुष्यजन मना करें अथवा उपदेश दें कि निश्चयनयको छूना न चाहिए। यह हमारी पहिली पदवी है, हमें व्यवहारमें ही रहना चाहिए, सोच लीजिए यह बहकाना कितना लाभकारी होगा ? निश्चयनयका परिज्ञान करें और जब तक उस निश्चयनयके विषयभूत तत्त्वमें मग्न न हो सकें, स्थिर न हो सकें तब तक अपनेमें विषय-कषायोंका जोर न बन जाय एतदर्थ शुभोपयोग व्रत नियम आदिक व्यवहारका प्रयोग करते रहें। शरणभूत तत्त्व तो वह निश्चय अतस्तत्त्व है। मुझे क्या बनना है ? केवल जो मैं सहजस्वरूप हू वैसा ही मात्र रह जाऊँ, अन्य जो कुछ पर उपाधि अथवा विकार आये हैं वे सब टल जायें, ऐसी स्थितिमें जो कुछ हू उस ही में रह जाऊँ केवल यही एक चाह है, यही कल्याणका पद है। इस बातको हम समझें भी न कि वह सहज स्वरूप क्या होता है तो उपाधियोंसे विकारसे छूट कैसे सकते हैं ?

निश्चयनयकी भूतार्थता और व्यवहारनयकी अभूतार्थता—निश्चय तो भूतार्थ है और व्यवहार अभूतार्थ है। भूतार्थ मायने सत्यार्थ। जैसा है वैसा ही सीधा सही कह देना सो भूतार्थ है। और कोई बहाना पाकर, निमित्त पाकर, सम्बन्ध पाकर उसे अन्यरूप कहना यह सब व्यवहारनय है। यों तो निश्चयनयोंमें ही परिवर्तन चलते रहते हैं कि जो बात अभी निश्चय है उससे और अधिक अभेदकी दृष्टि होने पर व्यवहारनय हो जाता है लेकिन जो परमशुद्ध निश्चयनय है जिसका विषय अपने आपके शुद्धचित्स्वभाव को दिखाना है उस नयके मुकाबलेमें तो सारे ज्ञान अन्य हैं। अन्य अन्य सारी बात कहना व्यवहार है और इसी कारण जीवमें जो विषय कषाय विचार वितर्क बुद्धिया विकल्प उत्पन्न होते हैं वे सब व्यवहार हैं, वे जीव नहीं हैं। जीव तो केवल शाश्वत चैतन्यस्वरूप ही है, यों निरखना पदार्थको सो निश्चयनय है और भूतार्थ है।

व्यवहारदृष्टिका रोग—इस ससारी जीवपर व्यवहार दृष्टिका महान रोग चला आ रहा है। कब इसने निश्चयनय की बात समझी, व्यवहारको व्यवहार भी न जाने तो भी व्यवहारके प्रयोगमें ही रहा यह। जहा कहीं भी रहा निगोदमें भी एकेन्द्रियमें विकलत्रयोंमें असज्ञियोंमें सज्ञियोंमें जहा जहा इसने जन्म लिया, जो जो इसने शरीर पाया बस उस परिस्थितिको मानता रहा कि यह मैं हू और इसही दृष्टि से इस जीवने बड़े क्लेश पाये, मान अपमान माना। किसीने कुछ नीच बात कह दी। गाली बक दी तो यह आग बबूला होता है। मुझे यों कहता है। अरे तू तो चैतन्यमात्र है जिसमें किसी चीजका सयोग भी नहीं हो सकता। तू तो केवल अमूर्त शुद्ध ज्ञानानन्दमात्र है; तेरेका लगता ही कौन है इस दुनियामें ?

जिसने गाली दी, दुर्वचन कहे उसने तुझ चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वको निरख नहीं पाया। वह तो एक इस इन्द्रियगोचर शरीरके ढांचेको ही निरखकर जिसका कि लोग नाम भी रख लेते हैं उसे कुछ कह रहा है। वह तो तू नहीं है। फिर क्यों यह अपमान महसूस करता है कि इसने मेरी निन्दा की है। अरे तू तू ही है, तेरी कोई निन्दा कर ही नहीं सकता। तू तो ऐसा अनन्तगुणोंका पिण्ड है कि तेरी कोई प्रशंसा भी कर ही नहीं सकता। ऐसा तू सबसे न्यारा आकाशवत् निर्लेप ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा है। ऐसे आत्मतत्त्व को निरखना सो यह है भूतार्थ सत्यार्थ निश्चय। और इस शाश्वत स्वरूपसे चिगकर अन्य अन्यरूप अपनी प्रतीति करना, सो सब व्यवहार है। यह संसार प्रायः भूतार्थके बोधसे शून्य है।

अबुधस्य बोधनार्थं मुनीश्वरा देशयन्त्यभूतार्थम्।
व्यवहारमेव केवलमवैति यस्तस्य देशना नास्ति ॥६॥

व्यवहारविवरणकी आवश्यकता—यहां एक शंका उठी हुई थी कि जब व्यवहारनय अभूतार्थ है और निश्चयनय भूतार्थ है तब केवल भूतार्थनयका ही उपदेश करना चाहिए। अभूतार्थ व्यवहार की तो बात भी न करना चाहिए थी। इसके उत्तरमें यह गाथा कही गई है कि भाई जो अज्ञानी प्राणी हैं, अबुध हैं, परिचयशून्य हैं उनके समझानेके लिए मुनीश्वर अभूतार्थका उपदेश करते हैं। जैसे किसीने संस्कृतमें आशीर्वाद दिया—स्वस्ति। तुम्हारा कल्याण हो, मंगल हो, चिरंजीव हो। सभी अर्थ इसमें भरे हैं, जिस का सीधा अर्थ है तुम्हारा अविनाश हो। पर कोई राजा इस आशीर्वादका अर्थ न समझे तो वह नेत्र खोलकर टकटकी लगा कर निहारता रहता है कि यह साधु मुझे क्या कह रहा है? अब उस राजाको समझानेका उपाय और क्या है? जिस भाषाको राजा जानता है उस ही भाषामें वह साधु आशीर्वादके शब्द बोले तो राजा झट समझ जायेगा। पहिले तो अर्थ नहीं समझ सका था पर जब उसकी ही भाषामें वे शब्द बोले जाते हैं तो वह झट समझ जाता है और सुनकर बड़ा खुश होता है। तो जैसे अबुध राजा को समझानेके लिए व्यवहार भाषाका प्रयोग किया गया, इसी तरह यह अज्ञानी जगत् भूतार्थके बोधसे विमुख है। वस्तुके सत्यस्वरूपको समझता ही नहीं है। उसे समझाने का उपाय भी यह व्यवहार है अभूतार्थ है।

व्यवहारभाषाका प्रयोजन—जैसे इन अज्ञ पुरुषोंको उपदेशमें कहा जाय आत्मा आत्मा, परमब्रह्म, कहते जाइये। उनका कुछ अर्थ ही नहीं आया। तो उसको समझानेके लिए उसका भेद किया जाय, गुण बताये जायें, परिणतियां दिखायी जायें तब जाकर वे समझेंगे। तत्त्व इसमें तो अद्वैत है, अखण्ड है अवक्तव्य है, केवल एक अनुभवगम्य है। उसे समझाने के लिए जो भाषा कही जायेगी वह भेदपरक भाषा होगी। अरे भाई जो जानता है, देखता है, आचरण करता है वह परमब्रह्म है, वह आत्मा है इस प्रकार आत्माका स्वरूप समझाया जाय तो वे आत्माको समझ सकते हैं। तो भूतार्थ तत्त्वको समझानेके लिए अभूतार्थका आश्रय किया जाता है। लेकिन जो केवल व्यवहारको ही जानता है और व्यवहारकी ही हठ करता है उसके लिए तो उपदेश ही नहीं है। जो भव्य हो, जिसे आत्मकल्याणकी वाञ्छा हो, जो व्यवहारका पक्ष न लिए हो, हठ न किए हो ऐसे पुरुषको उपदेश है। जिसका आशय ऐसा पवित्र हो कि जो सही बात हो, हितरूप बात हो उसे ग्रहण करे, ऐसा विशुद्ध निर्मल आशयवान कोई भव्य हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, सम्यक्त्व न जगा हो किन्तु जो ऐसा पात्र हो उसको ही देशना दी जाना योग्य है।

भूतार्थबोधविमुखताकी हठकी चिकित्साकी असाध्यता—जैसे एक कहावत प्रसिद्ध है—पंचोंका कहना सिर माथे पर पनाला यहींसे निकलेगा। इससे भी ज्यादा कोई हठमें हो, पंचोंकी बातको माने बा

वचन भी न कह सके और पतनाला भी वहींसे निकले, ऐसे उद्दण्ड पुरुषकी भांति जो केवल व्यवहारका पक्षपाती है, हठी है, जानबूझ कर अर्थात् लौकिक विद्यामें कुशल बननेके कारण जो निश्चयतत्त्वसे विमुख रहता है और भूतार्थके विरोधके लिए ही निरन्तर कमर कसे रहता है ऐसे हठी पुरुषके लिए देशना क्या करे ? जैसे किसी पुरुषको नींद आ गयी हो तो कोई जगाये, जग जायेगा, मगर जो नींदमें तो नहीं है, जानबूझ कर सोनेका रूपक बनाये हो ऐसे पुरुष को जगानेका उपाय करना व्यर्थ है, इसी प्रकार भद्रमिथ्यादृष्टि हो उसे तो देशना बतायी गयी है किन्तु हठी जानबूझकर लोक विद्याके घमण्डमें आकर जो सत्य पदार्थ विरोधी रहता है और वस्तुस्वरूपको उस निश्चय भूतार्थ तत्त्वको समझनेके लिए अपना हठ धर्म करता हो, भला बतलावो उसको समझानेके लिए कोई वचन समर्थ भी हो सकते हैं क्या ? देशनाका प्रयोग भी भद्रमिथ्यादृष्टिके लिए है। जो परिचित तो नहीं है उस निश्चय भूतार्थतत्त्वसे किन्तु भद्रता है, समझायें तो समझने की उसकी आकांक्षा है, ऐसे अबुद्ध पुरुषके बोधने के लिए अभूतार्थनयका वर्णन किया गया है।

आत्महितकी भावनामें भलाई—इस प्रकरण को सुनकर हम आपका यह कर्तव्य होना चाहिए कि केवल आत्महितकी वाञ्छासे ही धर्मकी बात सुनें और उसपर आचरण करनेका यत्न रखें। लोकमें कोई अपना मित्र नहीं है। किनका पक्षपात किया जाय ? सभी जीव असहाय हैं। अपनी अपनी ही क्रियावोंके करने वाले हैं। मेरा किसमें हित है ? इतनी रुचि होनी चाहिए और इस रुचिपूर्वक निश्चय और व्यवहारनय इनका बोध करना चाहिए और व्रत नियम आदिक पतनसे बचनेके साधन हैं, उनमें रहकर इसही शुद्ध परमात्मतत्त्वकी उपासना करनी चाहिए।

माणवक एवसिंहो यथा भवत्यनवगीतसिंहस्य।
व्यवहार एवहि तथा निश्चयतां यात्यनिश्चयज्ञस्य ॥७॥

निश्चयानभिज्ञोंका व्यवहारसे निश्चयका निश्चय—जैसे जिस पुरुषने सिंह नहीं देखा, नहीं जाना वह किसी बालकका सिंह नाम रख लिया जाय तो उसे ही सिंह जानने लगता है, उसके लिए वह सिंह हो जाता है। इसही प्रकार जो निश्चयतत्त्वको नहीं जानते हैं उन्हें लोकव्यवहार ही निश्चय बन जाता है अर्थात् वे व्यवहारको ही यह सब कुछ है, यही निश्चय है और इससे आगे कुछ नहीं है ऐसा मानते हैं।

सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञानमें व्यवहारप्रियोंका निश्चय—जैसे सम्यग्दर्शन तो है रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञायकस्वरूपकी अनुभूति होना, किन्तु व्यवहार सम्यग्दर्शन हो, देव शास्त्र, गुरुका श्रद्धान हो, उसरूप अपना कुछ आचरण व्यवहार बनायें, बाह्य विनय रखें, इतने मात्रसे सन्तोष करले यह कि मुझे तो सम्यक्त्व जग गया है। जिसे निश्चय ज्ञायकस्वरूपकी अनुभूति नहीं हुई है वह तो ऊपरी व्यवहार सम्यग्दर्शनमें ही सन्तोष मानता है। मुझे सम्यग्दर्शन हो चुका है, मैं सम्यग्दृष्टि हू और अन्य जनोंको वह कुछ घृणा नीच की दृष्टिसे देखने लगता है क्योंकि निश्चयतत्त्वका बोध न होनेसे वह व्यवहारको ही निश्चय मानने लगा है। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञान तो है सर्वविविक्त विशुद्ध आत्मतत्त्व का परिचय होना, पर यह सम्यग्ज्ञान न हो, और कुछ लौकिक शास्त्रोंका ज्ञान हो, कुछ शास्त्रोंका परिचय हो जाय या अन्य गणित जैसी कलावोंकी जानकारी हो जाय, इन ज्ञानोंसे ही अपनेको सम्यग्ज्ञानी मान लेते हैं और इस मान्यता में उसे अहकार भी हो जाता है। तो निश्चय सम्यग्ज्ञानका जिसे परिचय नहीं है वह व्यावहारिक ज्ञान सम्यग्ज्ञानको ही निश्चयरूप मान लेता है।

सम्यक्चारित्रमें व्यवहारप्रियोंका निश्चय—सम्यक्चारित्र तो है यह कि विशुद्ध ज्ञायकस्वरूपमें उपयोग

को मग्न करना, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना, किन्तु इस परिस्थितिका जिसे अनुभव नहीं हुआ वह मनुष्य व्यवहारिक दया, सत्य पालन चोरीका त्याग, ब्रह्मचर्य पालन, परिग्रहसे दूर रहना, वाह्य समितियोंका पालना, बड़ा तपश्चरण करना—इन कार्योंको करके ही यह सन्तोष कर लेता है कि हमने सम्यक्चारित्र का पूर्ण रीतिसे पालन किया और जो सम्यक्चारित्रके मर्मसे परिचित नहीं हैं वे दूसरोंकी भी ऐसी देह संबन्धी क्रियाए देखकर प्रशंसा कर लेते हैं कि भाई हमारा सम्यक् चारित्र बहुत ऊंचा है, निर्दोष है। यद्यपि ये सब बातें आती हैं किन्तु यह सब किसलिए किया जा रहा है? हमारा लक्ष्य क्या है? उसकी झांकी न हो, शुद्ध ज्ञायकस्वरूपमें मग्नताका यत्न भी न हो, ऐसी स्थितिमें रत्नत्रयका लाभ तो नहीं मिल पाता। तो जिन्होंने निश्चयको नहीं जाना उनका व्यवहार ही निश्चयपनेको प्राप्त हो जाता है।

अभूतार्थकी हठसे देशनाकी अपात्रता—इससे पहिले छंदोंमें यह बताया था कि निश्चय तो भूतार्थ है और व्यवहार अभूतार्थ है। यह सारा विश्व भूतार्थके ज्ञानसे विमुख है इसे खेदके साथ कहा गया था। अनादिकालसे जीवोंको व्यवहार व्यवहारका ही तो परिचय चला आया है। जिस भवमें गया उस भवमें अन्य पशु पक्षी आदिक की पर्यायोंमें 'यह मैं हूं' इस प्रकारकी प्रतीति रखकर ऐसा ही तो आचरण किया अनन्तकाल इस ही व्यवहारमें बीता तो व्यवहारका तो चाहे वे विश्लेषण न कर सकें कि यह व्यवहार है लेकिन व्यवहारमें पगे जरूर चले आये हैं। व्यवहारका विश्लेषण वह पुरुष कर सकता है जिसे निश्चयका तो परिचय हो क्योंकि जिसे निश्चयका परिचय नहीं है वह व्यवहारको व्यवहार मान ही नहीं सकता। उसके लिए तो वही सर्वस्व है। कोशिश होना चाहिए कि हम निश्चय तत्त्वको, अन्तःमर्मको शाश्वत स्वरूपको समझ लें, उसकी दृष्टि बनायें क्योंकि एक उस अंतस्तत्त्वका परिज्ञान किये बिना आत्माको मोक्षका मार्ग नहीं मिल सकता है तो जो निश्चयसे अपरिचित है, केवल व्यवहारको ही जानता है उसको तो प्रथम छंदमें बताया है कि देशना ही नहीं है। उपदेश विफल है। अब इस छंदमें यह कह रहे हैं कि क्यों विफल है उपदेश? यों कि वह व्यवहारको ही निश्चय मान रहा है।

भूलको भूल न मानकर यथार्थता माननेकी महाभूल—एक भूल हो जाना और एक भूल हो जाने पर भी भूलको सही समझना इन परिस्थितियोंमें कितना अन्तर है? जैसे एक व्यक्ति नींद लेता है और एक व्यक्ति सोनेका रूपक बनाता है। इन दोनोंमें बड़ा अन्तर है। भूल जाने वाला पुरुष देशनाका पात्र होता है। भूले हुएको देशना दी जाती है पर जो भूलको सही मानता है और इस पर कुछ ज्ञानी है तो ज्ञानका अहंकार बनाये हुए है ऐसे पुरुषको देशना नहीं कही गयी है। अर्थात् जो जान बूझकर हठवादमें है उसे देशनाका क्या फल है? समझानेका क्या फल है? तो फलको सही मान लिया जाना, यह बड़ी भूल है। इसीको मिथ्यात्व कहते हैं। रागद्वेष जीवके चलते हैं पर कुछ संत महंत ऐसे होते हैं कि रागद्वेषकी बातें आ जाने पर वे उसे भूल जानते हैं, बेकार समझते हैं, कलंक समझते हैं, हेय जानते हैं।

प्राणीकी रागद्वेषमें चतुराईकी मान्यता—प्राय सारा संसार रागद्वेष करता हुआ उस ही में अपनी बुद्धिमानी समझता है, मैं ठीक कर रहा हूं, मैं मकान दुकान वैभवकी व्यवस्था बनाता हूं, मैं बड़ी चतुराई से सब काम कर लेता हूं। यों रागद्वेषमें ही पड़े हैं उसमें भूल नहीं मान पाते, भूलको सही समझते हैं। तो एक मिथ्या आशय है। किसी पुरुषको गलत रास्ता बता दिया जाय और तिस पर यह कहा जाय कि देखो तुम्हें बहकाने वाले बहुतसे मिलेंगे पर किसी की बात न मानना। वे सब बहकानेकी बातें कहेंगे और उसके चित्तमें जम जाय, वह किसी की बात न माने तो एक तो वह भूल करता है और भूल भूल नहीं है, यही मेरा सही मार्ग है ऐसा आशय रखता है, ऐसे मिथ्या आशय वालेको समझाना बेकार है।

जब कभी यह ठोकर खाये, भीतरमें कुछ जागृति बने, तब उसका मार्ग सही बन सकता है, जीवन सफल हो सकता है।

भूलको सही मान लेनेकी विडम्बना— जैसे एक गावके निकट एक बढ़ई रहता था। वहासे जो मुसाफिर निकले, वह मुसाफिर आगेके गावका रास्ता पूछे। तो वह गांव तो हो पूरब दिशामें और बता दे दक्षिण दिशामें। साथ ही यह भी कह दे कि देखो इस गांवके लोग बड़े मजाकिया हैं, वे सब उल्टा रास्ता बतावेंगे, उनके कहनेमें न आना। वह बेचारा गावमें घुसा तो जब मनमें आ गया तो उसको पूछने की उत्कण्ठा हुई। जिससे पूछे फलाने गांवका रास्ता कौनसा है तो वह पूरब दिशाको बतावे। उसने सोचा कि देखो बढ़ईने ठीक कहा था कि इस गांवके सारे लोग बड़े मजाकिया हैं, वे सब उल्टा-उल्टा रास्ता बतावेंगे। तो उसने एकका भी कहना न माना। चलता गया दक्षिणकी ओर। जब किसी दूसरे गांवमें पहुचा तो लोगोंसे रास्ता पूछा। लोगोंने बताया कि तुम तो उस गावसे ही रास्ता भूल आये। वह रास्ता तो उस गांवसे पूरब दिशाको गया है। जब उसकी अक्ल कुछ ठिकाने आये, तब जाकर वह दूसरेकी बात मान सकता है। पहिले तो कितने ही लोगोंने समझाया था उस गांवमें, तब तो किसीकी भी नहीं मानी। जब आशय ऐसा रहता है भूल करके भी यह सही बात है ऐसा हठपूर्ण आशय बन जाता है तो उसके लिए फिर देशना काम नहीं करती है। दोनों तत्त्वोंको समझाना चाहिए यथार्थरूपसे। व्यवहारनय, निश्चयनय दोनोंको समझ करके ही उसे फिर मार्ग मिल सकता है, इसी बातको अगले छद में कह रहे हैं।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनाया स एव फलमविकलं शिष्य ॥८॥

देशनाकी पात्रताका वर्णन— देशनाका पात्र कौनसा शिष्य है? इसका विवरण इस छंदमें दिया है। जो व्यवहार और निश्चयको समझ करके मध्यस्थ बन जाता है, किसी भी नयके पक्षपातमें नहीं पड़ता है, तत्त्ववेदी होता है, ज्ञाताद्रष्टा रहता है– ऐसी जिसकी उत्कण्ठा रहती है, कहते हैं कि उपदेशका पूर्णफल तो वह शिष्य प्राप्त कर सकता है। देखिए व्यवहार और निश्चयके स्वरूपको सही जाननेके लिए इतना साहस होना चाहिए कि जब व्यवहारकी बात कही जाए, सुनी जाए, देखी जाए, जानी जाय, तब निश्चयकी अपेक्षा न रखकर उसकी दृष्टि न रखकर केवल व्यवहार व्यवहारसे देखो। यह एक तरीका है कि प्रारम्भ अवस्थामें मेरे स्वरूपको जाननेके लिए और जब निश्चयतत्त्वको जानने चले तो उस समय व्यवहारकी रच भी अपेक्षा न करें, केवल निश्चयके स्वरूपको जानें। एक बार ऐसा किए बिना स्वरूप दृढ़तासे सही नहीं बैठ पाता है उस नयसे।

निश्चय और व्यवहारके अवबोधनका विवरण— जैसे निश्चयनय स्वाश्रित होता है, वह केवल वस्तुके शाश्वतस्वभावको देखता है और केवल उसीमें, उस वस्तुके चतुष्टयमें ही दृष्टि लगाता है—ऐसी दृष्टि बनाते समय जब जाना जा रहा है कि प्रत्येक वस्तु अपने ही द्रव्य, क्षेत्र, काल भावसे है, अपने ही प्रदेशोंमें निरन्तर परिणमता हुआ चला जाता है, अपने ही गुणपर्यायोंमे तन्मय होता है। चित्तमें ऐसा उद्वेग न लाना चाहिए कि अरे तो क्या सब अपने आप हो जाता है? कोई निमित्त न हो तो कैसे हो जाता है? अरे एक निश्चयके स्वरूपको समझनेके सम्बन्धमें केवल वैसा ही दिमाग बनेगा। एक बार निश्चयके ठीक स्वरूपको समझनेकी दिशा मिल जाए, झाकी हो जाए, फिर बात करना कि ऐसा भी है, व्यवहारदृष्टिसे जब निरखते हैं तो ऐसा भी है। समयसारमे एक ही छदमें किसी तत्त्वकी बात कहनी

हुई तो यद्यपि इस नयसे ऐसा है, तथापि इस नयसे ऐसा है, ऐसी झांकी प्रायः अनेक स्थलों पर होती है। उन दोनों नयोंसे वस्तुके स्वरूपको जानकर फिर जो मध्यस्थ बनता है, वह देशनाका पात्र है और ज्ञानी है।

ज्ञानीकी नयमध्यस्थता— ज्ञानी पुरुष किसी पक्षपातमें नहीं चलता, इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों को एक समान निरखकर रहता नहीं, किन्तु एक पदवीकी ऐसी श्रेणी है, दिशा है कि व्यवहारनयका पहिली पदवीमें अध्ययन करके और साधना करके लक्ष्य अपना बारबार उस अंतस्तत्त्वका बनाये रहता, तब वह इस योग्य हो जाता है कि अंतस्तत्त्वका सीधा उपदेश ग्रहण करने लगता है और फिर यद्यपि वह निश्चयनयका विषय है, लेकिन निश्चयनयका विकल्प भी न रखकर उस ही अंतस्तत्त्वमे मग्न होनेका यत्न करता है। नयकी दृष्टि नहीं ग्रहता है, अपना काम करता है। जो तत्त्ववेदी पुरुष है, उसके लिए तो वह चित् चित्स्वरूप ही है।

व्यवहारका उपकार और निश्चयका शरण— देखिए, निश्चयनयकी दृष्टिका कितना बड़ा शरण मिलता है और व्यवहारनयके उपकारको भी देखिये कि यह व्यवहारनय, निश्चयनयके निकट ले जाकर खुद अपने आपको स्वाहा कर लेता है और इस उपासकको, कल्याणार्थीको उस तत्त्वका अनुभव करानेके निकट छोड़ देता है। जो पुरुष व्यवहार और निश्चयनयको जानकर यथार्थरूपको समझकर फिर पक्षपात छोड़ देता है, वह पुरुष देशनाका पात्र है। अमृतचन्द्रसूरिने एक उपदेशमें एक निचोड़के रूप जैसे वाक्योंमें स्पष्ट कहा है कि 'जो जीव परद्रव्यके आश्रयसे उत्पन्न होने वाले व्यवहारनयमें विरोध नहीं रखता, मध्यस्थ रहता है और फिर निश्चयनयका आलम्बन लेकर मोहको दूर करता है, वह ही अपने आप आत्मामें अपने शुद्धस्वरूपका अनुभव करता है।' इसमें सारभूत बात क्या मिली कि व्यवहारको जानना, उसका विरोध न करना और आलम्बन लेना निश्चयनयका। इस विधिसे यह जीव मोहको दूर कर लेता है।

भूतार्थनयके उपदेशकी प्रधानताका कारण— देखिए अध्यात्मग्रन्थोंमें उस शाश्वत् चैतन्यस्वरूपके उपदेश की बात बार-बार क्यों कही गयी है? यों कि व्यवहारका क्या अधिक उपदेश देना है? उसमें तो यह जीव अनादिसे फसा है, अनादिसे ही परमें दृष्टि है, इस परसे ही मेरा हित है ऐसा भाव बनाया। हां थोड़ा अन्तर यह पड़ता है कि वहां तो विषयोंके साधनोंमें, व्यवहारमें लगा है। अब यह मोक्षके साधनोंके व्यवहारमें लग रहा है। ठीक है एक दृष्टिसे तो, लेकिन जैसे एकका अंक लिखे बिना बिन्दियां कितनी ही धरते चले जावें, बिन्दियोंकी कुछ गिनती भी आती है क्या? नहीं आती। एक लिखनेके बाद जितनी बिन्दियां धरते जायेंगे, उन सबका दस गुना महत्त्व हो जाएगा। एकके पीछे एक बिन्दी रखी तो दस, दस के बाद एक बिन्दी रखी तो १०० । यों ही हजार लाख आदिकी गिनती बढ़ती चली जाती है। ऐसे ही समझिए कि यह एक आत्मतत्त्व जो अपने आपके सत्त्वके कारण सहजस्वरूप 'मैं हूं' उसका भान हो जाए, तब फिर व्रत नियम सब कुछ जो भी किये जायेंगे, जो भी आचरण किये जायेंगे, वे सब इस एकके लक्ष्यको पोषनेमें मदद देंगे और इस एकका लक्ष्य नहीं है तो वे ही क्रियायें लौकिक यश, लौकिक सुख, लौकिक नामवरी आदिक विकल्पोंमें सहायक बन जायेंगे।

लक्ष्यहीनोंका अनिर्वहण— जब कभी किसीके ऐसा होता है कि तपश्चरण बहुत करता है और अन्त में आस्था गिर जाती है और उल्टे मार्गमें लग जाता है। उसका कारण क्या है? उस एक विशुद्ध आत्मस्वरूपका लक्ष्य न था, तब केवल व्यवहारके आलम्बनसे लोगोंको रिझानेका भाव बना और कोई रीझता

है कोई नहीं, सबकी अपनी-अपनी कषायें हैं। कोई मानता है कोई नहीं मानता। कोई घटना ऐसी घट जाय तो वहां फिर अनास्था हो जाती है। वे अपने धर्ममें तपश्चरणमें भी नहीं लग पाते हैं। तो मूल लक्ष्य अपने आत्मतत्त्व का परिचय होना तो अत्यन्त आवश्यक है और एक बात वैसे ही बतावो कि इस ज्ञानके लगामको क्यों रोका जाय ? यह ज्ञान बहुत भीतर जाकर सभी पर्दोको छोड़कर खूब अन्तरङ्गमें जो कुछ भी सहजतत्त्व है उसको देखता है तो देखने दो। इस ज्ञानकी लगाम क्यों लगाते ? क्यों इसे मना करते ? उस विशुद्ध आत्मस्वरूपको परखने दो, उसमें कहीं धोखा नहीं है।

नयमध्यस्थतामें विकासमार्ग—मध्यस्थ होनेका यह आशय है कि व्यवहारनयका तो विरोध न रखें, यों बनें मध्यस्थ और निश्चयनयका आलम्बन करे जिससे मोह दूर हो और फिर निश्चयनयका भी पक्ष विकल्प न रखे। केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र अपने आपका अनुभव करें। इस तरहकी दृष्टि लेनेका यत्न जिनके होता है, जिनके ऐसी धारणा है ऐसे ही पुरुष, शिष्य देशनाके पूर्ण फलको प्राप्त कर लेते हैं। इस तरह इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थका प्रारम्भ करने से पहिले प्रशस्तिमें श्रोताको ऐसा सावधान किया गया है कि वह व्यवहार और निश्चयका यथार्थ स्वरूप जाने और व्यवहारका विरोध न रखकर निश्चय का आलम्बन करके दोनोंके पक्षसे दूर होकर निर्विकल्प अनुभूतिको प्राप्त करे।

अस्तिपुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगन्धरसवर्णैः।
गुणपर्ययसमवेतः समुदितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥६॥

चिदात्माका अस्तित्व—इस ग्रन्थमें पुरुष अर्थात् आत्माके प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय बताया गया है, इसमें उत्थानिकाके बाद सर्वप्रथम यह बतला रहे हैं कि पुरुष है कुछ क्या ? जिसके प्रयोजनकी सिद्धि का उपाय कहा जा रहा है, उस पुरुषके अस्तित्वकी सिद्धि इस गाथामें की है। "पुरुष है" सर्वप्रथम अस्तित्व सिद्ध किया जा रहा है, है ना कुछ यह तभी तो आकुलताएँ अथवा कुछ शान्ति सुख दुःख ये समस्त परिणमन हुआ करते हैं। पुरुष है कौन ? और वह पुरुष चैतन्यात्मक है। चेतनेका स्वभाव है तभी तो सुख दुःख विचार सभी कुछ चेतते रहते हैं। दिखने वाले इन अचेतन स्कंधोंसे विलक्षण कोई यह पदार्थ है और यह स्पर्श रस गंध वर्णसे रहित है। जो स्पर्श रस गंध वर्णवान् है वह चैतन्यात्मक होता ही नहीं। चैतन्यात्मक कोई भावात्मक पदार्थ है, अब जो भी भावप्रधान पदार्थ है वही पुरुष है।

एक कल्पना द्वारा सत्का विस्तार—द्रव्योंका कुछ विवरण पानेके लिए एक दृष्टिसे ऐसा देखें—यद्यपि ऐसी व्यवस्था नहीं है कि कोई एक सत् हो और वह नाना दृष्टियोंसे नाना जातियोंमें दीखे। फिर भी सत्त्व सामान्य लक्षणकी दृष्टिसे समस्त पदार्थोंको सत् रूप मानकर और सत् रूप स्वभावसे एक रूप निरखकर फिर अब दृष्टियां डालिये जब कि समस्त पदार्थ नाम स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव यों षडात्मक हुआ करते हैं, कुछ भी पदार्थ लो उसमें ये ६ बातें पायी जाती हैं। जैसे एक घड़ी ही लो तो इसका नाम अवश्य है। नाम बिना व्यवहार नहीं चलता। जिसमें हम नाम घटायें बस वह हुआ नामात्मक और जो कुछ भी यह पदार्थ है इसमें हमने घड़ीकी स्थापना की है। जब हम 'लोग यह घड़ी है' इस शब्दसे पुकारें तब समझियेगा कि वह यह पदार्थ है। इसी प्रकार समस्त पदार्थोंमें स्थापना बसी हुई है। यों कहो कि एक समझौता बसा हुआ है मनुष्योंका। हम इन शब्दोंसे कहें तो इस अर्थको समझना, इस पदार्थको समझना, ऐसी यहां स्थापना है और यह द्रव्यरूप है, पिण्डात्मक है, तथा भाव रूप है, शक्तिरूप है। इन चार निक्षेपोंके अतिरिक्त दो और धर्म हैं क्षेत्र और काल। यह घड़ी अपने आपको जितने प्रमाणमें विराज रही है उतने प्रदेशोंका नाम क्षेत्र है और यह निरन्तर कुछ अवस्थायें

बनाती रहती है, तभी तो ५-७-१० वर्ष गुजरनेके बाद यह घड़ी पुरानी शिथिल कमजोर और बेकार हो जाती है। ऐसी यह जीर्ण शीर्णताकी बात कहीं एक मिनटमें नहीं आ गयी किन्तु १० वर्षोंसे बराबर इसका इस ओर परिणमन चल रहा था घिसनेकी ओर और यह जब बहुत कुछ ऐसा घिसनेरूप परिणम गयी तो आज ऐसी बिकृत हो रही है। तो इसमें काल भी निरन्तर है, यों समग्र पदार्थ नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र और कालरूप हैं।

नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भावकी दृष्टि और जीवकी भावप्रधानता—प्रकृतमें यहां एक ऐसी कल्पनाएँ करके कि सभी कुछ सत्‌रूप है तो इस सत्‌रूपतामें भी हम इन ६ दृष्टियोंको लगायें। सभी सत् हैं। ठीक हैं पर सत्त्वकी दृष्टिसे सब एक हैं। अब उनमें हम ६ दृष्टियोंको लायें तो यों निरखें ऐसी एक अपनी तर्कणा बनायें जिससे कुछ एक विशिष्ट मर्म ज्ञात होगा। कोई पदार्थ नामात्मक है, नामप्रधान है, कोई पदार्थ स्थापनाप्रधान है, कोई द्रव्यप्रधान, कोई भावप्रधान, कोई क्षेत्रप्रधान और कोई कालप्रधान है, इसके विश्लेषणमें अब चलें तो निरखिये नामप्रधान पदार्थ है धर्मद्रव्य, क्योंकि नामका जो काम है वह है चलाना। नाम चला करता है, नामसे चलनेका व्यवहार बनता है। नाम धरे बिना क्या चलेगा? लोग नाम बोलनेकी बात भी भारी सोचा करते हैं। चलने वाली चीज सब जगह नाम ही तो है। सब चीज हैं, मान लो नाम रखनेकी पद्धति कुछ न हो तो क्या करोगे? पड़े रहें जहां है तहां पदार्थ रहें। न कुछ मतलब बने, न व्यवहार चले, न एक दूसरेसे किसीका उपकार बने, वह बनता रहे। तो धर्मद्रव्य का काम चलनेमें सहायक होना है। वह नामप्रधान तत्त्व है। स्थापनाप्रधान है अधर्मद्रव्य। स्थापित कर दे, स्थित करा दे, ठहरा दे, चलते हुए जीव पुद्गलको ठहरानेमें सहायक अधर्मद्रव्य है। पिण्डप्रधान पदार्थ है पुद्गल, जैसे पिण्ड पुद्गलका समझमें आता वैसे किसी द्रव्यका नहीं आता। हाथपर धरकर दिखा दो, सामने बता दो, यह है चौकी, यह है भींत, सीधे पिण्ड नजर आ रहे हैं। क्षेत्रप्रधान पदार्थ है आकाश उसका क्षेत्र है, सर्वस्व है। कालप्रधान पदार्थ है, कालद्रव्य। पर जीव है यह भावप्रधान। जीव में चैतन्यभाव नजर आना प्रधानतासे, यों तो सभी पदार्थ षडात्मक हैं, अपना-अपना गुणपर्याय अपना अपना पिण्ड कहलाता है। किन्तु एक लक्ष्यमें प्रधानतासे कुछ धर्म आया इस दृष्टिसे देखते हैं। तो जीव भावप्रधान तत्त्व हुआ।

जीवकी प्रासंगिक पांच विशेषतायें—जीवमें स्पर्श रस गंध और वर्ण नहीं हैं और वे अपनी गुण पर्यायोंमें समवेत है। समवेतका अर्थ है तादात्म्य रूपसे रहना। जिसमें गुण तो शाश्वत तादात्म्यमें है और पर्याय पर्यायके कालमें तादात्म्य है। यों यह पुरुष आत्मा अपने गुणपर्यायोंमें समवेत है तथा यह पुरुष भी उत्पाद व्ययध्रौव्य करके समुदित है अर्थात् यह प्रतिक्षण उत्पन्न होता है, व्ययको प्राप्त होता है और सदैव रहता है। यों अस्ति, चिदात्मा, मूर्तिकतासे रहित, गुणपर्यायोंमें समवेत, उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे युक्त यों ५ विशेषण कहे गए हैं। इनमें सर्वप्रथम अस्ति कहा है। किसी पदार्थका अस्तित्व निश्चित होनेपर ही उसके सम्बन्धमें आगेकी बात चलती है। यों हो तो कुछ नहीं और बड़ी बड़ी बातें बनायी जायें तो उसकी क्या प्रतिष्ठा है? तो सर्वप्रथम अस्तित्व बताना चाहिए। यह पुरुष अर्थात् आत्मा है। जो है होता है वह अपने स्वरूपसे है और परस्वरूपसे नहीं है। इस धर्मको साथ लिए हुए है। कुछ भी पदार्थ हो यदि वह है ही तो वह अपने स्वरूपसे है अन्य सब परस्वरूपोंसे नहीं है।

पुरुषका चिदात्मत्व—जब अपने स्वरूपसे यह आत्मा है तो उसमें असाधारण स्वरूप क्या है? यह घटाने के लिए विशेषण दिया है चिदात्मा। यह चैतन्य आत्मा। चैतन्यकी वृत्ति है चेतना। वह चेतना

दो प्रकारसे है—सामान्य चेतना, विशेष चेतना। किसी भी पदार्थको प्रतिभासनेका काम है। इस पुरुषको तो वह प्रतिभासन दो प्रकारसे होगा--एक सामान्य प्रतिभासन, दूसरा विशेष प्रतिभासन। प्रत्येक पदार्थ सामान्यविशेषात्मक होता है। तो उस पदार्थमें गुण भी सामान्य विशेषरूप है, पर्याय भी सामान्य विशेषरूप है। वह द्रव्य भी स्वयं सामान्य विशेषरूप है। पदार्थ चूँकि सामान्य विशेषरूप है, अतएव उसका सब कुछ सामान्य विशेषरूप हुआ। पुरुषमें जो चेतनाकी वृत्ति पायी जाती है, वह सामान्य विशेषरूप है। सामान्य चेतनाका नाम है, दर्शन और विशेष चेतनाका नाम है ज्ञान। यह पुरुष चेतनात्मक है, इसका अर्थ यह है कि यह ज्ञान दर्शनस्वरूप है। इसे अब यों निरखिये कि सामान्य दर्शन किसी विशेषकी अपेक्षा नहीं रखता, उसमें आकार प्रकारका प्रतिभास नहीं होता, यदि हो तो वह विशेष प्रतिभास होगा। तब सामान्य प्रतिभासका काम यह रहा कि जिस किसी भी प्रकारके प्रतिभासको करने वाले इस पुरुषको जो अपनी दृष्टिमें लेना है, अवलोकन करना है तो वही समझिए दर्शनका काम है और स्वके विषयमें अथवा परके विषयमें जो विशेषरूपसे ज्ञान होगा, प्रतिभास होगा, वह ज्ञान है विशेष प्रतिभास। यों यह आत्मा सामान्य विशेष प्रतिभासस्वरूप है।

पुरुषके चिदात्मत्वका विश्लेषण— कुछ लोग इस चेतनाके विरोधी हैं, पुरुषको भौतिक मानते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु--इनके सम्बन्धसे यह चैतन्यशक्ति उत्पन्न हुई है। जैसे कि कोदो आदि अनाज पड़ा हुआ है, जब उसे अनेक बार धोते हैं, उसकी कोई विशेष दशा बनती है तो उससे मदिरा उत्पन्न होती है। ऐसे ही यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु जब एक मिल जाते हैं, सही स्पीडसे, सही डिग्रियोंमें ढगसे जब मिल जाते हैं तो वहां एक चैतन्यशक्ति उत्पन्न होती है, इन भूतोंके सिवाय अन्य कुछ पदार्थ हैं नहीं। यों चैतन्यका निषेध करने वालेके प्रति यह विशेषण है कि यह प्रतिभास चिदात्मक है। कोदो आदिकमें जो मदिरा आदिक उत्पन्न होती है, किन्हीं क्रिया विशेषसे तो वह मदिरा जैसा परिणमन होनेकी बात उसमें थी, इसकी जातिसे कुछ अलग बात नहीं हुई है। कारणके मिलने पर अपनी ही जातिमें, सीमामें वह परिणति बन गई है, पर यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायुके मिलने पर भी कुछ इस पदार्थकी जातिके खिलाफ कोई शक्ति प्रकट हो जाए, यह नहीं हो सकता। यह चैतन्यात्मक पदार्थ अचेतनसे पृथक् अपने स्वरूपरूप है।

पुरुषकी अमूर्तता व गुणपर्ययसमवेतता-- यह चैतन्यात्मक प्रतिभास, स्पर्श, रस, गंध, वर्णोंसे रहित है। जो पदार्थ स्पर्शवान् है, जिस पदार्थमें ये चार गुण पाए जायें, इनका परिणमन पाया जाए, वे तो सब स्थूल पदार्थ हैं, एक पिंडात्मक पदार्थ है। उन स्थूल पदार्थोंमें चेतन जैसे सूक्ष्म भावोंका स्वरूप बनना असम्भव है। यह चैतन्यात्मक प्रतिभास स्पर्श, रस, गंध, वर्णोंसे रहित है। इसका गुण है ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, आनन्दशक्ति, सर्वगुणोंके अवधारणकी शक्ति आदिक अनेक गुण हैं और उन गुणोंके प्रति समय परिणमन होते हैं। उपाधिके सम्बन्धकालमें उसमें विकृत परिणमन होते हैं और निरुपाधि स्थितिमें स्वाभाविक परिणमन होता है। हैं सभी गुण निरन्तर परिणमनस्वरूप। जो परिणमन है वह पर्याय है और परिणमन जिस शक्तिका होता है वह गुण है। गुण शाश्वत् रहता है, सदैव रहता है और पर्याय अपनी कालमें रहती है, मगर पर्यायके कालमें यह आत्मा उस पर्यायसे तन्मय ही है। यों यह चिदात्मक प्रतिभास जो कि अमूर्त है, फिर भी अपने गुणपर्यायोंमें समवेत है।

पुरुषकी उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता-- अन्तिम विशेषण है कि यह पुरुष उत्पादव्ययध्रौव्यसे समुदित है। सभी पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हैं। सत्का स्वरूप ही यह है--'उत्पादव्ययध्रौव्य युक्त सत्'।

कोई पदार्थ उत्पाद तो करता है, पर व्यय अथवा ध्रौव्य उसमें नहीं है तो वह पदार्थ है ही नहीं। कोई व्यय करे और उसमें उत्पादव्ययध्रौव्य न हो तो भी वह है, नहीं है। अथवा कोई पदार्थ ध्रुव रहे, पर उत्पादव्यय न बने तो भी वह पदार्थ है, नहीं है। हठवादकी बात अलग है। इन तीन गुणोंमें से कोई भी एक गुण हो और बाकी गुण नहीं हैं—ऐसा हठ करें तो वह उनका अपसिद्धान्त है। जिसे ऐसा माना भी है कि ध्रुवप्रधानता देखकर सर्वथा ध्रुव माननेका सिद्धान्त भी एक है नित्यवादी। जैसे एक सत् है, ब्रह्म है और सदैव अपरिणामी है, उसमें कभी विकार नहीं होता, कभी परिणमन नहीं होता। यहां तक माना है कि यह ब्रह्म चैतन्यस्वरूप है, पर इसमें ज्ञान परिणमन नहीं होता। ब्रह्म है चित्शक्ति, जिसकी वजहसे प्रकृतिका गुण ज्ञान है, वह पुरुषमें झलकता है। यों मानकर नित्यवादका पोषण किया है। उन्हें यह भ्रम था कि ब्रह्ममें, आत्मामें यदि ज्ञान मान लें तो ज्ञान तो सर्वत्र यह ही दिख जाता है कि नानारूप है, आकार-प्रकारका जितना है परिणमन है। कुछ ज्ञान हुआ, मिट गया, अब दूसरा ज्ञान बना लो। तो यों तो ब्रह्म अनित्य बन जाएगा। अतएव उस अपरिणामी चित्स्वरूपात्मक ब्रह्मको गुण ज्ञान भी नहीं माना गया है। यों कोई सिद्धान्त केवल ध्रौव्यके हठमें उतरे हुए हैं।

उत्पाद व्यय होने पर भी पदार्थकी ध्रुवता— कोई सिद्धान्त ध्रौव्यको न मानकर उत्पाद व्ययकी हठमें उतरे हुए हैं। कोई चीज शाश्वत रहती नहीं है। जिस समय जो है वह उस समय है, अगले समय वह नहीं रहता है। अगले समय जो हो वह उस समयमें है, वह आगे-पीछे रहता ही नहीं। यों केवल विवर्तमात्रको ही समग्र पदार्थ मान लें तो यही है उत्पाद व्ययकी हठ। ध्रौव्यको कुछ माना ही नहीं, ऐसा भी क्षणिकवाद जैसा सिद्धान्त है, लेकिन एक बात तो सोचिए कि जो परिणमन होता है, जो परिवर्तन होता है, उसमें कोई ध्रुव पदार्थ तो है कि जिसमें परिवर्तन बने कि अब यह परिणमन हो गया। जैसे पुद्गलमें ४ शक्तियां हैं— स्पर्शशक्ति, रसशक्ति, गंधशक्ति और रूपशक्ति। इनमें से जब किसी शक्तिके शुद्ध स्वरूप का विचार करते हैं तो वहां कुछ अत्यन्त सूक्ष्म कोई बात एक समझमें कहनेकी आती है। उसी शक्तिका यह काला, पीला, नीला, लाल, सफेद और इनकी मिलावट और इनकी कमी आदिमें अनेक प्रकारके परिणमन चलते हैं, वे परिणमन एक रूपशक्ति पर ही तो चल रहे हैं। अभी आम हरा था, अब हो गया पीला तो यही तो हुआ कि जो उसका रूप गुण अभी हरे परिणमनमें था वह रूपगुण अब पीले परिणमनमें आ गया। पर कोई चीज है जिसमें निरन्तर परिणमन चलते हैं। कभी कुछ अन्तर आता है, अभी हरा था, अब पाव सेकिण्डके लिए कुछ नहीं रहा, यों अन्तर तो न आएगा। वह शक्ति है, उस शक्तिमें परिणमन होता चला जा रहा है।

त्रिगुणात्मक चैतन्यस्वरूप पुरुषकी सिद्धि--- यों पदार्थ सब उत्पादव्ययध्रौव्यरूप होकर समुदित हैं अर्थात् हैं, प्रकट हैं, रहते हैं, उनकी सत्ता बनी रहती है। ऐसे ही समझिए इस चैतन्यात्मक पुरुषको यह आत्मा भी प्रतिक्षण उत्पाद व्यय करके भी शाश्वत ध्रुव रहा करता है। यों यह पुरुष उत्पादव्ययध्रौव्य धर्मोंसे समुदित है। यों इस गाथामें पुरुषकी सिद्धि की है, जिसके प्रयोजनकी सिद्धिका उपाय इस ग्रन्थमें कहा जाएगा। सबसे पहिले हमें अपने बारेमें यह निर्णय रखना है कि मैं हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, अमूर्त हूं, अपने ही गुणपर्यायोंमें हूं और प्रतिक्षण उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक हूं। यों अपने आपके पुरुषकी, पुरुषके अर्थकी सिद्धि करना धर्मपालनमें सर्वप्रथम आवश्यक है।

परिणममानो नित्यं ज्ञानविवर्तैरनादिसन्तत्या।
परिणामानां स्वेषां स एव कर्ता च भोक्ता च ॥१०॥

अनादि संततिसे आत्माका विपरिणमन— यह आत्मा निरन्तर परिणमता रहता है, इसमें पर्यायें एकके बाद एक बराबर होती चली जाती हैं। सो अनादिकालसे इस आत्मामें ज्ञानकी विवर्तपर्यायें बन रही हैं। रागादिक परिणामोंमें ही लग रहा है, इसलिए अशुद्ध दशा बन रही है। यह अशुद्धता अनादि संततिसे है, आज ही नहीं हो गई। अनादिकालसे यह आत्मा विकृत बन रहा है और फिर उन रागादिक भावोंसे फिर नवीन कर्म बंधता है, फिर उन कर्मोंका उदय आता है तो फिर नवीन रागादिक होते हैं। राग और कर्म इन दोनोंका बंधन बराबर परम्परासे चला जा रहा है। सो यह आत्मा वास्तवमें अपनी ही पर्यायों को करने वाला है। कोई जीव किसी दूसरे पदार्थको नहीं कर सकता और न दूसरेको भोग सकता। अपना परिणाम करेगा तो अपने ही परिणाममें सुख आये, दुःख आये, उसे भोगेगा और जब यह जीव कर्मउपाधिसे छूट जाता है तो फिर यह अपने स्वभावमें परिणमता है।

त्रिविधा चेतना— ज्ञानके परिणमनोंकी, चेतनके परिणमनकी तीन जातियां हैं– कर्मचेतना, कर्मफलचेतना और ज्ञानचेतना। किसी भी कर्ममें, आत्माकी क्रियामें 'इसे मैं करता हूं' ऐसी बुद्धि बनाये तो उसका नाम है कर्मचेतना। कर्मका फल जो सुख अथवा दुःख मिला, उसमें याने ज्ञानातिरिक्त भावमें ऐसी बुद्धि बनायी कि मैं सुख भोगता हूं, दुःख भोगता हूं और इसीके सहारे बाह्यविषयोंको मैं भोगता हूं, यह भी बुद्धि चलती है, यह है कर्मफलचेतना। सो संसारी प्राणियोंके ये दोनों बातें लग गयी हैं। जो काम करता है यह प्राणी, उसमें यह कर्तृत्वबुद्धि रखता है। मैं करता हूं, मैंने किया, मैं करूँगा, इस प्रकार उसमें कर्मचेतनाकी बात आती है और जब कुछ भोगता है सुख या दुःख तो उसमें भोगनेकी बात आती है। मैं भोगता हू, मैं रसका अनुभव करता हू। इसे यह पता नहीं रहा कि यह मैं आत्मा केवल ज्ञानकी ही परिणतियोंको तो करता हू और उससे जो परिणाम बनते हैं, उन परिणामोंको मैं भोगता हू। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थको कर नहीं सकता, क्योंकि कर्ता और कर्म एक ही पदार्थमें होते हैं। जो परिणमे सो कर्ता और उसमें जो परिणमन बने सो कर्म। यों कर्ता और कर्म एक ही पदार्थमें अभेद से होते हैं। आत्मा जो करता है परिणाम ज्ञानकी परिस्थितियां, बस वह तो कर्म है और उनका करने वाला आत्मा है और उस समय जो कुछ अनुभवा जाता है, वह है भोग और उसके भोगने वाला है जीव।

पुरुषकी अनादिसंततिसे अशुद्धता— यहां अशुद्ध कर्तृत्व भोक्तृत्वकी दशा इस जीवके अनादि संततिसे चली आ रही है। जैसे सोनेमें कीटिका सम्बन्ध प्रारम्भसे है। खानसे स्वर्ण निकलता है तो वह शुद्ध नहीं निकलता। वह मिट्टीसे निकलता है। सोनेकी उस प्रकारकी जो स्थिति है, वह प्रारम्भसे ही है। ऐसा नहीं है कि पहिले शुद्ध सोना हो, फिर उसे मिट्टीमें मिलाया गया हो और इस तरह बन जाए। कभी कोई उस सोनेकी डलीको मिट्टीमें भी मिलाये तो भी मिलता नहीं है। लोहेकी तरह सोनेमें जंग नहीं चढ़ा करता। जैसे सोने और किटका सम्बन्ध अनादिसे है, इसी प्रकार जीवका और कर्मका सम्बन्ध भी अनादिसे है अथवा जैसे तिलमें तैल। तिलमें तैल कबसे आया? जबसे वह तिलका दाना आया, तबसे ही वह तैल है। ऐसा तो नहीं है कि तिलका दाना तो पहिले बना हो और बादमें उसमें तैल आया हो। जिस कमजोर परिस्थितिमें दाना है, उतनी कमजोर परिस्थितिमें तैलका भी सम्बन्ध है और जैसे जैसे दाना बढ़ता जाता है, पुष्ट होता जाता है, वैसे ही वैसे तैल भी पुष्ट होता जाता है। कुछ ऐसा नहीं होता कि तिलका दाना बन जाय और फिर उसमें तैल भरा जाए। जैसे तिल और तैलका सम्बन्ध अनादिसे है। अनादिका मतलब जबसे वह दाना है, तबसे तैल है। दोनोंका सम्बन्ध एक साथ है, इसी प्रकार इस

प्रसन्न करनेका यत्न करना है। जहां भीतरमें विचारा कि मैं सबसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हू, अपने ही स्वरूपके भावोंका कर्ता हू और अपने ही भावोंका भोक्ता हू, यों अपने भावोंके कर्तृत्व और भोक्तृत्वसे आगे मेरा कोई आत्मा नहीं है। ऐसा जब बोध हो तो मोह तुरन्त क्षीण होता है। मोह जहां क्षीण हुआ फिर रागद्वेषका ठिकाना नहीं रहता। रागद्वेषके पनपनेका ठिकाना था मोह। जब ठिकाना ही खत्म हो गया तो कुछ समय और तंग करनेपर यह अपने आप दूर हो जायेगा। इन सब बातोंके लिए हमे भेदविज्ञानकी प्रथम आवश्यकता है।

भैया! वह बड़ा भारी सौभाग्य होगा जब चित्तमें यह धुन बन जायेगी, अपने आपको सबसे न्यारा अपनेका ही कर्ता, अपनेका ही भोक्ता इतनी ही मात्र मेरी दुनिया है, ऐसे एकत्व स्वरूपमें जब यह लगेगा तो यह बहुत बड़ी भारी इसके सौभाग्यको बात होगी। जब इन चर्मचक्षुवोंको खोलकर दुनियामें देखता है तो बहुत बहुत विडम्बनाएँ इसकी बन जाती हैं और जब इसे बन्द करके ज्ञाननेत्रसे अपने आपके भीतर निरखते हैं तो यहा एक भी विडम्बना अथवा क्लेश नहीं मालूम होता। जब भी इस जीवके उद्धार का अवसर होगा तो यह ही करेगा यह जीव। तब भूलको लम्बा करनेसे क्या लाभ है? यद्यपि गृहस्थावस्थामें पचासों झंझट हैं मगर धुनकी बात है। किसी भी जगह रहकर आध-आध घटे बाद या किसी भी समय अपने आप पर दृष्टि दे सकते हैं। यह मैं आत्मा सबसे न्यारा केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र हूं, ऐसी दृष्टिको रोकता कौन है, पर हम ही जब शिथिल हो जाते हैं, हम ही में उत्साह नहीं रहता तो हम स्वय दृष्टि नहीं देते हैं।

संसारमें हम आपका कोई साथी नहीं है। जिसे साथी मानते हैं इस जिन्दगीमें, तो कदाचित् भाव एक सा बने, अनुकूल कषायें दोनोंमें रहें तो साथी माने जा रहे हैं, प्रथम तो वहा भी कोई किसीका साथी नहीं। जिसको जिसमें अपना सुख मालूम होता है उस प्रकारका वह परिणमन करता है और कदाचित् व्यावहारिक साथी मान भी लें तो सर्वप्रथम तो यहां भय है। किसी भी समय प्रतिकूल बात आ जाय, कषायसे कषाय न मिले तो वह प्रीति मैत्री साथीपना भग हो जायेगा और न हो अब भग, तो उसको तो एकदम क्लेश आयेगा जब वियोगका समय होगा। जितनी अधिक प्रीति होगी जिन्दगीमें किसी भी जीवसे, किसी भी तत्त्वसे वस्तुसे, मरणकालमें वियोगके समयमें उतना ही अधिक क्लेश होगा। इस कारण समागमके समय इस बातका अभ्यास करना चाहिए कि सयोग है तब भी समझें कि मेरा यहा है कुछ नहीं। सयोगके कालमें जो भेदविज्ञानकी भावना बना सकेगा, उसका है कहीं कुछ नहीं। शरीर भी जब मेरा नहीं तो अन्य किसी पदार्थको मैं क्या बताऊँ? जो मिले हुए समागममें अभीसे ही भेदविज्ञानकी बात बनाये रहेगा, सबसे न्यारा अपने आपको मानता रहेगा तो उसको वियोगके कालमें क्लेश नहीं होगा।

भैया! गृहस्थावस्थामें भी इन दो एक बातोंकी आन्तरिक तपश्चरणके लिए बड़ी आवश्यकता है प्रथम तो यह कि जितने समागम मिले हैं, वैभव धन मकान दुकान लौकिक इज्जत सबके प्रति यह भाव रखें कि ये सब विनाशीक हैं और जब तक भी हैं तब तक ये अपना ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य किया करते हैं। उनका कोई उत्पाद व्यय ध्रौव्य नहीं कर सकता। पदार्थ सब जुदे जुदे हैं। तो समागमको विनश्वर जानना और उससे न्यारा अपने आपको निरखना इसका अचिन्त्य प्रभाव अब भी है और भविष्यकाल में भी होगा। और जो इसके विरुद्ध चलते हैं जैसे मान न मान मैं तेरा मेहमान, यह पदार्थ तो इसका कुछ नहीं है, यह अपने उत्पादव्ययमें रहता है, यह अपने परिणमनसे पास है अथवा दूर हो जायेगा।

उसका उसके ही हिसाबसे परिणमन चलता है, मगर यह मोही जीव अपनी ओरसे ही यह कहावत चरितार्थ करता है कि मान न मान मैं तेरा मेहमान। कोई भी परपदार्थ मुझे नहीं मानता, मेरेसे प्रीति नहीं रख सकता, स्वरूप ही नहीं है वस्तुका ऐसा कि कोई पदार्थ मेरेमें कुछ कर दे। तो सारे पदार्थ तो मुझसे विविक्त है, न्यारे पडे हैं, वे मुझे तो मानते नहीं पर मैं ही अपनी ओरसे उन्हें अपनाऊं, मानूँ, मुग्ध होऊँ तो इसका फल हम भोगेंगे। खुदको ही तो भोगना पडेगा।

इस प्रकरणमें इस बात पर दृष्टि दिलायी जा रही है कि हम अपने आपमें अधिकाधिक यह अनुभव करें कि मैं आत्मा हूं, चैतन्यस्वरूप हूं, गुणरूप हूं और ज्ञानकी पर्यायोंसे ही मैं परिणमता रहता हू। जब अशुद्ध परिस्थिति है तब रागद्वेष मोहरूप परिणमन करता हू। यद्यपि इन परिणामोंका निमित्त कारण द्रव्यकर्म है लेकिन ये परिणाम तो भावरूप हैं और उसका व्याप्यव्यापक सम्बन्ध उसके भावोंसे है। जैसे इस अंगुलीमे जो रूप है, रस है, गध है, स्पर्श है उसका व्याप्यव्यापकपना इस अंगुलीमें है, आपकी अगुली मे तो नहीं है। जो पदार्थ हो, उसका जो भी परिणमन हो, गुणपर्याय हो, वह सब उस ही पदार्थमें व्यापकर रहता है। तो मेरी क्रियाका ही तो मैं करने वाला हो सकूँगा, मेरी क्रिया है भावात्मक। तो मैं भावकर्मका कर्ता हूं द्रव्यकर्मका कर्ता नहीं। इसी प्रकार यह द्रव्यकर्म भी अपने आपमें जो भी बात बनती है प्रकृति स्थिति आदिक उनका करने वाला है, मेरे परिणामोंका करने वाला नहीं है। यह तो निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध देखकर उपचारसे कहा जाता है कि इसने अमुकमें क्रोध पैदा कर दिया या कुछ भी कर दिया। यह मात्र औपचारिक कथन है।

वस्तुतः प्रत्येक पदार्थ अपने आपका परिणमन करता है। अगर २० पुरुषोंमें परस्परमें मित्रता हो, उनकी बडी प्रीतिगोष्ठी बनी हो तो उन बीसोंके भी भाव अलग-अलग हैं। किसी के भावका कोई दूसरा करने वाला नहीं है, सब अपने-अपने भावोंसे ऐसी चेष्टा करते हैं कि वह २० लोगोंकी एक गोष्ठी बन गयी। प्रत्येक जीव भिन्न-भिन्न हैं, सभीके अपने सुख दुःख कर्म पुण्य पाप न्यारे-न्यारे लगे हैं और उन कर्मोंके अनुसार वे सब फल भोगते हैं। घरमें १० जीव हैं जितने दो चार जीव हैं यह बतलावो कि कोई प्रधानपुरुष जो रातदिन श्रम करता है, दुकानपर बैठकर खूब कमाई करता है और जो घरमें रहने वाले दो चार जीव हैं वे सिर्फ थोड़ा घरकी व्यवस्थामें रहते हैं, आरामके साधन घरमें जुटाये रहनेके काम वे सब करते हैं तो उदयकी बात बतला रहे हैं कि पुण्यका उदय अधिक किनके रहा? कमाई करने वाले श्रम करने वालेका पुण्य अधिक रहा या घरके उन चार जीवोंका पुण्य अधिक रहा? पुण्य तो उन घरके दो चार जीवोंका ही अधिक रहा। तो पुण्य सबका जुदा जुदा है, और उन सबका उदय भला है, घरमें रहने वाले पुण्यवान जीवोंके निमित्तसे वह एक पुरुष दुकान पर बहुत बड़ी कमाई कर लेता है। तो सब जीवोंके साथ पुण्य पाप लगे हैं। संसारमें पुण्य पापका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता। सबको अपने उदयानुसार सुख अथवा दुःख भोगना पड़ना है। जब सबके कर्म अपने साथ हैं तो फिर कर्तृत्वबुद्धि रखना तो एक मिथ्याबुद्धि है, मोहकी बुद्धि है, इसमें चैन नहीं मिल सकता।

किसी भी समय तत्त्वज्ञान बराबर रहे तो जब चाहे शान्ति है। किसी जीवके प्रति किसीने कितना ही खर्च किया हो और बादमें वह प्रतिकूल बन जाय तो तत्त्वज्ञानीको यह धैर्य है कि मैंने कुछ न किया था। उसका ऐसा उदय था कि वह सब होता जाता था। मैं क्या करने वाला था? आज यदि प्रतिकूलता की स्थिति बन गयी, वह पुत्र अनुकूल नहीं चलता तो ठीक है, यह भी एक परिस्थिति है। वह समस्त परिस्थितियोंका ज्ञाताद्रष्टा रहता है, भीतरमें खेद नहीं रखता। भीतरमें खेद न रहे, इसका उपाय भेद

विज्ञान है, तत्त्वज्ञान है, जिससे कि ज्ञानी यह देखता रहता है कि प्रत्येक जीव अपने ही कर्मोंका फल भोगता है, अपने ही भावोंका करने वाला और भोगने वाला है। मैं किसी अन्यका कुछ नहीं करता; जो करता हूं सो अपने आपके भावोंको करता हूं—ऐसी भेदविज्ञानकी दृष्टि रहे तो समझिए कि शांति मिल सकेगी और जहां परको अपनानेकी बुद्धि रही, अपने आपके स्वरूपसे च्युत हो जाए, वहां शांतिका कोई अवसर नहीं प्राप्त हो सकता। यों इस पुरुषार्थ सिद्ध्यूपायमें आगे चारित्रका वर्णन करेंगे, पर उससे पहिले मूलभूत बात जमायी गयी है कि अपना श्रद्धान सही रखें, भेदविज्ञानसे हम अपना ज्ञान पुष्ट करें, बादमें रागादिक दूर करनेके लिए चारित्रका पालन करें।

सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥११॥

पुरुषार्थसिद्धिप्राप्त आत्माकी कृतकृत्यता— इस ग्रन्थका नाम पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय है। पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय, इसमें ४ शब्द हैं—पुरुष, अर्थ, सिद्धि और उपाय। आत्माका प्रयोजन है दु:खसे छूट जाना, इसीको सिद्धान्तकी भाषामें कहो मुक्ति। इस मुक्तिकी सिद्धिका उपाय जिस ग्रन्थमें कहा है, उसका नाम है पुरुषार्थसिद्ध्युपाय। जब यह पुरुष भली प्रकार पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त हुआ, तब यह उस अचलचैतन्यको प्राप्त करता है, जो चैतन्यस्वभाव सर्वप्रयत्नोंसे उत्कृष्ट है, तब ही यह जीव कृतकृत्य हो जाता है। अपने आपमें अपने आपको विवर्तोंसे उत्तीर्ण निरखना चाहिए परिणमनोंपर दृष्टि न देते हुए, उन्हें उपयोगमें न लेते हुए। यद्यपि परिणमन बिना जीव रहता नहीं है, लेकिन यह भी एक कला है कि हम परिणमनोंको गौण करके द्रव्यस्वभावको प्रधानरूपसे देखें। जब यह जीव उन परिणमनोंको गौण करके अपने आपमें अंतःप्रकाशमान् अनादि अनन्त चैतन्यस्वभावको ग्रहण करता है, तब वह कृतकृत्य होता है। कृतकृत्यका अर्थ है करने योग्य काम जिसने कर लिया। काम कर चुकने पर दो स्थितियां होती हैं—काम रहता नहीं और कोई अलग स्थिति बनती है। सम्यग्ज्ञानी पुरुषमें ये दोनों बातें देखी जा सकती हैं कि उसे काम करनेको कुछ नहीं रहा। जब यह जाना कि सभी पदार्थ स्वतन्त्र हैं, भिन्न हैं, सभी अपने-अपने गुणपर्यायोंके स्वामी हैं, किसीका किसीसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, भले ही निमित्तनैमित्तिक भाव है, पर निमित्त तो एक सन्निधान है, कोई निमित्तमें से परिणमन निकालकर उपादानमें आते हों ऐसा तो नहीं है, तब प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र हुए, सभी पदार्थ अपने आपके स्वभावसे परिणमने वाले हुए।

जब ज्ञानी पुरुषको ऐसी स्थितिका परिचय होता है तो उसके यह दृढ़ निर्णय हो जाता है कि मेरे करनेको कुछ नहीं रहा। परपदार्थोंमें कुछ किया हो नहीं जा सकता। यह बात दो दृष्टियोंसे देखी जाती है। एक तो यों कि मैं जितना हूं जिन गुणपर्यायों वाला हूं, अन्य—मैं अपने ही प्रदेशोंमें व्याप कर रहता हूं। मेरे गुण जो कुछ बनेंगे, वे मेरे ही प्रदेशोंमें समाप्त हो जाते हैं, मेरे प्रदेशोंसे बाहर मेरा कोई काम नहीं है। मैं जितनी देहमें मौजूद हूं, उतनेसे बाहर मेरा कुछ काम नहीं है, उतनेमें ही मेरा सारा काम समाप्त हो जाता है। इस कारण बाहरमें मेरा काम करनेको रहा ही नहीं। एक तो हुई यह दृष्टि और दूसरी दृष्टि यह है—इस दृष्टिसे कृतकृत्य जाना जाता है कि मैं तो सर्व भेद प्रभेदोंसे रहित एक सनातन चैतन्यस्वभावमात्र हूं। यही है आराधनाका उपाय। जो शरणभूत है, मंगल है, ऐसे उस चैतन्यस्वभावको लक्ष्यमें लेकर यह निर्णय होता है कि यह तो करने और भोगनेसे भी परे है। इससे तो बंध और मोक्षका भी विहार नहीं है। मैं ऐसा चैतन्यस्वभावमात्र हूं।

कृतकृत्यताके भावसे शांति— भैया ! हम आपको जब-जब भी जितना सुख व शांतिकी प्राप्ति होती है, वह इस बातसे होती है कि मेरे करने को अब कुछ नहीं रहा। लोग तो मानते हैं कि मैंने काम किया, इससे सुख हुआ; पर तथ्य यह है कि जब चित्तमें यह बात समाई कि अब मुझे करनेको काम नहीं रहा, तब उसका आराम है। जब यह करनेका आशय पड़ा था कि मुझे तो काम करनेको पड़ा है, तब अशांति थी; पर जब यह आशय बना कि अब मेरे करनेको कुछ भी नहीं रहा, तब उससे विश्राम मिला है। यह जीव जब सर्वपदार्थोंको यथार्थ जान लेता है तो इसके यह दृढ श्रद्धा बन जाती है कि मेरे करनेको अब कुछ नहीं है—ऐसी दृढ श्रद्धा बन जानेसे वह कृतकृत्य हो जाता है। धर्मके लिए यही एक भाव लाना है कि मेरेमें निर्लेपता जगे। ऐसा भाव बने कि मेरे करनेको कुछ नहीं है। मैं यथावत जो हूं सो हूं, इसका कहीं कुछ लगाव नहीं, किसीसे यह मेरा आत्मा अटका नहीं, किसी अन्यकी दयासे मेरे आत्माका कुछ प्रयोजन नहीं। यह आत्मा स्वयं प्रभु है। ये सभी पदार्थ स्वयं प्रभु हैं, जो अपने आप ही अपने स्वभावके कारण निरन्तर परिणमते रहते हैं। ऐसा जब अपने आपमें सबसे न्यारे एक चैतन्यस्वभावको देखा तो यह जीव अपनेमें कृतकृत्यताका अनुभव करने लगता है।

स्वयकी वृत्तिकी स्वयंपर वर्तना— जब स्व और परका भेदविज्ञान जगे, जब शरीर आदिक परद्रव्यों को भिन्न जानने लगें, तब उन परपदार्थोंमें ये भले हैं, ये बुरे हैं—ऐसी बुद्धिका यह जीव परित्याग करता है। जब किसी बाह्यपदार्थसे मेरेमें कुछ परिणमन नहीं होता तो उसको हम भला अथवा बुरा क्या समझें ? ज्ञानीकी आराधनामें ऐसी एक विशेषता उत्पन्न होती है। भला और बुरा अपने परिणामों से होता है, परद्रव्योंके करनेसे नहीं होता। हम पर जो कुछ भी भला अथवा बुरा बीतता है, वह हम अकेले पर ही बीतता है। सब कुछ भला और बुरा अपने परिणामोंसे होता है। जो समस्त परद्रव्योंकी आराधनाका त्याग करने पर भी रागादिकभाव उत्पन्न होते हैं तो ज्ञानी पुरुष उनका शमन करनेके लिए उद्यत होता है। जो राग होते हैं, उन रागोंको धोनेके लिए ज्ञानी पुरुष कमर कसे रहा करता है। मुझमें होते तो हैं विभावपरिणमन; किंतु मैं तो एक चैतन्यस्वभावमात्र हूं। ये होते हैं, मैं जानता हू। होकर मिटने वाले हैं, इसमें क्या संदेह करना ? ये होते हैं कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर। ये पौद्गलिक-विभाव हैं, विकारस्वभाव हैं, ये मै नहीं हू। ऐसा उनसे एक विविक्त भाव रखता है कि उन विभावोंसे वह ज्ञानी अपना लगाव नहीं रखता, यही है आत्मभक्ति, निजप्रभुकी रक्षा। अपने आपके स्वरूपका ऐसा निर्लेप प्रत्यय बना रहे उपयोगमें कि उन रागादिक भावोंसे अपनेको न्यारा समझे तो यह जीव कृतकृत्य होता है और भली प्रकार पुरुषार्थकी सिद्धिको प्राप्त हुआ कहलाता है।

आत्माका सविकार और अविकार परिणमन— जैसे क्षोभरहित समुद्रमें तरङ्ग नहीं रहती हैं, उसी प्रकार क्षोभरहित आत्मामें ये सब क्षोभतरंगें समा जाती हैं। समुद्रमें तरंगे समुद्रके कारण उठ जायें तो ऐसा नहीं है। एक बड़ी हवाका निमित्त पाया, तब तरंगे उठीं। जब वे तरंगे हैं, तब भी वह समुद्रका ही परिणमन है, पर वह परिणमन होता है परउपाधिका निमित्त पाकर। जब तरङ्गरहितावस्था होगी तो उस समय समुद्र अपने आपमें जैसा है, वैसा रह जाता है। ऐसे ही आत्मामें ये सब तरंगें उठ रही हैं, इन तरंगोंका क्या ध्यान करना ? ये कितनी ही प्रकारकी तरंगे हैं। ये सब तरंगें खुदमें ही उठ रही हैं, पर खुद भी इन्हें नहीं बता सकते। वे तरंगें जो उठीं, वह भी मेरा ही परिणमन है, पर यह परिणमन मेरी ही ओरसे मेरे ही सत्त्वके कारण बिना उपाधि पाए हुए रहता हो, ऐसा नहीं है। विकार यद्यपि मेरा ही परिणमन है, पर उपाधिभूत कर्मका सम्बन्ध पाकर हुआ है।

ज्ञानी पुरुषके निर्णयमें कैसा समाधान और समन्वय पड़ा हुआ है कि यह भी निरख रहा है कि उपाधिका सन्निधान पाकर मेरे रागादिक भाव मेरे ही कारण मेरे ही स्वरूपसे मेरे ही मायाचितसत्त्वकी

वजहसे उत्पन्न होते हैं, ये मेरे ही स्वभावसे, मेरे ही सत्त्वसे उत्पन्न हुए हैं और उपाधि नहीं है तो फिर स्वभावपरिणमन हो जाएगा, जो सदा रहेगा। ऐसा हो ही नहीं सकता कि उस पदार्थका स्वरूपसे विरुद्ध परिणमन हो और परके सन्निधान बिना हो, ऐसा कोई दृष्टान्त न मिलेगा। अत परका सन्निधान पाकर हुए हैं, इसी कारण ये मिटाये जा सकते हैं। जैसे दर्पणमें छाया पड़ रही है, वह जो चीज सामने है उसका सन्निधान पाकर पड़ रही है। अत वह छाया मिट सकती है, उस सामने वाली चीजको हटा लीजिए तो छाया मिट जाएगी। वह सामने वाली चीज सन्निधान है, निमित्त है, उस सन्निधानमें यह परिणमन हुआ है, विभाव है, यह मिट जाती है। ऐसे ही रागादिक विकार औपाधिक हैं, अत ये सब मिट जाते हैं।

ज्ञानियोंका निर्णय— ज्ञानी पुरुषके यह निर्णय पड़ा हुआ है कि किसी भी निमित्तमें अपना गुण-पर्याय द्रव्य प्रदेश कुछ भी उसमें नहीं है। इन सब निर्णयोंको कोई कहने लगे कि कोई एक बारमें क्या साफ साफ इसे कह सकता है? वह कहेगा तो एक अंशकी बात कहेगा। ज्ञानीका निर्णय ऐसा स्पष्ट है अपने आपमें कि प्रतिपादनमें चाहे कोई बात न आए, पर निर्णयमें यथार्थ सभी बातें बैठी हैं। यह तो एक वस्तुस्वरूपकी पद्धति है, लेकिन हम अपने हितके लिए इसमें से किसका आलम्बन लें? यदि आश्रयभावका आलम्बन लेते हैं तो पार इसलिए नहीं पड़ता कि आलम्बित भाव अध्रुव है, वह अन्यरूप हो जाएगा तो अध्रुवके आलम्बनसे हम अपनेको हितमार्गमें नहीं लगा पाते हैं। वहा तो ध्रुवका आलम्बन लेना है, जो स्वरूप शाश्वत् है उसका आलम्बन लेना है और इसका आलम्बन वह पुरुष ले सकता है, जिसने सब विधियोंका यथार्थ निर्णय किया हो।

भैया! इससे फलित अर्थ यह निकला कि कल्याण करने वाले पुरुषको पहिले व्यवहारका आलम्बन मिला। पहिले व्यवहारका आलम्बन हो, बादमें उसको गौण कर दें, तब निश्चयका आलम्बन बने। इसी कारण यह बताया गया कि जो प्राथमिक पुरुष हैं, उनको व्यवहारनय आलम्बनके योग्य है, लेकिन कोई अपनेको मान लें कि हम प्राथमिक नहीं हैं तो यह उनकी अपने आपके लिए धारणा है। प्राथमिक शब्दके भी दो अर्थ हैं। एक तो बहिरात्मा (मोही) और दूसरा अन्तरात्मा। प्राथमिकका यह अर्थ है कि इसकी स्थितिया दो हैं—एक निर्विकल्पकी स्थिति और दूसरी विकल्पकी स्थिति। जो विकल्पभावमें रहते हैं, उन्हें प्राथमिक कहते हैं, जो निर्विकल्प स्थितिमें रहते हैं, वे प्राथमिकसे ऊपर हैं। अत ज्ञानी पुरुषके भी इस अर्थकी प्राथमिकता और अप्राथमिकता— ये परिवर्तन करते रहते हैं। जैसे कि ६वें व ७वें गुणस्थानके प्रमत्त और अप्रमत्त दशाका परिणमन होता रहता है। हम व्यवहारका आलम्बन करते हैं। देव, शास्त्र, गुरु आदिकी उपासना करना, यह सब व्यवहारका आलम्बन ही तो है। लेकिन निश्चयका लक्ष्य ज्ञानसे छूटता नहीं है, वह तो उसका मुख्य विषय है।

विवर्तोत्तीर्ण अचल चैतन्यकी उपलब्धि— इस ज्ञानीको अपने आपमें सर्वस्थितियोंसे उत्तीर्ण अचल चैतन्यमात्र अपने आपको परखा है और वह तब सत्यात्मस्वरूपमें यों लीन होता है, जैसे कि पानीमें नमक लीन हो जाता है। नमकको समझ लो एक उपयोग और पानीको समझ लो आत्मस्वरूप। जैसे नमक कुछ अलग फटा हुआसा कङ्कड़ोंकी तरह नहीं रहता है, इसी प्रकार उपयोग आत्मस्वरूपसे अलग फटा हुआसा भेदभाव रखता हुआ नहीं रहता और उसकी स्थिति ऐसे स्वरूपाचरणकी बनती है कि जैसे-यों बताया गया है कि ध्यान ध्याता-ध्येयका विकल्प नहीं, ज्ञान-ज्ञाता ज्ञेयका विकल्प नहीं। वही स्थिति पुरुषार्थसिद्ध्युपायकी और कृतकृत्यताकी। उस समय विकल्प नहीं रहता कि उस सत्यस्वरूपका ध्यान रखकर खुद ही सत्यात्मस्वरूप होकर निष्काम परिणमन करता है और उस समय यह आत्मा कृतकृत्य हो जाता है।

भैया ! अज्ञानोपासकके कृतकृत्यावस्था नहीं होती है । इसे कुछ न कुछ करनेको पड़ा ही रहता है। यदि परका लगाव है तो इसके चित्तमें कुछ न कुछ करनेको पड़ा ही रहता है। जहां कुछ न कुछ करनेको पड़ा ही रहता है, उसको शांति नहीं मिलती है। चित्तमें विकल्प बना रहे और शांति बनी रहे—ये दो भाव एक साथ नहीं जगते। जब जीवको करनेको कुछ नहीं पड़ा है, तब जीवको कोई विकल्प नहीं रहता है। उसे तो जो कुछ करना था कर लिया, जब करनेको कुछ शेष नहीं रहा, तो शान्ति प्राप्त होती है, इसी को पुरुषार्थसिद्धि कहते हैं। इसमें आत्माके समस्त इष्टोंकी वहां पूर्ति है। दुःख नहीं रहा, किसी प्रकारका क्लेश आकुलता नहीं रही। इस स्थितिसे बढ़कर और क्या स्थिति होगी ? यह चीज मिलती है अपने आपके स्वरूपके यथार्थ माननेसे, ज्ञानसे और इसी रूप अपने आत्मामें रमण करनेसे यह स्थिति प्राप्त होती है।

अचल चैतन्यकी उपलब्धिसे सन्मार्गका अनुसरण— जो जीव भी सिद्ध हुए हैं, उन सबने इसी मार्गको अपनाया। कोई दूसरा मार्ग नहीं है कि हम आपको सुख-शांति होगी। यह मार्ग उन ही जीवोंके बनता है जिन्होंने वस्तुके स्वरूपको परिचयमें लिया है। प्रत्येक पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त है—'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'। सभी पदार्थ अपने ही प्रदेशोंमें, अपने ही गुणोंमें, अपनी ही दशावोंमें उत्पादव्ययध्रौव्य किया करते हैं। इसके खिलाफ और कुछ सोचकर निर्णय तो करो कि क्या कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थके गुणोंसे परिणमता है या अन्य पदार्थकी परिणतिसे परिणमता है ? नहीं। दूसरे रूप परिणमने लगे तो न वह एक रहा और न दूसरा रहा, जगत शून्य हो जाता। अतः पदार्थ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त हैं।

यहां हमको समझना है कि किसी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थसे कुछ सम्बन्ध नहीं है—न करने का और न भोगनेका। ऐसा विवेक जब चित्तमें बैठता है तो यह ज्ञानी जीव कृतकृत्य होता है। इसके लिए हम अपने आपमें ऐसा अधिकतर अनुभव करते रहें कि मैं सिर्फ चैतन्यमात्र हूं, ज्ञानदर्शनस्वरूप हूं, ज्ञानको करता हू, इतना ही तो हमारा कर्तापन है। ज्ञानको ही भोगता हूं इतना ही हमारा भोक्तापन है। सुखकी अवस्थामें भी जिस प्रकारका ज्ञान परिणम रहा है, वह ज्ञान परिणम रहा है और यही वहां कर्तापन है, यही भोक्तापन है। जब हम दुःख अनुभव करें तो जिस कल्पनामें दुःख अनुभव होता है, उस ज्ञानको कर रहा हू, ज्ञानको ही भोग रहा हू, ज्ञानके सिवाय न अन्य कुछ करता हूं, न भोगता हूं। जो विकल्पात्मका अनुभव है, वहां भी विकल्पको ही कर रहे हैं और जो विकल्प है सो ज्ञान है। कोई खोटा ज्ञान होता है, कोई भला। हम अपने आपमें ज्ञानरूप परिणम रहे हैं, अन्य किसी रूप नहीं परिणमते। हम किसी परकी दशारूप नहीं बनते। इस प्रकारका जब भाव होता है तो यह ज्ञानी जीव कृतकृत्य हो जाता है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

विभाव और पौद्गलिक कर्मोंका निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध— जीवके किए हुए परिणामको निमित्तमात्र पाकर पुद्गल स्वयं कर्मरूपसे परिणम जाते हैं। जीवके साथ कोई एक ऐसी चीज जीवके खिलाफ अवश्य लगी हुई है, जिसके कारण यह जीव अपने स्वभावमें न रहकर विरुद्धरूप परिणम जाता है। स्वयं ही कोई पदार्थ अपने स्वभावके खिलाफ नहीं बन सकता। कोई विरुद्ध चीज लगी हो, तब ही कोई विरुद्ध परिणमन कर सकता है। जीव जिस समय राग-द्वेष-मोह परिणाम करता है, उस समय उन भावोंका निमित्त पाकर कार्माणवर्गणायें नामक पुद्गलकर्म स्वयं कर्मरूप परिणम जाते हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरेको परिणमता नहीं है, बल्कि पदार्थ स्वयं ही अनुकूल निमित्त पाकर अपनी ही शक्तिसे विभावरूप

परिणम जाते हैं— ऐसी पदार्थमें प्रकृति पड़ी हुई है।

जब आत्मा राग-द्वेष-मोह भावरूप नहीं परिणमता, केवल शुद्ध ज्ञानरूप परिणमता है, उस समय पूर्व बंधे हुए पुद्गलकर्म भी झड़ जाया करते हैं। ये कर्म दो प्रकारके होते हैं—एक पुण्यरूप और दूसरा पापरूप। जब जीव अपने शुभ भाव करता है, तब तो पुण्यरूप आश्रव होता है और जब जीव अशुभ भाव करता है तो पापरूप आश्रव होता है।

जितने ही उपवास, देवपूजा, गुरुपूजा, विनय आदिके करते समय जितने अंशमें रागरहित भाव हैं, उतनी कर्मोंकी निर्जरा होती है। कोई यह प्रश्न करे कि कर्मोंको जीवके अत्यन्त सूक्ष्म भावोंकी खबर पड़ती तो है नहीं, फिर जीव किस प्रकार भाव कर रहा है? हमें उस प्रकार परिणम जाना चाहिए और उनको खबर नहीं होती है तो वे पुद्गलपरमाणु जाने बिना कैसे पुण्य और पापरूप बन जाते हैं? इस का उत्तर यह है कि जैसे कोई मंत्र सिद्ध करने वाला पुरुष गुप्त स्थानमें बैठकर किसी मंत्रका जाप करता है तो केवल मंत्रशक्तिसे दूसरा पुरुष सुखी अथवा दुःखी हो जाता है। अतः उसमें दूसरेका कुछ किया नहीं, मगर ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि उसके उन परिणामोंका निमित्त पाकर कर्म बंध जाते हैं। कर्मोंमें कर्मरूप परिणमनेकी शक्ति है और जीवके परिणाम इसके निमित्तमात्र हैं। तब जीवका निमित्त पाकर कार्माण स्कन्ध स्वयं कर्मरूप परिणम जाते हैं। यदि कर्मोंमें कर्मरूप बननेकी सामर्थ्य न हो तो किसी भी निमित्तको पाकर वे कर्मरूप नहीं परिणमते। योग्यता है, अतः उस प्रकारका वे परिणमन कर लेते हैं, न योग्यता हो तो नहीं करते हैं।

भैया! जैसे बालूमें तैलरूप परिणमनेकी शक्ति नहीं है, अतः कोल्हूमें उसे कितना ही पेला जाए, वह कभी तैलरूप नहीं परिणम सकता। तिलमें तैलकी योग्यता है। अतः इसे कोल्हूमें पेलने पर तैल निकलता है। कर्मोंमें कर्मरूप परिणमनेकी योग्यता है, तभी दूसरे निमित्त हैं। इसके लिए और अनेक दृष्टान्त लीजिए—दर्पणमें बिभिन्नरूप परिणमनेकी शक्ति है। सामने आए मुँह आदिकका निमित्त पाकर वह प्रतिबिम्बरूप परिणम जाता है। न हो प्रतिबिम्बरूप परिणमनकी शक्ति तो नहीं परिणमता। जैसे भींत, दरी आदिक इनमें प्रतिबिम्बरूप परिणमनकी शक्ति नहीं है तो ये प्रतिबिम्बरूप नहीं परिणमते। जीवमें भी इसी प्रकार रागादिकरूप परिणमनेकी शक्ति होती है। अतः कर्मोदयका निमित्त पाकर जीव विभावरूप परिणम जाता है।

प्रकृतिका अर्थ— देखो, जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर स्वयं ये पुद्गल नानारूप परिणम जाते हैं। फिर कर्मविपाकका निमित्त पाकर संसारकी नाना प्रकृतियां स्थितियां बन जाती हैं। जैसे सुहावने दृश्यको देखकर लोग कहते हैं कि यह जंगल देखो, इसमें कैसी प्रकृति है, कैसी कुदरत है? ये कुदरत और प्रकृति क्या हैं? उन जीवोंके परिणामोंका निमित्त पाकर जो कर्म बंधे थे, उनका यह फल है। उन पुद्गलकर्मोंके उदयमें जल बना है, पत्थर बने हैं, फूल बने हैं, फल बने हैं—ये प्राकृतिक दृश्य हैं। उनका निमित्त पाकर वे सब ठाठबाट होते हैं। भावोंमें भी कुछ ऐसी विचित्र शक्ति है अथवा समझिए ऐसा ही परिणमन है कि जिसका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणम जाते हैं। कई लोग पाप छुपकर करते हैं कि कोई देख न ले। छुपकर पाप करनेसे कहीं कर्म तो न छुप जायेंगे। जो जैसा परिणाम करे, उसका निमित्त पाकर कर्म तो उसी समय बंध जाते हैं। दूसरेके देखनेसे तो पकड़ नहीं है, पर जो कर्म बंधे हैं, उनसे पकड़ है। वे कर्म कहीं छिपे नहीं रहते हैं। लोकमें सर्वत्र जीवके साथ स्वयं कर्मस्कंध ऐसे पड़े हैं जो कर्मरूप होनेकी योग्यता रखते हैं।

भैया! इस प्रकार जीवके कर्मोंका निमित्त पाकर ये पुद्गल कर्मभावसे स्वयं परिणम जाते हैं। यह बात जीवमें है क्या? जीव अपने चैतन्यस्वरूप रागादिक परिणामोंसे आप ही परिणमते हुए उस

आत्माके भी पौद्गलिक कर्म निमित्तमात्र होते हैं अर्थात् जब जीव रागादिकरूप परिणमता है तो उसके ये जो विभाव होते हैं वे जीवके स्वभावसे नहीं हुए किन्तु पौद्गलिक कर्मसे हुए। पौद्गलिक कर्म उसके लिए निमित्तमात्र है, जीवमे रागादिक भाव स्वयं नहीं हुआ करते क्योंकि जो उत्पन्न होते हैं वे विभाव हैं। यह निमित्त ज्ञानावरणादिकका समझना चाहिए। [illegible] प्राप्त होते हैं वैसे ही वैसे आत्मा विभाव भावोंसे परिणमन करता रहता है।

परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः।

भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

जीवविभावके होनेमें पौद्गलिक कर्मोंका निमित्तत्त्व—कोई पूछे कि पुद्गलमें ऐसी कौनसी शक्ति है जो चैतन्य जैसे परमात्मदेवको भी विभावोंमें परिणमन कराता है अर्थात् यह कारणपरमात्मा तो है ही, उसे भी विभावरूप परिणमन कराता है, संसार अवस्थामें ऐसी पुद्गलमे कौन सी शक्ति है? समाधान यह है कि जैसे किसी पुरुषपर मंत्र धूल डाली जाय तो वह नाना प्रकारकी चेष्टाएं करने लगता है। क्यों कि मंत्रके प्रभावसे उसमें ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है कि चतुर पुरुषको भी पागल बना देती है। और यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धवश दुःखी होने लगता है। ये निमित्तनैमित्तिक भाव हैं। इसी प्रकार यह आत्मा अपने प्रदेशोंमें रागादिकके निमित्तसे बंधरूप है, पुद्गलके निमित्तसे खुदको भूलकर खुद ही यह जीव नानाप्रकारके कर्मबंधमे आ जाता है। साराश यह है कि जीवके विभावोंका निमित्त पाकर पुद्गलकर्म कर्मरूप परिणमते और पुद्गल कर्मका निमित्त पाकर जीव विभाव परिणमन कर लेता है। यों जीव और कर्ममें परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है। जीव और कर्म, इन दोनोंमे परस्पर निमित्त नैमित्तिक भाव है अर्थात् कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर जीवके विभाव बनते हैं और जीवके विभावोंका निमित्त पाकर कर्म बनते हैं, ऐसा निमित्त होने पर भी केवल एक दूसरेके लिए निमित्त मात्र है, जैसे कोई स्वर्णकी अंगूठीमें लाल रंगका कागज लगा होनेसे वह लाल रंगकी दीखती है। लाल रंगमें दिखने में कारण वह कागज है। कागज निमित्त है पर उस अंगूठीसे वह कागज तन्मय नहीं है। इसी प्रकार समझ लो जीव और कर्मका परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है लेकिन जीव कर्मसे तन्मय नहीं है और कर्मके भावोंसे भी तन्मय नहीं है। अर्थात् आत्मा न कर्मसे तन्मय है और न रागादिक भावोंसे तन्मय है। परिणमन तो है ऐसा। कागजका परिणमन छायामें निमित्त तो है पर कागज छायावान् नहीं हो गया। वर्तमान क्षणमें दर्पण छायावान् है पर छाया तो वर्तमान मात्र है। कागज उससे तन्मय है जो वर्तमान, भूत, भविष्यमें कभी भी हो, रूप रस गंध स्पर्शसे तन्मय है कागज और रूप रस गंध स्पर्शकी पर्यायसे भी तन्मय नहीं है। कागज स्वयं पर्याय है। ये पुद्गल कागजमय नहीं हैं, इसी प्रकार जीव न तो कर्मरूप है, न कर्मकृत भावरूप, लेकिन जो अज्ञानी जीव है उनको यह संयुक्त शरीरका दिखता है। और चल रहे हैं रागादिक विभाव परिणमन। लेकिन यह चलना भी अज्ञानीमें चल रहा है। ये रागादिक भाव यद्यपि आत्मामें तन्मय नहीं हैं तो भी इनका भेद विज्ञान नहीं है। इन मूढ़ जीवोंके अबुद्धोंका इस प्रकारका जो आशय है वह आशय संसारका स्वरूप है। रागद्वेषादिक होना यही तो संसारका फल है। अब और भी सुनिये। स्वर्णमें लाल रंगके कागजकी वजहसे जो लालिमा प्रतीत होती है वह लालिमा औपाधिकरूपसे परिणमी है। उस कागजमें से निकलकर वह लालिमा नहीं आयी है। वह लालिमा औपाधिक है। तो जैसे लालरंगका कागज आडे आनेपर वह लाल मालूम होती है, इसी प्रकार चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वमें कर्मोंका उदय आता है, वहाँ पर भी रागादिक भाव झलक जाते हैं।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।

प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजम् ॥१४॥

अज्ञानियोंके आभासकी भवबीजरूपता— आत्मा विभावकालमें रागादिक भावोंसे यद्यपि तन्मय है, लेकिन जो उसको आत्मस्वरूप समझता है वह अज्ञानी है। रागद्वेष मोहरूप तो विभाव होते हैं, वे तो ससारके बंधनके कारण होते हैं। ये जो सुख दुःख आदिकके भाव होते हैं ये बंधनके कारणभूत नहीं हैं। इन सुख दुःख आदिकके प्रति जो रागभाव लगा है वह संसार-बंधनका कारण है। प्राय करके सभी सुखोंमें राग लगा है। यह रागभाव ही ससार-बंधनका बीजभूत है। यह रागभाव ससार-बंधनकी परम्परा बढ़ाता है। पढ़े लिखे वेषमें भी जिस समय इस अज्ञानी जीवको यह राग लग जाता है कि रागादिक भाव कर्मके हैं, उनसे मेरा क्या मतलब? होने दो, ऐसा मानकर जो स्वच्छ होनेमें रोक लगती है उसको तो समझाना पड़ता है। कर्म तो निमित्त मात्र है, भाव जीवके हुए और इसी कारण जीवको भोगना पड़ता है और जब कभी यह रोक लग जाती है कि ये भाव तो मेरे ही हैं तब उसे औषधि देनी होती है कि ये भाव जीवके नहीं हैं, ये कर्मकृत हैं। अब इन दोनोंमें यथार्थता क्या रही? यथार्थता रही वह जिस प्रयोजनके लिये ये दोनों दवाइयाँ देनी पड़ीं अर्थात् सर्वविविक्त केवल ज्ञानमात्र आत्माको समझना यह स्व-है-सुगम, किंतु रागवासनावासित जीवोंको दुर्धर है। रागादिक भाव चैतन्यके परिणमन हैं इसलिये रागादिकका कर्ता जीव है। परन्तु एक मूलभूत जीवके शुद्ध परिणमनका श्रद्धान करानेके लिये यों कहा जाता है कि रागादिक भाव कर्मकृत हैं, जीवके नहीं। आशय क्या है कि सबसे निराले केवल ज्ञानस्वरूपमें अनुभवूँ, ज्ञानको ही करता हू, ज्ञानको ही भोगता हू, इसके सिवाय न अन्य कुछ करता हू और न अन्य कुछ भोगता हू अथवा न करता हू, न भोगता हू किन्तु जानता रहता हू, सो भी मैं किसीको नहीं जानता हू। अपनेको ही जानता हू, अपनेको अपने लिये अपनेमें जानता हू अथवा मैं जानता ही नहीं हू, किन्तु एक यह ज्ञानमात्र भाव है। इस प्रकार क्रमश भावोंसे हट हटकर आनन्दनिधान केवल एक चैतन्यस्वरूपमें की दृष्टि होना, सो यह आत्महित है, इसीमें कल्याण है, धर्मपालन भी इसीमें है।

भवबीजाभावसे अभवदशा पानेका चिन्तन— हम किस ही प्रकार बाह्यपदार्थोंसे, परभावोंसे हटकर अपने इस शुद्ध स्वरूपकी ओर आयें और ऐसी ही अपनी पात्रता बनानेके लिये दो प्रकारके धर्ममार्ग बनायें— एक गृहस्थमार्ग और एक साधुमार्ग। प्रयोजन दोनोंका एक है, पर बाह्यक्रियावोंमें अन्तर है। साधुधर्म पालन है तो उसका भी प्रयोजन यही है कि मैं सबसे निराले केवल ज्ञानमात्र स्वभावको अपने उपयोगमें ले सकूँ, यही तो साधुधर्मका उद्देश्य है और गृहस्थधर्मका भी उद्देश्य यही है और उसके साथ इतना सशोधन लगा है कि मैं चिरकाल तक तो ज्ञानस्वभावमें ठहर नहीं सकता इस स्थितिमें लेकिन इसका भी पात्र मैं न रहू, ऐसी मेरी दुराचाररूप प्रवृत्ति तो नहीं होती। पात्रता तो मेरी बनी रहे, इस सशोधनके लिये गृहस्थने गृहस्थधर्म अपनाया और पात्रताके साथ कभी कभी वह अपने ज्ञानस्वरूपकी ओर आता भी है।

अब दूसरा दृष्टान्त लें— जैसे किसीको ग्रहगृहीत हो जावे, पिशाच लग जावे, वह स्वय अपनेको पिशाचरूप समझ ले, स्वय वैसा मान ले, उस समय जो उसकी चेष्टायें होती हैं वे चेष्टायें उस मनुष्यके मूलभूत नहीं हैं। ऐसे ही हमारे पर जितनी बातें बीतती हैं वे सब कर्मोदयसे होती हैं, मेरे स्वभावसे नहीं, इस प्रकारका निर्णय करके अपने स्वभावमें लीन होना सो पुरुषार्थकी सिद्धि प्राप्त करनेका उपाय है। यही एक प्रयोजनकी सिद्धि करने वाला उपाय है। सबसे निराला ज्ञानमात्र जो आनन्दभावसे भरा हुआ है ऐसे ज्ञानस्वरूपको अपनी दृष्टिमें लेना सो मोक्षमार्ग प्राप्त करनेका उपाय है। ससारका बीजभूत रागभाव है और मोक्षका बीजभूत है सर्वसे विविक्त, कर्मोंसे न्यारा, रागादिकसे भी न्यारा केवल ज्ञानमात्र मैं हू, इस प्रकारका आशय है। ससारमें फँसना और ससारसे छुटकारा पाना—ये दोनों बातें एक आशय पर निर्भर हैं, कहीं बाहरमें कुछ व्यायाम नहीं करना है।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ॥१५॥

पुरुषार्थसिद्धिके उपायोंमें प्रथम रत्न सम्यग्दर्शन— आत्माके वास्तविक प्रयोजनकी सिद्धि कराने वाला उपाय क्या है, वह इस ग्रन्थमें बताया है। विपरीत अभिप्रायको दूर करके, आत्मतत्त्वका निश्चय करके उस आत्मस्वरूपसे चलित न होना, बस यही पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है। एक बातमें बताया है, इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—ये तीनों आ गए। विपरीत अभिप्रायको दूर करवे—इतना हिस्सा है सम्यग्दर्शन, उसमें तत्त्वका विनिश्चय करके—इतना हिस्सा है सम्यग्ज्ञान और जो आत्मस्वरूप से चलित न हो—इतना हिस्सा है सम्यक्चारित्र—यही पुरुषार्थसिद्धिका उपाय है। विपरीत श्रद्धान क्या है? जो आत्मतत्त्व नहीं है उसको आत्मतत्त्वरूपसे मानना, यही है विपरीत श्रद्धान। एकेन्द्रियसे लेकर सञ्ज्ञी पंचेन्द्रिय तकके अभिप्रायमें यह विपरीत श्रद्धान है।

धन, मकान आदिक जो भिन्न चीजें हैं उनको अपनाना, यह विभिन्न आशय है। देह भिन्न चीज है उसे आत्मा मानना, यह विपरीत आशय है। रागभावको अपनाना, यही मिथ्यादर्शन है। एकेन्द्रिय भी यही करते हैं और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भी यही करते है। एकेन्द्रियके चूँकि एक ही स्पर्शनेन्द्रिय है, फिर भी इतनी ही योग्यतासे अपने आपमें विपरीत अभिप्रायका सेवन करते हैं। देहको यह मैं हू, ये सब कुछ हैं, इस प्रकारका आशय होना एकेन्द्रियके भी पाया जाता है। वह इतनी मूर्छित दशा है कि सुननेमें कुछ अटपटासा लगता है कि जो ये पेड़ को शरीर मैं हू—ऐसा मानते हैं क्या? इस प्रकारका मानना तो मनसे होता है। चूँकि इनके मन नहीं है, सो ये कैसे इस प्रकारका आशय बना सकते हैं? पर आशय उनके भी ऐसा ही पड़ा हुआ है। ये खाते पीते हैं आसक्त होकर बहुत-बहुत। ऐसे ही ये एकेन्द्रिय भी अपने आहारमें स्वाद मानते है। जड़ोंसे मिट्टी, पानी आदि अपना आहार खीचते हैं। बहुत-बहुत आहार खींचते हैं, तब वे हरे-भरे रहते है। देहमें अपनापन है। यह विपरीत आशय एकेन्द्रियसे लेकर सञ्ज्ञी पचेन्द्रिय तक सबके रहता है। उस आशयका विनाश हो, तब मोक्षमार्गका उपाय मिलता है। इस विपरीत आशयको संक्षेपमें इन शब्दोंमें कह सकते है कि कर्मजनित पर्यायोंको आत्मा मान लेना, इसे विपरीत श्रद्धान कहते हैं। कर्मजनित पर्याय जैसे मनुष्योंके मनुष्य पर्याय है, एकेन्द्रियके वनस्पति आदिक पर्याय है। जैसे मनुष्य शरीरमें आपा मानते है ऐसे ही एकेन्द्रिय भी शरीरको आपा मानकर मूर्छित रहते हैं। तो विपरीत श्रद्धानको समूल नष्ट करनेको सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र— विपरीत अभिप्रायको दूर करें और सर्वपरभावोंसे भिन्न ज्ञानमात्र जो एक आत्माका अन्तस्तत्त्व है उसका ज्ञान करें वह है सम्यग्ज्ञान। यद्यपि ठीक-ठीक ज्ञान सम्यग्दर्शन से पहिले होता है। यदि न हो ठीक ज्ञान तो सम्यग्दर्शन हो कैसे? जब कुछ निश्चय हो, निर्णय हो कि आत्मा यह है, पुद्गल यह है, तब उसके आधार पर उसका श्रद्धान बने और सम्यग्दर्शन हो। एक दृष्टिसे ऐसा होता है कि सच्चा ज्ञान पहिले हो, तब सच्चा श्रद्धान हो सकता है; लेकिन वह ज्ञान सच्चा है, फिर भी सम्यक् नाम नहीं पाता। जैसे बाहुबलिस्वामीके दर्शन करने जा रहे हैं यात्री लोग। बाहुबलिकी मूर्ति जिन्होंने नहीं देखी है, सिर्फ सुन रक्खा है अथवा पुस्तकोंमें पढ़ रखा है कि प्रतिमा ऐसी है, हाथ-पैरकी अगुलिया इतनी लम्बी-चौड़ी हैं। ५७ फिट ऊँची है। एक पहाड़ पर है। इतना ज्ञान लेने पर भी उतना विशद ज्ञान नहीं हो पाता, जो आँखोंसे देख लेने पर होता है। एक हुआ सम्यग्दर्शनसे होने वाला ज्ञान और एक हुआ सम्यग्दर्शनके अनन्तर होने वाला ज्ञान। सच्चा ज्ञान होकर भी सम्यक नाम नहीं पाता है। सम्यग्दर्शनसे पहिले, उस ज्ञानसे पहिले कुछ समझा कि मैं आत्मा हू; रूप, रस, गंध, स्पर्शसे रहित हू, केवल ज्ञानमात्र अमूर्त हू। जिसके बारेमें हमने बहुत-बहुत समझा है, वह चीज है एवं यह,

ऐसा जो निश्चय है, उसका नाम है सम्यग्ज्ञान। विपरीत अभिप्रायको दूर करके और निजतत्त्वका भली प्रकार निश्चय करके फिर जो आत्मस्वरूपसे चलित नहीं होना है, यही है पुरुषार्थसिद्धिका उपाय। यह आत्मा ज्ञाताद्रष्टा है। अब अपने आप उसके उपयोगसे ऐसी स्थिति बने कि इस उपयोगमें मात्र ज्ञानज्योति आये और यह केवल जाननहार रहे, अन्य विकल्प न उठें, ऐसी स्थिति बने उसका नाम है सम्यक्-चारित्र।

मोक्षमार्गकी सार्थकता— इस श्लोकमें तीन बातोंका लक्षण किया है, वे बहुत विशेषताकी हैं। जीव, अजीव, आस्रव आदि ७ बातोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है ऐसा बताया है। ७ बातोंका श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन नहीं है, किन्तु सम्यग्दर्शनका कारण है। किसी विधिरूपमें नहीं बताया जा सकता कि सम्यक्त्व है क्या। इसी कारण ग्रन्थकारोंने इसे अनिर्वचनीय कहा है। यह शब्दोंसे नहीं कहा जा सकता कि सम्यग्दर्शन किसे कहते हैं? परद्रव्योंसे भिन्न आत्मतत्त्वकी रुचि करना, सो सम्यग्दर्शन है। अच्छी जगह रुचि हो तो क्या, खोटी जगह रुचि हो तो क्या? कोई कहे कि आत्माकी प्रतीति करना सम्यग्दर्शन है, आत्माका अनुभवन करना सम्यग्दर्शन है तो अनुभवन भी ज्ञानका कार्य है। कौनसा शब्द आप कहेंगे, जिससे विधिरूप देखा जा सके कि इसका नाम सम्यग्दर्शन है? विपरीत अभिप्राय चलता आया था, उसका दूर करना इसका नाम सम्यग्दर्शन है, विपरीत अभिप्रायसे दूर हो जाना। मिथ्यादर्शनको तो हम विपरीतरूप समझ सकते हैं, क्योंकि वह औपाधिक भाव है। विधिरूपसे उसका वर्णन कर सकते हैं। परभावोंको अपनाना यही है मिथ्यादर्शन। अब उसकी अपेक्षा लेकर यह भी कहते हैं कि परभावोंका अपनाना न रहे यह है सम्यग्दर्शन। इस प्रकारके लक्षणमें एक कामके लिए उत्पादव्ययध्रौव्य इन तीनकी झलक आती है। इस प्रकार विपरीत अभिप्रायको दूर करके आत्मतत्त्वका विनिश्चय करके आत्मतत्त्वसे चलित न होना, यही है पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय। अब इस दृष्टिसे निरखिये—वर्तमानका राष्ट्रध्वज। उसमें तीन रंग हैं—हरा, लाल और सफेद। लाल रंग तो व्ययका सूचक है अर्थात् विपरीत अभिप्राय यहाँसे खत्म हो गया और हरा रंग उत्पादका सूचक है कि देखो आत्मामें अब निजतत्त्वका विनिश्चय हुआ है और सफेद रंग स्थिरताका सूचक है और यह स्थिरता आत्मस्वरूपमें लीन होना यह ध्रौव्यताका सूचक है। यों यह राष्ट्रध्वज फहराकर यह बताता है कि विपरीत श्रद्धानको दूर करके आत्मतत्त्वसे फिर चलित न होना—ऐसी स्वच्छ दशाका नाम है मोक्षमार्ग।

अनुसरतां पदमेतत्करम्बिताचारनित्यनिरभिमुखा।
एकान्तविरतिरूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति ॥१६॥

साधुवोंकी उदासीनताका भाव— इस रत्नत्रयरूप पदवीका जो अनुसरण करते हैं ऐसे महामुनियोंकी वृत्ति अलौकिक होती है, क्योंकि वे परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीन हैं, परद्रव्योंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। हम ही स्नेह बढ़ाकर उनका संबंध मानते हैं, पर वस्तुतः किसी भी पदार्थका किसी दूसरे पदार्थसे रंच भी सम्बन्ध नहीं। सभी पदार्थ अपने-अपने इकहरे स्वरूपको लिए हुए हैं—ऐसा निर्णय है इन ज्ञानी जीवोंके और उसी आधार पर यह दृढ़ निश्चय है कि मेरा बिगाड़ किसी भी परपदार्थके परिणमनसे नहीं होता। यह है उनकी उदासीनताका आ जाना। उदासीन शब्दका अर्थ है कि जो उत्कृष्ट पदमें बैठ गए हों। इस उदासीन शब्दका अर्थ मर्म जाने बिना लोकरूढ़िमें यों हो गया। कोई दुःखी हो गया, चित्त उदास है तो कहते हैं कि इसका चित्त उदास है। यह रूढ़ि क्यों हो गई? इसका कारण यह हो सकता है कि अज्ञानी जनोंने उदासीन पुरुषोंको बेकार देखा, हँसते हुए नहीं देखा तो उनकी दृष्टिमें वे बेचारेके रूपमें देखे गए, तब उदासीन शब्दका यों ही अर्थ लोगोंकी समझमें आया कि जिनको कोई हुलससे रहनेका ढंग नहीं रहा, वे उदासीन हो गए, पर उदासीन शब्दका अर्थ भला है। जो उत्कृष्ट पदमें आसीन हो उसे उदासीन कहते

हैं। ये मुनि चूँकि परद्रव्योंसे हटकर उदासीन रहते हैं, इसलिये उनकी अलौकिक वृत्ति है। लौकिकजन पापकार्य वाली अपनी प्रवृत्तिमें आसक्त रहते हैं, परन्तु मुनिजन पापकार्योंसे सर्वथा दूर रहते हैं। लौकिक जन लोकमें रुचि करके, मोह करके विषयोंके साधन पाकर विषयोंको भोगकर खुश होते हैं, उनमें आनन्द मानते हैं; किन्तु मुनिजन उचित साधनोंके प्रसंगमें भी आनन्द नहीं मानते, बल्कि उन्हें वे एक आफतसी समझते हैं। मानों क्षुधापूर्तिका ही एक काम है तो मुनिजन आहार करते जरूर हैं, पर उसे एक आफत समझते है।

गृहस्थोंकी वृत्तिसे साधुओंकी वृत्तिकी विलक्षणता—मुनियोंकी वृत्ति गृहस्थसे अलग है। गृहस्थजनोंका व लौकिकजनोंका परद्रव्योंमें फँसाव है, पर मुनिजन एकान्त रूपसे परद्रव्योंसे विरक्त रहा करते हैं। ऐसी विलक्षण वृत्ति इन साधुजनोंकी होती है। और फिर ऊपरी बातें देखो तो वे भी बड़ी विलक्षण मालूम होती हैं। लौकिकजन अच्छा महल बनाकर महलके भीतर बसते हैं, पर मुनिजन पहाड़ोंमें, जंगलोंमें बसते हैं। लौकिकजन साबुन लगा-लगाकर स्नान करते हैं, एक दिनका भी मैल नहीं सह सकते; किन्तु साधुजन कभी स्नान ही नहीं करते। उनके कितना ही मैल लगा होता है, पर उन्हें उसकी कुछ परवाह नहीं रहती। तो यह उनकी अलौकिकवृत्ति ही तो है। लौकिकजन पाटला बिछाकर बड़ी मुद्रासे खुशीरूपसे अनेक बार भोजन करते हैं, किंतु साधुजन एक बार ही खड़े-खड़े भोजन करते हैं। ये सब विभिन्नताएँ क्यों हुईं? इनको परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीनता है और आत्मस्वरूपमें आकर्षण है। वे स्नान नहीं करते, उसका कारण यही है कि उनके शृंगार करनेका भाव ही नहीं है, शरीरको बहुत स्वच्छ रखनेका परिणाम ही नहीं है। स्नान करने पर वह जल बहेगा तो किसी जीवको बाधा हो सकती है, ऐसी उनके परमकरुणा है। तो उन साधुजनोंके लक्ष्य न्यारे हैं। वे परद्रव्योंसे सर्वथा उदासीन हैं। अतः उनकी वृत्ति लौकिकजनोंसे बिलकुल विपरीत हुआ करती है। इन्हीं शब्दोंको संक्षेपमें यों कहें कि गृहस्थजनोंका आचरण पापकार्योंसे मिला हुआ है और महामुनि पापकार्योंसे सर्वथा दूर हैं। यही कारण है कि मुनिजन सर्वथा आत्मस्वभावका अनुभवन स्थिरतासे बहुत समय तक उत्पन्न कर सकते हैं। यह सब प्रताप सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उपासनासे प्रकट होता है।

बहुशः समस्तविरतिं प्रदर्शितां यो न जातु गृह्णाति।
तस्यैकदेशविरतिः कथनीयाऽनेन बीजेन ॥१७॥

ग्रन्थमें एकदेशविरतिकी वर्णनीयता— इस पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थमें मुख्यतासे गृहस्थोंके चारित्रका वर्णन है। तो गृहस्थोंका चारित्र बतानेसे पहिले उत्कृष्ट चारित्रका संकेत करना यही सम्यक्पद्धति है। इस कारण इन दो श्लोकोंमें मुनियोंका चारित्र पहिले बताया है। अब उस चारित्रका वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि यह जो समस्त पापोंसे रहित मुनियोंकी वृत्ति बतायी गई है, करनी तो यह चाहिये। सर्वप्रकारके आरम्भोंको तजकर ज्ञानस्वरूपमें लीन होना चाहिये, पर जो ऐसा नहीं कर सकते उनके लिये एक देशविरतिका चारित्र बताते हैं। वे एक देशविरतिका चारित्र क्यों बताते हैं? जो उत्कृष्ट चीज है, उसीका क्यों नहीं वर्णन कर रहे हैं? श्रावकके आचरणको बतानेकी क्या जरूरत है? उसका हेतु अगली गाथामें आचार्यदेव स्वयं कह रहे हैं।

यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमतिः।
तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शितं निग्रहस्थानम् ॥१८॥

गृहस्थधर्म कहनेसे पहिले साधुधर्म कहनेकी युक्त पद्धति—चाहिए तो यह कि जो लोगोंसे निभ सके, ऐसी चर्याका वर्णन करना चाहिए। बहुत ऊँची बात कहे तो उससे प्रजाजनोंको लाभ नहीं होता, सो यहा शंका यह की जा सकती है कि श्रावकोंका वर्णन पहिले से क्यों नहीं कह दिया, पहिले मुनिका क्यों

कहा ? ऐसा बतानेसे क्या लाभ है ? पहिलेसे मुनिधर्मको न कहते हुए गृहस्थ धर्मको कह देना चाहिए, पर ऐसा क्यों नहीं कर रहे ? उसका उत्तर दे रहे है कि जो पुरुष पहिले मुनिधर्मको न कह सकें, श्रावकोंके ही धर्मका पहिले उपदेश दें तो भगवानके विधानमें वे दण्ड देने योग्य कहे गये हैं। श्रावकोंका आचार बतावें तो उनसे मुनियोंके व्रतका सकेत और कर देना चाहिए क्योंकि कोई मनुष्य मुनियोंके चारित्रको सुनकर वैसा परिणाम करले तो उसका भला हो। मुनियोंका चारित्र पहिले बतावे नहीं, गृहस्थोंका बतावे, तो गृहस्थ वहीं रम जायेगा, ऊँचे न उठ सकेगा। चाहे यह बात अटपटी लग रही हो कि मुनियों की बात सुनकर कोई मुनि बन जाय। कोई मुनि हो अथवा न हो लेकिन जैन शासनमें प्रवचन करनेकी जो विधि चारित्रके सम्बन्धमें बतायी गई है वह विधि यही है कि पहिले मुनिधर्मका उपदेश करें, बादमें गृहस्थ धर्मका उपदेश करें। जो ऐसा नहीं करते वे दण्ड देने योग्य हैं। इतना ही कह देना उनके लिए एक बहुत बड़ा दण्ड हो गया। किसी विद्वानसे कह दिया कि यह शास्त्र पढ़ने योग्य नहीं है तो इतना कह देना ही उसके लिए बहुत बड़ी दण्डकी बात है और जो मूढ़ है उसके लिए तो कारागारका दण्ड हो तो वह भी बड़ा नहीं है। एक कथानक है कि एक अपराध तीन पुरुषोंने किया और जब राजाके यहाँ न्याय हुआ तो एक को तो यह दण्ड दिया गया कि धिक्कार है तुम्हारे कामको इतना भर बोल दिया। एक को यह दण्ड दिया गया कि दिन भर तुम इस अदालतमें खड़े रहो। तीसरे को यह दण्ड दिया गया कि मुँह काला करके गधे पर बैठाकर नगरका चक्कर लगवावो। यों तीनों को तीन प्रकारका दण्ड दिया गया। जिसे यह कहा गया कि धिक्कार है तुम्हारे कामको वह किसी गुप्त स्थानमें जाकर अपने प्राण त्याग देता है, और जिसे अदालतमें खड़ा रहनेको कहा गया वह भी खड़ा होनेके बाद दिलकी बीमारी लग जानेसे कुछ ही दिनमें चल बसा और जिसे मुँह काला करके गधेपर बैठाकर नगरमें घुमानेका दण्ड दिया गया वह गधे पर बैठा नगरमें चला जा रहा था, जब उसका घर पड़ा तो उसकी स्त्री द्वार पर खड़ी थी उससे कहता है कि पानी गरम करके रखना, थोड़ा चक्कर लगानेको और बाकी रह गया है। तो देखो उस पुरुषके लिए इतना बड़ा दण्ड भी न कुछ है। ऐसे ही समझो कि समझदारोंको इतना ही कह देना काफी है कि जो पहिले मुनिके चारित्रकी बात न कहे, श्रावकोंके चारित्रकी ही बात कहे वह भगवान के विधानमें दण्ड देने के योग्य कहा गया है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको पुरुषार्थकी सिद्धिका उपाय बताया है।

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽति दूरमपि शिष्यः।
अपदेऽपि सम्प्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ॥१९॥

यतिधर्मके वर्णनसे पहिले गृहस्थधर्म कहनेसे हानि—जगतमें जितने भी जीव हैं वे सब सुख चाहते हैं और दुःखसे दूर रहना चाहते हैं, परन्तु अनेक प्रयत्न करने पर भी कोई प्राणी आज तक तृप्त नहीं हो सका। बहुत-बहुत धन कमाया, मकान बनवाया, नामवरी की चाह की, कोशिशें कीं, पर आज तक यह प्राणी संतुष्ट नहीं हो सका। जिस पर्यायमें जो योग्यता है उसके अनुसार सब प्रयत्न कर डाले, पर आज भी अशान्ति की ज्वालामें जलता भुनता यह जीव नजर आ रहा है। चाहे कोई अच्छे भेषमें दिखता हो, खुशहाल दीखता हो पर वास्तवमें वह भी अत्यन्त अशान्त है। अरे इन बाह्यपदार्थोंका संचय करके संतोष न मिलेगा, तृप्ति न मिलेगी। तृप्ति तो आत्मामें आत्माके रससे ही मिलती है। एक चैतन्य-रसका जहाँ केवल जानन है। किसी भी पदार्थमें रागकी मात्रा न रहे, केवल देखन जाननहार रहे, ऐसी स्थितिमें वह चैतन्यरस उमड़ता है और इतने वेगसे उमड़ता है कि इस आत्माको तृप्त कर देता है। आप लोग तीर्थक्षेत्र की वंदना करनेमें इतना कष्ट अनुभव करते हैं, पर जो लोग यहाँ पर रहते होंगे, कामवश बार‌बार आते जाते हों तो उनका क्या हाल होगा, या जिन मुनिराजों ने ऐसे स्थान पर आकर घोर

तपश्चरण किया होगा उनका क्या हाल रहा होगा ? जरा आप सोचें तो सही कि उन मुनिराजोंको यहाँ पर कौनसा रस मिल रहा था जिससे वे इतने तृप्त थे कि घर नहीं गए ? अरे वे भी हम आपकी ही तरह से घरमें पले हुए थे पर यहाँ आकर वे ऐसे आनन्दरससे तृप्त रहे थे कि उस स्थानको छोड़ने का उनका भाव नहीं हुआ। परद्रव्योंसे उन्हें उपेक्षा हो गयी थी, उन्होंने अपने उपयोगको परपदार्थोंमें नहीं फँसाया, वे तो अपने आपमें ही अपने उपयोगको लगाकर ऐसा तृप्त रहते थे कि जिसे शब्दों द्वारा कैसे कहा जाय ? यहाँ पर तप्तायमान् शिला भी उन्हें शीतवत् प्रतीत होती थी। यहाँ तो मनके होरसे अपन सबको यह कष्टरूप मालूम पड़ता है। आप सब इतने से कष्टको बड़ा कष्ट मान रहे हैं, पर आप अदाज लगा सकते हैं कि कितने कितने तपश्चरणोंमें वे साधुजन रहा करते थे ? उन्होंने एक ऐसी बूटी पी ली थी कि वे अपने आपके आत्मामें ही निरन्तर बसते थे। उन्हें किसी दूसरेकी परवाह न थी, कहीं किसी को खुश करनेका भाव न था, वे सब के ज्ञाताद्रष्टा रहते थे। वे सर्वदा आनन्दरससे तृप्त रहा करते थे। हम आप भी यही भावना भायें और वैसी ही अपनी दृष्टि बनायें। हम आपको भी यही काम करना है।

गार्हस्थ्यकी रुचिकी अनर्थरूपता—भैया ! घर गृहस्थी बाहरी वैभव सम्पदा इनमें बने रहने से आखिर अन्तमें मिलेगा क्या ? मरणकाल आयेगा, जीवको यहाँसे अकेला जाना पड़ेगा। तो जैसे अनेक लोग कहते हैं कि जैसी जो करनी करता है, उस करनीके अनुसार उसे दण्ड मिलता है। तो पुरुषार्थसिद्धिके उपायमें अर्थात् आत्माको इस परमइष्टकी सिद्धि कैसे हो, इस उपायमें आचार्यदेव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रकी बात बताते हैं। मिथ्या आशयका परिहार करना सो सम्यग्दर्शन है। इन मिथ्या आशयोंका परिहार हो और इस आत्मतत्त्वका भली प्रकार निश्चय करके अपने आपमें लीन होने का भाव बने, यह काम हम आप सबको करना है। हम आपको इन कामोंमें यदि बाधा न दे तो वह पत्नी एक धर्मपत्नी है, ऐसा ही बधु धर्मबन्धु है और जो कोई भी हम आपको इस काममें बाधा डाले, रागद्वेष मोह ममतामें बढ़ानेकी बात बताये वह धर्मबन्धु नहीं है। कोई भी परिजन मित्रजन जो आत्मोन्नतिमें सहायक है वे धर्मबन्धु हैं और जो आत्मअवनतिमें ले जायें व धर्मबन्धु नहीं हैं। एक निर्णय रखिये कि इस मोह ममतासे कुछ भी लाभ नहीं है। घर गृहस्थीमें रहना पड़ता है, रहें, पर उदास वृत्तिसे रहें, धन वैभव सम्पदा मिली है तो उसे उदास वृत्तिसे भोगे। साधुजन तो निर्ग्रन्थ दशामें रहा करते हैं। उन्हें तो किसीसे किसी भी चीजकी चाह ही नहीं है। उन्हें तो एक आत्मीय आनन्दरसका ऐसा स्वाद मिल गया है कि उसे पीकर वे तृप्त रहा करते हैं और उसीमें आनन्द मानते हैं।

मुनिधर्म और अन्तर्वृत्तिकी प्रधानता– आचार्यदेव जब उपदेश देते हैं तो सबसे पहिले सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका देते हैं, और उपदेशमें सबसे पहिले मुनिधर्मकी बात कहते हैं। जो शिष्य उस मुनिधर्मका पालन करने में समर्थ नहीं है, वह श्रावक धर्म पाले। श्रावकधर्मका उपदेश पहिले मिल जाने पर वह उतनेसे ही संतुष्ट हो सकता है और मोक्षमार्गमें आगे बढ़नेकी कदम वह नहीं उठा सकता है, इसलिए सबसे पहिले मुनिधर्मकी बात बताते है। इस तीर्थक्षेत्रमें इस पर्वतमें आकर आपको मिला क्या ? केवल एक फुट की मूर्ति ही तो मिली। अरे इससे भी बड़ी-बड़ी अनेक जगह और भी तो मूर्तियां है, उन्हींके दर्शन आप लोगोंने क्यों नहीं कर लिये ? यहाँ दर्शन करने क्यों आये ? अरे उस मूर्तिके दर्शन करने नहीं आये, दर्शन उस स्थानके करने आये हैं जहाँसे वे मुनिजन मोक्ष सिधारे। दर्शन करनेमें मुख्य लाभकी बात यह है कि उस स्थानके दर्शन हुए जिस स्थानमें कुछ समय बसकर वे मुनिराज मुक्त हुए। उस स्थानको देखते है कि कौनसा स्थान उन मुनिराजोंने पसन्द किया था, जिनमें रहकर वे आनन्दरसमें तृप्त रहा करते थे। आपने देखकर अन्दाज भी किया होगा कि कितना स्वच्छ किस प्रकार का स्थान है ऐसे स्थानोंमें मुनिजन तपश्चरण करते थे, घर द्वार नौकर चाकर वस्त्रादिक का त्याग करके

आये थे, अपने साथ खाने-पीनेको भी न लाये थे। कुछ समयके लिये उन्होंने अपना टिकाव बनाया था और आन्तरिक तत्त्वकी उपासना करके उन्होंने अपने आत्माकी थी। यों समझिये कि जैसे कोई पुरुष किसी गाँवमें अनेक लोगोंसे कुटता-पिटता हो, गालियाँ सहता हो, बहुतसे लोगोंसे कलह हो गई हो तो अपना घर छोड़कर परदेश चला जाता है। यों ही समझिये कि उन साधुजनोंसे घरमें, परिवारमें बात नहीं पटी, उनका दृष्टिकोण दूसरा था, परिजनोंका दृष्टिकोण दूसरा था। वे अपनेको परिजनोंसे बहुत कुटा-पिटा समझते थे, जिससे हैरान होकर सर्व कुछ त्यागकर निर्ग्रंथ दीक्षा धारणकी थी। उन्होंने यह भी विचार नहीं किया था कि ऐसे स्थान पर कलको खानेको कौन लावेगा? ऐसे स्थान पर सिंहादिक क्रूर जानवर भी तो बस रहे होंगे, ऐसे स्थान पर कोई नौकर भी तो साथ नहीं है, यह कुछ भी उन मुनिराजोंने न सोचा था। उन्हें तो एक आत्मीय आनन्दरसका स्वाद मिल चुका था, जिसके आगे दुनियाके सारे रस फीके प्रतीत हो रहे थे।

मुनिव्रतमें आत्महितकी साधना— अरे, एक भवका मौजका साधन बना लेनेसे इस जीवका पूरा क्या पड़ता है? एक ऊँची किसी जगह पर पहुच गए और इसी जीवनमें फिर निर्धन हो गए, मरकर कीट आदिक हो गये तो क्या तत्त्व निकला? ज्ञानरस पाये तो उससे तो इस आत्माकी रक्षा है। मूर्छासे तो इस आत्माकी रक्षा नहीं है। आचार्यदेव उपाय तो एक ही साक्षात् सर्वप्रथम बताते हैं। मुनिधर्म अंगीकार करें और समस्त परिग्रहोंका त्याग करें। आगे-पीछेके गुजारेकी बात चित्तमें न लावें। जो होगा सो होगा, ऐसी तैयारीके साथ जिन साधु-सन्तोंने अपने आत्माका चिन्तन किया, आनन्दरस पाया, वे महापुरुष परमधामको प्राप्त हुए और हम आप सभी एकरस होकर एक ढगसे उनकी वदना और उपासनामें लगते है। तो पहिले आचार्यदेव मुनिधर्मका व्याख्यान करते हैं, फिर श्रावकधर्मका व्याख्यान करते हैं। सबसे पहिले गृहस्थधर्मका यदि उपदेश कर दिया जाये कि यों खाना, यों कमाना आदि तो श्रावक धर्ममें ही कोई शिष्य सतुष्ट रह सकता है और मुनिधर्म न अंगीकार करके आत्महितसे वंचित रह सकता है। इस कारण जैनशासनमें आदेश है कि किसीको कुछ बताना है तो पहिले ऊँची बात बतावे। देखिये तीर्थवन्दनामें कितना कष्ट होता है, लेकिन उन साधुसतोंके तपश्चरणका विचार करनेसे यह कष्ट हलका हो जाता है। और अगर घरका जैसा आराम यहाँ सोचो तो इस प्रकारका एक छोटासा भी कष्ट पहाड़ जैसा प्रतीत होता है। तो पहिले बड़ी बातको बताकर फिर छोटी बात बतानी चाहिये। पहिले मुनिधर्मका उपदेश करते हैं, बादमें श्रावकधर्मका उपदेश करते हैं। सभी धर्मोंमें चाहे मुनिधर्म हो, चाहे श्रावकधर्म हो, तत्त्वकी बात इतनी ही है कि जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका तत्त्व है, उससे तो आत्माकी रक्षा है और बाह्यपदार्थोंमें यदि उपयोग है तो उससे मिलना-जुलना कुछ नहीं है, किन्तु अत्यन्त असारकी बात है। उसमें इस समय भी कष्ट सहा और भव-भवमें कष्ट सहनेकी बात मोल ले ली। भावना भावें, निर्णय रखें इन वस्त्रोंसे, वैभवोंसे, शरीरके पोषणसे, भोगोपभोगकी सामग्रीसे। इन सारी बातोंसे इस आत्मामें शान्ति न आएगी, अतृप्ति ही बनी रहेगी। शान्ति तो तृप्ति तो वस्तुत अपने आपके आनन्दरसका पान करनेसे ही होगी। तृप्तिका कोई दूसरा उपाय नहीं है। ऐसा निर्णय करके फिर उसी मार्गमें लगना भी चाहिये और चलना भी चाहिये।

लोकाकार्षणमें आत्महितका घात— अगर दुनियाकी ओर दृष्टि चलने लगी तो लोग क्या कहेंगे, क्या कहते हैं तो यह अपनी रक्षाकी बात नहीं है. यह विडम्बनाकी ही बात है। अरे, लोग मुझे जानते ही कहाँ हैं? मुझे कुछ कह ही नहीं सकते। मैं तो एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हू। इसे कोई जानता है क्या? जो लोग मुझे बुरा कहेंगे, मूढ कहेंगे, वे क्या मुझे जानते हैं? उन्हें तो मेरे स्वरूपकी खबर ही नहीं है। मैं जगतमें अपना ही जिम्मेदार हू, दूसरेका हम कुछ कर नहीं सकते, दूसरे मेरा कुछ कर नहीं सकते।

कोई मानसिक संकट हो जाये, किसीको कोई इष्टवियोगका दुःख हो जाये तो लोग उसे बहुत बहुत गले लगाकर समझाते भी हैं तो भी उसके चित्तमे बात नहीं समाती। जीव सब अकेले-अकेले हैं। अकेले ही सुख-दुःख भोगते, अकेले ही जन्म-मरण करते, तृप्तिका स्थान बाहरमें नहीं है। बाहरमें जितने दिन लगे उतना ही पछतावाके बढ़नेकी बात तो बढ़ेगी। बहुत दिनके बाद पछतावा हाथ रहेगा। तो बाहरी बातों मे जितना लगे रहेंगे, उतना अपने आपको निर्बल बनाते चले जायेंगे। और देखा होगा, अनुभव किया होगा कि जितने ही झंझट बढ़ते जाते, उतना ही परका फँसाव बढ़ता जाता है और उतना ही कुछ रीतासा किंकर्तव्यताविमूढ़ जैसा दीन चित्त बन जाता है। और किसी परका लगाव न हो, परका बन्धन न हो, परका परिचय न हो, वचन व्यवहार न हो तो अपने उपयोगसे वह सबल बना रह सकता है। जगतमें है क्या? यहाँ तो कोई अगर ईमानदारीसे रहित है, शक्तिसे परे है तो भी उसका गुजारा नहीं है। उसे नाना विडम्बनाएँ हैं, उसका जीवन संकटोंसे परिपूर्ण है और कोई अगर सत्यतासे हो और वचन-व्यवहार रखे तो उन वचनोंके बन्धनसे वह भी विडम्बनामें पड़ सकता है। इस जगतमे तो मौन रहकर कोई शान्ति पा सकता है। जहाँ थोड़ा बहुत बोला, वहाँ विडम्बना हुई। किसी मनुष्यसे मित्रता कैसे बढ़ती है? पहिले वचनोंका आदान प्रदान होता है और उन वचनोंसे उनके बहुत खण्ड बन जाते हैं, जो अशान्तिकी ओर ले जाते हैं। तो इस जगतमें सर्वप्रकारसे मौन रहकर अपने आपकी ओर झुककर कोई शान्ति पा सकता है, इसके विरुद्ध तो उसे अशान्ति ही हाथ आयेगी।

बोले सो फसे— एक कथानक है कि एक साधु महाराज एक जंगलमें तपस्या कर रहे थे। वहाँ एक राजा पहुचकर निवेदन करता है कि महाराज, मुझे एक पुत्रका आशीर्वाद आपसे चाहिये। साधु कहता है एवं अस्तु! राजा प्रसन्न चित्त होकर लौट गया। घरमें खुश होकर रहने लगा। सोचा कि अब तो साधु ने कह ही दिया। संतान तो होगी ही। कुछ दिन बीत जाने पर साधु योगबलसे देखकर विचार करता है कि मैंने राजासे बोल दिया था, अभी कोई मर भी नहीं रहा, किसे भेजें रानीके गर्भमें? सो स्वयं मरकर रानीके गर्भमें पहुचता है। वहां अनेक संकट सहकर साधु विचार करता है कि अब मैं अपने जीवनमें कभी भी बोलूँगा नहीं, क्योंकि यह दुःख मुझे राजासे बोल देनेके ही कारण सहना पड़ रहा है। आखिर पैदा भी हो गया, पर बोले नहीं। राजघरानेमें पुत्रोत्पत्तिसे तो प्रसन्नता हुइ, पर गूँगा पुत्र होनेसे चिंता बढ़ी। राजाने अपने राज्यमें डंका बजवा दिया कि कोई भी मेरे पुत्रको बोलता बना देगा, उसे बहुतसा पुरस्कार दूगा। एक दिन क्या घटना घटी कि राजपुत्र वाटिकामें खेल रहा था। एक चिड़ीमार जाल लपेटकर चल देता है। इतनेमें एक पक्षी बोल उठा कि च्याऊँ-च्याऊँ। तो चिड़ीमार पुनः जाल फैलाकर उस पक्षीको अपने जालमें फास लेता है। राजपुत्र बोल उठा कि जो बोले सो फँसे। इतने शब्द चिड़ीमारने सुन लिये। सोचा कि इस बातकी खबर राजघरानेमें करूँ कि राजपुत्र बोलने लगा है, सो बहुतसा धन मिलेगा। चिड़ीमार राजाके पास पहुचकर कहता है कि महाराज! राजपुत्र बोलने लगा। इतनी बात सुनकर राजाने १० गॉवकी जायदाद पुरस्कारमें दे दी। जब राजपुत्र वाटिकासे लौटकर आया तो राजाने देखा कि राजपुत्र तो बोलता ही नहीं है। उसे चिड़ीमार पर गुस्सा आया। सोचा कि चिड़ीमार भी हमसे हँसी करने लगा है। उसे फासीका हुक्म राजाने दे दिया। जब फांसीके तख्ते पर चढ़ गया तो राजा कहता है कि तू जिससे मिलना चाहे मिल ले। चिड़ीमारने कहा कि महाराज मुझे राजकुमारसे दो मिनट केलिये मिला दीजिये। जब राजकुमार आया तो चिड़ीमार बोला कि ऐ राजकुमार! मैंने राजासे झूठ तो न बोला था, मुझे मरनेका डर नहीं, पर दुनिया समझेगी कि चिड़ीमारने राजासे झूठ बोला था, इस बातका दुःख है। सो कृपा करके आप वही शब्द बोल दें जो वाटिकामें बोले थे। फिर क्या था, राजकुमारने अपनी सारी कथा सुनाई और बताया कि देखो मैंने, चिड़ियाने और चिड़ीमारने बोला, सो ये

सर्व फंसें।

इस जगतमे जो स्नेहके बन्धन बढ़ते हैं, उनका मूल आधार है बोलना। तो यह बोल व हलना इतना खतरनाक परिश्रम है कि हम अपनेको बरबाद कर सकते हैं। इस कारण साधु संतोने मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति—इन तीनोंको किया। सबसे वचनव्यवहार त्यागा। उनका एक ही ध्येय था कि अपने आपके चैतन्यस्वरूप आत्मामें लीन होना। वास्तविक तृप्ति तो इसी उद्यममें प्राप्त होती है, बाहरमें कहीं भी तृप्तिकी प्राप्ति नहीं होती। इस कारण एक ही निर्णय बना लें कि सर्वबाह्यपदार्थोंमें ममताका परिहार करें, बाहरमें अपने उपयोगको न फसायें। सर्वसे विविक्त अपने चैतन्यस्वरूप आत्मा में लीन होनेका यत्न करें, इसी धुनमें रहें तो सही मायनेमें हम धर्मपालन कर सकते हैं।

एवं सम्यग्दर्शनबोधचरित्रत्रयात्मको नित्यं।
तस्यापि मोक्षमार्गो भवति निषेव्यो यथा शक्ति ॥२०॥

उपासक याने श्रावकको भी रत्नत्रयात्मक मोक्षमार्ग पालनेकी शिक्षा— मोक्षका मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमय है, इसका पूर्णरूपसे तो साधु पालन कर सकते हैं। साधुजन बाह्यमें तो परिग्रहसे मुक्त हैं, अतएव साक्षात् मोक्षमार्गके अधिकारी हैं और अन्तरङ्गमें उनके उत्साह बहुत है। मुक्तिके मार्गमें चलनेका, अपने आपके स्वरूपमें उपयोग बनाये रहनेका उत्साह अत्यन्त अधिक है। अतएव पूर्णरूपसे पालन मुनि कर सकते हैं, लेकिन जो गृहस्थ है उनको भी यथाशक्ति यह सेवन करना योग्य है। अब गृहस्थके सम्यग्दर्शनकी तो कमी नहीं है। जो सम्यग्दर्शन साधुके है सो गृहस्थ के है। केवल एक सम्यक्चारित्रका अन्तर है, उसका कारण है कि गृहस्थके अनेक समागम, अनेककी संभाल, धर्म, अर्थ और काम हैं। गृहस्थोंसे सम्यक्चारित्रका विधिवत् पालन नहीं बनता अतएव साधु और गृहस्थके चारित्रमें अन्तर है, लेकिन गृहस्थ भी यह निर्णय कर चुका है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रके पालनेसे संसारके संकट मिट सकते हैं। सो वे भी अपनी शक्तिके अनुसार उस ही मोक्षमार्गमें लगते हैं।

तत्रादौ सम्यक्त्वं समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञानं चरित्रं च ॥२१॥

सम्यग्दर्शनकी सर्वप्रथम समुपाश्रयणीयता— उन तीनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें से पहिले समस्त प्रकारके प्रयत्नपूर्वक सम्यग्दर्शनका उपाश्रय लेना चाहिये, क्योंकि सम्यक्त्वके होने पर सम्यग्ज्ञान और चारित्र हो सकता है। जिस सम्यक्चारित्रके नामपर व्रत तप कठिन कठिन तपश्चरण भी कर रहे और उसमें यथार्थ श्रद्धानकी बात नहीं आयी कि ये तपश्चरण किसलिये किये जा रहे हैं। किये जा रहे हैं अथवा होते हैं। कुछ भी विश्वास निजतत्त्वके अनुरूप नहीं है। और ये तपश्चरण आदि कर रहा है तो उससे मुक्तिके मार्गमें लाभ न मिल जायेगा। पुण्य और धर्म—ये दो भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। पुण्यमें रागांश है और धर्ममें राग नहीं है। अतः रागभाव जहाँ रच न हो उसे धर्म कहते हैं। अथवा रागरहित आत्माके स्वभावका अनुभव होना सो धर्म है और पुण्यमें दया है, दान है, परोपकार है, दूसरों की भलाईका विचार है—ये सब साथ चलते हैं, पर इनके साथ रागांश मिला हुआ है। जितनेमें रागांश है उतनेमें बाधक समझिये और जितनेमें वीतरागता प्रकट है उतनेमें मोक्षका मार्ग है। हमें आपको सबको भलाई मिलेगी, शान्ति मिलेगी, कल्याण मिलेगा तो राग मिटानेसे मिलेगा। रागका उपयोग बनानेसे तो क्षोभ ही होगा, शान्तिकी अवस्था न आयेगी। सम्यक्त्वमें सर्वप्रथम यही तो बात है कि रागरहित, क्षोभरहित केवल चैतन्यरससे भरपूर ऐसा जो आत्मस्वभाव है उस रूप अपनेको विश्वास करना कि यह मैं हू, बाकी कुछ नहीं हू।

नामाश्रयमें आस्रव सम्भव होनेसे स्वके निर्नाम स्वरूपकी भावनाका उपदेश— जो कोई नाम लेकर गाली दे रहा और मनमें यह बात रख रहा कि मैं नाम भी नहीं हू। दूसरेका नाम लेकर गाली दे तो खुदको बुरा नहीं लगता है। वह जानता है कि यह तो दूसरेको कह रहा है। बुरा नहीं मानता। ऐसे ही कोई इस पर्यायका जो नाम रखा गया वह नाम लेकर भी गाली दे तो ज्ञानीका यह निश्चय है कि मै तो बिना नाम का हूं, मुझे कुछ नहीं कह रहा। यह मुझे जानना ही नहीं, मेरा इसको परिचय ही नहीं, मुझे यह कुछ नहीं कह रहा, किन्तु एक मायामय पर्यायमें नामका या जैसा भी उसने लक्ष्य बनाया उस लक्ष्यको यह कह रहा है। इस नामरहित अपने आपके स्वरूपका अनुभव जगे, इस रूपमें अपने आपका परिचय पाये कि मैं नामरहित हू, मेरे में जो है सो नजरमें आ रहा है। अमूर्त निर्विकल्प सबसे निराला यह मै नामरहित हूं, ऐसा निर्णय होने पर बहुतसी आकुलताएँ मिट जाती हैं। आकुलताएँ नामसे चिपटी हुई रहती है। मुझे ऐसा कह डाला बस, जहाँ अपने नामका लगाव हुआ, वहींसे विषाद और कलह शुरू हो जाते हैं। कोई आदमी गाली दे रहा हो और कल्पना यह आ जाये कि यह हमको ही कह रहा है दूसरेको नहीं तो यह बुरा मान जायेगा। तो नामका जो लगाव है यह कर्मबंधकी एक बहुत विशिष्ट पद्धति है। बौद्धजनोंने जहाँ आस्रवके हेतु बताया तो सबसे पहिले उन्होंने नाम रखा। नामरूप विज्ञान संस्कार उनके ऐसी चुनी हुई श्रेणियां हैं जिनमें यह बताया है कि कर्मोंका बंध, कर्मोंका आस्रव किस प्रकार होता है। सबसे पहिले नामका लगाव है सो आश्रव होता है। बादमें रूपका जो लगाव है वह नामके लगावसे विशिष्ट है, सो उससे कर्मोंका आस्रव होता है। तीसरा आस्रव है याने यह जानकारी। बौद्ध लोगोंकी दृष्टिमें तो ये सब ज्ञान मिथ्या हैं। कितना भी ज्ञान हो, जहाँ वे एक निर्विकल्पके दर्शन है, जहाँ एक प्रतिभासमात्र है, चेतनामात्र है, वह तो है उनका परमार्थ और जितनी ये जानकारी हैं, ये सब हैं उनके उपादान और जिस प्रयोजनको लेकर वे कहते हैं तथा तुरन्त सुननेमें भला भी लगता है कि हमारे दुःखके कारण ये सब विज्ञान हैं, ज्ञान हैं, ये जानकारियाँ हैं, उनसे दुःख होता है। यह जानकारी न हो, जानकारी मिटा दी तो कोई दुःख नहीं। फिर क्या रहेगा अन्दर? जो रहे सो रहे। बौद्धोंके यहाँ जीवके एकमात्र चेतना है और प्रमाणके सिद्धान्तमें निर्विकल्प ज्ञान है। तो वह ज्ञान भी आस्रव है, संस्कार भी आस्रव है। देखो इस सब विडम्बनाका मूल हुआ नाम-वासना।

ध्रुव निर्नाम अन्तस्तत्त्वके परिचयमें सम्यक्त्वका उपाश्रय— बौद्धोंके यहाँ प्रत्येक पर्यायको पूरा पूरा द्रव्य कहा गया है। जैसे सिद्धान्त कहता है कि पर्याय क्षणिक है, क्षणभरको होती हैं और नष्ट हो जाती है। बौद्धसिद्धान्तमें ये पदार्थ क्षणिक हैं, वे क्षणभरमें हुए और नष्ट हो गए। कोई पूछे कि ऐसा ही आत्माका हाल होगा? आत्मा आया और मिट गया, दूसरा आत्मा आया वह मिटा, फिर तीसरा आया वह मिटा, इस तरह तो अनेक आते रहते हैं। कोई पूछे कि जब वह आत्मा अनेक एक दूसरेसे अत्यन्त भिन्न है तो यह हमारे देहमें रहने वाला आत्मा, आपके देहमें रहने वाले आत्माकी बात नहीं जानता। ऐसे ही इस देह में भी जो अनेक आत्मा हो रहे हैं तो वह आत्माकी बातको अकेला आत्मा नहीं जान सकता। जैसे दूसरे आत्मा हमारी बात नहीं जानते तो इस देहमें उत्पन्न होने वाले जो अनेक आत्मा हैं वे भी पहिले आत्मा की बात नहीं जानते। लेकिन हो क्या रहा है? सब जानते हैं कि उसने मुझे कल यह कहा था, कल लगाव किया था— ये सब संस्कार रहते हैं। उधार दिया किसीको तो ख्याल रहता है। तो यह जो चीज है वह क्यों है? तो इसका उत्तर है संस्कारकी वजहसे। जैसे दृष्टान्त देते हैं कि दीपकमें तेलकी एक एक बूँद जलती है तो जो दीपक जल रहा है वह जिस जगह जल रहा है वह बूँद तो खतम हो गई, उसका बाद दूसरा बूँद जलाते, फिर तीसरा बूँद जलाते। तो जैसे भिन्न भिन्न तेलकी बूँद जल रही हैं, लेकिन दिख यों रहा है कि दीपकमें कुछ अन्तर नहीं आ रहा है। एक बूँद जले फिर दीपक शान्त हो जाए, फिर

जल जाये—ऐसा दीपकके अन्दर नहीं नजर आता। इसका क्या कारण है ? इसका कारण है संस्कार। तैलके एक बूँदके समीप दूसरी बूँद ऐसी चिपटी है कि वहाँ अन्तर नहीं है। जैसे एक उपयोगके तैलकी अनगिनत बूँद क्रमसे चलती रहती हैं और अन्तर नहीं नजर आता। इसी प्रकार अनेक देहोंमें अनेक आत्मा निरन्तर अगले अगले क्षण उत्पन्न होते रहते हैं, लेकिन एक आत्माकी वातको जो अवेता आत्मा जानता है वह सस्कारकी वजहसे जानता है। तो उनका कहना है कि ये संस्कार हमें न चाहिए। न हमें नामका आश्रय लेना है, किन्तु वे सब विडम्बनाएँ हैं। तो प्रसग यह था कि नामका लगाव भी बहुत बड़ी विपदा है, दुःखी होना पड़ता है। तो मैं नामरहित केवल ज्ञानानन्दस्वरूप मात्र आत्मा हू। ऐसा अनुभवन होना सो सम्यक्त्व है। सम्यक्त्वके होने पर ज्ञान और चारित्र समीचीन होते हैं।

जीवाजीवादीना तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत् ॥२२॥

सम्यक्त्व स्वरूपका निर्देशन— सम्यक्त्व क्या है ? जीव अजीव आदिक मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत जीव तत्त्वका श्रद्धान करना यही है सम्यग्दर्शन। और वह ७ तत्त्वोंके श्रद्धानके नामसे जिस सम्यग्दर्शनको हम कह सकें वह सम्यग्दर्शन वास्तवमें अपने विपरीत आशयरहित आत्माका स्वरूप है। सम्यक्त्व अनिर्वचनीय तत्त्व है। उसे वचनोंसे नहीं बताया जा सकता कि सम्यक्त्व क्या है। वह सम्यक्त्व मिथ्या अभिप्राय से रहित एक आत्माके स्वरूपकी बात है। विपरीत अभिप्राय न रहे, मानों एक स्वच्छता प्रकट हो। सम्यक्त्वका अर्थ स्वच्छता है। सम्यक्त्व कहो या स्वच्छता कहो, विपरीत अभिप्राय दूर हो गया और स्वच्छता आ गयी। अब उसका रहितरूपसे उपदेश होगा। जैसे जो पानी बहुत गन्दा था, अब वह हो जाए स्वच्छ। कोई पूछे कि अब क्या हो गया इस पानीमें ? तो वह यों ही बतावेगा कि गदगी हट गई, निर्मल हो गया। इन शब्दोंसे बढ़कर शब्द है स्वच्छता हो गई। कोई पूछे कि पानीकी स्वच्छता कैसी होती है ? जहाँ परवस्तुका अब लेप नहीं रहा। मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत जीव अजीव आदिक ७ तत्त्वोंका श्रद्धान होना सो सम्यग्दर्शन हैं। वहां विपरीत अभिप्राय नहीं है और आत्माका ऐसा स्वरूप है। आत्मार्थीको विपरीत आशय मिटाना है। किसी दूसरेकी बुराईका परिणाम मिट जाए, दूसरेकी निन्दाका परिणाम मिट जाए, यह तो स्वच्छताका फल है। इस स्वच्छताको किन्हीं भी शब्दोंमें नहीं कहा जा सकता। जो है सो सर्वस्व अब प्रकट होने वाला है। ऐसी स्वच्छता विपरीत अभिप्रायरहित है और आत्माका स्वरूप है। ऐसा जो परिणमन है, सम्यक्त्व है सो मोक्षमार्गकी जड़ है। जैसे जड़के बिना पेड़ नहीं ठहर सकता, यों ही सम्यक्त्वके बिना मोक्षमार्गका नाम भी नहीं आ सकता। सम्यक्त्व होने पर चारित्र पालन किया जाए तो उसमें यथार्थता और दृढ़ता आ जाती है। यह सम्यग्दर्शन सो विविक्त आत्मस्वरूप है। सम्यक्त्वको बातोंमें बाँधे तो यों कहना चाहिए कि वह मिथ्या आशयरहित है, ७ तत्त्वोंका श्रद्धान है, देव शास्त्र गुरु की विनय है—ये सब बातें सम्यक्त्वमें हैं, पर इतने मात्रसे ही सम्यक्त्व नहीं बनता। स्वच्छता हो गई जिसके कारण विकल्पोंसे उपयोग हट गया, निर्विकल्प स्वरूपका आलम्बन लेने लगा सो है सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्श एक ऐसी मूलभूत चीज है कि सम्यक्त्वके होने पर व्रत आदिककी कीमत बढ़ जाती है। सम्यक्त्व है एक अंककी तरह। जैसे एक अंकके आगे एक एक शून्य क्रमशः बढाते जायें तो दस गुना बढ़ता जाता है। ऐसे ही सम्यग्दर्शनके होने पर व्रत तपश्चरण सयम ये सब महत्त्वको प्राप्त हो जाते हैं। इस कारण सर्वप्रकारके प्रयत्नोंसे अपने आपमें मोक्षमार्गका विकास कर लेना चाहिये। यह गृहस्थोंको उपदेश है। अब पद्धतिरूपसे जैसे बात निभ सकती है उसे कहेंगे। सक्षेपमें इतना जानें कि हम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका यत्न करें, अपने आपमें लीन होनेका यत्न करे। यही हमारे कल्याणका उपाय है।

राग और मोहका विवेचन--भैया ! रागमें और मोहमें तो महान् अन्तर है। मोहमें जहाँ यह विश्वास रहता है कि मेरी जिन्दगी इनके सहारे है, मेरा अस्तित्व इनके सहारे है, मेरा सुख, मेरा ज्ञान, मेरा बड़प्पन सब इन लोगोंके कारण है, हम परिवारसे भरे पूरे हैं तो हम बड़े कहलाते हैं। इनसे ही हमारा सुखमय जीवन है। मोहमें ऐसा विश्वास बनता है और इस मुग्ध विश्वासके कारण वह पुरुष पद-पदपर दु:खी होता है, क्योंकि उसने अपनेका परका अधिकारी माना। जब उसने यह देखा कि मेरे अनुकूल नहीं चलता तो कर्तृत्वबुद्धि बनानेके कारण उसे खेद होता है। अज्ञानी पुरुष तो अपनी इच्छाके प्रतिकूल परिणमन देखकर दुःखी होता है और अपनी इच्छाके अनुकूल परिणमन देखे तो वहाँ क्षोभ करता है।

निर्वाणकी पात्रता—जब यह आत्मा, आत्मा ही ज्ञाता, आत्मा ही ज्ञेय रहकर एक अभेदोपयोगी बनता है, तब मोक्ष तककी भी वहाँ इच्छा नहीं रहती है। वहाँ मर्म यह है कि एक अद्वैत बुद्धि रहना सो तो सिद्धि है और जहाँ द्वैत भाव आया, द्वैधीकरण आया बस वहीं क्लेश है। यह मैं आत्मा हूं इतना तक भी परिणाम हुआ तो वह विकल्प है। आत्माको पूर्ण निर्विकल्प समाधिमय होना चाहिए तब उसकी मुक्ति होती है। यह आत्मतत्त्व निरुपराग है, जो कुछ भी है वह अकेले है, दूसरेको लेकर है कोई नहीं बनता। दूसरेका गुण उधार लेकर सत् नहीं बना करता है। जो भी पदार्थ है वह पूरा अपने आप है, मैं आत्मा हूं तो मैं अपने आप ज्ञानमात्र हूं, सत् हू, किसी दूसरेका सहारा लेकर नहीं हूं।

ज्ञायककी ज्ञानानन्दरूपता—भैया ! ऐसा मालूम होता है मोहमें कि मैं इन्द्रियोंके सहारे जानता हूं। पहिली बात वहाँ यह है कि इन्द्रियोंका सहारा लेने से हमारे ज्ञानमें कमी आयी है, ज्ञानका विकास रुक गया है। ये इन्द्रिया तो एक कमरेकी खिड़कियोंकी तरह हैं। जानने वाला पुरुष तो अलग है, खिड़कियाँ नहीं जानती हैं। खिड़कियोंके होनेसे तो बल्कि उस जानने वाले पुरुषको रुकावट हो रही है। वह अब केवल खिड़कियोंसे जाने और जगहोंसे नहीं जान सकता। ऐसे ही मैं तो ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानसे सबको निरन्तर जानता रहता हूं। इन इन्द्रियोंके कारण तो मेरेमें रुकावट आयी है। मैं अब सबको नहीं जान सकता। इन्द्रियोंका जब तक हम सहारा लेते हैं तब तक हम सर्वज्ञ नहीं हो सकते। इन्द्रियोंका सहारा मोहवश लेता है यह जीव। इन इन्द्रियोंकी उपेक्षा करके अपने शुद्ध ज्ञानामृतका पान करना चाहिए।

परमार्थत: पदार्थकी निर्नामता—भैया ! सच पूछो तो नाम तो किसी वस्तुका होता ही नहीं है। जो भी विशेषता उस वस्तुमे नजर आयी वही नाम लोग लेते हैं। वह नाम उस वस्तुका नहीं है। जैसे लोग कहते हैं इस देहको शरीर। तो कोई कहे कि शरीर तो नाम है। पर शरीर नाम नहीं है, शीर्यंते इति शरीरम्। जो सड़े गले उसका नाम शरीर है। यह विशेषण है। इस शब्दने विशेपता बतायी है। 'देह दिह्यते उपचीयते इति देह' जो सचित हो उसे देह कहते है। संदूक भी नाम नहीं है, 'स' मायने अच्छी तरहसे 'दूक' मायने छिप जाय जिसमें वह संदूक है। यह विशेषता है, पदार्थका निजका नाम नहीं है, नाम किसीका होता ही नहीं है, विशेषताको लोग पुकारते है। दुकान-दुकान नाम नहीं है, जहा दो कानों से व्यवहार चले उसका नाम दुकान है, एक बेचने वालेका कान और एक लेने वालेका कान। अथवा, दुका न, कोई चीज दुकाओ नहीं, सामने रक्खो, उसका नाम दुकान है। चौकी—यह नाम नहीं है, किन्तु चार कोने जिसमें हों उसका नाम चौकी है। किसी वस्तुका नाम ही नहीं होता। लोग तो अपने मतलब के अनुसार जो उनके प्रयोजनकी विशेषता मालूम हुई—नाम रख लिया। किवार कि मायने किसीको वार दे मायने रोक दे, कुत्ता बिल्ली आदमी आदि सबको किसी को न आने दे वह किवार है। भींट—भींच करके ईंट लगाये उसका नाम है भींट। नाम किसीका होता ही नहीं है, अपने स्वार्थवश जो विशेपता हम देखते हैं उसका नाम लगा देते हैं।

सम्यक्त्वमे श्रद्धेय सात तत्त्वोंका निर्देश— मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत ७ तत्त्व—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। उनमें से जीव तीन प्रकारके है। सम्यक्त्वके प्रकरणकी बात है। एक तो शुद्ध जीव है, परमात्मा है, दूसरे जो अशुद्ध है, मिथ्यादृष्टि है, तीसरे कुछ सम्यक्त्वका अश है और कुछ मिथ्यात्वका अश है। ऐसे होते हैं तीसरे गुणस्थान वाले। इन तीनमे सिद्धपरमात्माको तो ग्रहण करें, क्योंकि वे मोक्षके मार्गके फलको प्राप्त कर चुके हैं। अशुद्ध जीव और मिश्र जीव। अशुद्ध जीवमें मिथ्यादृष्टि भी लेना और १२ वें गुणस्थान वाले भी लेना। तो इन जीवोंके साथ मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्व बताये जा रहे हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष। और इसे दो दृष्टियोंसे देखें—एक उपचार दृष्टिसे और एक निश्चय दृष्टिसे। जिसमे दो पदार्थोंका सम्बन्ध बताकर कथन है वह उपचार कथन है और निश्चयदृष्टिका एक सम्बन्ध बताकर जो कथन है वह निश्चय कथन है। जीवके साथ कर्मबधन है यह उपचार कथन है। इसे उपचारसे आस्रव कहा। हालाकि यह बात बहुत मुख्यसी दिख रही है। सभी लोगोंका ऐसा व्यवहार है कि जीवमें कर्म आना सो आस्रव है, पर यह व्यवहारकथन है। यहाँ दो दृष्टिया रखकर बात कही गई है। आस्रव न जीवका परिणमन है और न कर्मका परिणमन है। उपचारसे आस्रव है जीवमें अजीवका आना। बँध है जीवमें कर्मोंका बँधन। यहाँ भी दो पदार्थोंपर दृष्टि है—जीव और कर्म। दो की दृष्टि देकर जो बन्धनरूप बात कही है, क्या यह जीवका परिणमन है या कर्मका ? कोई उत्तर नहीं है। दो पदार्थोंका भाव रखकर जो बधका कथन है वह व्यवहारसे बधन है। अब जीवमें कर्म न आएँ इसका नाम सम्वर है। कर्मोंका आना रुक जाए सो सम्वर है। कर्मोंका न आना आस्रवका रुकना यह किसका परिणमन है ? दो पदार्थोंकी दृष्टि रखकर सम्वरका कथन किया जाएगा। कर्म रहें नहीं, जीवमें कर्म झडें उसका नाम निर्जरा है। यहाँ पर भी दो पदार्थों पर दृष्टि है—जीव और कर्म। ऐसा कार्य जीवका है या कर्मका ? इसका कोई उत्तर नहीं है। यह भी दो पदार्थोंका कथन होनेसे व्यवहार कथन है। इसी तरह कर्मोंका बिल्कुल निकल जाना यह भी दो पदार्थोंकी दृष्टि रख कर कहा गया है। जीवमें से कर्म हट गए ऐसा जो हटनेरूप परिणमन है, वह क्या जीवका परिणमन है अथवा कर्मका परिणमन है ? तो यह सब व्यवहारकथन है।

निश्चयसे आस्रवादिकके स्वरूपका निर्देशन— अब निश्चयकथनसे देखो तो आस्रव क्या है ? जीवमें एक सहज स्वभावरूपसे जीव माना है। अब ऐसा जो जीवमें विभावोंका आना है, उदय होना, प्रकट होना सो आस्रव है। यह निश्चयसे आस्रवका कथन है, क्योंकि यह परिणमन जीवका है। जीवमें रागादिक भाव आयें तो ऐसे विभावोंका उठना, विभावोंका परिणम होना यह जीवका आस्रव है तो यह निश्चयकथन है। चूँकि आस्रव तत्त्व मिला है इसलिये अशुद्ध तत्त्वमे घटेगा, दृष्टिमें नहीं। इसी प्रकार बध सहज स्वभाव लक्षण वाले इस जीव पदार्थको शुद्ध जीवास्तिकायके विभावोंको बध जाना, विभावोंका सस्कारबन्धन, यह है बन्ध निश्चयदृष्टिसे, क्योंकि ऐसा बन्धन होना, स्वभावका सस्कार होना यह सब जीवका परिणमन है। सम्वरमें, शुद्ध जीवास्तिकायमें विभावोंका रुक जाना, विभाव न आ सकें इतने देश में जो भी, वह सम्वर है। तो यह कथन भी निश्चयकथन है, क्योंकि एक जीवास्तिकायमे दोनों बातें बतायी जा रही हैं। स्वभावमें विभावका आना आस्रव है, स्वभावमें विभावका बँधना बध है। स्वभावमें विभाव न आ सकें सो सम्वर है यह निश्चय करें। जीवसे विभावोंका झड़ना सो निर्जरा है। जीवमें जो विभाव बध रहे हैं, रागादिकका सस्कार चल रहा है, लगाव चल रहा है वह भग हो जाए, यह बात तो जीवमें होती ही है। इस प्रकारकी निर्जरा बताना निश्चयसे निर्जरा है। शुद्ध जीवास्तिकायसे निश्चय किये गए जीव पदार्थमें अब विभाव बिलकुल नहीं रहे। जो विशुद्धता प्रकट हुई इसका नाम है मोक्ष।

यह भी निश्चयकथन है, क्योंकि एक ही पदार्थको यथार्थमें लक्ष्यमें रखकर कहा है। यों जीव, अजीव, आस्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा और मोक्ष—इन ७ तत्त्वोंका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है।

पुद्गलोंका विवरण— इस प्रयोजनभूत तत्त्वको स्पष्ट समझानेमें सहायक कुछ अन्य पदार्थोंका भी वर्णन है। अजीवके ५ भेद हैं--पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। पुद्गलमें अनेक प्रकारकी वर्गणायें हैं, उनमेंसे ५ प्रकारकी वर्गणायें जीव ग्रहण करता है। आहारवर्गणायें जिनसे जीवका शरीर बनता है, तैजस वर्गणायें जिससे जीवके शरीरमें तेज होता है, कार्माणवर्गणायें जो कर्मरूप परिणमकर जीवके साथ बँधती है और भाषावर्गणा जो भाषारूप वचनरूप परिणम जाती हैं और एक मनोवर्गणा जिसके आलम्बनसे विचार करनेकी बात चलती है। इन ५ प्रकारकी वर्गणावोंमें से यहा प्रयोजनभूत बँधन है केवल कार्माणवर्गणावोंका। लेकिन मोक्षमार्गके प्रयोजनमें केवल कार्माणवर्गणाका ज्ञान बनाया तो भी विशदता नहीं आती है। इस कारण चार वर्गणावोंकी भी बात जाननी चाहिये। पहिली है आहार-वर्गणा। आहारवर्गणा जीवगृहीत और जीवत्यक्त अर्थात् जिन्दा शरीर और मुर्दा शरीर—इन दो रूपों मे आहारवर्गणावोंका काम दीखता है। जिन शरीर वर्गणावोंसे यह शरीर बनता है वे आहारवर्गणायें कहलाती हैं। जब तक जीव है तब तक जीवित शरीरमे आहारवर्गणाएँ हैं। जब जीव चला गया तो शरीर कहाँ चला जाए। जीवके द्वारा गृहणके रूपमें जो एक पिंड बन गया था, जीवके चले जाने पर भी वह पिंड कहां जाए? कुछ ऐसे होते है कि जीव चला जाए तो शरीर भी कपूरकी तरह उड़ जाता है। जिनका मोक्ष होता है उनका शरीर कपूरकी तरह उड़ जाता है। इसी तरह भोगभूमियाका शरीर, देवों का शरीर जीव चला जाने पर वह शरीर यों ही भड़ जाता है, यह मिलता नहीं है। तो सभी शरीरोंका यही हाल नहीं है कि जीव चला जाए तो शरीर कपूरकी तरह उड़ जाए। कुछ शरीर होते हैं सूक्ष्म, जो किसीसे अपहत नहीं हो सकते। कुछ शरीर स्थूल हैं जो छिद भिद सकें। इन काठ पत्थरोंको अगर तोड़ दिया जाए तो क्या फिर मिलता है? तो ये स्थूल स्थूल है। दूध, पानी, तैल ऐसे जो द्रव तत्त्व हैं, वे अलग अलग कर देने पर भी एकमेक हो जावेंगे, एक एक अलग अलग न रहेंगे, वे एक बन जावेंगे, ऐसे पदार्थ कहलाते हैं स्थूल। तीसरी प्रकारके पदार्थ है स्थूलस्थूल। जो दिखनेमे तो आ जाएँ, परन्तु पकड़े न जा सकें, भिन्न भिन्न न किये जा सकें वे स्थूलसूक्ष्म हैं। जैसे धूप चांदनी ये दृष्टिगत तो होते हैं। अंधेरा भी दिखता है, अंधेरेमे और चीजें नहीं दिखतीं, मगर अंधेरा तो दिखता है। प्रकाश चांदनी भी देखनेमे आते, पर पकडे नहीं जा सकते। तो ये हुए स्थूल सूक्ष्म। चौथे होते हैं सूक्ष्मस्थूल। जो देखा भ नहीं जा सकता परन्तु इन्द्रियोंसे ग्रहण किया जा सकता है। जैसे गंध शब्द आदिक ये ग्रहण किए जा सकते हैं। पर न भिन्न भिन्न हो सकें, न पकडे जा सकें ये सब क्या है? आहारवर्गणावोंसे बना हुए शरीर हैं और उनके आश्रयसे निष्पन्न हुए परिणमन हैं। ५ वें प्रकारके पुद्गल हैं सूक्ष्म। कार्माणवर्गणायें जो इन्द्रियोंसे भी ग्रहण नहीं किए जा सकते हैं। अन्तका जो कार्माणशरीर है—ये भोगमें, विषयमें, इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें भी नहीं आ सकते। और छठे प्रकारके है सूक्ष्म सूक्ष्म। वे हुए अविभागी परमाणु। यह तो मालूम पडे कि दुनियामें ये सब चीजें हैं क्या? यह सब जो दिख रहा है वह आहारवर्गणावोंका प्रसार है, ये सब पुद्गल हुए।

धर्म अधर्म आकाश और कालका निर्देश— अब धर्मद्रव्य—जो जीव और पुद्गलको चलानेमें सहकारी हो वह धर्मद्रव्य है। यह विषय समझना कठिन है फिर भी कुछ अनुमानसे जाना जा सकता है। इस आकाशमें कुछ ऐसे सूक्ष्म पदार्थ हैं कि जीवपुद्गल चलते है तो उन तरंगोंका सहारा लेकर चलते हैं। शब्दोंके बारेमें आजकल के वैज्ञानिक कहते हैं कि आकाशमें पंक्तियां, तरगें होती हैं, उसके मुताबिक ये शब्द चलते हैं। उससे यह अनुमान किया जाता है कि चलनेमे सहकारी कैसी पंक्तियां चाहिएँ? छोटी

सी छोटी चीज हों, उनमें भी कुछ पंक्तियां नजर आती हैं। यह आकाश यद्यपि अमूर्त है लेकिन उसमें भी पंक्तियोंकी रचना है और ऐसा ही लोकाकाशमें धर्मद्रव्य है। यह धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलके चलनेमें सहकारी होता है। एक है अधर्मद्रव्य जो चलते हुए जीव पुद्गल जब ठहरें तो उनके ठहरनेमें सहायक अधर्मद्रव्य होता है। यह भी समस्त लोकाकाशमें व्याप्त है। एक आकाशद्रव्य है। आकाशद्रव्यका उपग्रह है जीवको अवगाह देना। आकाशने मना नहीं किया कि लोकाकाशके बाहर कोई मत आए, किंतु धर्म अधर्म द्रव्यका जहाँ तक सद्भाव है वहां तक जीव पुद्गलका गमन है। इस कारण ये पदार्थ अलोकाकाशमें नहीं पहुच सकते। पर आकाशका जो लक्षण है वह सदा खुला हुआ है। अवगाह तो रहा था। कल्पना करो कि जहाँ अलोकाकाश है, समस्त लोकसे बाहरका क्षेत्र है वहां कोई चीज विभाजन करने वाली सीमा नहीं पड़ी है। अलोकाकाश व लोकाकाशमें कोई अलग भेद नहीं है। जहाँ तक जीव पुद्गलका अस्तित्व है, लोकके अन्दर जितने हिस्सोंमें सर्वपदार्थ देखे जाएँ उतनेका नाम लोकाकाश है। आकाश तो समस्त पूर्ण अखण्ड है, पर उसमें सम्बन्धवश कल्पना हुई है कि यह आकाश लोकाकाश है शेष अलोकाकाश। लोकाकाशके एक एक प्रदेश पर एक एक कालद्रव्य बैठा हुआ है और उस कालद्रव्यकी परिणति क्या है कि उसमें से समय, समय, समय ऐसी पर्याय बनती चली जाती है। कालद्रव्यमें समय नामक परिणमन होता रहता है। अब उस समयसे जो चलित हो गया उसे हम सेकिण्ड मिनट घण्टा आदि कहते हैं।

इन षट्द्रव्योंमें जीव और कर्म इन दोनोंका जो परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है संयोगरूप अथवा वियोगरूप, उससे ये ७ तत्त्व विज्ञात होते हैं। इन ७ तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करना इसका नाम है सम्यग्दर्शन।

सम्यक्त्वकी अमोघता—कोई ऐसी शंका कर सकता है कि सम्यग्दर्शन होनेके बाद सम्यग्दृष्टिको सदा श्रद्धान रहे यह जरूरी नहीं है। पौराणिक दृष्टि तो पहिले ही से बात बताती है। जैसे रामचन्द्रजी ने लक्ष्मणजीके मृतक शरीरमें विलाप किया। क्या वहां ७ तत्त्वोंका श्रद्धान है? और भी अनेक व्यवस्थावोंके काम करते हुए क्या इस जीवको श्रद्धान रहता है? जब सम्यग्दृष्टि जीवके विषयकषायोंकी तीव्रता है उस समय श्रद्धान नहीं होता। लक्ष्य यह बना रहना चाहिये कि जीवादिक ७ तत्त्वोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यक्त्वका कथन उपयुक्त नहीं है। इसका समाधान यह है कि एक श्रद्धानरूप भाव और एक परिणमनरूप भाव। तो श्रद्धान सम्यक्त्वका लक्षण है और परिणमन चारित्रसे सम्बन्धित है। जैसे रातमें उत्पन्न हुआ अन्धेरा रहता है तो उसमें हमारा उपयोग चलता नहीं है, किंतु मेरे लिए मेरे अन्दर तो स्फूर्ति है, इसी प्रकार जब उपयोग विषयकषायोंमें चला जाता है उस समय श्रद्धान नहीं है अनुभवमें, उपयोगमें, लेकिन अन्त वह मुक्तता प्रतीति बराबर बनी है। जब विषयकषायोंकी स्फूर्ति रहे, उस समय झूठा श्रद्धान आ जाता है। यों श्रद्धानरूप भाव है वह सब चारित्रके लिये है। इससे यह बात बताई जाती है कि श्रद्धान है अन्तरंगमें और परिणमन है बहिरंगमें असंयतके। जैसे कोई मुनीम किसी सेठकी दूकानमें काम करता है तो उसके निरन्तर यह श्रद्धान बना है कि यह वैभव मेरा नहीं है, यह सब सेठसे सम्बन्धित है। वह मुनीम ग्राहकोंसे झगड़ता भी है। यह मेरा है, मेरा है ऐसा भी कहता है। मेरेको इतना तुमसे मिलना है, तुम पर इतना मेरा बाकी है ऐसा भी वह कहता जाता है, पर उसके अन्तरंगमें ऐसा आशय बसा है कि यह सब कुछ मेरा नहीं है, यह सब सेठका है। लेकिन उस मुनीमके परिणमनको देखो कि लोगोंसे झगड़ता है और उन सबको मेरा मेरा कहता है। जब सेठके सामने अपना हिसाब पेश करता है तो उस समय जो उसका अन्तरंग श्रद्धान है वह बाहर भी जाहिर हो जाता है। उस समय स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि यह चीज आपकी है। वहां मेरा नहीं कहता और ग्राहकोंके सामने मेरी मेरी करता

है। तो परिणमन बात और है, श्रद्धानरूप भाव और है। इस प्रकार सम्यग्दृष्टिको श्रद्धान रहता है, पर विषयकषायकी प्रेरणासे उसके परिणमन कुछ अन्य अन्य हो जाते है मगर श्रद्धान बराबर बना रहता है। इस तरह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष—इनका श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग है। यह स्थिति है, अवश्य होती है। चाहे गृहस्थ हो, चाहे श्रावक, सम्यग्दर्शन हो तो मोक्षमार्ग मिलता है।

सकलमनेकान्तात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शङ्केति कर्तव्या ॥२३॥

सम्यग्दर्शनके ८ अङ्गोंमें निःशंकित अङ्ग— सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते है। तो जैसे शरीरमें ८ अग हैं, उन ८ अगोंमें से कोई अग न रहे तो शरीर क्या शरीर है? वह तो बेकार है। इसी तरह सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते हैं। उन ८ अंगोंका जो समूह है सो सम्यग्दर्शन है। यों समझो कि जैसे शरीरके ८ अग हैं-- दो हाथ, दो पैर, पीठ, छाती, एक नितम्ब और एक मस्तक। अब इनमेंसे कोई अंग न रहे तो शरीरका काम न चले। ऐसे ही सम्यग्दर्शनके ८ अग हैं, उनमें से कोई एक न रहे तो मोक्षमार्गका काम नहीं चल सकता। उन ८ अगोंमें सबसे पहिले अगका नाम है निःशंकित अग। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंमें शका न करना यह निःशंकित अंग है। तो यह मोटेरूपसे निःशकित अग है। फिर इससे और भीतर चले तो ७ प्रकारकी शकायें और भय न हों सो निःशंकित अग है। उन सात शंकाओंमें प्रथम शका है इहलोककी शका। सम्यग्दृष्टि जीवको इस लोककी शंका नहीं रहती, क्योंकि वह जानता है कि मेरा लोक यह नहीं है। मेरा समागम, मेरे ठाठ ये कहीं कुछ नहीं हैं। यह एक आफत है और इसमें जो चित्त फँसा रहता है, उससे तो मेरे आत्माका घात है। कुछ रक्षा नहीं है और जो लोग धन वैभव या इज्जत प्रतिष्ठा आदिकके लिए बड़ी अपनी कमर कसे रहते हैं ऐसे अनेक लोग हैं तो उनका क्या लक्ष्य है, बेकार श्रम है।

परसे इज्जतकी चाहकी गन्दी भीख— ज्ञानीजन ऐसा विचार करते हैं कि वैभवशील बने, विद्यावान बनें, बडे ऊँचे नेता बने। इन सबके होनेमें मूलभाव उनका यह है कि लोग मुझे अच्छा समझें। धनवान क्यों बनते हैं? लोग मुझे अच्छा समझें इस बातके लिए। संस्कृत, अंग्रेजी आदिक बड़ी विद्यायें सीखना इसी बातके लिए है कि लोग मुझे अच्छा समझें। इस परिणाममें तो उसने लोगोंसे भीख माँगी कि नहीं? ये लोग मुझे अच्छा जानें ऐसा जो परिणाम है यह भीख मांगनेकी तरह ही तो है। कोई किसीसे पैसोंकी भीख मागना है, कोई रोटीकी। रोटीकी भीख मांगना उस अच्छा कहलवानेकी अपेक्षा ठीक है। भला रोटीकी भीख मांगने पर पेट तो भरेगा, तबियत शान्त रहेगी, मगर लोगोंसे अपनेको अच्छा कहलवाने की भीख मांगना एक बडी गन्दी बात है। क्योंकि प्रथम तो अज्ञान बसा है। क्या हैं ये लोग? कर्मोंके प्रेरे, जन्म मरण करने वाले, पुण्य पापके खेलमें रमने वाले दुःखी जीव विषय और कषायोंसे मलिन पंचेन्द्रियके विषयोंके चाहने वाले ऐसे इन गन्दे शरीर वाले लोगोंने मुझे कुछ अच्छा कह दिया तो इससे इस आत्माको क्या लाभ मिला? अरे अपनेमें कुछ विवेक जगना चाहिए। और फिर देखो नामकी चाह करनेसे लाभ क्या? इस मुझ आत्माका तो कुछ नाम ही नहीं है। सभी लोग दीन बनकर दुःखी हो रहे है। दुःखी नहीं हैं, पर कल्पनाएँ करते हैं, इच्छा करते हैं और खुद दुःखी बनते हैं। इच्छा बढ़ती और दुःखी होते। मनुष्य जन्म पाकर कर्तव्य तो यह है कि अगर वैभव पुण्यके उदयसे आता है तो आने दो, मगर अन्तरंगमें चाह न करें कि मुझे वैभव चाहिए, क्योंकि उस वैभवसे कुछ लाभ नहीं है। दुनिया केवल दुनियावी लाभको लाभ मानती है, लेकिन उससे लाभकी बात न मानें। उससे इस जीवको मिलता क्या है? आज जीव मनुष्यभवमें है, कल मरण करके अन्य भवमें पहुच गया सो फिर इस दुनियावी लाभसे क्या लाभ रहा? राजा भी मरकर कीड़ा हो सकता है। कुमित्रत धारण करके कोई खोटी गति भी

पा सकता है। जहां इतना हेरफेर चल रहा है, ऐसे विकट संसारमें किसी परद्रव्यकी कुछ भी आशा रखना इससे आत्माका घात है। परद्रव्योंकी उपेक्षा करके अपने आपके आत्मामें लगन बनाना इससे आत्माकी रक्षा है। इस जगतमें कोई किसीका सगा नहीं। किसीकी आशा रखना व्यर्थ है। यह मेरा है, यह गैर है यह मानना बडे अज्ञानताकी बात है। अरे जैसे जीव दुनियाके हैं, वैसे ही तो ये घरके लोग हैं। इन अनन्त जीवोंमें से कोई भी प्राणी आपके घरमें आ गए और वे अत्यल्प समयको, इनसे क्या आशा की जाये।

बाह्यमें सारका अभाव— इस जगतमें सारका नाम नहीं है। सार अगर होता तो ये बड़े बड़े पुरुष चक्रवर्ती तीर्थंकर इस वैभवको त्यागकर क्यों लेते क्यों वनमें तपश्चरण करते? पूर्वकालके नेमिनाथ स्वामी की बात है जिनके क्षेत्र पर अपन सब लोग बैठे हैं। इस जगलको और इस पर्वतको देखकर ऐसा लगता है कि सब दृश्य सामने नजर आता है। नेमिनाथ स्वामी बरातमें सजकर जूनागढ़के निकट पहुचे। पशुओंकी पुकार सुनकर चित्तमें वैराग्य जगा। बताओ इतनी बड़ी बरात सजकर आयी और चित्त बदल जानेसे अपना स्वभावपरिणमन कर लिया और पहाड़ पर जा चढ़े। दर्शक लोग बड़ी कठिनाईसे चढते हैं उतरते हैं, इतना श्रम करते हैं वहा जाकर। जा चढे तो कोई बात तो थी चित्तमें, कोई वैभव पाया था जिसके सामने इस लोकके वैभवको न कुछ समझा था। सच जानों कि किसीसे कुछ न चाहिये और अपने आपके आत्मामें अपने प्रभुके दर्शन करके खुश रहना, इसमें मनुष्य जीवनकी सफलता है। बाहरमें किसीके आश्रय और शरणमें इस आत्माको कुछ नहीं प्राप्त होगा। सम्यग्दर्शनके अगोंमे प्रथम अगका नाम है निःशंकित अंग। इहलोककी शका न करना कि मेरा कैसे गुजारा हो, क्या हो, जो हो सो हो। हमारा आत्मा तो इस अपने आत्माके चैतन्यरसका पान किया करे तो उससे तृप्ति है, भोगविषयोंसे तृप्ति नहीं है। इस वैभवसे, ठाठबाटसे इस आत्माको तृप्ति नहीं हो सकती। जो तृप्तिका कारण बने, अपने आपके आत्माके दर्शनका कारण बने उसका उद्यम करें। ज्ञान करनेके लिए जब चिंतन मनन करें आत्मा का तो चाहे कैसे ही आसनसे बैठे हों टेढ़े मेढे, जब जब चिंतनको मन लगे कि मैं आत्माका चिंतन करूँ, मैं क्या हू और सबसे चित्त हटाकर केवल अपने आपके आत्मामें चित्तको भाऊं तो प्रथम तो नयन बन्द करके रहना चाहिए, क्योंकि नेत्र खुले हुएमे सामनेकी चीज चित्तमें बैठती है। नेत्र बन्द करके अपने आपके भीतर अपने उपयोगको ले जायें, बाहरमें सबको छोड़ दें। अपने आपके आत्मतत्त्वमें लगें। ऐसी दृष्टि करके रहें तो आत्मा अपने आपमें इस समवशरणके (उत्तम पूर्ण शरणके) दर्शन कर सकता है और वहा जो तृप्ति मिलेगी वह जगतके किसी कोनेमें किसी पदार्थको न मिलेगी।

ज्ञानीका इहलोकनिर्भयताका विचार— निःशंकित अगमें प्रथम बात बताई गई है कि इहलोकमें ज्ञानी को शंका नहीं रहती है। ज्ञानी जानता है कि मेरा जो तत्त्वस्वरूप है, आत्माके प्रदेश हैं वही मेरे लिए मेरी दुनिया है। इससे बाहर मेरी दुनिया नहीं है और यह मैं अविनाशी हू। मान लो घात हो गया, मरण हो गया, शरीर अलग हो गया तो आत्मा कहाँ जाएगा, वह तो अविनाशी है। एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि जो जो भी चीजें हैं वे कभी समूल नष्ट नहीं हो सकतीं। नष्ट कैसे हो जायें? चीज है तो वह रहेगी, चाहे किसी हालतमें रहे, कोई अवस्था बने, पर चीज सदा रहेगी। मैं भी एक सत् हू, सुख दुःखकी कल्पनाएँ उठती हैं, आधारभूत कुछ तत्त्व तो है। है अमूर्त और रूप, रस, गध, स्पर्शसे रहित, लेकिन कोई आधारभूत चीज है तो अवश्य, जिसके सुख दुःख ज्ञान आनन्द राग दोष सब बातें जिसमें परिणमती रहती हैं, ऐसा कोई सत् है और जब सत् है तो उसका कभी विनाश नहीं होता। जब नाश न होगा तो शका क्या? किसी न किसी हालमें रहेगा। रही दुःखकी बात तो जब हम परद्रव्योंमें दृष्टि लगायेंगे तो वहा दुःख जरूरी है। चाहे बड़ा से बड़ा चक्रवर्ती भी हो, परद्रव्योंमें दृष्टि लगी है वहा

क्लेश जरूरी है, क्योंकि सबसे पहिले तो इस जीवने अपने उपयोगको अपनेसे हटाकर रीता बना दिया है तो अब यह बाहरमें दरदर डोलता रहता है। बाहरकी चीजें हैं विनाशीक। अपने अनुकूल रहने वाली नहीं हैं। तो वे पदार्थ डावाडोल होते हैं तो यह उपयोग भी उनके साथ डावाडोल होता है, संक्लेश पाता है, दुःखी होता है।

प्रभुशरणग्रहणका प्रयोजन— दुःखोंसे बचनेके लिए हम जिनेन्द्रदेवकी भक्तिकी शरणमें आए हैं। जिनेन्द्रदेवकी भक्तिके प्रसादसे सारे संकट टलते हैं इसमें रंच भी संदेह नहीं। निष्कपट भक्ति हो तो संसारके विषयोंके दुःख रंच भी नहीं रहते। वीतराग सर्वज्ञ निर्दोष ऐसे उस परमात्माके गुणोंका चिन्तन करके भक्ति उत्पन्न होती है और उस भक्तिमें अपने आपके स्वरूपका भी स्पर्श होता है, क्योंकि जो प्रभुका स्वरूप है सो मेरा स्वरूप है। हमारा और प्रभुका स्वरूप मूलमें एक है। जैसे स्वर्ण चाहे धूलसे लिप्त हो चाहे साफ हो, चीज एक है, उसके कितने ही प्रकारके आभूषण बना लो, स्वर्णत्व तो सब सोने में एक है। आखिर स्वर्ण जाति तो एक है। तो स्वर्ण जातिकी अपेक्षा जैसे सब स्वर्ण एक हैं ऐसे ही चैतन्य जातिकी अपेक्षा हम आप प्रभु सब एक हैं। पर्यायकृत अन्तर पड़ गया। वह अन्तर हमारा मिट सकता है। हम अपनी ओर आयें। और अपनी ओर जो आता है उसको जगतमें सब जगह एक समान नजर आता है। वहां यह भेद न करना कि यह तो मेरा है और यह पराया है। व्यवस्थाकी बात और है। घरमें रहते हैं तो हम चार प्राणियोंकी व्यवस्था ही कर सकते हैं। सारे जगतकी हम व्यवस्था नहीं बना सकते। चूंकि हमारे भी खाने पीने पहिनने ओढ़नेका काम बनता है, हम सुखमें रहते हैं, इस वजह से हम परिवारका ख्याल रखते हैं, मगर समझें कि ये भी जीव उतने ही प्यारे हैं जितने कि दुनियाके अन्य जीव हैं। ऐसी श्रद्धा होनी चाहिए। यहां तो एक तरहका काम करना पड़ा है कि घरमें रहते हैं, सेवा करते हैं, पर ध्यान यह रहे कि सब जीव एक समान हैं। मौका पड़े गैर भी दुःखी नजर आये तो उसको भी हमारा तन मन धन वचन लग सकता है। इतना परिणाम होना चाहिए।

ज्ञानीकी आत्मप्रतीतिमें निःशङ्कता— निःशंकित अंगमें बता रहे कि ज्ञानी पुरुषकी ऐसी भावना रहती है कि चाहे आजीविकाका साधन न रहे, पर हमारी जिनेन्द्र भगवानकी शरण न छूटे, नहीं तो हम अशान्त हो जायेंगे। वैभव घट जायेगा तो क्या है? क्योंकि आत्मामें शान्ति तो ज्ञानसे मिलती है वैभव से नहीं। कितना ही घबड़ाया हुआ पुरुष हो, उसे यथार्थ ज्ञानकी बात समझनेको मिल जाए तो सब दुःख दूर हो जाते हैं और कितने ही अच्छे समागम मिल जायें, पर बुद्धि उल्टी हो जाए तो वह दुःखी रहता है। तो ज्ञानीकी एक ही भावना रहती है कि मेरी जिनधर्मकी शरण बनी रहे। दर्शन करते समय यह ज्ञानी कहता है कि मैं चाहे किसीका सेवक बन लूँगा, मगर जिनेन्द्रदेवके धर्ममें मेरा चित्त बसा रहे यह मैं चाहता हूं। और जिनधर्मको छोड़कर मैं चक्रवर्ती भी नहीं रहना चाहता, क्योंकि भगवानने अपनी दिव्य-ध्वनिमें जो एक अमृतकी वर्षा की है उसमें अमृत ही अमृत भरा है। वस्तुके सही स्वरूपका वर्णन जो किया है वह एक अनुपम वर्णन है। क्या कोई पदार्थको हाथमें लेकर बता सकता है, सिद्ध कर सकता है कि इसमें यह उत्पाद है, यह व्यय है, यह ध्रौव्य है। प्रत्येक पदार्थ न्यारे न्यारे हैं। सही बात हाथमें रख कर समझें तो इतना स्पष्ट जैनधर्म है जहां किसीने भी ऐसी कल्पना नहीं की। किसीने बताया कि अमुक ने उत्पत्ति की, अमुकने नाश किया व अमुकने रक्षा की, किसीने कुछ कहा किसीने कुछ। सीधीसी बात यह है कि जैनधर्ममें वस्तुके स्वरूपको खोल करके समझाया गया है। तो इस जिनधर्मकी शरणसे रहित होकर कुछ भी लोकमें कल्पित बन जाए वह बेकार है और इस धर्मका शरण मिले तो अपने लिए सब कुछ है।

श्रद्धानपूर्वक ज्ञान और श्रद्धानपूर्वभावी ज्ञानमे अन्तर—श्रद्धान और साधारण ज्ञान—इन दोनोंका अन्तर

समझनेके लिये एक दृष्टान्त देते हैं। जैसे बाहुबलि स्वामीकी यात्रामें सब लोग जा रहे हैं। इसमें अनेक पुरुष ऐसे हैं जिन्होंने बाहुबलि स्वामीकी मूर्तिको श्रवणबेलगोलमें नहीं देखा। सुन रखा है अथवा पुस्तकों में पढ़ रखा है कि ऐसी प्रतिमा है, इतने फुट ऊँची है, इतने लम्बे हाथ पैर तथा अगुलियाँ हैं, यों सुन रखा है और अब वहाँ जाकर प्रत्यक्ष उस मूर्तिको देखेंगे तो इन दोनों ज्ञानोंमें अन्तर रहेगा ना? वहाँ प्रतिमाके देखने पर चित्तमें बैठ जाता है कि यही है वह प्रतिमा जिसके विषयमें सुन रखा था अथवा समझ रखा था। इस प्रकारका स्पष्ट व दृढ विज्ञान होता है। पुद्गल जड़ है, आत्मा चेतन है, आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है। गुणपर्याय सब कुछ चर्चा की तो ज्ञान तो हो गया, मगर परपदार्थसे उपेक्षा बनाकर जो अपने आपमें एक सहजविश्राम होता है, कुछ भी चिन्तन न रहे, कुछ भी बाह्य विकल्प न रहें, उस समय जो आत्मामें एक अनुभव जगता है, आनन्दानुभूति होती है, केवल ज्ञानप्रकाशमात्र ही अनुभवमें रहता है, उसे कहते हैं आत्माकी अनुभूति और उस आत्मानुभूतिके बाद फिर जो ज्ञान चलता है, यह पुद्गल है, जड़ है, भिन्न है। तो इस ज्ञानमें मजबूती अधिक है। तो आत्मानुभूति सहित भेदविज्ञान आये, उसकी मजबूती और है और आत्मानुभूतिके बिना जो ज्ञान चलता है उस ज्ञानकी बात और है। भेदविज्ञानमें जिस चीजसे जिस चीजको न्यारा समझना चाहते हैं उतने ज्ञानमें वे दोनों ही प्रतिभास स्पष्ट हुए तब तो भेदविज्ञान सही है। उसमें जड़का परिचय तो हमें खूब है और चर्चा आत्माकी करते हैं मगर परिचय नहीं हो पाता। तो दोनोंका परिचय हो तबका भेदविज्ञान सही भेदविज्ञान है। उनमें से एकका तो परिचय है और दूसरेका अनुमानसा है। तो वह भेदविज्ञान इतनी दृढ़ता नहीं रखता। तो कोशिश यह करनी चाहिए कि हमारे आत्माका अनुभव जगे इस ओर बहुत अधिक ध्यान देना चाहिए और उसके लिए समय निकालें। स्वाध्यायमें, ज्ञानचर्चाओंमें अधिक अपना उपयोग लगायें, बाह्यपदार्थोंमें चित्त न फँसायें, मेरे मनमें कोई बाह्यपदार्थ न आयें ऐसी कोशिश करनी चाहिए। ये सर्वबाह्यपदार्थ असार हैं, आफतमें डालने वाले हैं इनसे हटें। वे सब विडम्बनारूप हैं, उनसे हमारा कुछ भी हित नहीं है। इनको तीर्थंकरोंने यों त्यागा जैसे बनारसीदासजी कहते हैं कि कोई नाक सिनक दे।

आत्मानुभवनमें ही आत्मरक्षा-- मैं इस आत्माकी रक्षा करने बैठा हू। मैं अपने आत्माका घात न करूँगा। ये बाह्यपदार्थ हमारे चित्तमें न आने पाएँ ऐसा करनेमें ही लाभ है। विशेष सोचनेकी जरूरत नहीं है, किन्तु बाह्यपदार्थ उपयोगमें न आएँ तो अपने ही आप अपने ही भीतर ऐसे ज्ञानप्रकाशका अनुभव जगता है और अलौकिक आनन्द जगता है कि वह बात एक बार हो जाए तो समझो कि जीवन सफल है। उसके ही लिए हमारा यत्न चले। वह यत्न तब चल सकता है जब पहिले निःशकता आए। मेरा कहीं बिगाड़ नहीं है। मेरी दुनिया इतनी ही है। मेरा कहीं बिगाड नहीं। कैसा ही कानून बने। यही होगा कि कुछ समागम कम रहेगा। जिस पुण्यके उदयमें हम मनुष्य हुए, श्रावककुलमें उत्पन्न हुए उस पुण्यके उदयसे जो आना हो आये अथवा जाये, हमें तो किसी भी परसे कुछ प्रयोजन नहीं। हमें तो धर्मका शरण चाहिए। जो धर्मकी छायामें रहता है, जिनेन्द्रकी भक्तिमें रहता है उसे कोई सता नहीं सकता। धनजयसे कविने कहा कि हे नाथ ! मैंने आपकी स्तुति की, पर उसके एवजमें मैं आपसे मागता कुछ नहीं। कोई कह बैठे कि मांगते नहीं तो फिर आए क्यों हो ? तो कहते हैं कि हम ससारके दुःखोंसे तप्तायमान थे सो आपके गुणोंके स्मरणकी छायामें आकर बैठ गए। हम मागते कुछ नहीं आपसे। जैसे वृक्षके नीचे छायामें कोई पुरुष बैठा हो और वह वहां वृक्षसे कहे कि मुझे छाया दो, मेरा दुःख हरो तो यह बेवकूफी ही है। तो हे नाथ ! आपकी छत्रछायामें मैं बैठा हू। अब आपसे मैं क्या याचना करूँ कि मेरा दुःख हरो। जब भगवानके स्मरणकी छायामें मैं बैठा हू तो उनसे मुझे कुछ न चाहिए। ससारके दुःखोंसे छूटनेके अर्थ प्रभुकी शरणमें पहुचें, जिनेन्द्रदेवकी अपूर्व भक्ति करें तो इसमें अपने आत्माका स्पर्श होता

है और अनुभवका भी समय मिलता है। एक बार आत्मानुभव हो जाये तो समझ लीजिए कि हमारा जीवन सफल है।

इहलोकभयकी भांति ज्ञानीके परलोकभयका भी अभाव— सम्यग्दर्शनके ८ अंग होते हैं, उनमें पहिले अंगका नाम है निःशंकित अंग। समस्त वस्तुयें अनेकान्तात्मक हैं ऐसा सर्वज्ञदेवने कहा है। वह सत्य है या असत्य इस प्रकारकी शंका न होना सो निःशंकित अंग है। इसके और अन्तरंगमें चलें तो ७ भयोंसे रहित होना सो निःशंकित अंग है। प्रथम तो भय है इहलोकभय। अब मेरा कैसे गुजारा होगा? इस प्रकारकी शंका नहीं होती ज्ञानीके? क्यों नहीं होती? वह दृढ़निश्चय है कि मैं एक सद्भूत वस्तु हूं तो मैं रहूंगा ही। मेरे गुजारेका क्या संदेह? दुनियासे कुछ कामना नहीं है, नाम सम्मान तो मुझे कोई कामना नहीं है। किसी भी परवस्तुसे अपना सुधार बिगाड़ होता नहीं है। अपने आपका आत्मतत्त्व अपनी दृष्टिमें है। तब मुझे कोई शंका नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी जीवको परलोकका भी भय नहीं रहता। हाय! परलोकमें क्या होगा, हमको स्वर्ग मिले, कहीं खोटी गति न मिले, कहीं खोटे भव न मिल जायें, फिर क्या होगा? इन सूकरोंको, गधोंको, कुत्तोंको देखो, कितना दुतकारे जाते हैं, कितने कष्टमें ये हैं? कहीं ऐसी कोई खोटी गति न मिल जाए इस तरहका भय नहीं होता, उसका कारण यह है कि जिसका आचार विचार पवित्र है, जो सम्यक्त्वसे विभूषित है उसको खोटे भवका संदेह क्यों होगा? जो हीन आचरण वाले हैं तो अपने हीन आचरणकी याद कर करके संदेह करने लगते हैं कि कहीं कोई खोटा भव न मिल जाए। दूसरी बात यह है कि परलोक कहीं बाहर नहीं है ज्ञानीकी दृष्टिमें। इस लोकमें मेरा जो स्वरूप है वह मेरे लिए है। तो परलोकमें भी जो यह मेरा स्वरूप है वह मेरा परलोक है। यों अपने आपके स्वरूपको ही अपना क्षेत्र मानने वाले सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जिसे इहलोकका भय नहीं है वह परलोकका भी भय नहीं रखता।

परलोकभयके अभावके प्रसंगमें एक कथन— एक कथन है कि किसी तीर्थंकरके समवशरणमें एक श्रावक जा रहा था। उस श्रावकको एक मुनिराजके प्रति बड़ा धर्मानुराग था। रास्तेमें वह मुनि मिले और बैठे हुए थे पलासके पेड़के नीचे। छेवलाके पेड़के नीचे जहाँ बहुत कम पत्ते होते हैं वहाँसे श्रावक निकला तो मुनिराजने श्रावकसे कहा कि तुम भगवानके समवशरणमें जा रहे हो, जरा हमारे सम्बन्धमें यह बात भी पूछ लेना कि इस मुनिराजके कितने भव शेष रह गए हैं अर्थात् कितने भवोंके बाद मुक्ति होगी? श्रावक पहुंचा, वहाँ प्रश्न किया तो उत्तर मिला कि जिस पेड़के नीचे मुनि बैठा है उस पेड़में जितने पत्ते हैं उतने भव शेष हैं इसके बाद मोक्ष होगा। वह श्रावक जब लौटने लगा तो बड़ा खुश हुआ कि अब मुनिराजके थोड़े भव शेष रह गए। करीब ५० पत्ते होंगे। वह बड़ा खुश हुआ और आकर जब देखा कि वह मुनि महाराज तो इमलीके पेड़के नीचे बैठे हैं, यह देखकर श्रावक बड़ा दुःखी हुआ। जब मुनिने पूछा कि ऐ श्रावक! क्या बात है? तो माथा ठोककर श्रावक बोला कि महाराज! जवाब तो बड़ा अच्छा मिला था कि जिस पेड़के नीचे मुनिराज बैठे हैं उसमें जितने पत्ते हैं उतने भव शेष हैं, पर आप तो इमलीके पेड़के नीचे हैं, इसमें पत्तोंका क्या शुमार? तो मुनि बोला कि इसमें भी घबड़ानेकी कोई बात नहीं है, आखिर इन पत्तोंका भी अन्त है। संसारमें तो ऐसे जीव हैं कि जिनके भवोंका अन्त ही न होगा। ज्ञानी पुरुषोंको परभवका भी खेद नहीं रहता, उन्हें तो सिर्फ इसमें तृप्ति है कि वर्तमानमें अपने उस विशुद्ध चैतन्यरसकी दृष्टि बनी रहे, उस चैतन्यस्मृतिका पान बना रहे, यह उनका यत्न है, ऐसी ही उनकी भावना है।

ज्ञानीके वेदनाभयका अभाव— ज्ञानी पुरुषको वेदनाका भी भय नहीं है। शरीरमें कोई वेदना हो तो जिस शरीरमें जैसी ममता है उसको वैसी वेदना होती है। शरीरसे ज्ञानी पुरुष अपना हित मानते नहीं, बल्कि अपने घातका कारण समझते हैं। न होता शरीर तो आत्मा कितने आनन्दमें रहता? इस शरीरके

सम्बन्धसे तो आत्मा विपत्तिमें पड़ा है। कोई शरीर आत्माका मित्र नहीं है। यह तो विपदाका कारण है। ज्ञानी पुरुष समझते हैं कि हमारा आत्मा इस शरीरमें फसा है, इतनी भर वेदना है, इसके आगे इस मुझ आत्मामें कोई वेदना नहीं है। शरीरकी वेदना देखकर अज्ञानी जीव घबड़ा जाते हैं। हाय! अब क्या होगा, अभी कितनी सर्दी अथवा गर्मी बढ़ेगी? यह दृष्टि होनेसे उसको बड़ी वेदना रहती है, पर ज्ञानी जीवको वेदना नहीं रहती। तो शारीरिक वेदनाका भी भय ज्ञानी पुरुष नहीं मानता। यही है उसका ज्ञानीपना।

वेदनाशङ्काके अभावके प्रसगमे एक उदाहरण—एक सनतकुमार चक्रवर्ती हुए हैं। वे रूपमें इतने सुन्दर थे कि उनकी चर्चा स्वर्गोंमें होने लगी कि इस समय मनुष्य-लोकमें सनतकुमारसे बढ़कर और किसीका रूप नहीं है। अत दो देव परीक्षा करने आये। उन्होंने सनत्कुमारको कभी नहीं देखा था। सनतकुमार उस समय अखाड़ेमें कुश्ती लड़कर धूलसे भरे हुए वैसे ही शरीरसे बैठे थे। दोनों देवोंने देखा तो वे आश्चर्य करने लगे कितनी विशिष्ट इनकी सुन्दरता है? जब दोनों देव सनतकुमारकी सुन्दरता पर आश्चर्यचकित थे, तब एक-दो मनुष्योंने कहा कि तुम अभी इनका रूप क्या देखते हो? जब दरबार लगेगा, शृङ्गार कर के ये सिंहासन पर विराजेंगे तब इनका रूप देखना। दोनों देव फिर दो बजे दोपहरमें आये जबकि दरबार लगा हुआ था। उस समय सनतकुमारके उस रूपको देखकर देवोंने माथा धुना। लोगोंने कहा कि क्यों माथा धुनते हो? वे देव कहते हैं कि अब वह रूप नहीं रहा। लोगोंने पूछा कि कैसे नहीं रहा वह रूप? देवोंने एक बात तो यह बताई कि बिना बने-ठने और बिना सावधानीके अपने आप जो रूपमें सुन्दरता होती है, वह बनने-ठननेमें नहीं होती है। उन्होंने यह बतानेके लिए कि उसकी सुन्दरता विशेष होती है, जो बिना बने-ठने रहें, बनने-ठननेमें सुन्दरता नहीं रहती दूसरी। बात यह बताई है कि ज्यों-ज्यों समय गुजरता है त्यों-त्यों रूप, यौवन सब ढलते जाते हैं। तत्काल नहीं पता पड़ता, पर महीनों, वर्षों देखने पर पता पड़ता है। देवोंने एक पानीसे भरी गगरी मंगायी, जो खूब लबालब भरी थी। उसमें एक सींक डूबो कर निकाल ली और एक बूंद अलग टपका दी और पूछा कि बतावो इस गगरीमें पानी कम हुआ या नहीं? तो दिखनेमें कम नहीं लगता, पर कम तो हुआ ही। यों ही यह रूप क्षण-क्षण क्षीण होता जाता है। कुछ समय बाद सनतकुमार विरक्त हुए, मुनि हो गये, पूर्वकृतकर्मका ऐसा उदय आया कि भव-भवमें बाँधे हुए कर्मोंका कि उनके शरीरमें कुष्ट फैल गया। फिर देव-परीक्षा लेने आया वैद्यका रूप धरकर और मार्गमें फिरने लगा। वैद्य पुकारता जाता कि मेरे पास बड़ी अच्छी अच्छी औषधियां हैं, चाहे जो रोग हो ठीक हो जाता है। सनतकुमारने कहा कि तुम हमारे सामने बार-बार क्यों चल रहे हो? कहा कि हे महाराज! हम बहुत सुन्दर औषधि द्वारा उपचार करते हैं, हम चाहते हैं कि आपके रोगकी दवा हो जाए। तो सनतकुमार बोले कि हमारे तो इस जन्म-मरणका बड़ा विकट रोग लगा है इसे दूर कर दो। तो ज्ञानी पुरुष इस शारीरिक वेदनाको वेदना नहीं समझते, किन्तु आत्माकी पवित्रता न रहे, खोटे परिणाम हों तो इसे वे बहुत बड़ी विडम्बना समझते हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुषके वेदनाका भय भी नहीं रहता।

ज्ञानीके अरक्षाभयका अभाव— चौथा भय है अरक्षाभय। रक्षा सम्बधी भय बनाना सो अरक्षाभय है। ज्ञानी पुरुष अरक्षाका भी भय नहीं मानता। वह जानता है कि जो सत् है, अस्तित्व रखता है उस पदार्थका कभी विनाश नहीं होता। रहता ही है। भले ही पानीका हवा और हवाका पानी बन जाए, पर कोई भी वस्तु मूलसे नष्ट हो जाए ऐसा नहीं किया जा सकता। ज्ञानी चिंतन करता है कि मैं एक सत् वस्तु हू। अतएव अनन्तकाल तक रहूगा, सदा रहूगा, मेरा विनाश नहीं होता। मेरी अरक्षा कहाँ है? यहा तो ममता के कारण अनुकूल बात न होनेसे अपनी अरक्षा समझ बैठते हैं। यहा अरक्षित कोई नहीं है,

सब स्वरक्षित हैं। अपने से बाहरकी बातपर कोई दृष्टि दी और वह अनुकूल न जँची, उसी पर झगड़ने लगे तो यह तो उसकी कल्पनाकी बात है। जिस चाहे प्रसंगमें अपनेको अरक्षित समझने लगे, पर स्वरूपको देखो तो यह मैं आत्मा कभी भी रक्षारहित नहीं होता। सदा स्वरक्षित हू, इसमें किसी भी अन्य पदार्थका प्रवेश नही है। ज्ञानी जीवको अरक्षाका भी भय नहीं है।

ज्ञानीके अगुप्तिभयका अभाव—एक भय लोगोंके लगा रहता है अगुप्ति भय। मेरे घरके किवाड़ मजबूत नहीं है। दो मंजिल हैं तो क्या हुआ लोग यों भी चढ़ सकते हैं, यों सोचकर लोग भय करने लगते हैं और ज्ञानी जीव सोचता है कि मेरे स्वरूपका किला यद्यपि मैं अमूर्त चैतन्यमात्र वस्तु हूं, पर वस्तुका यह नियम है कि किसी भी वस्तुमे किसी अन्य वस्तुका प्रवेश नहीं होता। यह चैतन्यस्वरूप यह मेरा दुर्ग इतना दृढ़ है कि इस स्वरूपमें किसी परपदार्थका प्रवेश नहीं होता, इसलिए मैं स्वरक्षित हू। किसी ने गाली बकी तो मुझमे कहां घुस गई गाली? उसका तो उसमें ही परिणमन हो गया। वैभव गिर गया तो क्या हुआ? जो होना था सो हुआ। मेरेमे कुछ नहीं हुआ और उसके प्रति ममता हो तो ममता के कारण वह दुःखी हो गया। वहाँ मेरेमें किसी परका आक्रमण हो, कोई परपदार्थ प्रवेश करे, ऐसा नहीं होता। मैं ही अपने प्रदेशोंमें रहकर अपने ही ज्ञानविज्ञानसे कल्पनाएँ बनाये रहता हूं।

ज्ञानीके मरणभयका अभाव—एक भय संसारी जीवोंमें लगा रहता है मरणका। देखिये मरणका भय उन जीवोंके होता है जिनके मूर्छा ममता ममत्व लगा है। हाय! हमने लाखोंका वैभव जोड़ा और अब यह छूटा जा रहा है, ऐसी कल्पना उठती है तो उस ममताके कारण इसको क्लेश होता है, पर ज्ञानी जीव को परपदार्थोंमे ममता नहीं है, वह तो अपने आपमे अपने स्वरूपको निहार कर अपने चैतन्यरससे तृप्त रहता है। और रही मरणकी बात तो यह एक शरीर छूट गया, नई जगह पहुच गया। मैं तो वही का वही हू। जैसे कोई पुरुष नया मकान बनाये और पुराने मकानको छोड़कर नये मकानमें पहुच गया, ऐसी ही इस आत्माकी बात है। ज्ञानी पुरुषके मरणके समय भी शका नहीं रहती। वह अपने स्वरूपकी वास्तविक सभाल बनाये रहता है। ये सब बातें अपने कामकी है, अपने पर घटाना है, जिससे अपनेको अशान्ति न आये, ऐसा ज्ञान करना अपना परमकर्तव्य है। प्रत्येक वस्तु जुदी जुदी है, किसीका किसीसे कोई सम्बन्ध नही है। सब अपने-अपने उत्पाद व्यय-ध्रौव्यसे रहा करते हैं, अतएव मेरा किसीसे सम्बन्ध नही। मैं मैं ही हू, पर पर ही हैं, यों ज्ञान करके अपने स्वरूपमें लीन होने का यत्न रहता है ज्ञानी पुरुष के। उसे किसी प्रकारकी शका नहीं रहती। मरणभय अज्ञानियोंको सताता है, हाय! मैं मरा, मेरा लड़का छूटा, मेरे नाती पोते छूटे। कितने आरामका घर बनाया था, कितनी घबड़ाहट की स्थिति है उस समय अज्ञानीके लिए। पर ज्ञानी जीव सोचता है कि मरण क्या? मैं तो यहा हूं, लो यहासे दूसरी जगह चला। मेरा तो अन्य कुछ था ही नहीं, न हो सकता है। मैं ही अपने स्वरूपमें सदा परिणमता रहता हू, ऐसे जाननहार योगी पुरुषको मरणका खेद नहीं रहता है।

ज्ञानीके आकस्मिक भयका अभाव—एक भय होता है आकस्मिकभय। ऊटपटाग कल्पनाएँ करनेका भय। कहीं ऐसा न हो कि बिजली तड़क जाय और मैं गुजर जाऊँ। कहीं छत न गिर जाये और मैं मर जाऊँ। कहीं बैंक न फैल हो जावे कि मेरे १०) रूपये चले जायें, यों लोग शंकाएँ बना लेते हैं ऐसा भय बना लेते हैं अज्ञानी पुरुष। ज्ञानी पुरुषोंको इस प्रकारका भय नहीं होता। वे जानते है कि किसी भी अन्य पदार्थसे मेरेमें कोई शंका कोई बाधा हो ही नहीं सकती। मैं ही अपना स्वरूप खोकर अपना ही ज्ञान और तरहका बनाकर खेदखिन्न होऊँ, पर किसी अन्य पदार्थमें यह सामर्थ्य नहीं कि मुझे खेद उत्पन्न कर सके। इस ज्ञानी जीवके आकस्मिक भय नही होता। यों ७ प्रकारके भयोसे रहित ज्ञानी पुरुष होता है। आत्मस्वरूपमें किसी प्रकारकी शंका न होना सो निःशंकित अंग है। यह मैं चैतन्यरससे भरपूर

आत्मतत्त्व हूं, कारणसमयसार हूं, जिसका आश्रय लेकर संसारके सब टोंको त्याग कर मैं मुक्त होऊँगा। यों आत्मस्वरूपमें शंका न होना सो निःशंकित अंग है। कैसा भी पक्षपात हो जिसमें अनेक लोग अपना मार्ग छोड़ छोड़कर भाग जायें ऐसे पक्षपातके समय भी सम्यग्दृष्टि पुरुष शंकित नहीं रहते, सदा निःशंक रहते हैं। जब जो होना है होता है उससे मेरेको क्या है? मेरा परिणाम अपवित्र रहे, धनका सम्बन्ध छूट जाय तो उसमें अकल्याण है। यों सम्यग्दृष्टि पुरुष किसी भी प्रकारकी शंका नहीं रखता, सो यह है उसका निःशंकित अंग। अब दूसरा अंग है निःकांक्षित अंग।

इह जन्मनि विभवादीन्यमुत्र चक्रित्वकेशवत्वादीन्।
एकान्तवाददूषितपरसमयानपि च नाकांक्षेत ॥२४॥

वैभवकी अनाकांक्ष्यता—इस लोकमें ऐश्वर्य सम्पदा आदिकको और परलोकमें नारायण आदिक पदोंको और अन्य धर्मोंको किसीको चाहना, यह है दोष और इनकी चाह न करना सो निःकांक्षित अंग है। ज्ञानी जीव वर्तमान वैभवके समागम को विडम्बना मानता है, वह आगामी कालके लिए वैभवकी क्या कामना करे? एक कथानक है कि दो भाई बाहर व्यापार करने गये, समुद्रके पार किसी द्वीपमें। वहां दो चार वर्षमें वे बड़े ऊँचे लखपति हो गए। जब घर आने लगे तो सोचा कि सब जायदादको बेचकर दो रत्न कीमती ले लिए जायें ताकि परिग्रह न लादना पड़े। बड़े भाई ने दोनों रत्न अपने पास रख लिये और दोनों साथ-साथ चल पड़े। समुद्री रास्ता था। १ समुद्री जहाज पर दोनों बैठ गए। जब जहाज कुछ आगे बढ़ा तो बड़े भाई के मनमें आया कि ये रत्न अब छोटे भाईको क्यों दे? इसे ढकेल दें तो ये दोनों रत्न मेरे ही जायेंगे। यह सोचते ही उसके बड़ा पछतावा आया और कहने लगा—भाई ये रत्न बड़े खराब हैं जिनके कारण ऐसे खोटे भाव हुए। इन रत्नोंको तुम अपने पास रख लो। जब छोटे भाई ने उन रत्नोंको अपने पास रख लिया तो कुछ देर बादमें उसके भी मनमें आया कि ये लाखों रुपयेके रत्न हमने अपनी बुद्धिसे कमाये हैं, घर जाने पर बँट जायेंगे। सो ऐसा करें कि भाईको समुद्रमें ढकेल दें और भाई के मर जाने पर ये दोनों रत्न हमे मिल जायेंगे। थोड़ी देरमें वह भी सभला और अपने को धिक्कारा। उसने भी उन रत्नोंको अपने पास रखने के लिए मना कर दिया। खैर, किसी तरहसे वे दोनों रत्न लेकर घर पहुंचे तो उन्हें अपनी मा के पास रख दिया। माँ सोचती है कि ये रत्न तो बड़े कीमती हैं, ऐसा करें कि इन लड़कोंको विष खिलाकर मार दें तो ये रत्न हमें मिल जायेंगे। इतने में झट वह भी सभली और अपनी बेवकूफी पर धिक्कारा। बादमें वे दोनों रत्न बहिनके पास रख दिये। बहिनने भी उसी प्रकारसे अपने भाव खराब कर लिए। सबने अपनी-अपनी बात बताई। आखिर यह तय हुआ कि इन दोनों रत्नोंको समुद्रमें फेंक दिया जाय। जब वे रत्न समुद्रमें फेंक दिये गए तब सबको शान्ति मिली। तो जो ज्ञानी पुरुष हैं वे लौकिक वैभवकी चाह नहीं करते हैं। उनकी यह भावना रहती है कि जिस सम्पदाको बड़े बड़े चक्रवर्ती असार समझकर त्याग गए ऐसी सम्पदाकी मुझे कुछ चाह नहीं है। यों दो अंग बताए गए निःशंकित और निःकांक्षित। उदाहरणमें यों समझिये कि मनुष्य जब आगे कदम धरता है तो कितने उत्साहसे आगेका पैर रखता है और पीछेका पैर बड़ी उपेक्षासे हटाता है। तो जैसे अगला पैर निःशंकित होकर रखना है वह निःशंकित की निशानी है और पीछेको निःकांक्ष होकर हटाता है। यों सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष मोक्षमार्गमें अपने को बढ़ाये चला जा रहा है। हमें भी इन दो गुणोंकी ओर दृष्टि देना चाहिए कि हम अपने स्वरूपको पहिचानें और बाह्य पदार्थोंका कुछ भी ध्यान न करें, इससे मेरे आत्माका कुछ भी लाभ नहीं है। परसे उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूपमें लीन होनेका जो प्रयत्न करते हैं वे भव्य पुरुष निकट कालमें मुक्तिको प्राप्त करेंगे।

क्षुत्तृष्णाशीतोष्णप्रभृतिषु नानाविधेषु भावेषु ।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया ॥२५॥

ज्ञानीकी निर्विचिकित्सता—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष ग्लानिरहित होते हैं। ग्लानिका अर्थ ग्लानि करना भी है, खेदखिन्न होना भी है। जैसे किसी भी पुरुषको किसी वस्तुसे ग्लानि होती है तो वहां उसे ग्लानि ही तो होती है। रास्तेमें चले जा रहे हैं, कोई कूड़ा करकट या विष्टा मिला। उसे देखकर जो ग्लान करते हैं वह खेद खिन्नता ही तो होती है। दुःखी होकर, ग्लानि करते हैं, तो ग्लानिके दोनों अर्थ हैं— परिणाममें खेद खिन्न होना और ग्लानि करना। तो ज्ञानी पुरुष प्रथम तो धर्मात्माजनोंकी सेवा करते समय धर्मात्मा पुरुषोंके शरीरसे लार, विष्टा आदिक का कोई प्रसंग आ जाय तो वे उनसे ग्लानि नहीं करते। उसका कारण यह है कि इस ज्ञानी पुरुषको धर्ममें प्रीति है और धर्मात्माओंमें प्रीति है। जैसे मा को अपने बच्चे से प्रेम होता है तो उस बच्चेकी टट्टी वगैरह उठानेमें वह मां घृणा नहीं करती है। इसी तरह धर्मात्मापुरुषों की सेवा करने मे धर्मात्मापुरुष खेद नहीं करते हैं। साधुजनों को शरीरसे मलिन देखकर वे उनसे ग्लानि नहीं करते और फिर उन ज्ञानियोंकी प्रकृति तो ऐसी ही सहज हो जाती है कि वे किसी भी परपदार्थको निरखकर उसके ज्ञातामात्र रहते हैं, ग्लानि नहीं करते। और वे अपने वैभवमें भूख प्यास शीत उष्ण आदिक नाना प्रकारके जो भाव होते हैं उन भावोंसे वे ग्लानि नहीं करते हैं। पापके उदयसे कोई दुःखदायक भाव आ जाय तो उसके संयोगमें उद्वेग न करना चाहिए। ज्ञानी पुरुष सबसे निराले अपने आपको जानकर उसमें ग्लानि नहीं करते क्योंकि उदय कार्य अपने वशका नहीं। भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिक की वेदनाओंसे अपना घात भी नहीं मानते। वे ज्ञानी पुरुष कोई भी मलिन पदार्थ देखें पर उसमें वे ग्लानि नहीं करते। यह शरीर जिसमें मलमूत्रका निवास है यह तो अधिक निन्द्य वस्तु है।

सर्वाधिक ग्लानकी खोज--अब मौलिक पद्धतिसे खोज करके यह बतलावो जरा कि दुनियामें सबसे अधिक मलिन चीज क्या है? मौलिक पद्धतिसे इसकी खोज करें। जैसे किसी बच्चे का पैर विष्टासे भिड़ जाय तो वह बच्चा अस्पर्श्य माना जाता है। उसे एकके बाद एक जो भी बच्चा छू लेगा वह भी अस्पर्श्य माना जाता है। पर मूलमें अस्पर्श्य तो वह एक ही बच्चा है। ऐसे ही इस दुनियामें निन्द्य चीज बहुत लोग मानते हैं हड्डी, खून, मल, मूत्र आदि। तो यों जगतमें जो अपवित्र वस्तुयें हैं, उन सबमें यही तो खोजें कि आखिर मौलिक अपवित्र चीज क्या है? जड़में अपवित्र क्या है? मलमूत्र अपवित्र हैं तो किसके सम्बन्धसे। अपवित्र हैं? और शरीर जो अपवित्र बना है वह किसके सम्बन्धसे बना है? मोही जीवके सम्बन्धसे मोही जीवने इस वर्गको ग्रहण किया और यह शरीर बना तो शरीर खराब। मोही जीव खराब और मोही जीवमें भी जीव क्या खराब, मोह खराब। तो दुनियामें जितनी भी निन्द्य चीजें हैं वे सब इस मोहके कारण निन्द्य हुई हैं। मलमूत्र आदिक भी गंदे हुए तो उसका मूल कारण मोह है। मोहके सम्बन्धसे इस जीवको शरीर मिला तो शरीरमें यह चीज बनी, उससे फिर लोग ग्लानि करने लगे। तो मूलमें बाहरी चीज है मोह। मोहसे अपवित्र अन्य कुछ नहीं है? कैसा पक्षपात है मोही जीवों का? जिससे मोह है वह तो मेरा सर्वस्व है और जिनमें मोह नहीं है उन्हें न कुछ सा मानते हैं, मानो उनमें जान ही नहीं है। इतना जो कठिन पक्षपात लगा है तो यह भयकर गंदा है। ग्लानि करता है तो मोहसे करता है। यह मोह भाव अपवित्र है, हमारा विनाश करने वाला है। यह देहमें भी अधिक गंदा हुआ। तो ग्लानि क्यों करे किसीसे? मोह भाव हटे तो यह ग्लानिकी दृष्टि हटे। और ग्लानिमें रहा तो वहां भी मोह दृष्टि रही।

निर्विचिकित्साका निष्कर्ष—जो कुछ ज्ञानमें आये आने दो। उनसे ग्लानि न करे। पापके उदयसे अगर दुःख देने वाला भाव अपने से होता है तो उसमें खेद खिन्न न हों। समझिये कि यह भी एक दृष्टकी

चीज है। अपने अमूर्त आत्माका घात न करें, आत्माकी रक्षा करें। अपनी रक्षा इसीमें है कि अपने स्वरूपको यथार्थ ध्यानमें लें। मैं सबसे न्यारा हू, केवल ज्ञान और आनन्दमय आत्मवस्तु हू। यह मैं आत्मा केवल अपने ज्ञानभावका करने वाला हू और ज्ञानभावका ही माने वाला हू। ज्ञानभेदके सिवाय अन्य किसीका न मैं कर्ता हू और न भोक्ता हू। इस प्रकारका अपना खिन्नतारहित परिणाम रखिये। यह है सम्यग्दृष्टिके तीसरे अगका वर्णन। निराकाक्षताका उदाहरण था पिछला पैर। आगे पैर धरते हैं तो कितनी सावधानीसे धरते हैं और पिछला पैर जैसा चाहे उठा देते हैं। तो यों सम्यग्दृष्टि पुरुष परवस्तुवोंमें आकाक्षारहित होता है। अब आज तीसरा अग है निर्विचिकित्सा। तो जैसे दो पैर दो अग हैं ऐसे ही दो हाथ भी दो अग हैं। तो निर्विचिकित्सा का अग है बाया हाथ। प्रत्येक मनुष्य बांये हाथसे अपना मल धोता है पर किसीने अपने बायें हाथको कभी काटकर फेंका क्या? बल्कि उसे तो बडे प्यार से रखते हैं। घड़ी अगूठी आदिसे सजाकर रखते। किसी ने इस बायें अगको काटा क्या? उससे प्यार रखते हैं, ऐसे ही निर्विचिकित्सा अंगमें साधुजनोंके धर्मात्माजनोंके शरीरसे चाहे मल आदिक निकले, पर वे फेंके नहीं जाते हैं, वे भी प्रीति करनेके योग्य हैं। अब चौथा अग है अमूढ़दृष्टि।

लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढ़दृष्टित्वम् ॥२६॥

ज्ञानीका अमूढदृष्टित्व—लोकमें खोटे शास्त्रोंमें खोटे मजहबोंमें, खोटे देवी देवताओंमें मूढ़दृष्टिकी मनमें उपेक्षा करनी चाहिए। जो अन्तस्तत्त्वके प्रेमी है उन पुरुषोंको मूढ़ता न करनी चाहिए। लोकमें मूढ़ता कहो: जैसे लौकिक जन विपरीत प्रवृत्ति करते हैं उनकी देखादेखी सम्यग्दृष्टिको न चलना चाहिए, ज्ञानसे विचार कर कार्य करो। एक घटना बताते हैं—कोई सन्यासी कुछ लड्डू लेकर चला, उसका एक लड्डू हाथसे छूटकर विष्टापर गिर गया, तो लोभवश उस विष्टापर पड़े हुए लड्डूको उठा लिया और उसने देखा कि लोगोंने मुझे देख लिया। उसने क्या किया कि उस पड़े हुए विष्टाको उसने १०—२० फूलोंसे ढाँक दिया इसलिए कि लोग आकर देख न लें कि सन्यासीने विष्टापरसे लड्डू उठाया। बादमें लोगोंने देखा कि सन्यासी ने यहाँ फूल चढ़ाया है, सोचा कि यहा पर कोई देव होगा। सो लोगोंने उस पर फूल चढ़ाना शुरू कर दिया। फूलोंका एक बहुत बड़ा ढेर इकट्ठा हो गया। बादमें बात चली कि देव के तो दर्शन करना चाहिए। इन फूलोंको उठाकर देखें तो सही कि इसमें कौनसा देव है जिसपर सन्यासी ने फूल चढ़ाये। जब उस फूलोंके ढेरको उघाड़ कर देखा तो मिला क्या सो आप समझ लो। तो यह लोकमूढ़ता ऐसी है। अब बतलावो आत्माका धर्म तो आत्मामें है। बारबार आज ऐसा चिन्तन हुआ कि वदनामें कितने उतार चढ़ाव आते हैं, चढ़ने उतरने में कितने कष्ट होते हैं? उस पहाड़के उतार चढ़ावमें कहा आराम मिल पाता है? आरामका स्थान तो अपना सहज स्वरूप है उसका परिचय न हो तो तिरनेको कोई उपाय नहीं पा सकता। जो तिरनेका उपाय है वह तीर्थ है। यहाँ भी तीर्थवदना करने का यही उद्देश्य रखें कि यहासे जो मुनि मोक्ष गए, उन्होंने इस तरह ध्यान किया, अपने आत्मामें इस तरह उपयोग लगाया, इस विधिसे वे तिरे। अब तिरनेके उपायकी विधिका कुछ ख्याल ही न हो, हाफते चले जाते, देख लिया, तृप्त हो गए मान लिया सो भला हो गया, पर इतने से ससारके सकट छूटनेकी विधि न मिलेगी। यह स्मरण होना चाहिए, जो उन्होंने किया वही उपाय करना हमारा कर्तव्य है। इसका कुछ भाव जगे वह है तीर्थ और जो ऐसा तीर्थ है कि जिसमें सब बातके स्मरणकी गुञ्जाइश तक नहीं है, आत्माका उद्धार कैसे हो उस उपाय की गुञ्जाइश तक नहीं वह तो पूरा समयाभास है। लोक में कितनी ही मूढ़ताएँ हैं, कहीं पर ऐसा भी है कि लोग पर्वतपर चढ़ते, ऊपरसे गिरते और पर्वतसे गिर कर मरनेमें प्रातो मुक्ति समझते हैं। बहुतसे लोग नदियोंमें स्नान करके समझ लेते हैं कि हमारे सारे

पाप धुल गए। यों ही अनेक लोकमूढ़ताकी बातें हैं। तो ज्ञानी पुरुष ऐसी बातोंसे मूढ़ नहीं बनते। वे अपना सही विवेक बनाये रहते हैं, इस तरह शास्त्रभक्ति, जो सत्य शास्त्र तो नहीं है मगर शास्त्रकी तरह प्रतीत हो उसे कहते हैं शास्त्राभास। शास्त्राभासमें भी मूढ़तारहित होना चाहिए। जो वीतरागताकी बात बताये, जो आत्माके स्वरूपकी बात बताये वह तो है शास्त्र और अन्य सब हैं कुशास्त्र। जो राग की पोषणा करें, ममता बढ़ायें ऐसे शास्त्र शास्त्राभास हैं। ज्ञानी जीव शास्त्राभासमें भी मूढ़ नहीं होता। देवताभास जो देव तो नहीं हैं पर देवकी तरह माने जा रहे हैं। देव कौन हो सकता है? जो दोषोंसे रहित हो और गुणोंसे परिपूर्ण हो उसे कहते हैं देव और ऐसा जो न हो, विपरीत है, रागी है, मायाचारी है उसे देव मानें, ऐसे देव देवाभास हैं। ऐसे देवाभासोंमें भी तत्त्वज्ञानी पुरुषको मूढ़ता नहीं होती।

अमूढ़दृष्टित्वका सारांश—यह चौथा अंग है अमूढ़ दृष्टि। तीन अगोंका वर्णन किया और उनके उदाहरण बताये अगला पैर, पिछला पैर और बाया हाथ और अमूढ़ दृष्टिका उदाहरण ले लो दाहिना हाथ। जब कुछ दृढ़तासे बयान किया जाता है तो दाहिना हाथ उठा कर बोला जाता है कि यह बात ऐसी ही है। सच बात यह है कि जो वीतराग है, सर्वज्ञ है वह अन्य कभी नहीं हो सकता, इस बातकी दृढ़ता बताने के लिए दाहिना हाथ उठता है, यह बात हो गयी अमूढ़ दृष्टि, ऐसी ज्ञानी पुरुषकी एक स्वाभाविक परिणति बन जाती है व्यवहारमें और निश्चयमें अपने आपका जो स्वरूप है उस स्वरूपमें मूढ़ता नहीं रखता। किसीके बहकाने से अन्य प्रकार नहीं मान जाता। विवेक रहता है। आत्मा नित्य है, अविनाशी है, सर्वजजालोंसे परे है, केवल अपने आपके स्वरूपमें मग्न है, अपने आपमें अपने आपका अस्तित्व रखने वाला है। उसमें कोई मूढ़ता नहीं होती। ५ वा अंग बताते हैं उपगूहन अग। इसी को कहते हैं उपवृंहन अग।

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपवृंहणगुणार्थम् ॥२७॥

ज्ञानीका उपगूहन अंग—उपवृंहण नामक गुणकी वृद्धिके लिए मार्दव आदिक भावनाके द्वारा सदा अपने धर्मकी वृद्धि करना चाहिए और दूसरे के दोषोंका आवरण करना चाहिए। इस अगके दो नाम हैं, उपगूहन और उपवृंहन। उपगूहनका अर्थ है छुपाना। किसी धर्मात्माके द्वारा जो कि बालकवत् है, असत्य है, अथवा किसी कषायसे प्रेरित है उसके द्वारा कोई अपराध बने तो उसे प्रजामें प्रकट न करना चाहिए, क्योंकि प्रजाजन स्वच्छन्द बन सकते हैं कि ये लोग ऐसे ही धर्मात्मा होते हैं, और जब इस तरहके लोग पाये जाते हैं तो ऐसे धर्मका क्या काम है, प्रजाजनोंमें असतोष हो जायेगा, धर्मसे दूर हो जायेगे। उस श्रद्धाकी और प्रवृत्तिकी परम्परा छिन्न भिन्न हो जायेगी, अतएव यदि धर्मका अपवाद होता हो तो उसे प्रकट न करना उपगूहन अग है। दूसरेके दोष प्रकट न करनेका यह अर्थ है कि धर्म हमारा निर्दोष रहे, लौकिक जन धर्मकी महत्ता समझते रहें, इसमें किसी प्रकारका दोष लौकिक दृष्टिमें न आये। बस धर्मको निर्दोष बनाये रखने के लिए उपगूहन अगका पालन किया जाता है। इसका दूसरा नाम है उपवृंहन। उपवृंहन मायने बढ़ना। अपने आत्माके स्वभावका वर्द्धन करना सो उपवृंहन अग है। आत्माका स्वभाव है केवल जानन और देखन। रागद्वेष करना आत्माका स्वभाव नहीं है। इस तरह इन कर्मोंके उदयसे, संस्कारसे आत्मामें रागादिक की मलिनता उत्पन्न होती है, पर यह मलिनता आत्माकी वास्तविकता नहीं है। तो स्वभाव है केवल मात्र जानन देखन। यह केवल जानन देखनके प्रयत्नसे है ज्ञानी। इसीके मायने हैं जानन देखनके साथ जो रागादिक भाव लगे हैं वे दोष। जो मात्र जाननहार रहना है। किसी भी पदार्थको देखकर जाननहार रहे, रागद्वेष न करे। जैसे किसी सड़कपर घूमने जाते हैं तो वहा मनुष्य-मनुष्य ही मिलते हैं, पर परिचय वाले नहीं मिलते हैं। उन मनुष्योंको देखकर राग

द्वेष नहीं करते क्योंकि कोई परिचय नहीं है। कहा रागद्वेष करें यों चलते-चलते रास्तेमें अपने घरका कोई दिख गया तो उससे राग करने लगते हैं। तो ज्ञानके साथ जो राग लगा रहता है वह दोष है। राग दूर हो जाय फिर रागरहित अवस्थामें जैसा जो कुछ ज्ञान बने वह ज्ञान सही है, उसका विरोध करना रागद्वेषमें फसाव है तो वह अधर्म है। इन मलिन परिणामोंको न करके केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना चाहिए। जो अपने आपके गुणोंका विकास है उसे कहते हैं उपबृंहण अग। दोषका ढाकना, गुणोंका बढ़ाना सो उपबृंहण है।

उपगूहन अगमे आदेय सारांश—जिस किसी भी प्रकार हो, किसीके दोष कई बार ढाके जाये फिर भी न माने तो उसके दोष कैसे दूर करें? उसके दोष दूर करने का अन्तिम उपाय यह है कि उसको छोड़ दे। दोष न छोड़ना चाहे वह तो उसको छोड़ देवे। तो जहाँ उपगूहन है वहां उपबृंहण है और जहा उपबृंहण है वहा उपगूहन है—इन दोनों बातोंको एक ही उपगूहन अगमें शामिल कर दिया है। तो यह उपगूहन अगका पालन करना है। जैसे शरीरमें दो हाथ दो पैर यों चार अग बताये गए थे तो उपगूहनकी दृष्टिमें अङ्ग है नितम्ब। जैसे लोग नितम्बको प्रकट नहीं होने देते यों धर्मात्मापुरुष दूसरे धर्मात्मामें कोई दोष आये तो उसे जनतामें प्रकट नहीं करते ताकि दुनिया न समझे कि इनके धर्ममें दोष है। इस ५वें अङ्गका नाम है उपगूहन अङ्ग। इसका दूसरा नाम उपबृंहन है। क्षमा धर्मके द्वारा आत्माका गुण बढ़ाये, क्रोध न करे तो उसमें आत्माका गुण बढ़ता है। नम्रता रखे तो उसमें आत्माका गुण बढ़ता है। कपट न करना, लोभ न करना आदिक जो धर्मकी भावना है उन भावनाओंसे आत्माका गुण बढ़ायें। आत्माका गुण बढ़ता है कषाय न रहने से। अतएव कषाय न करके आत्माका गुण बढ़ना इस का नाम उपबृंहण अङ्ग है।

कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनोन्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥२८॥

सम्यक्त्वका स्थितिकरण अङ्ग—काम क्रोध घमंड लोभ मायाचार—इन भावोंके होने पर पुरुष जो है वह न्यायमार्गसे चलित हो जाता है। मनमें काम सम्बन्धी विकार आने पर भी मनुष्य धर्मसे चलित होता और कभी घमड छल कपट लोभ ये परिणाम जगे तो मनुष्य न्यायपथसे विचलित हो जाता है, धर्म-मार्गमें स्थिर नहीं हो पाता है। जो इस प्रकार धर्ममार्गमे च्युत होने को हों, उनको जिस किसी प्रकार स्थिर करना सो स्थितिकरण अङ्ग है। जीव धर्मसे च्युत हो जाता है तो उसमें आत्माका घात है। अपना आत्मा धर्मसे भ्रष्ट होता हो तो जिस प्रकार धर्ममें दृढ हो जाय ऐसा उपाय करना उसका नाम स्थितिकरण अङ्ग है। जैसे जब पुष्पडाल मुनि अपने पदसे चलित हो रहे थे तो उनके गुरु वारिषेण महाराजने उन्हें स्थिर किया था। वारिसेण थे राजाके पुत्र। उनके मित्र थे पुष्पडाल। एक बार पुष्पडालने वारिसेणको आहार दिया। आहार देकर उनको छोड़ने जा रहे थे। जब मील दो मील दूर तक चले गए तो पुष्पडाल बार-बार उन स्थानोंका ध्यान दिलाने लगे जहा पहिले एक साथ खेला करते थे। यह वही तालाब है यह वही जगल है आदि। यह याद इसलिए दिला रहे थे कि महाराज अब यह कह दें कि काफी दूर आ गए अब आप लौट जायें। पर लौटनेको न कहा। आखिर और दूर पहुच कर पुष्पडालके भी भाव ऐसे बन गए कि वे मुनि हो गए। मुनि तो हो गए पर कुछ दिनों बाद अपनी स्त्रीको याद सताने लगी। जब वारि-सेणने पुष्पडालके भावोंको समझा तो झट अपने घर खबर भेजी कि सभी रानियोंको खूब शृङ्गार सहित सजा कर रखना, हम कल घर आवेंगे। उसकी माँ ने विचार किया कि ऐसी क्या बात है जो आज हमारा पुत्र घर आने को कह रहा है। आखिर सिंहासन सजाया और सभी रानियों को खूब शृङ्गारसे सजाया। जब वे दोनों मुनि पहुचे तो काठके सिंहासन पर वारिसेण महाराज बैठ गए और सोनेके

सिंहासन पर पुष्पडालको बैठाया। मां ने तो सोचा था कि अगर मुनिपद से भ्रष्ट हो रहे होंगे तो फिर सोनेके सिंहासनपर बैठेंगे। पुष्पडाल उस अद्भुत दृश्यको देखकर विस्मित हुआ और अपने को धिक्कार ने लगा। अहो! इन महाराजने इस प्रकारकी विभूति और ऐसी सुन्दर रानियोंको ठुकराया, मैं एक पुरुषों अपनी कानी स्त्रीकी व्यर्थमें चिन्ता कर रहा हू। तो पुष्पडालमुनि अपने पद पर स्थिर रहे। तो धर्मात्माको धर्मात्माओंके दोष न प्रकटकर उन्हें धर्ममें स्थिर करना चाहिए यही स्थितिकरण अङ्ग है। जैसे शरीरके अङ्गोंमें पीठ कितना ही बोझ रख लेती है तो स्थितिकरणका अङ्ग जैसे पीठ पर वस्तु रखना है, इसी तरह स्थितिकरणका अङ्ग सम्यग्दर्शनमें स्वपरको धर्ममें स्थित करना है।

अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु परमं वात्सल्यमवलम्ब्यम् ॥२९॥

सम्यक्त्वका वात्सल्य अङ्ग—सम्यग्दर्शनके ८ अंगोंमें एक वात्सल्य अङ्ग है। वात्सल्यका लक्षण छहढालामें बताया कि धर्मात्मा जनोंमें गाय बछड़ेकी तरह प्रीति रखना सो वात्सल्य अंग है। जैसे गायको बछड़ेसे कोई स्वार्थ नहीं है कि यह बड़ा होनेपर मेरी रक्षा करेगा, पर वह गाय बछड़ेसे बड़ा वात्सल्य रखती है, इसी तरह एक सधर्मी पुरुषको दूसरे साधर्मी पुरुषसे निष्कपट प्रीति रहती है। किनमें प्रीति करना? एक तो समस्त साधर्मी जनोंमें प्रीति करना। जो धर्मके अनुसार हितपथमें लगाने वाले हैं उनसे वात्सल्यभाव रखना। मुख्य चीज है धर्ममें प्रीति रखना। धर्म है अहिंसा। रागद्वेष न उत्पन्न हो यही अहिंसा है। जीवोंका घात न हो यह द्रव्यसे अहिंसा है। रागद्वेषमोहका परिणाम अपने अन्दर न बने यही रत्नत्रयधर्म है। धर्ममें प्रीति रखना इसका नाम है वात्सल्य अंग। वात्सल्य अङ्गमें प्रचलित हुए हैं विष्णुकुमार मुनि। जिस समय ७०० मुनियोंपर घोर उपसर्ग हुआ, जो श्रवण नक्षत्र था वह भी कांपने लगा। एक गुरु महाराजसे पूछा कि यह क्यों कांप रहा है। तो बताया कि ७०० मुनियों पर घोर उपसर्ग हो रहा है, उसे बचानेमें समर्थ विष्णुकुमार मुनि हैं। विष्णुकुमारके विक्रिया ऋद्धि है, वही इस घोर उपसर्गका निवारण कर सकते हैं। फिर विष्णुकुमार मुनि अपने पदसे थोड़ा चलित होकर भी वहाँ गए। मंत्र पढने लगे। तो बलि राजा जो कि उपद्रव कर रहा था उसने प्रसन्न होकर कहा महाराज! तुम्हें जो मागना हो मांगो। तो उस समय विष्णुकुमार ने केवल तीन कदम भूमि मांगी। बलि राजाने कहा कि तीन कदम भूमिसे क्या होता है और कुछ मांगो, पर विष्णुकुमारने इससे अधिक न मागा। आखिर विष्णुकुमार ने अपनी विक्रियाऋद्धिसे तीन कदममे सारा विश्व नाप लिया। एक पैर बीचमें रखा और एक टाग ऐसी फैंकी कि सारी जमीन नप गई। जब तीसरा पग रखनेको भूमि न बची तो उस समय बलिने कहा कि मेरी पीठ पर एक पैर रख लो। उस समय भूलोक थर्रा रहा था क्योंकि विचित्र बात हो रही थी। सब घबड़ाकर पैरों पड़े, कहा—महाराज इस उपद्रवको दूर करो, रक्षा करो। तो उपद्रव दूर किया। वात्सल्य अङ्गकी बात कही कि विष्णुकुमारने अपने धर्मपदमें कुछ कमी करके भी धर्मात्माजनोंकी रक्षा की। साधर्मी जनोंकी रक्षा करना अपना कर्तव्य है। जिस हृदयमे प्रेम भरा रहता है वह हृदय प्रेमका अङ्ग है। तो शरीरमें जैसे एक हृदय अङ्ग है इसी प्रकार सम्यग्दर्शनमे एक वात्सल्य अङ्ग है। ८ वें अङ्गका नाम है प्रभाव।

आत्माप्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥३०॥

सम्यक्त्वका प्रभावना अङ्ग—कहते हैं कि ज्ञानी पुरुषको रत्नत्रयके तेजके द्वारा निरन्तर ही अपना आत्मा प्रभावित करना चाहिए। अपनी प्रभावना बढ़ायें। कोई भी पुरुष किसी दूसरेकी प्रभावना नहीं करता। प्रभावना अङ्गमें अन्तरङ्ग दृष्टि देकर आत्माके आराधना की बात कही गई है। अपने आपको

निर्विकल्प ज्ञानमात्र सबसे निराला निरखें, उसमें ही लीन हों तो उसमें आत्माके गुण बढ़ते हैं, उसकी प्रभावना होती है और फिर अन्य पुरुषोंके द्वारा जनतामें बड़ी प्रभावना होती है। दान देनेसे, तपश्चरण करने से, जिनपूजा करने से, विद्याके चमत्कारसे धर्मकी प्रभावना होती है। तो अन्तरङ्गमें हुए अपने शुद्ध आचार विचार द्वारा अन्तरङ्गमें प्रभावना धर्म और बहिरङ्ग हुए पूजा विद्या दान आदि, इन सबके द्वारा बाह्यमें धर्मकी प्रभावना करना चाहिए। इस तरह सम्यग्दर्शनके निश्चयरूप व व्यवहाररूप ८ अङ्ग हैं। इन ८ अंगोंका समूह सम्यग्दर्शन है। इसमें कोई कमी हो जाय तो जन्म सततिच्छेदमे शिथिलता हो हो जाती है। प्रभावना अङ्गमे वज्रकुमार मुनि प्रसिद्ध हुए हैं। किसी समय एक चोर जो वेश्यानुरक्त था वेश्याके कहने पर एक रानीका हार चुराकर भाग गया। नगरके कोतवालने उसका पीछा किया। भागते भागते उसने वज्रकुमार मुनिके पास वह हार फेंक दिया और खुद निकल गया। कोतवालने सोचा कि इसीने रानी का यह हार चुराया है और अपनी बचतके लिए मुनि बन गया है। राजाने वज्रकुमारको तलवारसे मरवा देनेकी आज्ञा दी। जिस समय तलवार चलायी गयी उस समय तलवार न रही, फूलों की वर्षा होने लगे। इस बातसे लोग बहुत विस्मित हुए और जनतामें उन मुनिराजका व धर्मका बड़ा प्रभाव हुआ। तो यह प्रभाव था तपश्चरणका। कोई दान करके, कोई कैसे ही इस धर्मकी रक्षा करते हैं। तो जिस किसी भी प्रकार जिनधर्म की प्रभावना करना सो प्रभावना अङ्ग है। भैया! समझ लीजिए कि ससारके सकटोंसे छूटनेका उपाय यह है कि जो जैनशासनमें बताया गया है उसके अध्ययनसे उसके चिन्तनसे, यह दृढ़ता लावें कि इससे ही कल्याण हो सकता है अन्य प्रकारसे नहीं। इस प्रकार अपनेमें अपने धर्मकी प्रभावना करना सो प्रभावना अंग है। जैसे शरीरमें एक मस्तक प्रभावना अङ्ग है, लोगों पर प्रभाव पड़ता है चेहरेसे। चेहरा दिखे बिना प्रभाव नहीं पड़ता। तो जैसे शरीरमें मस्तक प्रभावनाका अंग बनता है इसी प्रकार रत्नत्रय तेजसे अपने को विकसित करना धर्मकी प्रभावनाका एक अंग है। इस तरह सम्यग्दर्शनके प्रकरणमें ८ अङ्गोंका वर्णन किया गया है और ८ अङ्गोंमें न्यून हो तो यों समझो जैसे कोई मन्त्र है और उसमें किसी अक्षरकी कमी है तो सिद्धि नहीं होती है। इसी प्रकार ८ अङ्गोंमें कुछ कमी है तो सिद्धि नहीं होती है। कल्याणका मार्ग तो यही जिन शासन है।

अङ्गोंकी कमीसे धर्मक्षेत्रमें विडम्बना—प्रभावनाके अङ्गमें कमी रहनेके कारण आप देख लीजिए कि किसी भी समारोहमें इनका कुछ भी असर नहीं होता बल्कि लोग पीछे गाली देते हैं। लोग कहते हैं कि ये अपना वैभव दिखा रहे हैं। उनके चित्तमें यह बात नहीं आती कि जैन धर्म ही एक ससारके सकटोंसे छुटानेका मार्ग है। तपश्चरणकी बात देखें तो दिन प्रतिदिन कम होता जा रहा है। आरामकी तरफ ख्याल है। व्रत नियम सयमका ख्याल नहीं है। प्रत्येक नियमकी चर्चामें अपनी कमजोरी अनुभव करते कि यह कैसे निभता है? तपश्चरणकी यह हालत है। दानकी हालत यह है कि अपने ही घरमें अपने ही मदिरमें वेदीके नामसे, पचकल्याणकके नामसे सारी जिन्दगी में जोड़ा हुआ धन एक साथ खर्च हो सकता है पर दीन दुखी जनोंको तुरन्त आराम मिले, गरीब लोग भी धर्ममें स्थिर रह सकें, ऐसी भावना करके कौन दान करता है? बाह्य प्रभावनाका भी आजकल स्थान नहीं रहा और अतरङ्ग प्रभावना तो स्थान नहीं रहा। जब चित्त शान्त हो तो अपने चित्तमें क्षोभ नहीं रहता। जो ज्ञानी पुरुष हैं वे ही धर्म की प्रभावना कर सकते हैं। अपने स्वभावकी अपने गुणोंकी प्रभावना करना सो वास्तविक प्रभावना अङ्ग है। कपटसे भरा हुआ वात्सल्य है। निष्कपट वात्सल्यमें बहुत कमी है। यही कारण है कि एक दूसरे का परस्परमें सगठन नहीं रहता। तो वात्सल्यमे यही विडम्बना बनी हुई है। स्थितिकरणमें कौन किसको स्थिर कर सकता है? कोई डूबता हो तो देखते ही रहते हैं। स्थितिकरण भी आजकल क्या हो रही है? उपगूहन अङ्गमें कोई किसी की जरा भी गलती नजर आयी तो उसका तुरन्त प्रचार कर देना

यह भी आदतमें शुमार हो गया है। अमूढ़दृष्टि अङ्गमें तो बहुत कमी हो गयी है। जरा भी चिन्ता हो, बच्चा बीमार हो तो जिस चाहे कुदेव कुशास्त्र कुगुरुको अपनी भक्ति समर्पित कर देते हैं। निर्विचिकित्सा अङ्ग तो बहुत कम दिखता है, ग्लानिभाव बना रहता है। धर्मात्मावोंको देखकर मुख मोड़ लेते जरा जरा सी बातोंमें खेदखिन्न हो जाते, कोई नियमित ढंगसे संतुष्ट नहीं रहना चाहते, सभी प्रकारके भय सदा बनाये रहते हैं। इन सब उपद्रवोंका कारण है कि आत्माका जैसा स्वरूप है वैसा अपने चित्तमें नहीं बसा पाते। इस कारण सारी भटकनाएँ इसके बनी रहती हैं। यह तो दोष जब कम हो और यह अगके गुण बढ़े तो आत्माके उद्धारका मार्ग मिल सकता है।

इत्याश्रितसम्यक्त्वैः सम्यग्ज्ञानं निरूप्य यत्नेन।
आम्नाययुक्तियोगैः समुपास्यं नित्यमात्महितैः ॥३१॥

सम्यक्त्वलाभान्वित पुरुषोंको सम्यग्ज्ञानकी विशिष्टरूपसे उपासना करनेका अनुरोध—जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है उन पुरुषोंको अपनी परम्परा और युक्तिके अनुसार बड़े यत्नपूर्वक सम्यग्ज्ञानकी सेवा करनी चाहिए। सम्यक्त्व हो जाय, अपना चित्त अच्छी जगह लगा रहे, उसका कर्तव्य है कि अपना स्वाध्याय बराबर बना रहे। इस जीवका उपयोग विचलित हो सकता है इस कारण भावना ज्ञान की बनी रहे, इसके लिए जरूरी है कि जो जिनआगमकी परम्परा है उसके अनुसार ज्ञानार्जनकी अपनी प्रवृत्ति बनाएँ। ज्ञान आत्माका स्वभाव है। ज्ञान न हो तो फिर आत्मा क्या है? उस ज्ञानका विकास स्वाभाविक सामान्य है, केवलज्ञान है। जो जो भी सत् हैं वे सब इसके ज्ञानमें आ जायें तो बड़ा भारी इसका विकास है लेकिन जब तक विकासपूर्ण न हो पाये तब तक सम्यग्दर्शन अनेक ढगोंमें रहता है। उसके मूलमें दो भाग हो गए—एक परोक्ष और एक प्रत्यक्ष। प्रत्यक्ष ज्ञान वह है जहां इन्द्रियोंका आलम्बन लिए बिना भूत भविष्य तथा वर्तमानके बाहरी पदार्थोंको जान लिया जाय। ज्ञानका स्वरूप जानन है तो उसमें इन्द्रियोंकी क्या आवश्यकता है? पर जब तक ज्ञानका आवरण लगा है तब तक इन्द्रियोंके द्वारा हम कुछ ज्ञान कर पाते हैं लेकिन प्रत्यक्षज्ञान साक्षात् अपने ही ज्ञान द्वारा समस्त पदार्थोंको जान लेता है। यह प्रत्यक्षज्ञान आजकल हम आपको नहीं प्राप्त है। दूसरा है परोक्ष ज्ञान। इन्द्रिय और मनसे जान लेना परोक्ष ज्ञान है, इसमें सविकल्प और निर्विकल्पका भेद किया जाय तो मतिज्ञान अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान—ये चार ज्ञान निर्विकल्प हैं और श्रुतज्ञान सविकल्प है। जैसे आँखों देखने से यह ज्ञान हो जाता है कि यह हरा रंग है। जो सामान्यरूपसे जाना हुआ था, वह है मतिज्ञान और उसमें जब अधिक निर्णय कर लेते हैं कि यह अमुक चीज है तो वह है श्रुतज्ञान। अपने ही आत्माके द्वारा आंशिक रूपसे मर्यादा को लिये हुए प्रत्यक्ष जानना अवधिज्ञान है। तीन लोकके पदार्थोंको जान लेना केवल ज्ञान है।

वस्तुका नयोंसे परिचय—ज्ञानके आशयवश अंश होते हैं जिसके मूलमें दो भेद हैं—एक द्रव्यार्थिकनय और एक पर्यायार्थिकनय या एक निश्चय और एक व्यवहार। जो द्रव्यका मुख्य लक्ष्य लेकर जाने सो द्रव्यार्थिकनय है और जो पर्यायका मुख्य लक्ष्य लेकर बोले सो पर्यायार्थिकनय है। मनुष्यको गौण करके केवल एक जीवद्रव्यको जानें तो वह होता है द्रव्यार्थिकनय। जो शाश्वत है ऐसे चैतन्यस्वरूपका ज्ञान करना वह द्रव्यार्थिकनय है और उससे आत्माका हित है। तो द्रव्यार्थिकनय द्रव्यको ग्रहण करता है जो अनादि अनन्त है जिसका न कभी आदि है न अन्त। जो आत्माका स्वरूप है उसपर दृष्टि डालें तो द्रव्यका आलम्बन लिया। उस स्वरूपको लेना कि मैं चैतन्यमात्र हूँ—ऐसा जो अनुभव करना इस का नाम है द्रव्यार्थिकनय। और पर्यायको जाना कि यह मनुष्य है, पशु है, पक्षी है ऐसी नाना पर्यायोंपर दृष्टि डाले उसका नाम पर्यायार्थिक है। पर्यायको बहुत कालसे जान रहे हैं, जो आत्माका स्वभाव है

उस पर दृष्टि दें तो आत्माका हित है, अपने स्वभावको ऐसे उपयोगमे ले जायें जो अनादि अनन्त है, चैतन्यमात्र है, ज्ञानस्वरूप है, उसे ही अनुभव करें कि यह मैं हू तो उसका नाम है द्रव्यार्थिकनय। द्रव्य को जाना इससे आत्माका हित है। पर्यायको पर्यायरूपसे जाना, पर पर्यायको आत्मारूपसे जाना तो इससे अहित है। जैसे कोई मनुष्य देहको देखकर निर्णय करते है कि यह मैं हू तो यह अहितकी बात है और इसमें जो चैतन्यभाव है वह मैं हू, ऐसे चैतन्यभावको ग्रहण करे तो इससे आत्माका हित है। अपने चैतन्यमात्र आत्मतत्त्वको ग्रहण करें तो इससे शान्तिका मार्ग मिलता है।

पृथगाराधनमिष्ट दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो नानात्व सभवत्यनयो ॥३२॥

दर्शनसहभावी ज्ञानका पृथगाराधनोपदेश करनेका कारण—वस्तुस्वरूपके सम्बन्धमे जो कुछ ज्ञान किया वह ज्ञान सम्यक्त्वके होने पर सम्यग्ज्ञान कहलाता है। यद्यपि सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान साथ-साथ हुए तो भी सम्यग्दर्शनका लक्षण विपरीताभिनिवेशरहितता है। इस कारण सम्यग्दर्शनकी आराधना करना बताया और सम्यग्ज्ञानका लक्षण है जानकारी, सो सम्यग्ज्ञानकी आराधना करना बताया। कोई यह प्रश्न कर सकता है कि आराधना जो चार तरहकी बतायी गई है—सम्यक्त्व आराधना, ज्ञान आराधना, चारित्र आराधना और तप आराधना। तो जब सम्यग्ज्ञान सम्यक्त्वके साथ हुआ, सम्यक्त्वमें शामिल हो गया तो फिर अलगसे क्यों ज्ञान आराधना बताया है? समाधान इस तरह है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एक चीज नहीं हैं। लक्षणभूत तत्त्वार्थका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जैसे अवस्थित हैं उनका उस प्रकार ज्ञान करना सो सम्यग्ज्ञान है। आत्मामें दो गुण है—श्रद्धागुण और ज्ञानगुण। श्रद्धागुणका कार्य है सम्यक्त्व और ज्ञानगुणका कार्य है ज्ञान। विश्वास और ज्ञान, इन दो बातोंमे अन्तर है, जो अनुभव सिद्ध है जानकारी होना और उसका विश्वास होना। किसी ने कुछ कह दिया, सुन लिया तो जानकारी हो गयी। विश्वास मेरे विशेष अन्तरङ्गकी चीज है। विश्वास और ज्ञानमें जरा अन्तर है, इस कारणसे सम्यक्त्वकी आराधना जिन-ग्रन्थोंमें अलग बताया है।

सम्यग्ज्ञान कार्यं सम्यक्त्व कारण वदन्ति जिना'।
ज्ञानाराधनमिष्ट सम्यक्त्वानन्तर तस्मात् ॥३३॥

सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी आराधनाका उपदेश करनेका कारण—अब एक यह प्रश्न होता है कि जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक साथ होते हैं तो सबसे पहिले सम्यक्त्वकी आराधनाका क्यों वर्णन है? उसकी आराधनाके बाद सम्यग्ज्ञानकी आराधना बताया है। उसका समाधान देते हैं कि सम्यग्ज्ञान तो कार्य है और सम्यग्दर्शन कारण है। यद्यपि दोनों एक साथ होते है फिर भी जैसे दीपकका जलना और प्रकाशका होना ये दोनों यद्यपि एक साथ हैं पर दीपकका प्रकाश कारण है या प्रकाशका कारण दीपक है। प्रकाशका कारण दीपक है दीपकका कारण प्रकाश नहीं। एक साथ होने पर भी कारण और कार्य पाये जाते हैं। सम्यग्दर्शनके होने पर वह ज्ञान सम्यक्ज्ञान बनता है। कारण कि आराधना पहिले बताया और कार्यकी आराधना उसके बाद। इसके लिए अनेक दृष्टान्त हैं और अनुभव भी बताता कि किसी बातका ज्ञान हो जाना एक साधारण ज्ञान है और जिस समय उसका विश्वास भी हो जाता है तो वह ज्ञान सम्यक् बन जाता हैं और उसमें दृढ़ता होती है। सम्यक्त्व कारण बना। सम्यग्ज्ञानकी महत्ता पूज्यतामे भी कारण सम्यक्त्व है और ज्ञान तो चाहे सम्यक् हो चाहे मिथ्या हो, ज्ञान मोक्षका मार्ग नहीं बना। सम्यग्दर्शन और चारित्र ये दोनों मोक्षके मार्ग बताये और ज्ञान वस्तुत' न सम्यक् होता, न मिथ्या होता। जैसे उजेला न हरा होता, न पीला होता, न सफेद होता, किन्तु एक प्रकाश है, उसमें जिस रगका लट्टू लगा दिया वैसा ही प्रकाश हो जाता है, मगर प्रकाश सामान्य कैसा होता है? ज्ञान तो ज्ञानका नाम है,

जाननका नाम है। जब सम्यक्त्वका उदय है तो वह ज्ञान सम्यग्ज्ञान है और जब मिथ्यात्वका उदय है, तो वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है।

गुणस्थानोके नामकरणमें ज्ञानकी अकारणता—इसमें प्रथम ४ गुणस्थान जो बने हैं वे सम्यक्त्वकी अपेक्षासे बने हैं, पश्चात्के गुणस्थान चारित्रकी अपेक्षासे बने हैं। मिथ्यात्वका उदय हुआ उसमें सम्यक्त्व बिगड गया। जहा सम्यक्त्वगुणका मिथ्या परिणमन है उसका नाम पहिला गुणस्थान है। सम्यक्त्वका प्रतिपक्षी है दर्शनमोहनीय। दर्शन मोहके उपशम, क्षय, क्षयोपशममें होता है सम्यक्त्व और अनन्तानुबंधी के उदय होने पर दूसरा गुणस्थान होता है तो यह भी एक श्रद्धारूपकी अपेक्षासे समझिये। तीसरे गुणस्थानमे सम्यग्मिथ्यात्व है, चौथेमें सम्यक्त्व है। प्रथम चार गुणस्थानोंमें श्रद्धाकी अपेक्षा चाहे उल्टा हो चाहे सीधा हो। ५ वें गुणस्थानसे १२ वे गुणस्थान तक समझ लीजिए, चारित्रके सम्बन्धसे और १३ से १४ तक योगके सम्बन्धसे। सो योगका निरोध भी एक चारित्र है वह भी चारित्रके सम्बन्धसे। गुणस्थान जो बने हैं वे श्रद्धा और चारित्रगुणके परिणमनसे बने हैं, ज्ञानसे गुणस्थान नहीं बने। तो गुणस्थानों की रचनाका भी कारण श्रद्धा और चारित्रगुण है और उसमें भी प्रथम मूलमें श्रद्धागुण सम्यक्त्वका कारण बना। सम्यक्त्व न हो तो मोक्ष-महल पर कदम नहीं बढ़ाया जा सकता। सम्यक्त्वके होने पर सब घबड़ाहट समाप्त हो जाती है। क्या होगा, कैसे ठीक पडेगा, मैं कैसे उन्नति कर सकूँगा आदिक घबड़ाहट सम्यक्त्वके होने पर नहीं होती, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जानता है कि मेरा मात्र मैं हू। मेरा परिणमन, मेरा शरण मेरा सब कुछ मेरे से होता है। परवस्तुसे मेरा न लगाव है और न बिलगाव है। केवल अपने आपमें है सम्यग्ज्ञानी। और जानता है कि मैं अपने आपमें सही हूं। मैं जैसा ज्ञानानन्द-स्वरूप हू वैसा अपने को समझता हूं।

ज्योतिर्दर्शनसे भय उद्वेगका अभाव—अपने आपके परमात्माके निकट बसने से ज्ञानीको न घबड़ाहट है और न भय होता है। इसका दृष्टान्त यों समझले कि जैसे एक व्यक्ति शामके समय अपने घर जा रहा है, रास्तेमे एक जगल पड़ा। रास्तेमें घने जंगलमें वह फस गया। वह सोचता है कि इस घने जगल में मैं फंस गया हू, अब मैं ज्यों ज्यों आगे बढ़ता जाऊँगा त्यों त्यों फसता चला जाऊँगा, यही सोच कर वह रुक गया। रुक गया पर घबड़ाहट बराबर है। पता नहीं रास्ता मिले, न मिले क्या हाल होगा? इतने में एक बिजली चमकी और उसकी क्षण भरकी चमकमें एकदम साफ सामने रास्ता दिख गया। तो इसके बाद फिर अधेरा, वही जगल जिसमें पड़ा था, पर अब आकुलता नहीं है क्योंकि उसकी श्रद्धामें यह बात आ गयी कि वह तो है निकटमे मार्ग। होने दो सुबह। सुबह होते ही उस मार्गमें लग जाऊँगा, ऐसी श्रद्धा हो जाने से उसी जगलमे फँसा हुआ भी घबड़ाहट नहीं है। इसी प्रकार जो सम्यग्दृष्टि जीव है उसको घबड़ाहट नहीं है, जब कि मिथ्यात्वमें थी। मोहवनमें घूम रहा था तो कुछ मद मोह होने पर विवेक जगा कि हमको अब आगे मोह नहीं बढ़ाना है, जहा हैं वहीं रहना है, इतनेमें विवेक जगा, इतने में ज्ञान की बिजली चमकी, उतने क्षण भरके प्रकाशमें उसने सब अनुभव कर लिया कि मैं क्या हूं और सुखका मार्ग क्या है? अब इसे घबड़ाहट नहीं होती। बाह्य वस्तु कैसी ही परिणमें उससे मेरा कोई सुधार बिगाड़ नहीं है, यों उसको अपने आपमें बहुत बल मिल रहा है। सम्यक्त्वका ही यह प्रताप है।

सम्यक्त्वका महत्त्व—सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान और चारित्र ये सम्यक् नहीं कहला सकते। सम्यग्दर्शन मोक्षमहलकी एक प्रथम सीढ़ी समझी गई है। जैसे सीढ़ीसे महलपर चढ जाते हैं ऐसे ही मोक्ष महल पर सम्यग्दर्शनकी सीढ़ीसे चढ जाते हैं। सम्यग्दर्शन शब्दका अर्थ है सम्यक् मायने भला और दर्शन मायने दिख जाना, जो भली चीज है जो सम्यक् चीज है उसका दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यक् का सम्यक्रूपसे सम्यग्दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन स्वय एक सम्यक् है। सम्यग्दर्शन यह

क्रियाविशेषण बन गया। सम्यक्‌रूपसे दर्शन। सम्यक् है शरणभूत निज आत्मतत्त्व। सम्यक् दर्शन होना सम्यक्‌दर्शन है। जो सम्यक् शुद्ध औपाधिककाय है अन्तस्तत्त्व उसमें दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। सम्यक्‌के द्वारा जो एक विशुद्ध परिणति है, जो सिद्ध करने वाली परिणति है उस परिणतिके द्वारा दर्शन होते हैं। सम्यक्‌रूपसे सम्यक्‌का सम्यक्‌से, सम्यक्‌के लिए दर्शन होना सो सम्यग्दर्शन है। अलग-अलग ले लो और जोड़कर भी ले लो वही भला दर्शन होना है।

आत्मदर्शनकी प्रतीकतासे पदार्थोंमें शकुनपनेका व्यवहार— लोकमें जितनी चीजें शकुन मानी जाती हैं उन सब शकुनोंको देखकर सम्यक्‌का ख्याल आता है तो वह सब सम्यक् है। और सम्यक्‌का ख्याल न आये तो वह शकुन नहीं है। जितनी भी चीजें लोकमें शकुन मानी जाती हैं उन सबमें घटा लीजिए। लबालब जलसे भरा हुआ कलश लोकमें शकुन माना जाता है, जैसे जल कलशमें लबालब भरा है इसी तरह आत्मामें ज्ञानगुण परिपूर्ण भरा है। कोई बछड़ा दूध पीता हुआ दिख जाय तो उसे भी लोकमें शकुन मानते हैं। जैसे गाय और बछड़ेका निःस्वार्थ वात्सल्य है इसी तरह धर्मात्मा पुरुषोंमें निःस्वार्थ वात्सल्य होना चाहिए। धर्मात्मा मायने धर्म, जो धर्मस्वरूप आत्मा है उसीका नाम धर्मात्मा है। धर्मात्मामें भी धर्ममयकी दृष्टि है, स्वभावकी दृष्टि है? जैसे गाय बछड़ेका निष्कपट वात्सल्य है इसी प्रकार धर्म धर्मीमें इस प्रकारका वात्सल्य हो ऐसी शिक्षा मिलती है। अपने धर्ममें भी निष्कपट प्रेम होना यह याद दिलाता है, हमारा काम है ज्ञानस्वरूपकी दृष्टि लेना, ज्ञान ही उपयोगमें रहना और ज्ञानमात्र रह सकें, ऐसा निरन्तर परिणमन होना यही है अपना धर्म और उस धर्मकी जहां निष्कपट भक्ति जगे मैं आत्मा एक शुद्ध ज्ञानानन्दका पुञ्ज हूं। यों अपने आपमें दृष्टि देकर अपने आपके स्वभावका स्मरण करिये ऐसा गोवत्सका दृष्टान्त एक शकुन माना है। सम्यक्त्व ही वास्तवमें एक शकुन चीज है, इसके जगने पर यह निर्णय हो जाता है कि अब इसका संसार निकट है। अब आगे भटकेगा नहीं। सम्यग्दर्शन हितरूप है, इस कारण सबसे पहिले इस सम्यक्त्वका आराधना करनी चाहिए।

कारणकार्यविधानं समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥३४॥

सम्यक्त्व और ज्ञानमें कार्यकारणका विधान— यद्यपि दर्शन और ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं फिर भी इसमें कार्य और कारणका भेद है। जैसे दीपक और प्रकाश दोनों एक समयमें होते हैं, जिस कालमें दीपक जलता उसी कालमें प्रकाश होता है। यद्यपि दीपक और प्रकाश एक साथ है फिर भी दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। दीपक न जले तो प्रकाश कहाँसे हो? एक साथ होने पर भी सम्यक्त्वमें और सम्यग्ज्ञानमें कार्यकारणका विधान है। इसी कारणसे ज्ञानसे पहिले सम्यक्त्वका आदर करना चाहिए। यद्यपि दीपकका जलना और प्रकाशका होना एक साथ होता है तो भी दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है। इसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ होते हैं फिर भी सम्यग्दर्शन कारण है और सम्यग्ज्ञान कार्य है। सम्यक्त्वपर सबसे अधिक जोर है इस कारण इसे पहिले बता रहे हैं।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकान्तात्मकेषु तत्त्वेषु।
संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत्॥३५॥

समारोपरहित आत्मस्वरूप—संशय, विपर्यय अनध्यवसाय ये हट कर ऐसा ज्ञान बनाये कि दोष हटे, ऐसी स्थिति रहे कि सामनेकी चीज देखकर उसके यथार्थपनेका बोध रहे। आत्माका स्वरूप है, संशय विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित। आत्माका स्वरूप, ज्ञानमय तो है ही इसलिए ज्ञानकी बात नहीं कही कि इसे शुद्ध करो, किन्तु जिन भावोंके कारण ज्ञानमें दृढ़ता नहीं रहती थी वह बात बताई गई है। अब देखिये ज्ञानके मिथ्या होनेमें उसके ये तीन प्रकारके दोष बनते हैं—संशय, विपर्यय और अनध्यव-

साथ। याने चाहे जैसी चीजोंका हम ज्ञान कर रहे हैं वैसा ही दृढ निर्णय हो, चाहे वह विपरीत पड़े, जानन होता ही है। जैसे कोई वस्तु देखी, अब उससे एक ज्ञान हो गया कि यह ऐसा है। जैसे कुछ निरखकर यह संदेह आ जाय कि यह अमुक चीज है या अमुक तो दो के बजाय तीनका भी संदेह हो सकता। जैसे सामने रस्सी पड़ी है तो उसमें यह संदेह हो सकता है कि यह रस्सी है कि साप है कि वृक्ष है, ऐसे अनेक ज्ञान हो सकते हैं। एक तो ज्ञान है संशय को लिए हुए और एक ज्ञान है मिथ्याको लिए हुए। और ज्ञान ऐसे भी होते हैं जहाँ कुछ निश्चय ही नहीं। संशय विपर्यय और अनध्यवसायसे रहित जो आत्माका स्वरूप है सो ही सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान करके ज्ञानका कुछ कार्य नहीं है, न वहीं कोई स्थान देता है। वह तो सब दोषोंसे रहित केवल एक ज्ञान मात्र है। अध्यवसायमें दो शब्द हैं, अधि और अवसाय। अधि उपसर्ग है और अवसाय मायने हैं निश्चय करनेका। अधिक जानना सो अध्यवसाय है। जो वस्तुका स्वरूप नहीं है उससे अधिक जानना, जैसा सर्वज्ञदेव जानते हैं उससे अधिक विरुद्ध जानना इसका नाम अध्यवसाय है। अब देखिये संसारके प्राणी, यहाँके लोग सर्वज्ञदेवसे भी अधिक निर्णय रख रहे हैं। अधिक निर्णय रखनेका नाम अध्यवसाय है। सर्वज्ञदेवके ज्ञानमें अनेक वस्तु हैं, अनेक गुण हैं, अनेक स्थान हैं। इसी प्रकार प्रयोजनभूत आत्मतत्त्वमें न संशय रहा, न विपर्यय रहा, न अनध्यवसाय रहा। तब क्या बताया? सो कहते हैं कि एक विविक्त आत्मस्वरूप। जैसे इतनी हिम्मत हो कि रूप छूटना तो है ही, एक सच्चा ज्ञान करले, उसीने ही एक आत्माका स्वरूप जाना और इन दोषोंसे रहित विशुद्ध आत्माका स्वरूप सम्यग्दर्शन है और उसका उपाय इतना ही है कि थोड़ा बहुत तो ज्ञान था ही और परद्रव्योंसे उपेक्षा करके मात्र अपने आपमें रहे तो वह है आत्माका सही स्वरूप और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका वर्णन करनेमें यह एक भूमिका दी है— संशय, विपर्यय, अनध्यवसायसे रहित जो आत्माका स्वरूप है वह मोक्षमार्ग है।

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

शब्दशुद्धि, अर्थशुद्धि, उभयशुद्धि नामक सम्यग्ज्ञानके अङ्ग—सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके ८ अंग हैं—प्रथम अंगका नाम है शब्दाचार, दूसरेका अर्थाचार, तीसरेका नाम उभयाचार, चौथेका नाम कालाचार, ५ वें का विनयाचार, छठवें का उपधानाचार, ७ वें का बहुमानाचार और ८ वें का अनिह्नवाचार। सही सही अक्षरोंका पठनपाठन करना शब्दाचार है। जिस सूत्रको पढ़ने बैठें वह सूत्र शुद्ध शुद्ध पढ़ना चाहिए। कोई अर्थ भी न जानता हो तो भी शब्द शुद्ध पढ़ना चाहिए, क्योंकि यह एक अंग है। जो शुद्ध पढ़ने वाले हैं उनको अशुद्ध पढने वालोंके अशुद्ध शब्द सुनकर एक ठेस सी पहुंचती है। कुछ दिलमें अटपटा सा लगता है। तो शब्दोंका सही सही पठन पाठन होना चाहिए। दूसरा अङ्ग है अर्थाचार। अर्थका अवधारण करना। कोई शब्दोंका अर्थ ही न समझे तो वह भावोंसे भीग नहीं सकता है। कोई साधारण छंद हो, पूजा हो, आगमका प्रकरण हो तो उसका अर्थ मालूम होना चाहिए ताकि भावोंसे भीग सके। कोई पूजा तो पढ़ता है और उसका अर्थ मालूम नहीं है तो उसमें क्या पूजा करने का भाव जम सकता है? जैन धर्मके मामूली पाठसे लेकर ऊँची से ऊँची चर्चा तक जितने शब्द हैं सबमें मर्म भरा हुआ है। यथार्थ शुद्ध अर्थ अपने मनमें धारण करना इसे शुद्ध अर्थाचार कहते हैं। तीसरा है उभयाचार। उभयाचारमें शब्दशुद्धि भी है और अर्थशुद्धि भी है। तो कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो केवल पाठ करके अपने ज्ञानकी आराधना करते हैं। शब्द तो शुद्ध पढ़ते और अर्थ नहीं मालूम, लेकिन, कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उनका भाव तो है चित्तमें, शब्दशुद्धि पूरी नहीं। कोई पुरुष ऐसे भी होते कि जिनके शब्द भी शुद्ध हैं और अर्थ भी शुद्ध है तो जिनके दोनों शुद्ध हैं वे हैं उभयाचारके पालक।

कालाचार नामक सम्यग्ज्ञानका अङ्ग—चौथा है कालाचार। समयपर बैठकर स्वाध्याय करने का नाम है कालाचार। स्वाध्यायके समय चार होते हैं—पहिला गोसर्गकाल, सूर्योदयके ४८ मिनट बाद और मध्याह्नके ४८ मिनट पहिले के बीचका जो काल है उस कालको गोसर्गकाल कहते हैं। यह गोसर्गकाल सामायिक करनेके योग्य है। दूसरा काल है मध्याह्न काल, याने मध्याह्नकी दो घड़ीसे सन्ध्याके दो घड़ी पहिले तक। तीसरा है प्रदोषकाल याने रात्रिके दो घड़ी बाद और मध्यरात्रिसे दो घड़ी पहिले। चौथा है विरात्रिकाल, मध्यघड़ीसे दो घड़ी बाद और सूर्योदयसे दो घड़ी पहिले। इन समयोंमें स्वाध्याय करना चाहिए। इसके अतिरिक्त कभी कोई उत्पात हो रहे हों तब स्वाध्याय न करना चाहिए। जैसे कहीं आग लगी हो तो वह समय स्वाध्यायके योग्य नहीं है। क्योंकि वह क्षोभका काल है। जिस समय बिजली गिरती है उस समय भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जब इन्द्रधनुष बादलोंमें होता है तो वह समय भी सामायिक करने योग्य नहीं है। सूर्यग्रहणके समय भी स्वाध्याय न करना चाहिए। जिस समय भूकम्प आ रहा हो, ऐसे उत्पादके समय भी सिद्धान्तग्रन्थ न पढ़ना चाहिए। धर्मकथा के ग्रन्थ उस समय पढ़ सकता है, पर जहां तात्विक चर्चा है उसे ऐसे समयमें न पढ़ना चाहिए, क्योंकि उसके लायक उस समय दिलकी सावधानी नहीं बनती।

विनयाचार, उपधानाचार, बहुमानाचार व अनिह्नवाचार नामक सम्यग्ज्ञानके अङ्ग—५ वें अङ्गका नाम है विनयाचार, विनयपूर्वक शास्त्रोंका अध्ययन करना हाथ पैर धोकर शुद्ध स्थानपर विनयभाव रखकर नमस्कारपूर्वक शास्त्रका अध्ययन करना सो विनयाचार है। छठवेंका नाम है उपधानाचार। कोई उपधान लेकर आराधना करना इसका नाम है उपधानाचार। उपधानका अर्थ है ऐसा नियम कि जब तक इस ग्रन्थका स्वाध्याय न करले तब तक इस चीजका त्याग है। इस प्रकारका नियम लेना सो उपधानाचार है। ७ वां है बहुमानाचार। बहुत मान करते हुए शास्त्रका अध्ययन करना सो बहुमानाचार है। विनयाचार और बहुमानाचारमें अन्तर यह है कि विनयका सम्बन्ध तो एक अपने आपके मनसे है, बहुमानका सम्बन्ध है बाह्य गुरुजनों से, जिन ज्ञानी सतजनों ने उन शास्त्रोंका प्रतिपादन किया है। तो उन सतजनों का मान करते हुए स्वाध्याय करना सो बहुमानाचार है। ८ वें का नाम है अनिह्नवाचार। जिस गुरुसे या जिस शास्त्रसे ज्ञान प्राप्त किया है उसे न छिपाना सो अनिह्नवाचार है। जैसे कोई सेखी बघारने वाले लोग कहते हैं कि हमने तो ऐसे ही अमुक चीज पढ़ पढ़कर ऐसा अध्ययन बनाया है। ऐसा कोई शास्त्रका या गुरुका नाम छिपा लेना सो अनिह्नवाचार है। संगीत सीखने वाले लोग ऐसा बहुत करते हैं। किसी हारमोनियम बजाने वाले से पूछो कि साहब तुमने किससे हारमोनियम बजाना सीख लिया तो वह कहता है कि हमने तो यों ही अंगुलिया रख रख कर हारमोनियम बजाना सीख लिया है। वह अपने गुरुका नाम छिपा लेता है। इस प्रकारसे अपने गुरु अथवा शास्त्रका नाम छिपाना, सो अनिह्नवाचार है। इस प्रकारसे ८ अङ्गोंपूर्वक सम्यग्ज्ञान की आराधना करनी चाहिए।

पुरुषार्थसिध्द्युपाय प्रवचन प्रथम भाग समाप्त

पुरुषार्थसिध्द्युपाय प्रवचन द्वितीय भाग

विगलितदर्शनमोहैः समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैः।
नित्यमपि निष्प्रकम्पैः सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥३७॥

सम्यग्दृष्टि तत्त्वज्ञानी सतोंको सम्यक्चारित्रके आलम्बनका उपदेश—जिनपुरुषोंने दर्शन मोहको नष्ट कर दिया है और सम्यग्ज्ञानके द्वारा तत्त्वार्थ का अवरोध कर लिया है उन्हें बड़े निष्प्रकम्प होकर धारा सहित सम्यक्चारित्रका आलम्बन करना चाहिए। इसमें सर्वप्रथम यह बताया है कि जिसने दर्शन मोहको गला डाला उनको, जब तक पदार्थकी स्वतन्त्रताका भान न हो, समस्त पदार्थोंसे निराले निज अंतस्तत्त्व का जब तक परिचय न हो तब तक वास्तवमें सम्यक्चारित्र नहीं बनता, क्योंकि चारित्र नाम है अपने स्वभावका। अपने स्वभावका पता न हो तो रमे कहाँ? जो बाह्यमें सम्यक्चारित्र कहे जाते हैं वे साधक हैं, ५ समिति, ३ गुप्ति, ५ महाव्रत श्रावकोंके लिए अणुव्रत आदि ये सम्यक्चारित्र नाम इस लिए पाते हैं कि निश्चय चारित्रमें साधक हैं, अन्यथा शुद्ध खानपान, देखभालकर चलना, जीवदया पालना किसी की चोज न उठाना ये तो बातें होती हैं। अन्तरङ्ग सम्यक् चारित्र तो निज स्वभावको जानकर उसमें रमण करना है, ये सब साधक किसलिए होते हैं इसे समझना है तो इससे उल्टी बात सोचें। कोई मनुष्य दया नहीं पालता, दूसरे जीवोंको सताता तो ऐसे चित्तमें स्वभावधारणा नहीं बन सकती है, जो शल्यरहित हो, सत्यव्यवहार करता हो, न्याययुक्त जीवन हो ऐसे आचरण वालोंमें उस स्वभावके धारण करने की योग्यता रहती है, अतएव ये सब आचरण साधक हैं। वास्तवमें सम्यक्चारित्र तो आत्मस्वभावमें रमण करनेका नाम है। यह बात तब बन सकती है जब दर्शन मोह गल गया हो। जिसका मिथ्यात्व नष्ट हो गया और जिसने ७ तत्त्वोंका श्रद्धान यथार्थ अवधारण किया वह पुरुष सम्यक्चारित्रको ग्रहण करता है, ये ३ शब्द ऐसे हैं देखना, जानना और प्रयोग करना। लौकिक कामोंमें भी ये ३ बातें आती हैं, कोई भी काम करने जावें। यह मोक्षमार्गका प्रकरण है, इस कारण यहाँ देखनेका नाम श्रद्धान है। अंतस्तत्त्वका विश्वास होना और स्पष्ट बोध होना और उस अंतस्तत्त्वमें उपयोग जमाना, यही है रत्नत्रय और मोक्षका मार्ग। अब यह अंतस्तत्त्व इस ज्ञानीके उपयोगमें यों बसता है कि यह ध्रुव है बिना [illegible] है, किसी चीजसे उत्पन्न नहीं होता और न यह किसी वस्तुको उत्पन्न करता है। जिसके आचरणमें परिणमन नाना होते हैं फिर भी किसी परिणमनरूप नहीं बनता, ऐसा जो एक चैतन्यस्वभाव है वह अंतस्तत्त्व, चैतन्यमात्र मैं हूं, इस प्रकारकी वह प्रतीति करता है और ऐसी दृष्टि जमाने का ही यत्न रखता है, अब ऐसा उपयोग बन जाय किसीका या जितने क्षण बने, स्वयं कुछ थोड़ा बहुत यत्न करके अनुभव बना करे तो इस अनुभूतिके प्रसादसे क्लेश दूर होते हैं और आत्मीय आनन्द प्रकट होता है। क्योंकि क्लेश तब होते हैं जब परपदार्थोंमें उपयोग हो। जब परपदार्थोंमें इष्ट अनिष्टकी बुद्धि होती है तब क्षोभ उत्पन्न होता है, इसलिए परके उपयोगमें आत्माको कष्ट है और जब स्वयंका स्वयंमें सत्य सहज अंतस्तत्त्वका परिचय हो, उपयोग हो तो उसमें कोई बिगाड़ नहीं रहता। ऐसी निर्विकल्परूप, अनुभूतिरूप आत्मस्वभावका उपयोग करना, यही है निश्चयदृष्टिसे चारित्र।

सद्वृत्ति और स्वानुभूतिका परस्पर सहयोग—अब देख लीजिए कि कैसा परस्पर सयोग है कि अपने को शान्तवृत्तिमें रखे तो अनुभव जगे और अनुभव जगे तो शान्तवृत्ति बढ़े। इसमें एकान्तसे हम किसे कारण बतायें? शान्तिसे अनुभूति होती है या अनुभूतिसे शान्ति होती है—इन दोनोंमें एकान्ततः हम किसे पहिले रखें? कुछ मंद कषाय होकर जो शान्ति मिलती है वह तो बहुत, चाहे तब अनुभूति जगे। और अनुभूति जगने से फिर उस शान्तिसे वृद्धि बनती है और शान्ति ही एक चारित्रका रूप है। तो

अनुभव करनेके लिए सदाचरण होना बहुत आवश्यक है। जो पुरुष किसी प्रकार अच्छे ढगसे व्रत और नियमसे रहते हैं उनकी यह वृत्ति स्वानुभूतिका साधक है, केवल एक ज्ञान कर लेने मात्रसे, तत्त्वकी चर्चा कर लेने मात्रसे अनुभूति नहीं जगती, क्योंकि उसमें हमारा चित्त रमे, उपयोग ग्रहण करे, चित्त शान्त हो तो आत्माकी अनुभूति जगती है। चित्तमें शान्ति तब हो सकती जब हमारी अनाचाररूपप्रवृत्ति न हो, अभक्ष्य भक्षण की प्रवृत्ति न हो। ज्ञान तो हो गया कि मद्य मासमें जीवकी हिंसा है ऐसा ज्ञान होकर जो पुरुष उसकी प्रवृत्ति करता है तो उसके चित्तमें क्रूरता है और क्रूर चित्त आत्मानुभव कर नहीं सकता और जिसके ज्ञान ही नहीं कि मांस भक्षणमें दोष है, इसमें जीव हिंसा है, उसके तो जीवकी पहिचान ही नहीं है, आत्मानुभव तो उसके जगेगा ही क्या ? जब मिथ्यात्व अन्याय अभक्ष्यका त्याग नहीं होता उसके सम्यक्त्व नहीं होता। जब तक बाह्य आचरण ठीक न हो तब तक आत्मानुभूतिकी पात्रता ही नहीं है, इस कारण ऐसा ही ख्याल करना चाहिए कि हमें केवल सम्यक्त्व पैदा करना है, आचरण पीछे सुधारेंगे। अरे विशिष्ट आचरण तो बादमें सुधरेगा पर साधारण आचरण तो पहिले चाहिए। क्योंकि सम्यक्त्व आत्मानुभूतिके साथ उत्पन्न होता है। बादमें सम्यक्त्व बना रहे और आत्मानुभूति न बने यह तो सम्भव है क्योंकि आत्मानुभवका नाम है—आत्माका उपयोग रखना। सम्यग्दृष्टि निरन्तर आत्माका उपयोग रखता हो ऐसी बात नहीं है। गृहस्थजन दूकान पर जाते, आजीविकाका साधन बनाते, परिवार का पालन पोषण करते, अनेक घटनाओंमें सुधार बिगाड़का यत्न रखते, परपदार्थोंका उपयोग चलता रहता है पर सम्यक्त्व बना रहता है। सम्यक्त्वकी उत्पत्ति स्वके उपयोग बिना नहीं हो सकती, स्वानुभूति पूर्वक ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। अपनी उस अनुभूतिको जगानेके लिए हमारा पहिले से आचरण विशुद्ध हो तो कार्य बनता है। आचरण गदा है तो हममें यह योग्यता नहीं है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर सकें। जिसे सम्यग्दर्शन होता है और भले प्रकार तत्त्वार्थका परिज्ञान है उस पुरुषको सदाकाल दृढ चित्त पूर्वक विशिष्ट उत्साह सहित सम्यक्चारित्रका आलम्बन लेना चाहिए। जैसे कोई पुरुष मार्ग चलता है तो रास्ता जैसे-जैसे व्यतीत होता है वैसे ही वैसे उसका उत्साह बढ़ता जाता है ऐसे ही सम्यक् चारित्रके मार्गमें उत्साह बढ़ बढ़कर यह ज्ञानी पुरुष बढ़ता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें वह स्थान है जिस स्थानपर उसे अपना उपयोग जमाना है और अपने अन्त पुरुषार्थसे वह उस ओर बढ़ रहा है और उसे स्पष्ट विदित हो रहा है कि यह अतस्तत्त्व है। कुछ और निकट पहुचता है तो अपने उपयोगको अपने अतस्तत्त्वमें पहुचाता है। तो उत्साहपूर्वक उस मार्ग में बढ़ता है, ऐसे उत्साहसहित दृढ चित्त होकर सम्यग्ज्ञानी पुरुषको सम्यक्चारित्रका आलम्बन लेना चाहिए।

न हि सम्यग्व्यपदेश चरित्रमज्ञानपूर्वक लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्त चारित्राराधन तस्मात् ॥३८॥

अज्ञानपूर्वक चारित्रमे समीचीनताका अभाव—जो अज्ञानपूर्वक चारित्र है वह सम्यक् नाम नहीं पाता। चारित्र सयम आदि धारण कर रहा तो उसका सम्यक नहीं है, चारित्र सही चारित्र नहीं है, सही सयम नहीं, इसी कारणसे सम्यग्ज्ञानके पश्चात् चारित्रका आराधन बताया। पहिले सम्यग्दर्शनकी आराधना, फिर सम्यग्ज्ञानकी आराधना, फिर सम्यक्चारित्रकी आराधनाका जो क्रमसे प्रतिपादन है उसका तथ्य यह है कि सर्वप्रथम सम्यक्त्व चाहिए। सम्यक्त्वके बिना मोक्षमार्गका प्रारम्भ नहीं है। किसी भी काममें यदि विश्वास नहीं है तो उस कामको पूरा कर नहीं सकता। रसोई लोग बनाते हैं तो पूरा विश्वास है कि इस तरहसे बनाया जाता है और बन जाता है। आटेसे रोटी बन जाती है और विश्वास भी होता। कहीं ऐसा तो नहीं कि कोई यह ख्याल करे कि पानी कहीं धूलसे रोटी बने। तो सबसे पहिले विश्वासकी आराधना बताया है और सम्यक्त्वके होते ही अज्ञान था वह सम्यक् बन जाता है। सो सम्यग्ज्ञान

चारित्रं भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात्।
सकलकषायविमुक्तं विशदमुदासीनमात्मरूपं तत् ॥३९॥

निष्पाप निष्कषाय आत्मस्वरूपकी चारित्ररूपता—चारित्र तो सर्वप्रकारकी पाप प्रवृत्तियोंको दूर करने से होता है। पाप ५ प्रकारके हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। ५ पापोंका योग दूर हो तो चारित्र होता है। तो जहां चारित्र है वहां ५ पापोंकी प्रवृत्ति नहीं है। और सभी प्रकारकी कषायें नहीं हैं। जितने अशमें कषायें दूर हैं उतने अशमें चारित्र समझिये। चारित्र कषाय रहित होता है और वह स्वच्छ है, आत्माका सहज स्वरूप है। आत्मा ज्ञानमात्र है, आत्मा सर्वप्रदेशोंमें मात्र जाननका काम करता रहता है। ज्ञानमय ऐसा ज्ञानस्वरूप अपने आपका अनुभवन करना और स्थिरतासे उसमें ही उपयोग बनाये रहना यह जो चारित्र है वह आत्माका स्वरूप है। आत्माको धर्म करने के लिए बाहरसे कोई चीज लानी नहीं पड़ती। कोई कहता कि मेरे पास पैसा नहीं है, धर्म कैसे करूँ, यात्रा कैसे करूँ, यात्रा न कर सका तो धर्म कहांसे हो? धर्मके लिए पैसेकी अटक नहीं। धर्मके लिए तो सम्यक्त्व चाहिए, सम्यग्ज्ञान चाहिए और सम्यक्चारित्र चाहिए। ये जहां हों वही धर्मपालन है। लेकिन जब ऐसे धर्मका पालन नहीं हो पाता अपने आपमें अपने को तृप्ति नहीं जग पायी तो ऐसी स्थितिमें भाव क्या होता है? यात्राके, और और भी वदना आदिक करता है यह जीव, पर धर्मके लिए तो सम्यक्त्व की अटक है। सम्यक्त्व न हो तो धर्म नहीं है पर पैसोंकी अटक नहीं। कोई कहे मेरे पास कोई दूसरा साथी नहीं है, मैं धर्म कैसे करूँ? तो धर्मपालन करने के लिए क्या साथी की या नौकर की आवश्यकता है? वह तो अपने उपयोगके स्वाधीन बात है। जब दृष्टिपात किया अपने सहजस्वरूपपर और मेरी स्वरूपमें मग्नता जगी तो धर्म पालन हो गया। धर्म कहो, चारित्र कहो, समतापरिणाम कहो, कषायरहित आत्मा कहो सबका एक अर्थ है। चारित्र होता है समस्त सावद्य योगोंके परिहारसे। चारित्र होता है सर्वप्रकारके कषायोंके अभावसे। चारित्र एक उत्कृष्ट चीज है और वह आत्माका स्वरूप है। तो उस सम्यक्चारित्रकी बात इस प्रकरणमें कही जा रही है जहाँ मोह और क्षोभ नहीं है। क्षोभका अर्थ है रागद्वेष। जहां मोह रागद्वेष नहीं हैं, वहां चारित्र है। और यह चारित्र निर्मल उदासीन आत्माका स्वरूप है।

चारित्रकी निष्कषायताका विवरण—समस्त कषायोंका अभाव होने से यथाख्यात चारित्र होता है, इससे पहिले भी चारित्र नाम है। जब छठवें गुणस्थानमें मुनि है, उसके यथाख्यात चारित्र तो नहीं है फिर भी चारित्रवान् होता है लेकिन वहां संज्वलन कषायका उदय है तो वहां वास्तवमें सम्यक् चारित्र नाम नहीं बना परिपूर्णकी दृष्टिसे। जैसे वास्तवमें तो औपशमिक चारित्र होता है ११ वें गुणस्थान में लेकिन ८ वें गुणस्थानमें औपशमिक भाव मानते हैं तो कारण यह है कि यहां कषायके उपशमनका विधान शुरू कर दिया है ऐसा औपशमिक ८ वें गुणस्थानमें बताया है। वास्तवमें चारित्र है यथाख्यात जहां वीतराग अवस्था है वहां है वास्तविक चारित्र, लेकिन उससे पहिले भी उस ही चारित्रका ख्याल करके साधना की जा रही हो तो उसे भी सम्यक्चारित्र कहते हैं। स्वभाव चारित्र है कि नहीं? एक प्रसंग के निकट की यह चर्चा है। जिस समय यह जीव सामायिक छेदोपस्थापना आदिक चारित्रोंमें है। उस समय उसको ओर उपयोग है वह विशुद्ध परिणामसे बढ़ा हुआ है और विशुद्धता मंदकषायका नाम है। जितने अशमें कषाय मंद है उतने अशमें इसका चारित्र बढा है। स्वभाव चारित्रका नाम पा रहा। चारित्र नाम है राग द्वेष मोहरहित निर्विकार शुद्ध चैतन्यका, शुद्धपरिणामका, किन्तु उसके नीचे उसही के अर्थ जो प्रक्रिया बतायी जा रही है वह भी सम्यक्चारित्र नाम पाती है। देव, शास्त्र, गुरु, शील, तप, व्रत, सयम आदिकमें जो अनुरक्त प्रवृत्ति होती है वह तो मंद कषाय ही है। जब विषयोंमें प्रवृत्ति होती है त में और जब व्रत आदिकमें प्रवृत्ति होती है तबमें अन्तर है। विषय कषाय आदिकमें प्रवृत्ति वाला

राग मंदराग वाला नहीं है पर दान, पूजा व्रत शील आदिककी इच्छा हो तो यह मंद कषाय है। तो दान पूजा आदिक प्रवृत्तिमें क्रोध, मान, माया, लोभ आदिक प्रवृत्ति नहीं है। करे वह अगर, तो दान नहीं है। कोई बुरे मार्गमें ही रहे और कषायमें आकर दान दे तो क्या वह दान हो गया? जो विशुद्ध भावसहित दान है उसमें क्रोधका नाम नहीं है, कोई अहंकार सहित दान दे तो उसने पैसा भी लुटाया और धर्म भी न हुआ। तो जो दान पूजा तप आदिक शुभ रागकी परिणतियां हैं उनमें क्रोध, मान, माया, कषायें तो हैं नहीं। है जरा प्रीतिकी अपेक्षा लोभ। धर्मात्माओंमें प्रीति है। दु:खीजनोंमें प्रीति है तो यह संसारका प्रयोजन लिए हुए नहीं है। दान पूजा करनेमें जो रागभाव आता है वह संसारका प्रयोजन लिए हुए नहीं है।

लक्ष्य और लक्ष्यप्रगतिमें प्रवर्तन—लक्ष्य हमारा विशुद्ध है और जिस लक्ष्यके लिए हम बढ़ते हैं? उस मार्गमें देव शास्त्र गुरुका प्रकरण और प्रसंग आता है। कोई सा भी काम आप करें, आपको तीन बातें आवश्यक होंगी। एक आदर्शरूप काममें जो हो उसका ख्याल रहेगा और उस कामको बनाने वाली वचन विधि भी काम आयेगी और मौके पर निकट जो समझदार पुरुष मिले जिससे सीखा जाय तो वह गुरु भी काम आयेगा। तो जब मोक्ष मार्गमें हम चल रहे हैं संसारके संकटोंसे सर्वथा छूटनेका उपाय रच रहे हैं तो हमें सही मायनेमें देव शास्त्र गुरुका परिचय करना चाहिए और उसकी उपासनामें लगना चाहिए। देव वह है जो निर्दोष हो और सर्वज्ञ हो और जिसके राग लगा है और इसी कारण वह सब जान नहीं पाता और न पदार्थोंको ही जान सकता वह जीव देव नहीं है। अरहंत सिद्ध प्रभु आदिमें निःशंक रुचि रखना और उसके स्वरूपका विचार कर अपने आपमें उस स्वरूपका अनुभवन करना यह तो देवपूजा है। इसमें राग जरूर है पर राग अच्छे की ओर है बुरेकी ओर नहीं है। यह पद्धति है जैन शासनमें कि पहिले तो अशुभोपयोग छूटता है, शुभोपयोग रहता है और साथ ही यह भी जानें कि चाहे हम अव्रती हों, चाहे अणुव्रती हों, महाव्रती हों, सर्वत्र लक्ष्य हमारा एक विशुद्ध होना चाहिए। यद्यपि परिस्थिति ऐसी नहीं है कि गृहस्थ अपने आत्माके धर्मकी दृष्टि बहुत देर तक निभा सके और जिसने गृहका परित्याग कर दिया, मोह ममता नहीं रही वह इसमें बढ़ता है, पर लक्ष्य सबका एक है। चाहे अणुव्रती श्रावक हो, चाहे महाव्रती हो, लक्ष्य एक है। हम आगे बढ़ें अर्थात् आत्माके चैतन्यरसका स्वाद लें यही लक्ष्य है सबका, पर परिस्थिति ऐसी है कि गृहस्थ सब कामोंमें लग नहीं पाता। जो साधुजन हैं वे ही इस शुद्धोपयोगके अधिकारी हैं। तो ज्ञानी पुरुषके जो कि देवपूजा, वदना, स्तवन, दान, संयम, व्रत आदिक पाल रहा है उसको मंद कषायें हैं, विषय कषायोंमें लगे हुए मनुष्योंकी तरह झटपट नहीं है। तो इन शुभोपयोगके कार्योंको करके धर्ममय तो है नहीं पर कुछ धर्म रागरूप लोभ है। ज्ञानी पुरुष राग-भावसे प्रेरित होकर शुभमार्गमें लगा है, किन्तु इस रागसे हमें मुक्ति मिलेगी ऐसी श्रद्धा नहीं कर रहा है। भगवान्का पूजन करता है मगर भगवान्का ऐसा पूजन करते हुए उसका ऐसा भाव है कि मैं अशुभ राग को छोड़कर रहूं इसके लिए यह पूजन किया है। इस ज्ञानीके अशुभ राग नहीं है। अशुभ रागका तीव्र बन्ध होता है। न्याययुक्त व्यवहार होना चाहिए, अन्याययुक्त व्यवहार रखते हुए मान लो तीर्थयात्रा ही कर रहे हो तो वह यात्रा सफल यात्रा नहीं है। अन्याय सहित कुछ भी धर्मकार्य किया जाता हो तो वह सफल कर्तव्य नहीं है। यदि ज्ञानी जीव रागसे प्रेरित लगा तो है दान आदिक कार्योंमें, पर उस शुभ राग को उपादेय है ऐसी श्रद्धा नहीं करता, बल्कि अपने शुद्धोपयोगरूप चारित्रकी मुख्यताका ही कारण है यों जानता है। जब तक यह शुभ राग भी रहेगा तब तक शुद्धोपयोगका विकास नहीं है। यह है उसके चित्त में। क्योंकि कोई वश नहीं है, जब रागका उदय जगा तो राग तो उठा ही। अब उस रागको हम किस जगह पटकें, इसका विवेक तो होना चाहिए। जिन विषयोंमें, भोगोंमें कामोंमें रागको पटक दिया तो

अहित ही है। सावधानी भी न रही। सम्यक्त्वके उल्टे चल बैठे। यदि इस शुभ रागको दान पूजा आदिक कार्योंमें लगा दिया जाय तो इसे आत्महितका मार्ग मिलता है। सावधानी मिल सकती है तो ज्ञानी जीव शुभ राग करता है, पर उसे उपादान रूपसे श्रद्धा नहीं करता। उसे भी चारित्र कह सकते हैं, क्योंकि वहां तीव्र कषाय नहीं है। इस अपेक्षासे हम शुभोपयोगको भी चारित्र कह सकते हैं।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः।
कार्त्स्न्यैकदेशविरतेश्चारित्रं जायते द्विविधम् ॥४०॥

चारित्रको निष्पत्तिका विधान—चारित्र कैसे उत्पन्न होता है, किसका नाम चारित्र है? हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन ५ पापोंसे विरत होनेका नाम चारित्र है। जिसमें पापरहित चैतन्यस्वभाव मात्र आत्मतत्त्वकी श्रद्धा जगी है वह तो अपने इस स्वरूपमें ही लीन होनेका यत्न करेगा तो ५ पापोंसे जब विरक्ति होती है तो शुद्धोपयोगमें रुचि होती है और वह चारित्र है, और वह चारित्र दो तरहका है—एक साधुवोंका चारित्र और एक गृहस्थोंका चारित्र। देखिये धर्म मार्ग वर्तमानमें दो हैं—साधुमार्ग और गृहस्थमार्ग। न्यायसे गृहस्थधर्मका कोई पालन करे तो समझो कि वह बहुत-बहुत अपना कर्तव्य निभा रहा है। गृहस्थ धर्म भी कोई साधारण धर्म नहीं है, इसमें भी दम है पर न्याय नीतिका व्यवहार रहे तब। तो अन्यायरूप प्रवृत्ति न होने से गृहस्थधर्म भी चारित्र है। अर्थात् यह चारित्र दो प्रकारका हो गया। ५ पापोंका सर्वथा त्याग करना यह तो है सकल चारित्र और ५ पापोंको एक देशविरत होना वह एक देश है फिर भी बहु देश है क्योंकि संकल्पी हिंसाका जहां त्याग हो चुका है तो परिणामोंमें क्रूरता न बसने के कारण वह चारित्र ही है। भले ही अणु व्रत रूप प्रवृत्ति है तो भी उसमें ५ पापोंसे विरक्तता है। क्रोध, मान, माया, लोभमें मंदता है। तो गृहस्थधर्म भी एक चारित्र है, पर उसे निभाया जाय दृढ़ श्रद्धानपूर्वक। चारित्र दो प्रकार का है एक तो पापोंका स्थूलरूपसे त्याग करना और दूसरा सर्वथा पापोंसे विरक्त होना याने सूक्ष्म भी पाप न कर सके, यों चारित्र दो प्रकारका कहा गया। हिंसा आदिकके पूर्ण त्याग को सकल चारित्र कहते हैं और इन ५ पापोंके एक देश त्यागको विकल चारित्र कहते हैं। कुछ अपने आत्माको जानें, उसका उपयोग बनाएँ और उस ही रूप हम अपने को निरखते रहें यही मोक्षमार्ग है और इससे ही हमारे संसारके संकट दूर होते हैं।

निरतः कार्त्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम्।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ॥४१॥

यति और उपासककी विरतिके भेदसे चारित्रकी द्विविधता—जो ५ पापोंका सर्वथा त्याग करता है, सर्व प्रकारसे पापोंके त्यागमें लवलीन है वह मुनि तो समयसारभूत है। समयसारभूतका अर्थ है शुद्धोपयोगमें आचरण करने वाला और जो ५ पापोंसे एकदेशविरत है, एकदेश निवृत्तिमें जो लगा हुआ है वह उपासक होता है। साक्षात् मोक्षमार्ग तो मुनिका है और उपासक मुनिकी वृत्ति करना चाहता है, उसका उपासक है। श्रावक अर्थात् श्रावक मुनिधर्मका उपासक है तो उपासक तो परम्परासे मोक्षमार्गी है और साधु जो खुद समयसारभूत है वह स्पष्ट साक्षात् मोक्षमार्गी है। इन ५ पापोंके त्यागमें आत्माके परिणामोंकी विशुद्धि बनती है वह सब प्रतिपादन होगा। वास्तवमें तो आत्माके स्वभावसे चिगकर किसी परतत्त्वमें उपयोगको फसाना वह सब पाप है, उस पापका जो त्याग करता है, अर्थात् उत्तम अन्तरात्मध्यानी, साधु पुरुष वह साक्षात् समयसारभूत शुद्धोपयोगको निरखता है उसमें वह व्यापृत है और वह वदनीय है, अपने आपका निःसंदेह उद्धार करने वाला है तो इसमें बताया कि चारित्र दो प्रकारके हैं—एक सकल-चारित्र और दूसरा देशचारित्र। सकलचारित्रका स्वामी तो मुनि है और देशचारित्रका स्वामी श्रावक है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादि केवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥४२॥

पञ्चपापोमें हिंसारूपता—आत्माके शुद्धोपयोगरूप परिणामोंके घात होनेके हेतुसे यह सब कुछ हिंसा ही है याने हिंसा झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह यह कहने को तो ५ हैं मगर इन सबका काम क्या है ? आत्मामें परिणामोंकी हिंसा करना, आत्माके स्वभावका घात करना। इसलिए ये सब हिंसा हैं। हिंसा तो हिंसा ही है, झूठ चोरी, कुशील और परिग्रह भी हिंसा है। फिर ये जो भेद किए गए हैं चार और झूठ चोरी कुशील परिग्रह ये शिष्योंको समझानेके लिए उदाहरणरूप कहे गए हैं। किसीका दिल दुखाना उसमें हिंसा है, किसीकी निन्दा करना उसमें हिंसा है, किसीकी चीज चुराना, कुशील होना तथा परिग्रह होना इनमें हिंसा है। हिंसा है सो ही अधर्म है और अहिंसा है सो ही धर्म है। ये सब हिंसा क्यों कहलाते कि इन सभी पापोंसे आत्माके शुद्धपरिणामोंका घात होता है। आत्माका शुद्ध परिणाम है ज्ञाताद्रष्टा रहना, विशुद्ध ज्ञानरूप रहना, सो नहीं रह पाता है इन ५ प्रकारके पापोंके कारण। सो ये पाचों पाप हिंसा ही हैं। तो हिंसा वास्तवमें जीव अपनी ही कर सकता है दूसरेकी नहीं, क्योंकि प्रत्येक जीव जो कुछ परिणमन कर सकता अपना ही कर सकता। तो वास्तविक मायनेमें जहाँ किसी दूसरेका दिल दुखाया वहाँ अपनी हिंसा की, इसी प्रकार झूठ बोलनेमें तथा चोरी आदि करनेमें अपने स्वभावके विरुद्ध जो प्रवृत्ति हुई वह सब हिंसा है। तो ये पाचों पाप ही हिंसा है, ये तो समझानेके लिए बताये हैं।

यत्खलु कषाययोगात्प्राणानां द्रव्यभावरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करणं सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ॥४३॥

द्रव्यहिंसा व भावहिंसा दोनोमें कषाययोगका आधार होनेसे हिंसारूपता—निश्चयसे तो कषाय और योग से द्रव्यप्राण और भावप्राणका घात करना सो ही हिंसा है। अब जितने काम कर रहे हैं सबमें देखें तो हिंसा ही हिंसा बस रही है। अपना ही धन है और रक्षा कर रहे हैं तो हिंसा कर रहे हैं क्योंकि अपने स्वभावसे च्युत हैं। यद्यपि सरकारसे भी तय है कि यह घर धन कुटुम्ब इनका है, तो कोई बहुत ही आराममें रह रहा, किसीका दिल भी नहीं दुखा रहा, अपने घरमें आमदनी घर बैठे की है, सब कुछ है, कोई सोचे कि मैं झूठ नहीं बोलता, न किसी का दिल दुखाता तो मुझे पाप न होता होगा, ऐसी बात नहीं है। बड़े आराममें भी है, स्वभावसे च्युत हो गया तो हिंसा है। अपना जो स्वरूप है उससे गिर गए उसमें हिंसा हुई। अब किसीका दिल दुखे या न दुखे, हम बहुत अच्छे ढंगसे रहते हैं फिर भी किसी दूसरे का दिल दुख तो हिंसा तो न होगी ? हमारा परिणाम खोटा हो या परिणाम विषयोंका हो, ममता बढ़ानेका हो तो उसमें अपना ही परिणाम खोटा हुआ और हिंसा हुई। हिंसा अपनी हुआ करती है, खोटी वृत्तिकी तो अपनी हिंसा हो गई। पर जो एक रूढिमें किसी दूसरेका दिल दुखाया तो हिंसा हुई तो उसमें यह मर्म है कि इस जीवने दूसरेके प्राणोंके घात हो, ऐसा भाव हुआ सो ऐसी परिणति हुई कि दूसरेके प्राण पीड़े गए। तो कार्यको देखकर कारणका उपचार किया जाता है तो कार्यका कारणमें उपचार है, यही हिंसा है। अपना परिणाम दुख जाय, अपनेमें विषय कषायोंका भाव आये वह सब हिंसा है। कोई अज्ञानी जीव अपना परिणाम नहीं दुखाता, मौज मानता, मस्त रहता तो भी हिंसा है क्योंकि वह अपने स्वरूपसे तो चिग गया है, बाह्यपदार्थोंमें लग गया इसलिए वह सब हिंसा कहलाती है। जिस पुरुष के मनमें वचनमें अथवा कायमें क्रोधादिक कषायें प्रकट होती हैं उस प्राणीका घात तो पहिले ही हो गया। जब कषायें उत्पन्न हो गईं, भाव प्राणका व्यपरोपण हो गया। कषायोंकी तीव्रतासे अपने द्रव्यप्राणों को कष्ट पहुंचा, अपना आत्मघात करले तो वहां भी उसने अपने द्रव्य प्राणका घात किया। फिर उसके कहे हुए मर्मभेदी खोटे वचन आदिक ने जिसपर लक्ष्य किया था उसके अंत हुए पीड़ा हुई तो उसके भाव

प्राणका विपरोपण है यह तीसरी हिंसा है। अन्तमें प्रमादसे किसीको पीड़ा पहुंची तो वह परद्रव्य प्राण व्यपरोपण है। साराश यह है कि कषायसे अपने और दूसरे चैतन्य प्राणका घात बने तो वह सब हिंसा होता है। यहाँ तक हिंसाकी बात चार ढगोंमें रखी है। पहिले अन्तरङ्ग की बात कहेंगे फिर बहिरङ्गकी बात। तो वास्तवमें हिंसा है, अपने प्राणोंका घात किया और स्वरूपका व्यपरोपण किया सो है वास्तवमें हिंसा और फिर उस कषायकी तीव्रतासे उसने ही द्रव्यप्राणोंका घात किया या कोई तकलीफ पहुचे तो यह सब उसकी द्रव्य हिंसा है। इन दोनों हिंसावोंमें अपने आपकी हिंसा बतायी है। चार तरहकी हिंसा बतायी। प्रथम तो अपने चैतन्यस्वरूपका घात किया सो हिंसा है, फिर कषायोंकी तीव्रतासे खुदके द्रव्य प्राणको पीड़ा सो द्रव्य प्राणकी हिंसा है। फिर दूसरा पुरुष जिसको लक्ष्यमें लिया, जिसके प्रति कुवचन किया उसका दिल दुखा और उसके चैतन्यस्वरूपका घात हुआ सो तीसरी हिंसा हुई और चौथीमें ही दूसरे पुरुषको जिसे लक्ष्य लिया है उसके द्रव्य प्राण पीडे गए और कोई अपने विषयमें सुनकर आत्मघात करले तो वह है द्रव्यहिंसा। यों हिंसा ४ प्रकारकी है, पर मूलमें साराश यह है कि अपने और दूसरेके भाव प्राण ही द्रव्यप्राण हैं। द्रव्यप्राण की हिंसा महान् हिंसा है। हिंसा न रहे तो निर्विकारता आये।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप ॥४४॥

हिंसा और अहिंसाका—हिंसाका स्वरूप क्या है और अहिंसाका स्वरूप क्या है? उसका विश्लेषण इस गाथामें है। वास्तवमें रागादिक भाव उत्पन्न न हों तो यह अहिंसा कहलाती है। अपनेमें राग द्वेष मोह भाव न जगे तो क्या स्थिति होगी? निर्विकार केवल ज्ञातादृष्टाकी स्थिति बनेगी। वही तो अहिंसा है। रागादिक भाव न उत्पन्न हों उसको अहिंसा कहते हैं और रागादिक भाव उत्पन्न हो जायें तो उसे हिंसा कहते हैं। अब वह रागभाव चाहे सूक्ष्मपने से जगे तो भी हिंसा है। सूक्ष्मपनेसे जगने पर स्वरूपसे तो च्युत ही हुआ। इस कारण वह हिंसा कहलायी। लोग कहते हैं कि हमने इसकी हिंसा करदी, पर कोई किसी दूसरेकी हिंसा नहीं करता, खुदको करता है। जैसे कोई जलते हुए कोयलेका अगार हाथमें लेकर किसी दूसरेको मारता है तो चाहे जिसे मारा है वह न जले, पर मारने वाला जरूर जल जाता है। तो अपने चैतन्यस्वरूपका घात करना इसका नाम हिंसा है। यह जिनेन्द्रभगवानके आगमका संक्षेप है। इस लक्षणसे शुभोपयोगका परिणाम जगा वहाँ भी रागभाव मिला है तो वह भी हिंसा हो गई। एक निर्विकल्प अतस्तत्त्वका उपयोग है सो तो अहिंसा है और बाकी जितने भी विकृतपरिणाम हैं वे सब हिंसा कहलाते हैं।

युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राणव्यपरोपणादेव ॥४५॥

योग्याचरणी सत पुरुषोंके हिंसाका अभाव—निश्चयसे योग्य आचरण करने वाले सत्पुरुषके रागादिक भाव नहीं होते और कभी प्राणका व्यपरोपण हो जाय तो हिंसा नहीं लगती। जैसे कोई साधुपुरुष ईर्यासमिति पूर्वक देख देखकर चल रहा हो और कोई छोटा जीव पैरके नीचे दब कर मर जाय तो भी हिंसा नहीं है क्योंकि उस साधुका हिंसा करनेका परिणाम न था। वह तो ईर्यासमिति पूर्वक चल रहा था। आत्माके परिणाममें जब कोई प्रमाद न हो तो वहाँ हिंसा नहीं लगती क्योंकि परके प्राणोंके व्यपरोपण मात्रसे हिंसा नहीं लगती, किन्तु दूसरेके प्राण चले जायें, इस प्रसगमें जिसने सकल्प किया तो सकल्प करने वालेको हिंसा लगी। किसी सज्जन पुरुषके द्वारा सावधानी पूर्वक गमन बन रहा हो तो उसमें भी शरीरके सम्बन्धसे पीड़ा हो जाना सम्भव है लेकिन हिंसामें का दोष नहीं लगता। अपने सारे शरीरमें सूक्ष्म कीटाणु बहुत हैं तो अब बतलावो कि जैसे बैठते हैं तो वजन पड़ता है तो उससे जीवोंका घात

हुआ कि नहीं, जो उस शरीरमे जीव थे। हमारे बैठनेसे हमारा शरीर ही तो दबा। तो वहाँ उस जीवको पीड़ा हुई कि नहीं? जैसे एक पैर रखा तो पैरमें जो कीटाणु हैं उनको बाधा होती कि नहीं होती। यदि यों मानते जायें तो कोई मनुष्य कभी मोक्ष ही नहीं जा सकता। शरीरका वजन शरीरमें पड़ा इसमें भी हिंसा है, फिर मुक्तिका क्या साधन है? उसकी हिंसा नहीं हुई, शरीरमें किसी क्षण यदि इसके माफिक व्यवहार भी चल रहा है लेकिन ज्ञानी पुरुषका इसमें फसाव नहीं होता, इसी कारणसे हिंसा नहीं होती।

व्युत्थानावस्थायां रागादीनां वशप्रवृत्तायाम्।
म्रियतां जीवो मा वा धावत्यग्रे ध्रुव हिंसा ॥४६॥

रागग्रस्त जीवोंके सर्वत्र हिंसाकर दोष—रागादिक भावोंके वशमें प्रवृत्तिरूप आचरणमें प्रमाद अवस्था में जीव मरे अथवा न मरे परन्तु हिंसा ही होती है। अपना परिणाम सावधानीका न हो, जीव दयाका भाव न हो तो उस समय इस जीवकी प्रवृत्तिसे परजीव मरें चाहे न मरें पर उससे हिंसा होती है। तो अपनी ही गलतीसे हिंसा होती है तो अपने ही सुधारसे। किसी जीवका प्राण नष्ट हो गया तो भी प्रमाद नहीं है तो हिंसा नहीं है। प्रमादी जीव कषायके वशीभूत होकर गमन आदिक क्रियायें यत्नपूर्वक नहीं करता। जैसे क्रोधमें आकर यहाँसे भागे तो चूँकि क्रोध है इससे सो वह समितिपूर्वक न जायेगा, ऊपर यहाँ वहाँ गिर उठाकर जायेगा। गमन आदिक क्रियायें यत्नपूर्वक न करे तो चाहे किसी दूसरे प्राणीका दिल उसके चलनेसे दूखे अथवा अथवा नहीं, पर उसने तो हिंसा करली। और पुद्गल द्रव्योंको लपेटने की इसके वाञ्छा जगी है, तो वह प्रमादी है, जीव मरे अथवा न मरें, ऐसा सोचनेसे चूँकि वह अपने मनमें रागभाव लाया है तो अवश्य हिंसा है, क्योंकि हिंसा कषाय भावसे उत्पन्न होती है। दूसरे के प्राण न भी पीड़ें पर खुदका यदि गंदा विचार हुआ तो हिंसा हुई। इसी प्रकार सब जीवोंकी बात तभी तो जिसके परिणाम हिंसारूप हुए, चाहे वह परिणाम हिंसाका काम न भी कर सके तो भी वह समझिये।

यस्मात्सकषाय सन् हन्त्यात्मा प्रथममात्मनात्मानम्।
पश्चाज्जायेत न वा हिंसा प्राण्यन्तराणां तु ॥४७॥

हिंसक जीवके आत्मघातकी निश्चितता—चूँकि जीव कषाय सहित होता हुआ सबसे पहिले अपने ही द्वारा अपने ही आत्माको घातता है। जब कषाय जगी तब इसका स्वरूप दब गया तो इसको हिंसा हो गई, हिंसा शब्दका अर्थ घात करना है, प्राणका व्यपरोपण करना है लेकिन आत्मस्वरूपकी खबर लें, अपने आपके उस सहज चैतन्यस्वरूप को दृष्टिमें लें तो वहाँ हिंसा न होगी। हिंसा शब्दका अर्थ घात करना है, पर वह घात करना दो तरहसे होता है। एक तो अपने भावोंका घात। अपना जो शुद्धस्वभाव है, चैतन्यस्वरूप है उसका घात हुआ और फिर अपने शरीरमे जो इन्द्रियां हैं निमित्त तो वह है और उन इन्द्रियोंका घात है। इस कारण यह मानें कि जहाँ आत्मघात नहीं ऐसा शुद्ध स्वच्छ जो ज्ञानोपयोगका कार्य है सो अहिंसा है। ऐसे खोटे परिणाममें अपने आपका घात तो तुरन्त होता है, दूसरेका आयुकर्म विशेष है, न हो सके उसका घात पर परिणाममें पहिले खुदमें हिंसाका पाप तो लग ही गया। जो हिंसा से बचना चाहता हो उसे यत्न करना चाहिए कि मेरेमें दुर्भाव न पैदा हों।

हिंसायामविरमणं हिंसापरिणमनमपि भवति हिंसा।
तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥४८॥

हिंसाका अत्याग व हिंसापरिणमन दोनों स्थितियोंमें हिंसाका दोष—अब देखिये हिंसासे विरक्ति न हो इसका भी नाम हिंसा है और हिंसाकी प्रवृत्ति करे इसका भी नाम हिंसा है, क्योंकि जिसने हिंसाका परित्याग नहीं किया उसके भी प्रमत्त योग है और जिसने ममताका परिणाम किया उसके भी हिंसाका

योग है। माने हिंसा दो तरहसे होती है—एक अविरतरूप हिंसा, दूसरी हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह आदि परतत्त्वोंसे विरक्ति न हो तो वह भी हिंसा है और हिंसा कर बैठे, दूसरेको सता बैठे तो वह है प्रवृत्तिरूप हिंसा। जीवकी परघातमें प्रवृत्ति न हो रही हो, फिर भी हिंसाके त्यागकी प्रतिज्ञा नहीं है तो हिंसा हुआ करती है। एक छोटी सी कथा है कि एक सर्पने एक नियम लिया कि मुझे कोई कितना ही सताये पर मैं शान्त रहूगा। तो घरमें एक बच्चा दूध पी रहा था तो वह साप गया बच्चेके पास बैठकर खूब छक कर दूध पी लिया। ऐसा ही वह रोज कर लेता था। वह बच्चा थप्पड़ मारे तो भी वह साप चुप रह जाय। कुछ ही दिनोंमें वह साप पुष्ट हो गया। दूसरे सापने एक दिन पूछा कि भाई तुम कहासे रोज रोज दूध पी लेते हो? उसने अपनी बात बतायी। उस दूसरे सापने भी सोचा कि हम भी ऐसा ही करेंगे। दूसरा साप भी घर आये और उस बच्चेका दूध पी आये। बच्चा थप्पड़ मारे फिर भी वह शान्त रहे। साप ने यह नियम लिया था कि १०० थप्पड़ तक तो मैं कुछ न बोलूँगा, इसके बादके थप्पड़ मैं न सह सकूँगा। एक दिन वह दूसरा साप उस बच्चेका दूध पीने पहुच गया। दूध पीने लगा। उस बच्चे ने थप्पड मारना शुरू किया। पहिले तो वह साप थप्पड़ बराबर सहता रहा, लेकिन जब १०० वें थप्पड़के बाद एक और थप्पड़ मारा तो झट उस सापने उस बच्चेको काट लिया। बच्चा चिल्लाया बड़े जोरसे। लोग इकट्ठे हुए और उन्होंने उस सापको मार डाला। तो उस सापको शान्तिकी पूरी प्रतिज्ञा न थी सो यह विडम्बना हुई। ऐसे ही समझिये कि जो लोग हिंसाका त्याग करते हैं। उनमें से बहुतोंका यही हाल रहता है। बहुतसे लोग प्राय: रात्रि भोजन नहीं करते पर वह त्याग पूर्ण प्रतिज्ञारूप न होनेके कारण रात्रि को भोजन कर लेते हैं। यह उनकी पूर्ण प्रतिज्ञा न होनेकी कमजोरी है। यदि संस्कारमें मजबूती नहीं है तो वहां हिंसा है। हिंसाका त्याग न करना, हिंसासे विरक्त न होना, वह भी हिंसा है और अहिंसामें प्रवृत्ति करे सो भी हिंसा है, क्योंकि दोनों जगह प्रीति योग लगा हुआ है, कषाय और योग दोनों जगह लगे हुए हैं अतएव निरन्तर प्राणघातका सद्भाव है, हिंसा दो तरह की है—एक अविरतिरूप हिंसा और दूसरी प्रवृत्ति रूप हिंसा। कोई पूछे कि क्रिया तो हमने की नहीं, केवल एक भाव बना लिया उसमें क्या हिंसा हुई? तो उत्तर दे रहे हैं कि जिस पुरुषके हिंसाका त्याग नहीं है वह किसी समय भी हिंसा कर सकता है। जैसे किसीने रात्रि भोजनका त्याग नहीं किया तो वह किसी किसी प्रसगमें रात्रि भोजन कर सकता है। इस रात्रि भोजनमें भी हिंसा है। तो ऐसे ही जिसने हिंसाका त्याग नहीं किया वह बाह्यमें हिंसा न करते हुए भी अन्तरङ्ग हिंसा कर सकता है। यह हिंसाका प्रकरण चल रहा है कि हिंसा का त्याग न हो तो हिंसामें चाहे प्रवृत्ति की हो अथवा न की हो, प्रमाद कषाय योग ये सब मौजूद हैं इस कारण खोटे भाव होनेके कारण हिंसा ही है। मेरी प्रवृत्ति करनेसे दूसरे जीव पर क्या गुजरती है, उससे हिंसा और अहिंसाका निर्णय नहीं है। होता है ऐसा कि अपना परिणाम खोटा है तब ही दूसरेका दिल दुखाते हैं, पर हिंसा होती है अपने स्वरूपका घात करने से। तब समझना चाहिए कि हम विषयोंमें फसे रहे तो हमारी हिंसा है। हमारी शुद्धदृष्टि हो तो हम हिंसासे बच सकते हैं।

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुंस।
हिंसायतननिवृत्ति परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४९॥

हिंसाकी आत्मापराधजता—छोटीसे छोटी भी हिंसा हो वह भी परवस्तुके कारण नहीं होती, किन्तु खुदमें रागद्वेष भाव उपजे तो हिंसा होती है। याने किसी जीवने अपने दिलको दुखा पाया है, उस वजह से हमें हिंसा लग जाय सो क्यों? हमने दूसरेका दु ख विचारा, इस कारण हिंसा है दूसरेके कारण हिंसा नहीं होती या किसी ने किसीको पीट दिया, मार दिया तो वह पिट गया या मारा गया इससे हिंसा नहीं है किन्तु हमने जो बुरा भाव किया उससे हिंसा हुई। रागद्वेषके भाव उपजें तो उससे हिंसा

होती है। इस कारणसे परिणामोंमें निर्मलताके लिए हिंसाके साधनोंका त्याग करना चाहिए। यद्यपि परवस्तुवोंके कारण हिंसा नहीं होती लेकिन फिर भी अपना परिणाम निर्मल रहे इस वजहसे बाह्य साधनोंका त्याग करे। जैसे मुक्ति अपने परिणामसे होती है। अपना परिणाम निर्मल रहे, केवल एक अद्वैत आत्मस्वभावको ग्रहण करे उससे आत्माको मुक्ति होती है। घर छोड़नेसे मुक्ति नहीं होती, परिग्रह छोड़नेसे मुक्ति नहीं होती फिर भी अपने परिणामोंकी निर्मलताके लिए घर द्वार परिग्रह छोड़ना पड़ता है तब परिणाम हमारा विशुद्ध हो पाता है। तो इस गाथामें यह बात बताई कि जैसे जिस माताका कोई सुभट पुत्र हो उसीको यह कहा जाता कि मैं वीर जननीपुत्रको मारूँगा। यह तो कोई नहीं कहता कि बंध्याजननीके पुत्रको मैं मारूँगा। जैसे कोई हँसी मजाकमें दवा बताने लगते कि धुवां की कोपल ले लो आसमानकी छाल ले लो तो यह भी कुछ है क्या? याने जो चीज है ही नहीं उसके बारेमें भाव होता ही नहीं, जो चीज है उसके बारेमें परिणाम होता है। तो ऐसा परिग्रह अगर साथ है तो उसके आलम्बनसे कषायोंकी उत्पत्ति होगी और जब परिग्रहसे सम्बन्ध ही नहीं तो कषायोंकी उत्पत्ति भी न होगी। इसलिए परिग्रहका त्याग, बाह्य साधनों का त्याग करना चाहिए। फिर भी यह रहस्य जान लें कि बाह्य चीज देखनेसे धर्म नहीं होता। धर्म होता है अपने आपमें बसा हुआ जो भगवान है, परमात्मा है उसको पहिचान लें। उसके आलम्बनसे धर्मपालन होगा, फिर भी धर्मपालनके लिए बाहरी साधन जुटाना चाहिए जिससे हमारा परिणाम विरुद्ध न जाय।

निश्चयमबुद्ध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करणचरणं स बहिःकरणालसो बालः ॥५०॥

निश्चयस्वरूपके अपरिचयमें अन्तर्बाह्य आचरणका विनाश—निश्चयसे हिंसा अपने परिणामोंसे ही है। अपना जो खोटा परिणाम है उससे हिंसा हुई। बाहरमें दूसरे जीवको पीट दिया तो उससे हिंसा नहीं हुई, अगर परिणाम खोटा न करता तो काहेको वह मारता पिटता। वह तो भला है मगर परिणाम खोटा हुआ उससे हिंसा हुई। आप देखें कि जिसके ममता बसी है वह रात दिन अपनी हिंसा कर रहा है। जिस पुरुषके मोह लगा है, ममता बसी है उसके रात दिन हिंसा हो रही है। अपने आत्माकी हिंसा है, अपने परमात्मा भगवानको दबाया जा रहा है। मोहके द्वारा इसकी प्रगति नहीं हो सकती। आत्मामें जो कषायभाव उत्पन्न होता है उससे आत्माकी हिंसा है। जिसे अपनी हिंसा इष्ट नहीं है उसे चाहिए कि वह कषायें न करे। विषय कषाय और मोह ये तीन चीजें दुःखदायी हैं, तो हर जगह देख लो जब भी कोई दुःख होता हो तो यह समझलें कि दूसरेके कारण हमें दुःख नहीं होता है किन्तु हममें विषयकषाय या मोह भाव होता है उससे दुःख होता है। भगवानमें और अपनेमें कोई अन्तर है क्या? चीज तो एक है। आत्मा आत्मा एक है, जो आत्मा प्रभुका है वही आत्मा अपना है। स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। प्रभु वीतराग हो गए इसी कारण सर्वज्ञ हो गए और यहाँ रागद्वेष मोह विषय कषाय बसे हुए हैं, परिचय बनाया है, लोगोंमें हमारी इज्जत न खराब हो, नाम बढ़े, लोग हमें अच्छा कहें ये व्यर्थकी बातें जो खुद की हैं इनसे भगवान परमात्माका घात हो रहा है। तो विषय कषाय और मोह, इन तीनके कारण अपनी बरबादी है, जीव समझता तो यह है कि हम बड़े अच्छे हैं, लड़के अच्छे हैं, धन वैभव खूब है, बड़ा आराम है। पर इस परिणाममें रहनेसे अपने आपका घात हो रहा है, कोई एक इस ही भवसे नहीं पूरा पड़ना है। यह तो मरके भी जायेगा, तो आगेकी भी सोचना चाहिए। राजा भी मर कर कीड़ा बन जाता है, देव भी मर कर एकेन्द्रिय हो जाता है, तब फिर इतने मौजसे क्या सार निकलेगा? समझना चाहिए कि हममें रागादिक भाव आयें तो उसका नाम हिंसा है और रागभाव न आये तो यह अहिंसा है। सो रागभावके न आनेका यत्न होना चाहिए। जितना हमारा बाह्य समागम बढ़ेगा उतना उसने को

संक्लेश मिलेगा। तो निश्चयसे हिंसा क्या है? आत्मामें मोह विषय कषायके परिणाम जगें उसका नाम हिंसा है, जीव मर गया उसका नाम हिंसा नहीं है, पर अन्दरमें जो मोह पड़ा है, विषय है, ममता है वह हिंसा है, तभी तो जीवको मारा, किसी जीवको सताया तो यह राग रहा, मोह रहा, प्रमाद रहा तब जीव सताया गया। परिणाम गंदा हुआ उससे हिंसा लगी। परिणाम विशुद्ध रखें तो इस जीवका भव सुधरे। तो जो जीव यथार्थ निश्चयमें स्वरूपको नहीं जानता और व्यवहारको ही निश्चयरूपसे अंगीकार करता है वह अज्ञानी जीव है। जैसे हिंसा तो हुई रागभाव करनेसे, दुःख तो हुआ दूसरेसे राग रखनेका और माना यह कि इसने मुझे दुःखी किया तो यह मिथ्या परिणाम हुआ। किसी जीवका कोई दूसरा न घात कर सकता, न बिगाड़ कर सकता। तो जो जीव यथार्थ निश्चयके स्वरूपको न जानकर व्यवहारको ही निश्चय रूपसे श्रद्धान करता है वह मूढ़ है और फिर भी बाह्य क्रियावोंमें आलसी है, बाह्य क्रियावोंके आचरणको नष्ट करता है और कोई पुरुष यह कहे कि मेरा परिणाम अन्तरङ्गमें स्वच्छ होना चाहिए, बाह्य परिग्रह रखें या कोई आचरण करें उससे मुझमें दोष नहीं आ सकता तो वह पुरुष अहिंसाके आचरणको नष्ट करता है क्योंकि जब बाहरी पदार्थ मौजूद है तो उसका निमित्त पाकर अंतरङ्गमें परिणाम विशुद्ध नहीं होगा। अपने निश्चयधर्मकी रक्षाके लिए बाह्य चरणानुयोगको भी पालें। हिंसा और अहिंसाका यह मर्म जैन शास्त्रोंमें बताया है कि अपने परिणामोंमें अज्ञान आये, रागद्वेष भाव आये तो उससे हिंसा होती है और अपने परिणामोंमें निर्मलता जगे तो उससे अहिंसा होती है।

अविधायापि हि हिंसा हिंसाफलभाजनं भवत्येकः।
कृत्वाऽप्यपरो हिंसां हिंसाफलभाजनं न स्यात् ॥५१॥

आशयके कारण हिंसा न करके भी हिंसाके फलका भोक्तृत्व—निश्चयसे देखो कोई जीव हिंसाको तो नहीं करता और हिंसाके फलको भोगता है। जैसे किसी जीवने दूसरे मनुष्यको मारनेका इरादा किया किन्तु वह उसे मार न सका तो हिंसाका बंध तो हो गया, थोड़े ही समयमें उसे उस हिंसाका फल भी भोगनेको मिल जायेगा। यहाँ बतला रहे हैं कि सारी बात परिणाममें है। अपने परिणाममें दूसरेको मारनेकी बात आये तो जिस समय बात आयी उसी समय हिंसासे कर्म बँध गया और मान लो २-३ वर्ष बाद उदय आ जायेगा तो दो तीन वर्ष बाद भोग लेगा क्योंकि कर्म बँधता है भावोंसे। तो यहाँ यह बात बतला रहे कि अपने खोटे परिणाम होनेसे हिंसा होती है। जब १०-१२ वर्ष बाद और मारनेके भाव करेगा तो दूसरा कर्म बँधेगा। तो यह तो है दूसरेके मारनेकी बात। पर जो मनमें यह बात बनी रहती है कि मैं ऐसा धनिक बनूँगा, यों वैभव भोगूँगा, यों सुख भोगूँगा, ऐसी कोई कल्पना करे तो उसमें भी हिंसा है। दूसरेके मारनेका इरादा करे उसमें भी हिंसा है और अपने सुखके पुलाव बाँधे तो वह भी हिंसा है, क्योंकि आत्माका जो स्वरूप है, स्वभाव है चैतन्यमात्र उसका तो घात कर दिया। ईर्ष्या करे उसमें भी हिंसा है और किसी से राग करे, स्नेह बढ़ाये उसमें भी हिंसा है दूसरेकी हिंसा नहीं बल्कि ऐसे ही दूसरेसे स्नेह किया तो उसमें भी अपनी हिंसा हुई। तो यह हिंसाकी बात अनादिकालसे चालू है और अनादिकालसे पहिलेके बन्धे हुए कर्म जिस समय उदयमें आते हैं उस समय परिणाम खराब होते हैं। अब परिणाम खराब हुए तो इस जीवनमें और नयी हिंसा और कर्मका बंध कर लिया तो उससे यह परम्परा चल रही है तो इससे हमें छूटना है। जितनी हमारे पास सुबुद्धि है उतनेका भी उपयोग न करके जैसा हमारा ज्ञान है उसका हम और जगह तो उपयोग करते हैं पर एक वस्तुस्वरूपके जाननेमें उपयोग नहीं करते। तो केवल एक मुख बदलना है। क्षयोपशम हम आपका काफी अधिक है, अब उसको बदलें और आत्माकी ओर उपयोग ले आये तो उससे हित हो सकता है। कितने बड़े बड़े व्यापारी लोग हैं कितने-कितने लेन देन, कैसी-कैसी कठिन समस्यावोंका हल करना, कितना क्षयोपशम है, उस ज्ञानको हम बाह्य पदार्थोंके परिणमन में तो लगाते हैं पर अपने आपके चिन्तनमें नहीं लगाते। थोड़ा मुख मोड़ना है तो वह परम्परा हमारी टूट जायेगी। तो यहाँ यह बतला रहे हैं कि हिंसा लगती है अपने परिणामोंसे

जीव हिंसाका फल भोगेगा।

आशयवश हिंसा करके भी हिंसाके फलकी अभाजनता—जिस जीवके शरीरसे किसी कारण हिंसा तो हो गयी पर आत्मामें हिंसारूप नहीं आया तो हिंसा करनेका वह भागी भी नहीं है, जैसे साधु बड़ी समताके पुञ्ज होते हैं, समितिपूर्वक चल रहे हैं, कदाचित् कोई छोटा जीव पैरके नीचे दबकर मर जाय तो चूँकि रंच भी उनके प्रमाद नहीं है इस कारण हिंसाका दोष उनके नहीं लगता। साधुका स्वरूप बहुत उत्कृष्ट होता है। साधु जहाँ कहीं हों उनके कारण वातावरण अशान्त नहीं होता है। अगर किसी साधुके रहने पर वातावरण अशान्त हो जाय, उसके कारण उसके व्यवहारसे विषमता आ जाय तो वह साधुता क्या? साधु पुरुष और अरहंत भगवान् जहां विराजे हों वहांसे चारों तरफ ४०० कोश तक दुर्भिक्ष नहीं पड़ता और जहाँ साधु हो वहां अशान्त वातावरण नहीं होता, क्योंकि वह साधु समताके पुञ्ज हैं, रागद्वेष भाव उनमें अत्यन्त मंद है, किसीके पक्षकी बात नहीं, किन्तु आत्माकी धुनमें लगना यह साधुका स्वरूप है। ज्ञान ध्यान और तप ये तीन चीजें साधुमें हैं। मुख्य तो ज्ञान है। वह ज्ञानोपयोगी रहे, केवल ज्ञाता-द्रष्टा रहे। जब ऐसी स्थिति न हो तो तत्त्व का चिन्तन करें, ध्यान बनायें और जब ध्यान भी न बन सके तो अपनी तपस्यामें लग जाये। साधुके तीन ही नाम हैं ज्ञान, ध्यान और तप। तो साधुता बड़ी उत्कृष्ट चीज है। साधुके गुणोंका स्मरण करना यही साधुकी उपासना है। तो अब परिणामोंका कोई परिणमन निर्मल चलता है तो उस समय देव शास्त्र गुरुके प्रति प्रीति जगती है। यदि विषय कषायके परिणाम तीव्र हो रहे हों तो देव शास्त्र गुरुकी ओर रुचि नहीं जगती, सबसे बड़ी विपदा इस निज परमात्मापर है तो मोह विषय और कषाय परिणामोंकी है।

एकस्याल्पा हिंसा ददाति काले फलमनल्पम्।
अन्यस्य महाहिंसा स्वल्पफला भवति परिपाके ॥५२॥

परिणामवश अल्प हिंसाका महान् फल तथा महाहिंसाका स्वल्प फल—चूँकि अपने रागादिक विषय कषाय आदिक परिणामोंसे अपनी हिंसा होती है इस कारण कोई पुरुष बाह्य हिंसा तो थोड़ी कर सका परन्तु अपने परिणामोंमें हिंसाका भाव अधिक लगाता है तो तीव्र कर्मका बंध होता है और उस पुरुषको उसका फल भोगना पड़ता है। कर सके कोई थोड़ी हिंसा पर परिणाममें महाहिंसाका दोष है तो उसका भी फल भोगना पड़ता है। कोई जीव परिणामोंमें उतना हिंसा परिणाम नहीं रख रहा पर बाह्यमें हिंसा बहुत हो जाय तो उसे थोड़े कर्मोंका बंध होता है, बाह्यमें हिंसा अधिक हो जाने पर भी यदि परिणामों में हिंसाकी बात अधिक नहीं है, अल्प है तो उसे कर्मफल अल्प भोगने पड़ते हैं। अभी कोई छोटा आदमी किसी बड़े आदमीका मुकाबला करता है तो उस छोटे आदमीको सक्लेश बहुत करना पड़ता है तब वह बादमें एक आध थप्पड़ लगाता है और बड़े आदमीको जरा भी गुस्सा आये तो फटाकसे मार देता है, तो उस बड़ेको थप्पड़ लगानेमें कम हिंसा हुई और उस छोटेको चूँकि बड़ा सक्लेश करना पड़ा तो हिंसा अधिक लगी। कोई पुरुष थोड़ी हिंसा कर पाता है, पर परिणामोंमें बड़ा संक्लेश है तो उसे हिंसा अधिक लगती है और किसी पुरुषसे बड़ी हिंसा हो जाती है, पर परिणाम संक्लेशमयी नहीं हैं तो उसे कम हिंसा लगती है। तो इससे यह सिद्ध हुआ कि हिंसा परिणामोंके कारण लगती है परवस्तुके कारण नहीं लगती।

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्दमन्यस्य।
व्रजति सहकारिणोरपि हिंसा वैचित्र्यमत्र फलकाले ॥५३॥

एक साथ की जाने वाली हिंसामें भी हिंसकोंमें तीव्र मन्द फलकी भाजनता—चूँकि परिणामोंसे ही हिंसा मानी गयी है इस कारण यह भी एक विचित्रता हो जाती है। दो पुरुषोंने मिलकर कोई हिंसाका काम

किया, पर परिणाम उनके उनमें हुए। कषायोंकी तीव्रताके अनुसार, उन्हें फल जुदा जुदा मिलेगा। दो आदमी मिलकर किसी एक आदमीका दिल दु खायें तो बाहरमें तो एक सा ही काम हुआ पर इन दोनोंमें जिसके परिणाम अधिक क्रूर होंगे उसको हिंसा विशेष लगेगी। उसे आगे फल अधिक भोगना होगा और जिसमें ज्यादा क्रूरता नहीं है तो हिंसा कम लगेगी। तो इससे यह बात सिद्ध हुई कि जिसका जैसा परिणाम है उसको वैसा फल मिलता है।

प्रागेव फलति हिंसाऽक्रियमाणा फलति फलति च कृतापि।
आरभ्य कर्तुमकृतापि फलति हिंसानुभावेन ॥५४॥

आशयवश अकृत व कृत हिंसाके फलका पूर्व, तत्काल व पश्चात् भोग—और भी देखिये विचित्रता किसी ने हिंसा करने का विचार तो किया कि मैं अमुक पुरुषको मार डालूं परन्तु अवसर न मिला तो हिंसा नहीं कर सका तो मैं अमुकको मारूँ ऐसा परिणाम करते समय ही इसके हिंसाका दोष लग गया, कर्म बँध गया और थोड़े ही समय बाद कर्मका फल भी भोग लेगा। बादमें यह हिंसा कर सका तो हिंसाका परिणाम करनेसे कहो हिंसा करनेसे पहिले ही उसका फल मिल जाय। इसी प्रकार किसी ने हिंसा करने का विचार किया और उस विचारसे कर्म बँध गया। अब कर्मका फल उदयमें आया तब तक वह हिंसा न कर सका तो उसने हिंसा करते ही समय फल भोग लिया। मतलब यह है कि जो परिणाम गदा रखेगा उसके आत्माका घात है, उसका उत्थान नहीं और संसारके संकटोंसे वह घिर जायेगा। तो परिणामोंमें प्रथम तो मोह न आये, मोहसे महाघात है। पता ही नहीं कि यह दूसरा कौन है और मैं कौन हू। अपने स्वरूपका भान ही नहीं है, तो जहाँ अपने स्वरूपका भान नहीं वहाँ विषय कषायोंका वध लद जाता है, जहाँ दुःखी होना है व्यर्थके संकल्प विकल्प करता है, इसका है कोई नहीं, पर मान रहा है कि यह मेरा है। यों अपने मनमें अन्य जीवोंके प्रति प्रीति जगती है। देखो मोह हटाना तो एक सीधी सी बात है। केवल सही-सही ज्ञान कर लिया फिर मोह नहीं रह सकता। सभी जीव जुदे-जुदे कर्मफल भोगते हैं, सभी अपने-अपने उदयके अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। सभीका काम अपना-अपना न्यारा न्यारा है। ऐसा जब निरखते हैं तो वहाँ मोह नहीं रहता। इतना भी जो निरीक्षण न कर सके उसके तो महामोह है ही। तो सबसे अधिक पाप है मोहका, उसके बाद विषयका। इन्द्रियके विषयोंको भोगने की लालसा रखना। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि जिन्हें सिनेमा देखे बिना चैन नहीं पड़ती। विषयके साधनोंमें प्रीति होना, इससे अपनेमें बसे हुए परमात्माका घात होता है। पहिला परिणाम मोह है, दूसरा परिणाम है विषय। अब देखो कि विषयोंके परिणामसे किसी दूसरेका कुछ घात नहीं किया। हम अपनी इन्द्रिय पोस रहे हैं। हम ही अपने आप बढ़िया दवा पीकर मौज मान रहे हैं मगर उस मौजमें आत्माकी भी तो कुछ सुध रहे। अपने चैतन्यस्वरूपका घात हुआ इसलिए सुखमें मौजमें विषयमें भी हिंसा है। दूसरी है कषायकी चीज। क्रोध बढ़े, घमंड जगे, मायाचार हो, पैसोंका लोभ हो तो इन कषायोंसे भी आत्माका घात है। मोह विषय और कषाय—इन तीन से अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा होती है इस कारण ये परिणाम न जगे तो समझिये कि हमने धर्म पाला और ये परिणाम जग रहे तो समझिये कि हम अपनी हिंसा करते चले जा रहे हैं।

एकः करोति हिंसां भवन्ति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधति हिंसां हिंसाफलभुग्भवत्येकः ॥५५॥

आशयवश एककृतहिंसाके अनेकों की फलभागिता व अनेककृतहिंसाके एककी फलभागिता—देखो एक पुरुष तो हिंसा करता है परन्तु फल भोगते हैं बहुत। किसी ने साँप मारा तो मारा एकने और देखने वाले पर [illegible] जो खुश हुए तो उन सबको उसका फल भोगना पड़ेगा और हिंसा करते हैं बहुत लोग मिलकर

लेकिन फल भोगता एक। जैसे राजाने सेनाको आर्डर दिया तो सेना ने हजारों लोगोंको मार डाला पर उसका फल भोगा एक राजाने।

कस्यापि दिशति हिंसा हिंसाफलमेकमेव फलकाले।
अन्यस्य सैव हिंसा दिशत्यहिंसाफलं विपुलम् ॥५६॥

आशयवश हिंसासे हिंसाफलके परिमाणमें भेद—चूँकि हिंसा परिणामसे ही होती है, दूसरे पदार्थसे नहीं होती तो यह हिंसाका फल परिणाम पर लगाया जायेगा। किसी पुरुषको तो हिंसाके उदयकालमें एक ही हिंसाके फलको देता है और किसी पुरुषको वही हिंसा बहुत हिंसाके फलको देता है। किसीका परिणाम तो भला है और यत्न भी वह अच्छा कर रहा है और हो जाय किसीकी हिंसा तो उससे हिंसा का फल नहीं है। जैसे कोई मक्खी या मकड़ी पानी या घी वगैरहमें पड़ जाय और दया करके हम निकाल रहे हैं, कदाचित् वह मर भी जाय तो उसमें हिंसाका दोष नहीं है क्योंकि परिणामकी बात है। परिणाममें उस समय हमारे हिंसाका भाव नहीं है और किसी की हिंसा हिंसाके फलको देती है। इसीको और भी खुलासा करते हैं।

हिंसाफलमपरस्य तु ददात्यहिंसा तु परिणामे।
इतरस्य पुनर्हिंसा दिशत्यहिंसाफलं नान्यत् ॥५७॥

हिंसा हो जाने पर भी आशयवश हिंसाफल व अहिंसाफलका अन्तर—किसी को हिंसा उदयकालमें हिंसा का फल देती है और किसीको हिंसा अहिंसाका फल देती है। जैसे कोई जीव किसी का बुरा करनेका यत्न करता हो और पुण्यके उदयसे कदाचित् बुरा होनेकी वजहसे कदाचित् भला हो जाय। हो जाय भला, मगर उसको तो हिंसाका फल मिल ही गया। जैसे प्रद्युम्नकुमार जो कृष्ण जी के पुत्र थे, कालसंवर के यहाँ पले थे, तो कालसंवरके कुटुम्बीजनोंने प्रद्युम्नकुमार को बारबार मारा, पर इन्हें जगह इसे नये नये रत्नोंको प्राप्ति हुई। नये नये रत्न मिले। इससे यह बात न हो जायेगी कि पिटने वालेका पुण्य ले जायेगा। धवल सेठने श्रीपाल को समुद्रमें गिरा दिया पर वह बाहर निकलने पर राजा बनता है। कोई पुरुष किसीका करना चाहता है बुरा और हो जाता है उसका भला और कोई किसीका करना चाहता है भला पर हो जाता है बुरा। जैसे डाक्टर रोगीका आपरेशन करता है तो भलेके लिए करता है पर आपरेशनमें कदाचित् उस रोगीका मरण हो जाय तो डाक्टर हिंसक न माना जायेगा। यह सब बातें अन्तरङ्ग परिणामों पर निर्भर हैं। माँ अपने बच्चेको डांटती है, मारती भी है, पर हिंसा नहीं लगती और कोई दूसरा पुरुष उस बच्चेको गुस्सा भरी आँख भी दिखा दे तो हिंसा लग जाती है। तो परिणामोंसे हिंसा और अहिंसा होती है। यह तो हुई दूसरेके सम्बन्धकी बात, पर कोई पुरुष अपनेमें अज्ञान भाव रखे, विषयकषायोंका परिणाम रखे तो उसके हिंसा है ही। दूसरेको सताया नहीं लेकिन अपने मनमें तो हिंसा का परिणाम रख रहा, अपने विषयोंके साधनोंमें लीन है, अपनी मौजमें आसक्त है तो उस जीवको उसकी हिंसा लगेगी और किसकी उसने हिंसा की? अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा की। अपना जो स्वभाव है, स्वरूप है उस परमात्मतत्त्वकी हिंसा की।

इति विविधभङ्गगहने सुदुस्तरे मार्गमूढदृष्टीनाम्।
गुरवो भवन्ति शरणं प्रबुद्धनयचक्रसञ्चाराः ॥५८॥

गुरुकृपासे तत्त्वका यथार्थ बोध—इस प्रकार अत्यन्त कठिन यह नाना नयोंरूपी मनका गहन वन है। जैसे कोई महाभयकर वनमें प्रवेश कर जाय तो उसका बचना, निकलना बहुत कठिन है, इसी तरहसे यह नयोंके जो भंग है वह भयकर वनकी तरह हैं। उसमें जो पुरुष मार्ग भूल जाते हैं उन पुरुषोंको यदि कुछ शरण है तो ऐसे गुरु लोग ही शरण हैं जो अनेक प्रकारके नयसमूहोंको जानते हैं। वह नय दृष्टि

बताकर उसको नयका विवरण कर देते हैं। वहां कोई सीधे सुने तो कहेगा कि यह क्या बात कह रहे हैं, कभी कहा कि जीव नित्य है कभी अनित्य तो सुनने वाले सोचेंगे कि यह तो स्थिर चित्त वाला नहीं है। तो उनको समझाने के लिए गुरुजन नयदृष्टि लगाकर बोलेंगे, देखो द्रव्यदृष्टिसे जीव नित्य है जो कभी अनन्तकाल तक नष्ट नहीं हो सकता, पर्यायदृष्टिसे जीव अनित्य है, क्योंकि जीवका जो जो कुछ भी परिणमन होता है वह परिणमन अगले क्षण नहीं रहता, इसलिए परिणमनकी दृष्टिसे जीव अनित्य है, बदलता रहता है और द्रव्यकी ओरसे देखें तो जीव कभी नहीं बदलता, जीव जीव ही रहता है। तो अनेक नय भंग हैं इसी प्रकार हिंसाके प्रसंगमें भी आशयवश अनेक भङ्ग हो जाते हैं।

अत्यन्तनिशितधारं दुरासदं जिनवरस्य नयचक्रम्।
खण्डयति धार्यमाणं मूर्धानं झटिति दुर्विदग्धानाम् ॥५९॥

नयचक्रके विपरीत प्रयोगसे अज्ञानियोंकी हानिभाजनता – जिनेन्द्र भगवानका यह नय-चक्र अत्यन्त तीक्ष्ण धार वाला है जो कि अज्ञानी पुरुषोंको शीघ्र ही काट डालता है अर्थात् अज्ञानीजन इस नय चक्र का सही भान नहीं कर पाते हैं तो वे संसारमें ही रुलते हैं, पर जिसको बोध है इस शासनमें वह नय चक्रका ठीक अर्थ लगाता है। जैसे जब कोई बात किसी हिंसाके सम्बन्धमें बहुत-बहुत बार आये, एक हिंसा करे अनेक लोग फल भोगें, सुनने वाले तो समझेंगे कि यह क्या कहा जा रहा है? जिसने हिंसा की है फल तो वह भोगेगा, पर यहां यह समझना कि एक पुरुषको किसी ने मार डाला, उसकी तारीफ करने वाले अगर १० हैं तो दसों ही उसका फल भोगेंगे। क्योंकि भावहिंसा उन सबने की। उनका समर्थन किया तो हिंसा उन्होंने भी की और उन्होंने अपनी हिंसाका ही फल भोगा मगर मोटे रूपमें जो दिखने में बात आयी कि मारा तो एक व्यक्तिने और फल भोग दसों बीसों लोगों ने। एक हिंसा करे और अनेक फल भोगें। ऐसे ही अनेक लोग हिंसा करें और फल भोगे एक राजाने। सेनाको दूसरी सेना पर आक्रमण करनेका आर्डर दिया तो उन सिपाहियोंने हजारों लाखों जीवोंकी हत्या कर दी, पर जो प्रकरण की हिंसा है उस हिंसाका फल राजाको लगा। हिंसा न कर सके और हिंसाका फल पहिले भोग लें यह सब नयदृष्टिसे ही तो सुलझता है। किसी जीवको मारनेका संकल्प करते ही हिंसा लग गयी। चाहे मार सके वह १० वर्षोंमें, पर मारनेका संकल्प जब किया तभी हिंसा लग गयी और उसका फल भी भोगेगा, यह नयदृष्टिसे ही तो लिखा है। हिंसा न कर सके फिर भी हिंसाका फल भोगे तो यह सब नयभेद समझना बहुत कठिन है। सो जो कोई मूढ आदमी बिना समझे ही नयचक्रमें प्रवेश करता है वह लाभ के बदले हानि ही प्राप्त करता है।

अवबुध्य हिंस्यहिंसकहिंसाहिंसाफलानि तत्त्वेन।
नित्यमवगूहमानैः निजशक्त्या त्यज्यतां हिंसा ॥६०॥

हिंसाप्रसंगकी जानकारी करके हिंसापरिहार करनेका अनुरोध—आचार्यदेव कहते हैं कि अब तो निरन्तर कर्मोंके संवर करनेमें उद्यमी होना चाहिए और यथार्थतासे इन चार बातोंको समझ लेना चाहिए कि हिंस्य क्या है, हिंसा क्या है, हिंसक क्या है और हिंसाका फल क्या है? तो जिसकी हिंसाकी गई उसे कहते हैं हिंस्य। हिंसा वास्तवमें खुदकी हुई सो खुद ही 'हिंस्य हुए। जो प्राणोंका घात हुआ वह हिंसा हुई। निश्चयसे खुदके ही प्राणोंका घात हुआ सो खुदकी हिंसा हुई। जो हिंसा करे वह हिंसक है। अपने आपकी इसने खुद हिंसा की इसलिए यह ही खुद हिंसक हुआ। अपना जो खुदका प्राण है ज्ञान दर्शन चैतन्यभाव तो ज्ञान दर्शन को बरबाद किया सो खुद ही हिंसक बने। हिंसाका फल क्या है कि हिंसासे जो फल मिला उसे भोगे तो निश्चयसे हिंसाके परिणाममें तत्काल ही जो व्याकुलता हुई वह हिंसाका फल हुआ और अब व्यवहार दृष्टिसे देखो तो हिंस्यमायने जिस जीवकी हिंसा की गई। अब

निश्चयसे देखो कि इस जीवने अपने आपकी हिंसा की, अपनी ही हिंसा की, अपनी ही परिणतिसे हिंसा की और अपनी ही हिंसाके फलमें खोटी पर्याय भोगेगा, वह फल हुआ। तो निश्चयसे मैं खुदकी ही हिंसा करता हूं और खुदकी ही हिंसाका फल भोगता हूं, हिंसारूप परिणमन करता हूं, जिसका फल नारक निगोद आदिक है तो उस हिंसासे बचनेके लिए अपने आपमें यह निर्णय करके कि मैं खुद ही खुदके परिणाम खोटे करके खुदकी बरबादी करता हूं। सो खोटा परिणाम छोड़ देना चाहिए और बाहरी आचरण ऐसा हो, कि जिसमें हिंसाका दोष हो उसको त्यागना चाहिए।

मद्यं मांसं क्षौद्रं पञ्चोदुम्बरफलानि यत्नेन।
हिंसाव्युपरतिकामैर्मोक्तव्यानि प्रथममेव ॥६१॥

हिंसापरिहारेच्छु जनोको मद्य मांस मधु व उदम्बरफलोको त्यागनेका उपदेश—हिंसा त्याग करनेकी कामना वाले पुरुषोंको प्रथम ही यत्नपूर्वक मद्य, मांस और शहद तथा ५ उदम्बर फलोंका त्याग करना चाहिए। पहिला है अभक्ष्य भक्षण। त्याग करनेका मूल आधार है हिंसाका परिहार और दूसरी बात नहीं। अमुक चीज न खाना, इसका आधार है हिंसाका परिहार। शराबमें तो हिंसा है, शराब सड़ाकर बनायी जाती है। उसमें बहुतसे कीट मरते हैं। मांस तो प्रत्यक्ष हिंसा है ही। शहदमें भी प्रत्यक्ष हिंसा है। जरा विचार तो करो कि यह शहद है क्या चीज ? शहद मक्खियोंका वमन और विष्टा ही तो है। तो जो वमन है उसमें स्वयं अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। तो जो शहद चीज है वह स्वयं एक ऐसी चीज है जिसमें अनेक जीव उत्पन्न होते हैं। मांस तो किसीके घातका होता है और शहद किसीके घातसे तो नहीं हुआ करता और जो जीव उत्पन्न होते रहते हैं वे मरते हैं तो इसमें हिंसाका दोष है और ५ जो उदम्बर फल हैं, ऊमर, कठूमर वगैरह, इनमें तो कोई प्रत्यक्ष जीव देख भी सकता है। जो फल फूलके बिना काठमें से निकलता है वह उदम्बर फल कहलाता है। इनमें चतुरिन्द्रिय जीव तक स्वयं उत्पन्न होते हैं। उन्हें फोड़ो तो उनके अन्दर कीड़े निकलते भी हैं। इन ८ चीजोंका त्याग करना यही ८ मूल गुण कहलाते हैं। मद्य, मांस, मधुका त्याग, उदम्बरका त्याग और देवदर्शन, जीव दया, रात्रिभोजन त्याग और अनछने जलका त्याग। ये ८ मूल गुण हुए। उदम्बरोंको ५ को एकमें ले लें तो चार हुए व चार अन्य बढ़े, इस तरह भी ८ मूल गुण हैं—मद्य, मांस और मधु त्याग और पंचमहाव्रतोंका पालन करना यों भी ८ मूल गुण हुए। जो ऊँची योग्यता वाले श्रावक हैं वे पंच अणुव्रत पालते हैं, जो मध्यमी कक्षा वाले हैं वे ८ मूल गुणोंका पालन करते हैं और जो जीव निम्न श्रेणीके हैं उनके लिए साधारण ८ मूल गुण हैं।

धर्मपालनमें अहिंसाका आधार—यह एक चारित्रका अधिकार चल रहा है। अब इस चारित्राधिकार में चारित्र शुरू करते हैं और चारित्रमें श्रावकोंका चारित्र शुरू करते हैं। यह प्रथम श्लोक है अष्ट मूल गुणका पालन करना। इसकी भूमिकामें कई जगह अहिंसाकी बात कही गई है क्योंकि इस चारित्रका आधार है हिंसाका परिहार। आत्महिंसाका परिहार, परहिंसाका परिहार, यही चारित्र है। तो हिंसा रूपमें बहुतसी बातें बनाकर यह सिद्ध किया है कि जो अपना परिणाम मलिन हुआ वह हिंसा है। बाह्य में जो हिंसा है वह मलिन परिणामपूर्वक होती है इसलिए हिंसा कही जाती है। यह सब वर्णन करके चारित्रके स्वरूपमें मोटे अभक्ष्यकी बात कही जाती है। इन ८ बातोंमें लोगों को एक शहद पर जल्दी श्रद्धा नहीं होती है। उसका भी विवरण होगा। यहां सर्वप्रथम शराबमें क्या दोष है उसे बताते हैं।

मद्यं मोहयति मनो मोहितचित्तस्तु विस्मरति धर्मम्।
विस्मृतधर्मा जीवो हिंसामविशङ्कमाचरति ॥६२॥

मद्यपानके अनर्थ—मद्य मनको मोहित करता है। शराब पीनेसे मन बेहोश हो जाता है और जिसका चित्त बेहोश हो गया वह धर्मको भूल जाता है और जो धर्मको भूल गया ऐसा जीव निश्शंक होकर

हिंसाका आचरण करने लगता है। तो मद्य एक तो बेहोश करने वाला है, दूसरे मद्य निकृष्ट वस्तु है, मद्य पीने वाला मनमानी हिंसा करने लगता है, क्योंकि वह अपनेको भूल गया। एक बात और मद्य पायियोंमें पायी जाती है कि उनके बल नहीं रहता। थोड़ा बहुत नशा करें तो भले ही कुछ शक्ति रहे, पर ज्यादा नशा करने वालेके शरीरमें शक्ति नहीं रहती। इसका हमने परिचय भी एक बार किया है। एक बार हम और गुरु जी जा रहे थे, एक मद्यपायी आया और गुरु जी का कमण्डल लेकर भागने लगा। अब हमारा कर्तव्य हो गया कि उससे भिड़ें। सो हमने दौड़कर उसे पकड़ा और कमण्डल छीन लिया। यद्यपि वह बहुत मोटा था पर उसके शरीरमें शक्ति न थी। मद्यपानसे सभी ऐब आ जाते हैं और सभी बरबादी हो जाती है तो यों मद्यपानका निषेध है।

मद्यमें पूर्वापर हिंसा—शराब महुवाकी भी बनती है। महुवा का तैल भी होता है। तैल बनता है महुवाके फलसे और शराब बनती है फूलसे। तो उसे विवेकी लोग नहीं खाते। शराबमें रससे उत्पन्न हुए बहुतसे जीव हैं ही। वे योनिभूत हैं और उत्पन्न होते रहते हैं इस कारण मदिराके सेवन करनेमें जीवोंका भी घात है। मद्यपायी मद्यपानमें धर्मको भूल जाता है सो हिंसामें वह निःशंक होकर प्रवृत्ति भी करने लगता है। यह मद्य हिंसा की चीज है और उसे त्यागे बिना अहिंसा नहीं होती। इसलिए श्रावकों को इस मद्यका त्याग अवश्य करना चाहिए। देखो सबसे पहिले मद्य शब्द दिया है। यह अन्य चीजोंसे भी अधिक बुरी चीज है क्योंकि मद्यपान करनेसे जीव बेहोश हो जाता है।

रसजानां च बहूना जीवानां योनिरिष्यते मद्यम्।
मद्य भजना तेषां हिंसा संजायतेऽवश्यम् ॥६३॥

मद्यपानमें हिंसाकी अवश्यभाविता—मदिरा जीवोंके घातसे पैदा होती है और मदिरामें और और जीव भी उत्पन्न होते रहते हैं इस कारण जो मदिराका सेवन करते हैं उनको अवश्य उन जीवोंकी हिंसा का दोष आता है। मदिरामें निरन्तर जीव पैदा होते रहते हैं क्योंकि मदिरा चीजोंको सड़ाकर बनाया जाता है और उसमें जीव निरन्तर होते हैं तो उसका पान करने में जीवोंकी भी हिंसा हो जाती है। तो जो अहिंसावृत्ति चाहते हैं उन्हें मदिरा न पीना चाहिए। हिंसा और अहिंसाका इतना मर्म है कि प्रकट जागरूक रहे और अपना आत्मा अपनी दृष्टिमें रहे तो उसकी अहिंसा है और अपने आत्माकी सुध न रहे, बाहरके किसी कामको करने का सकल्प भी करे तो उसमें हिंसा है। परपदार्थोंमें रागद्वेष मोह हो तो हिंसा है और अपने आपके शुद्धस्वरूपकी दृष्टि होना सो अहिंसा है। हिंसा और अहिंसाका स्पष्ट अर्थ यह है। जो मदिरापान करते हैं उनके चित्तकी शुद्धि कहाँसे हो और जिनके चित्तमें शुद्धि नहीं वे अहिंसाधर्म नहीं पाल सकते। अत अहिंसाव्रतके पालने वालों को मदिराका पान अवश्य छोड़ देना चाहिए।

अभिमानभयजुगुप्साहास्यारतिशोककामकोपाद्या।
हिंसाया पर्याया सर्वेऽपि च सरकसन्निहिता ॥६४॥

मद्यपायीके अनेक भावहिंसायें—जीवमें जो ये खोटे भाव उत्पन्न होते हैं जैसे घमंड आदि वे सब हिंसाके ही पर्याय हैं, परिणमन हैं। किसीको तुच्छ मानना अपने को बड़ा समझना यह वृत्ति प्रकृत्या लग जाती है, मद्यपायी घमंडी भी होता है। डर भी हिंसा है, किसीका भय माना तो अपने आपकी उसने हिंसा की और भय मदिरा पीने वालोंके रहता ही है, किसने डर माना, उससे अपना दिल दुखा तो डर मानना भी हिंसा है। डर लगनेका दोष मद्यपायीके आ हो जाता है, अत अहिंसा धर्म पालनेके लिए मद्यपानका त्याग करना चाहिए। एक है ग्लानि करना, दूसरेसे ग्लानि अर्थात् घृणा करना यह भी हिंसा है। जहाँ अपने परिणाम बिगाड़े वह सब हिंसा है। ग्लानि करना भी हिंसा है। मदिरा पीने वालों

में यह दोष पदा हो जाता है कि वे दूसरोंसे ग्लानि करने लगते हैं, मद्यपायी घृणा करते हैं, कुछ डर जाते हैं, घमड बगराते हैं वह सब हिंसा है। हँसी करना भी हिसा है, और ऐसी हिंसा मदिरापान करने वालेके होती ही है, इस कारणसे जो अहिंसक पुरुष हैं उन्हें मदिराका पान न करना चाहिए। एक है द्वेष करना। किसीसे वैर करना यह भी हिंसा ही है, तो यह वैर करना भी मद्यपायी पुरुषोंके हुआ करता है। अतः मद्यपानमें हिंसा है। क्षोभ करना, शोक करना आदिक भी मद्यपायीमें हो जाते है। शोक भी एक आत्माका घात करने वाली बात है और यह शोक मद्यपाइयोंके लगा ही रहता है। तो जिसे हिंसा न चाहिए, अपनी बरबादी न चाहिए उसे मदिरापान छोड़ना चाहिए, ऐसे ही खोटे विचार आयें, मायाचार आयें ये सब बातें भी मदिरापान करनेसे बढ़ जाती हैं। तो ऐसी भी हिंसा जो न चाहें उनका कर्तव्य है कि मदिरापानका परित्याग कर दें। मद्यपान करने से जितने भी दोष उत्पन्न होते हैं वे सब मदिरापानसे हैं। ये सभी दोष मद्यपान करने से हो जाते हैं, अतः इन दोषोंसे बचनेके लिए मद्यपानका परित्याग करना चाहिए।

न विना प्राणविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांस भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा ॥६५॥

मांसभक्षणमें अनिवारित हिंसा—कहते है कि प्राणोंका घात किये विना मांसकी उत्पत्ति नहीं मानी गई है, तो मांस भक्षण करने वाले पुरुषों के नियमसे हिसा ही है। मांस तो जीवके शरीरका ही एक भाग है। शरीरको छोड़कर और जगह मांस नहीं रहता। दो इन्द्रियसे लेकर पञ्चेन्द्रिय तकके जो जीव हैं उनके शरीरमें मांस होता है और उन जीवोंका घात करनेसे मासकी उत्पत्ति होती है, नहीं तो जीवके घात विना मास नहीं मिलता, तो ऐसे जो मासभक्षण करने वाले लोग बहुत निर्दयी हैं उनके अन्दर दया का नाम नहीं है। जैसे मदिरापान करने वाले को हिंसा लगती है ऐसे ही मास खाने वाले को हिंसा लगती है उसमें तो हिंसाकी बात स्पष्ट दिखती है। बड़े-बड़े जगली जानवर मारे जाते हैं तो वे चिल्लाते हैं, दुःखी होते हैं, उनकी कोई सुध भी नहीं करता। तो ऐसे जीवोंको सताकर उत्पन्न हुआ जो मांस है उसका भक्षण महामूढ अज्ञानीजन ही करते हैं और उनके संसारकी भटकना ही बनी रहती है।

यदपि किल भवति मास स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिर्मथनात् ॥६६॥

स्वय मृत प्राणीके भी मांसभक्षणमें हिंसाका दोष—एक प्रश्न किया जा रहा है कि—मारे हुए जीवका मास हो उसके खानेमें तो दोष होना चाहिए पर जो जीव खुद मर गया तो खुद मरे जीवका मांस खाने में क्यों दोष है ? ऐसी शका हुई, उसके उत्तरमें कहते हैं कि जो स्वयं मरे हुए जीवका मांस हो उसके भी खानेमें दोष है क्योंकि मासके आश्रय निगोद जीव जो जो भी उसी जातिके जो जीव उत्पन्न होते रहते हैं तो मास भक्षणमें उन जीवोंका घात होता है, अतः चाहे मरे जीवका मांस हो, चाहे किसीका घात करके उत्पन्न हुआ मास हो उसके खानेमें दोष ही है। मरे हुए जीवके मांसमें भी उसी जातिके अनन्त जीव उत्पन्न होते रहते हैं, जिस जातिका वह जीव है। उसी जातिके अनेक जीव और भी उत्पन्न होते रहते हैं इसलिए उसके खानेमें उन जीवोंका घात होता ही है। अतः स्वय मरे हुए जीवका भी मांस खानेमें हिंसाका दोष है।

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मासपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीना निगोतानाम् ॥६७॥

मासकी सर्वदशाओंमें निरन्तर जीवोंकी उत्पत्ति—मास ऐसी निंद्य वस्तु है कि चाहे पका मास हो चाहे कच्चा मास हो, समस्त मासोंमें उस उस जातिके जीवोंका निरन्तर उत्पाद होता रहता है। याने

मास कच्चा हो उसमे भी जीव उत्पन्न होते रहते हैं, अत: उसमें भी पाप होता है और पक रहा हो उसमें भी निरन्तर उत्पन्न होता रहता है। कितनी विलक्षण बात है कि पक रहे हुए मासमें भी जीव उत्पन्न होते रहते हैं। तो मांसकी डलियां सही अवस्थामें कच्चा हो तो, पक रहा हो तो उस ही मासरूप नये-नये जीव उत्पन्न होते रहते हैं तो समस्त जीवोंका घात होता है, अतः मांसभक्षण करने वालेके बहुत बडी हिंसा चलती रहती है। हिंसा चलती है तो संसारका बंध बढ़ता है और हिंसा दूर रहे तो संसारका बन्धन कटता है।

आमां वा पक्वां वा खादति य: स्पृशति वा पिशितपेशीम्।
स निहन्ति सततनिचित पिण्ड बहुजीवकोटीनाम् ॥६८॥

मांसभक्षणमें अनेक जीवसमूहोकी हिंसा--जो जीव कच्चे अथवा पके हुए मासकी डलीको छूता भी है वह बहुत समयसे एकत्रित हुए अनेक जातिके जीवोंके पिण्डको हनता है क्योंकि समस्त मास पिण्डमें जीवोंकी उत्पत्ति होती रहती है, इसलिए मांसका खाना तो दूर रहा उसके छूनेमें भी हिंसाका दोष लगता है। जो लोग मास खाने वाले हैं उनके चित्तमे क्रूरता रहती है इसलिए क्रूरताका भाव होनेसे उनके और भी हिंसाका दोष लगता है इसलिए मास भक्षणमें बहुत बड़ी हिंसा है। उस हिंसाका त्याग करने के लिए अष्ट मूल गुणोंमें बताया गया है। मासमें दोष बताया कि हर पर्यायमें उस जातिके जीव उत्पन्न होते रहते हैं जिसका भक्षण करनेसे जीव मर जाते हैं इसलिए मांसभक्षणका त्याग अवश्य होना चाहिए।

मधुशकलमपि प्रायो मधुकरहिंसात्मको भवति लोके।
भजति मधु मूढधीको य स भवति हिंसकोऽत्यन्तम् ॥६९॥

मधुभक्षणमें भी अनेक जीवसमूहोकी हिंसा--इस श्लोकमें शहदकी बात चल रही है। शहद मक्खियों का वमन और विष्टा है। इसमें जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, अतएव जो मूढ़ बुद्धि पुरुष शहदका भक्षण करते हैं वे अत्यन्त हिंसा करते हैं। जैसे मनुष्यका मल और अथवा लार हो तो उसमें जीव निरन्तर उत्पन्न होते हैं ऐसे ही मक्खियोंके वमन और विष्टासे तैयार किया हुआ जो शहद है उसमें भी जीव निरन्तर उत्पन्न होते रहते हैं, उसका खाना हिंसा है। जिसे इस हिंसासे बचकर अहिंसा धर्म पालना है उसे इस शहदके भक्षणका, त्याग कर देना चाहिए।

स्वयमेव विगलितं यो गृह्णीयाद्वा छलेन मधुगोलात्।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रयप्राणिना घातात् ॥७०॥

स्वय विगलित मधुके भक्षणमें भी हिंसा--अब कुछ लोग इस तरहसे भी शहद तैयार करते हैं कि एक डिब्बा बनाया, उसमें मधुमक्खिया बसाई और नीचे शहद अपने आप गिरता है। तो उसमे भी अनेक छोटे छोटे जीव मर जाते हैं। कोई शकाकार यह कहता है कि शहदके छत्तेको निचोड़ा न जाय, उसमें डिब्बासा बनाकर मधु मक्खियोंको बसा लिया जाय और फिर शहदको नीचे टपका लिया जाय तो उसमें तो दोष न लगना चाहिए? कहते हैं—नहीं, ऐसी बात नहीं है, उसमें भी जीव राशि उत्पन्न होती रहती है, उसका भक्षण करनेसे जीव मर जाते हैं, अत: विवेकी पुरुष शहदका भक्षण नहीं करते।

मधु मद्य नवनीत पिशित च महाविकृतयस्ता:।
वल्भ्यन्ते न व्रतिना तद्वर्णा जन्तवस्तत्र ॥७१॥

महाविकृतिरूप मधु मद्य मांस मक्खनके भक्षणका निषेध--इस गाथामें यह बतला रहे हैं कि शहद, मदिरा, मक्खन और मास—ये चार चीजें महाविकार को धारण किए हुए हैं। छाछसे बाहरका मक्खन हो तो उसमें बहुतसे जीव उत्पन्न हो जाते हैं। जो लोग नेनू निकाल कर दो चार दिन रखे रहते हैं और कई दिन बादमें उसे गर्म करते हैं तो महाविकार है। दूसरी बात यह है कि मक्खन एक बुरा भाव

उत्पन्न करता है जीवमें इसलिए वह महाविकार है। तीनका तो वर्णन पहिले किया ही था—मद्य, मांस और मधु। उसमें एक मक्खन और कह कर बता रहे हैं कि यह महाविकारी है, यह व्रती लोगोंके खाने योग्य नहीं है क्योंकि इसमें त्रस ही जातिके जीव होते हैं। इस मक्खनके खानेसे परिणाम विकाररूप हो जाता है और ऐसे मक्खनके भक्षणसे कामादिक भाव उत्पन्न होते हैं इसलिए मक्खनका त्याग बताया गया है। मधुमें मधुके ढगके, मदिरामें मदिराके ढंगके, मक्खनमें मक्खनके ढगके तथा मांसमें मांसके ढग के जीव उत्पन्न होते हैं, वे जीव ऐसे सूक्ष्म होते हैं कि दिखनेमें नहीं आते। इस कारण इन चीजोंका भक्षण करना उचित नहीं है। अचार, विष आदि भी इसी प्रकारके विकार वाली चीजें जानना चाहिए। इनको भी व्रतीजन नहीं खाते। इनसे आत्मामें खोटे भाव उत्पन्न होते हैं। इन तीन मद्य, मांस, मधुके त्यागके साथ-साथ यह भी बताया गया कि चमड़ेमें रखे हुए घी तेल जल आदिक भी न खाये। बहुत दिनोंका रखा हुआ अचार न खायें, कभी कभी तो नींबूके अचारमें लट पड़ी हुई दिखाई देती है। तो उसमें सब जीवोंका घात हो जाता है इस कारण इनका त्याग व्रती पुरुषोंको करना ही चाहिए। इनके त्याग बिना अहिंसाधर्ममें कोई कदम रख नहीं सकता। और अहिंसा ही जीवोंका शरण है। इस लोकमें कोई किसीका शरण नहीं है, अपने आपका अहिंसारूप परिणाम ही इस जीवका शरणभूत है।

योनिरुदम्बरयुग्मं प्लक्षन्यग्रोधपिप्पलफलानि।
त्रसजीवानां तस्मात्तेषां तद्भक्षणे हिंसा ॥७२॥

पञ्च उदम्बरफलोंके भक्षणमें त्रसहिंसा—ये जो ऊमर, कठूमर, गूलर, बड़, पीपल आदिक जो फल हैं जिनमें फूल तो होते नहीं और काठ ही फोड़कर पैदा होते हैं तो वे फल त्रस जीवोंसे भरे हैं, उनका भक्षण करनेमें हिंसा है और कितने ही फलोंमें उनके फोड़ने पर स्पष्ट दिखते हैं इस कारण उनके खानेमें त्रस जीवोंकी हिंसा है। देखनेमें भी ऐसा लगता है कि हाँ इसमें जीव उत्पन्न होते ही रहते हैं। तो वे कठूमर जो काठ फोड़कर उत्पन्न होते हैं उनमें जो त्रस रहे जीव हैं उनकी तो हिंसा होती ही है, इस कारण इन कठूमरोंके भक्षणमें दोष है। अहिंसा धर्म पालने वालोंको इन फलोंका भक्षण न करना चाहिए।

यानि तु पुनर्भवेयु कालेच्छिन्नत्रसाणि शुष्काणि।
भजतस्तान्यपि हिंसा विशिष्टरागादिरूपा स्यात् ॥७३॥

शुष्क उदम्बरफलोंके भी भक्षणमें हिंसा—और फिर भी जो ५ उदम्बर हैं वे सूख भी जाये काल पाकर त्रस जीवोंसे भी रहित हो जायें तो भी उनका भक्षण करने वालोंके विशेष रागादिक भाव उत्पन्न होते हैं इसलिए हिंसा होती है। तो ऐसे निन्द्य पदार्थोंको जो खाता है वह हिंसक पुरुष है। किसी ने ऐसी शंका की कि ऐसे पदार्थोंको सुखाकर खाये तो उनके खानेमें तो हिंसा न होगी? उत्तर दे रहे हैं—कि जब वह फल सूखा तो उसके जीव भी सूख गए, हिंसा हो गई और सुखाकर खानेमें रागकी विशेषता बढ़ती है, क्योंकि ये जो पदार्थ हैं ऊमर कठूमर आदिक तो यह साधारणतया कोई जब विशेष राग उत्पन्न हुआ और उसे सुखाकर खाते हैं यह बहाना करके कि इसमें जीव नहीं रहे, तो उसमें भी हिंसा है। तो इन अष्टमूल गुणोंमें सबसे पहिले इन ८ चीजों का त्याग बताया है। और इन ८ चीजोंका त्याग करनेकी बात कह कर अब अन्तमें इन आठों गुणोंसे सम्बन्धित एक उपसंहार करते हैं।

मद्य मांस मधु पञ्च उदम्बर फलोंके त्याग बिना जिनधर्मदेशनाकी अपात्रता—ये अष्ट प्रकारके पदार्थ दुःखदाई हैं और पापोंके साधन हैं, इन अष्ट प्रकारके पदार्थोंका त्याग करके जो शुद्ध बुद्धि वाले हैं वे जैन धर्मके उपदेश सुननेके पात्र होते हैं याने मांस भक्षण करने वालोंके चित्तमें जैनधर्ममें बात नहीं समा सकती। जो इन अष्ट प्रकारके पदार्थोंका त्याग कर देते हैं वे ही जैनधर्मके उपदेश सुननेके पात्र होते हैं। जो यथार्थ है, वस्तुके स्वरूपकी बात, जिसके पालन करनेसे, ध्यान करनेसे इस जीवका मोह दूर होता है।

संसारके संकटोंसे ये अलग हो जाते हैं; इस कारणसे मद्य, मांस, मधु वगैरहका जो त्याग करते हैं वे ही जैनधर्मका उपदेश सुननेके पात्र हैं। इस कारण इन ८ प्रकारकी चीजोंका त्याग करना अष्ट मूलगुण बताया है। जो इन अष्ट प्रकारकी चीजोंका त्याग नहीं कर सकते उनको उपदेश क्या लगेगा? उनका तो चित्त ही ठिकाने नहीं है। उसके तो घोर अज्ञान अंधेरा बसा हुआ है। ऐसे अंधकारमें रहने वाले पुरुष जैनधर्मका उपदेश सुननेके पात्र नहीं होते। बहुत मोटी चीज बतायी जिसे सभी लोग पालन कर सकते हैं। जो इनका त्याग करते हैं वे श्रावक कहलाते हैं, वे ही दया धर्म पालन करने वाले कहला सकते हैं।

श्रावकोंके मूलगुणोंका तीन प्रकारसे विवरण—अब यहाँ मूल गुण तीन ढंगसे बता रहे हैं। जो लोग जैन कुलमें उत्पन्न हुए हैं, बड़े कुलमें उत्पन्न हुए हैं उनको बताया है कि जो मद्य, मांस, मधुका त्याग करें और ५ अणुव्रतका पालन करें उन्हें ऊँची क्रियावोंकी चीज बतायी है। मद्य, मांस, मधुका त्याग और ५ उदम्बर फलोंका त्याग करना, जीवोंको दया पालना, देखकर चलना, शिकार न खेलना—ये पंचमूल गुण हैं, छठा है जल छानकर पीना, क्योंकि जलमें भी असंख्याते त्रसकायके जीव रह सकते हैं। जल छान लेने से वे जीव छन्नेसे नीचे नहीं आते, बादमें उस छन्नेको भी छने हुए पानीसे धोकर उसी अनछने जलमें डाल देते हैं। इससे उन त्रस जीवोंका घात नहीं होता। ७ वां मूल गुण है रात्रि-भोजनका त्याग। रात्रिमें अनेक जीवोंका संचार होता है। रात्रिमें भोजन बनानेमें बहुत बड़ी हिंसा होती है, मक्खी मच्छर आदि मरते रहते हैं, फिर रात्रिके समयमें वे जीव आते रहते हैं, सूर्यकी रोशनीमें वे जीव नहीं आते हैं। कुछ ऐसी ही प्राकृतिक बात है। जो लोग रोशनी करके भी खाते हैं तो उस रोशनीमें और ज्यादा जीव आते हैं। तो ७ वां बताया रात्रिभोजन का त्याग और ८ वां मूल गुण बताया है देव दर्शन। प्रभुके दर्श करना, मूर्तिके दर्शन करें या प्रभुका ध्यान करें। अपने मनसे अर्थात् ज्ञानसे उनके दर्शन करें तो यह भी एक मूल गुण है। जिसमें अहिंसाकी वृत्ति है उसमें अपने आपकी सुध बढ़ती है। अपने में यह दृढता होती है कि प्रभुकी तरह मैं भी चैतन्यस्वरूप हूं, सबसे निराला हूं—ऐसी अपने अन्दर चैतन्यस्वरूपकी सुध बनी रहे तो उसमें भी अहिंसा पलती है, हिंसा दूर होती है। तो इस प्रकारके अष्टमूल गुणोंका धारण श्रावकोंको करना चाहिए जिससे उनके गुणोंमें उत्तरोत्तर वृद्धि हो और वे अपने धर्मका पोषण कर सकें। जैन धर्मके शास्त्र सुनने समझने की उनमें पात्रता जगे, इस कारणसे ये ८ प्रकारके मूल गुण उन श्रावकोंको धारण करने चाहिएँ। और जो श्रावक इन ८ मूल गुणोंको धारण नहीं कर सकते तो उन्हें जो सर्वप्रथम बताये गए मूल गुण हैं—मद्य, मांस, मधुका त्याग और ५ उदम्बर फलोंका त्याग अवश्य कर देना चाहिए। जो लोग क्रूर चित्त वाले हैं, जिनका विचार अस्थिर हो गया है ऐसे पुरुषों को भी बताया है कि उनको भी जरूर इन अष्ट मूल गुणोंका धारण करना चाहिए। वे आठ मूल गुण बहुत ही सरल चीज हैं, जिससे न कोई आत्माका विघात होता है, न क्षय होता है, ऐसे आठ मूल गुण प्रत्येक प्राणीको धारण करना चाहिए। चाहे वह आगे न बढ़ सके, कैसी ही ओछी जातिका हो, पर ये ८ मूल गुण तो सभी पुरुषोंको धारण करना चाहिए। इनके धारण किए बिना धर्ममार्गमें अपना कदम नहीं रख सकते हैं। तो मद्य, मांस, मधु और ५ उदम्बर फल ये ५ महापापोंके कारण हैं, इस कारण इनका त्याग करे तब ही वह पुरुष जैनधर्मका उपदेश सुनने योग्य है। इनका त्याग किए बिना पुरुष विवेकी नहीं कहला सकता। इस कारण इन ८ चीजोंका त्याग करना अष्ट मूल गुण बताया गया है। इनका पालन अवश्य करना चाहिए। इस प्रकार इस अहिंसाके प्रकरणमें सर्वप्रथम यह बताया कि जीव चारित्रमें आये तो सबसे पहिले इन आठ मूल गुणोंका अवश्य पालन करे।

धर्ममहिंसारूपं संशृण्वन्तोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुञ्चन्तु ॥७५॥

हिंसा और अहिंसाका मौलिक स्वरूप--समस्त जीवोंको एक यह इच्छा रहती है कि दु:खसे तो छूटे और सुखमें आयें। तो जो उपाय दु:खसे छुटाये और सुखमें पहुचाये उस ही का नाम धर्म है। संसारके प्राणियोंको दु:खसे छुटाये, उत्तम सुखमें जो ले जाय उसे धर्म कहते है। वह धर्म अहिंसारूप है। अहिंसा का नाम धर्म है हिंसाका नाम अधर्म है। किन्तु किसकी हिंसा और किसकी अहिंसा? आत्माकी अहिंसा हो उसका नाम धर्म है और आत्माकी हिंसा होना उसका नाम अधर्म है। किस आत्माकी? निज आत्मा की अहिंसाका नाम धर्म है और निज आत्माकी हिंसाका नाम अधर्म है। आत्माका घात रागद्वेष मोह भावसे होता है। यह आत्मा स्वरूपत: ज्ञानानन्दमय है और जैसा विलास जैसा परिणमन प्रभुका है, अरहंत सिद्ध भगवानका है वैसा ही प्रताप हम आप सब आत्माओंका है, लेकिन राग द्वेष मोह जो विभाव होते है उन विभावोंसे आत्माका घात होता है, लौकिक प्रसंग किन्हीं व्यवहारके साधक है, रहो, लेकिन हम आप सबको ऐसा अन अलौकिक प्रसंग बनाना चाहिए जिससे आत्माकी रक्षा हो। हर एक कोई अपनी-अपनी रक्षाका अभिलाषी है। जिसमें अपनी रक्षा हो उस कामसे रुकना न चाहिए। विवादोंमें क्या रखा है और व्यवहारमें क्या रखा है अर्थात् नाना जीवोंसे स्नेह बढाना, उनमें घुल मिलकर रहना इन बातोंसे भी आत्माकी क्या रक्षा है? आत्माकी रक्षा तो निर्विकार ज्ञानानन्दस्वरूप जो कुछ मात्र सत्त्वके ही कारण सहजभाव हो उन भावोंरूपमें आत्माकी प्रतीति करना, यही है आत्माकी रक्षा। जो जीव जब जब भी किन्ही बाह्यपदार्थोंमें राग और मोह बसाता है, उनकी दृष्टि बनाता है, उनमें रमता है, मौज मानता है, अथवा खेद करता है तो वे सब परिणमन आत्माकी हिंसा हैं, उन परिणमनोंमें अधर्म है और जो परिणमन आत्माके निर्विकार भावोंपर दृष्टि ले जाय निर्विकार सहजस्वरूपमें रमनेकी पात्रता बनाये वह सब परिणमन धर्म है। तो धर्म हुआ अहिंसा।

अहिंसाधर्मके पालनका अन्तर्बाह्य रूप—अब उस अहिंसाधर्ममें कदम रखने वाले मुनिकी क्या प्रवृत्ति होती है जिससे वह इस अहिंसाधर्मके पालनेका पात्र रह सकता है, उस ही का नाम चरणानुयोग है। तो करना क्या है आत्महितके लिए? उसका उत्तर मूलमें एक होता है। फिर साधक दशामें तो योग्यता और पदके अनुसार भिन्न-भिन्न उत्तर होते हैं। उन्हें भी समझना सो समझ सच्ची है। मूलमें जो उत्तर है आत्महितके लिए केवल उसे ही पकड़कर रहना और अपनी योग्यता पदके माफिक जिन चाहे उन उत्तरोंसे विमुख रहना, उनमें कुछ भी अपना उपयोग न करना यह तो थोड़ा धोखे वाली बात है और पदों के माफिक परिणाम योग्यताके माफिक ही केवल उत्तर लेना और मौलिक उत्तरको मना करना यह भी धोखे वाली बात है। दोनों को समझना चाहिए तब सर्व समाधान आता है। सो सुनिये—आत्महितके लिए क्या करना है? आत्महितके लिए आत्माका जो सहज स्वरूप है अनादि अनन्त अहेतुक, असाधारण, उस स्वरूपको जानना उसे मानना और उसमें रमण करना, यही हुआ अभेद सम्यक्त्व ज्ञान और आचरण। यही है आत्महितके लिए मौलिक उपाय। लेकिन ऐसा जो नहीं कर पा रहे हैं उनके आत्मामें स्थिरता नहीं हो सकती है। लक्ष्य तो अपना यही बनायें कि जैसा पद है उस पदके योग्य अपना व्यवहार कार्य करें जिससे उसके पात्र बने रहें। उसका ही नाम मुनिधर्म है और श्रावक धर्म है। तो यह श्रावकधर्मकी बात चल रही है। अहिंसाधर्म है निर्विकार आत्मस्वरूपका आलम्बन करना सो अहिंसा है। ऐसे ही अहिंसाका पालन करनेके लिए उद्यमी पुरुष की अपने पदके माफिक क्या परिस्थिति बनती है, क्योंकि जब रागादिकका उदय है, रागादिक परिणाम होते हैं तो उसका क्या प्रयोग किया जाता है, कैसी परिणति होना चाहिए, उसके वर्णनमें सबसे पहिले यह कहा गया कि अष्टमूल गुणोंका पालन तो

करना ही चाहिए, उसके बिना तो वह श्रावक भी नहीं और जैनधर्मके उपदेश सुननेका भी पात्र नहीं। यह है एक ऐसा मौलिक आचरण जो अनिवार्य है। मद्य, मांस, मधुका त्याग और पंच उदुम्बर फलोंका त्याग, यही मौलिक आचरण है। उसी को ही पुष्ट करते हुए बतला रहे हैं कि अहिंसामयी धर्मकी वार्ता सुन करके भी जो पुरुष स्थावर जीवोंकी हिंसा वर्तमानमें सर्वथा नहीं छोड़ सकते हैं वे पुरुष त्रस हिंसाका तो परित्याग करें।

अहिंसाधर्मके पालनके लिये गृहस्थधर्म व मुनिधर्मका निर्देश—देखिये एक धर्मभाव बनानेके लिए किस शैलीसे आचार्यदेव ने वर्णन किया है? आत्महितके लिए मूलमें एकमात्र कर्तव्य यह है कि एक निर्विकार निज ज्ञानस्वभावको जानकर उसमें ही रमण करें। कर्तव्य तो यह है, पर इस कर्तव्यको पूर्ण करने की स्थिरता जिनके प्रकट नहीं है, जिनकी रागादिकमें प्रवृत्ति है ऐसे पुरुष ऐसा ही कार्य करें जिन कार्योंसे अपने लक्ष्यकी भूल न हो सके। विरुद्ध कार्य न हो उसही का नाम मुनिधर्म और गृहस्थधर्म है। अहिंसा व्रतके पालनके लिए, निज अंतस्तत्त्वकी रक्षाके लिए बाहरमें प्रवृत्ति भी ऐसी होनी चाहिए, कोई अहिंसाका पालन तो न करे और यह डींग मारे कि मेरे अन्तरङ्गमें तो अहिंसाधर्म बना हुआ है तो यह उसकी कोरी डींग है। जो अपनी आन्तरिक अहिंसा व्रतका पालन करना चाहता है उसकी आन्तरिक प्रवृत्ति ऐसी हो कि जिसमें बाह्य धर्मका भी पालन करे, अर्थात् दूसरे का दिल न सताना यह ज्ञानियोंकी बाह्य प्रवृत्ति होती है। तो किन प्राणियोंको न सताना, और किनको सताना ऐसा वर्णन जैन शासनमें नहीं है। जैन शासनमें तो सर्वप्राणियोंका न सताना बताया है। किसी भी प्राणीको सतानेका संकल्प न जगे, वह है अहिंसा। लेकिन ऐसी अहिंसाको तो वह ही पुरुष पाल सकता है जिसने घर बार कुटुम्ब वैभव सब चीजोंका परित्याग किया और अपने शरीरसे भी ऐसा उदासीन है कि वे मुनि किसी भी चीजकी याचना नहीं करते। अपने लिए न आहारकी याचना करते और न औषधिकी, ऐसी परम उपेक्षारूप निर्ग्रन्थ गुरुजन ही इस अहिंसाका पूर्णतया पालन कर सकते हैं। क्या गृहस्थोंसे भी अहिंसाका पूर्ण पालन कराया जा सकता है? घरमें रहने वाले लोग क्या आजीविका का साधन न बनावेंगे, क्या आरम्भ न करेंगे? न करें तो गृहस्थी बना कैसे बने? तो उनके लिए बतला रहे हैं कि अहिंसारूप धर्मको सुनते हुए भी जो सर्वजीवोंकी हिंसाका परित्याग नहीं कर सकते वे त्रस जीवोंकी हिंसाका परित्याग तो करें ही करें। क्योंकि त्रस हिंसाका परित्याग कर देनेसे जीवनमें कोई बाधा नहीं पहुंचती। तो गृहस्थ जो घरमें रहते हैं उनके स्थावरोंकी हिंसा सर्वथा न छूट सकेगी क्योंकि आग जलाते, पानी भरते, भोजन बनाते, व्यापार करते, ये सब बातें करनी पड़ती हैं गृहस्थोंको। हाँ ज्ञानी पुरुष है इस कारण उसका लक्ष्य विशुद्ध रहता है, उसके अहिंसा धर्म पालनेका ही भाव रहता है, लेकिन गृहस्थीमें रहकर हिंसाका सर्वथा परित्याग असम्भव है, अतः आचार्यदेव बतलाते हैं कि वे त्रस हिंसाको तो छोड़ें ही छोड़ें।

चार प्रकारकी हिंसा और उसके त्यागका अनुविधान—संसारके जीव ५ प्रकारके हैं—एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चारइन्द्रिय और पंचेन्द्रिय। एकेन्द्रियका नाम तो स्थावर है और दोइन्द्रियसे लेकर पंचेन्द्रिय तक वे सब त्रस कहलाते हैं। अग्निकी, पानीकी, वनस्पतिकी इनकी हिंसा तो गृहस्थोंसे बनती रहती है। किन्तु फिर भी उस आरम्भी हिंसासे बचना चाहता है, ऐसे कह रहे हैं कि उन्हें क्या आपत्ति है त्रस हिंसाके त्यागमें, वे त्रस हिंसाका पूर्ण परित्याग करें। शिकार खेलना, मद्य, मांस भक्षण व किसी भी जीव का सताना बंद करें। यह तो सभीसे बन सकता है। हाँ स्थावरोंकी हिंसा छोड़नेमें असमर्थ हैं। तो अब ये एकदेश अहिंसक हो गए अथवा यों समझिये कि हिंसा चार प्रकारकी होती है—संकल्पी, उद्यमी, आरम्भी और विरोधी। इनमें संकल्पी हिंसाका तो परित्याग कर सकते हैं, शेष तीनकी हिंसावोंका परित्याग करनेमें असमर्थ हैं। आरम्भ न करें तो क्षुधापूर्ति का काम कैसे बने? उद्यम न करें, यों ही बैठे

रहें तो घर गृहस्थीका काम नहीं चल सकता है। आरम्भी हिंसा छोड़नेमें गृहस्थ असमर्थ हैं, हाँ साधु-जन आरम्भी हिंसाको छोड़ देते हैं तो उन्होंने इतना बल प्राप्त कर लिया कि अनेक उपवास हो जायें तो भी चित्तमें विषमता नहीं आ सकती। वे अहिंसाका पालन कर सकते हैं, पर गृहस्थीमें यह बात सम्भव नहीं है। उद्यमी हिंसामें आजीविका न्यायपूर्वक करे, सावधानीसे करे फिर भी जो जीवों की हिंसा हो सकती है उसका नाम है उद्यमीहिंसा, क्योंकि संकल्प नहीं है कि मैं उन जीवोंको मारूँ। ऐसे ही एक विरोधी हिंसा है, यह भी गृहस्थोंसे बच नहीं पाती। कोई वैरी, शत्रु अपने धन पर अपनी जानपर हमला करने आया है तो उसे उत्तर न दे तो गृहस्थी नहीं निभ सकती है, तो यह है विरोधी हिंसा। तो जो समस्त हिंसावोंका परित्याग करनेमें असमर्थ हैं उन्हें संकल्पी हिंसाका तो परित्याग कर ही देना चाहिए। जितना हम बाहरमें प्रवृत्ति कम करेंगे, अपने अन्तःस्वरूपमें अपनी दृष्टि दृढ़ करनेका यत्न करेंगे तो यह तो अपने लिए भला है। यह गृहस्थ एकदेश हिंसक बना, क्योंकि सर्वप्रकारसे हिंसावा परित्याग करनेमें असमर्थ है। अब उसी अहिंसाका साधन जो निवृत्ति है वह निवृत्ति किस ढंगसे कहाँ सम्भव है? इसके बारेमें बतलाते हैं।

कृतकारितानुमननैर्वाक्कायमनोभिरिष्यते नवधा ॥
औत्सर्गिकी निवृत्तिर्विचित्ररूपापवादिकी त्वेषा ॥७६॥

औत्सर्गिकी एवं आपवादिकी निवृत्तिके प्रकार— औत्सर्गकी निवृत्ति याने मूलमें एक रूप, आखिर जो करना चाहिए व्यवहारमें उसकी बात एक प्रकारकी होती है अथवा ९ प्रकारकी होती है। ९ प्रकारकी हिंसाका परित्याग करना सो औत्सर्गकी निवृत्ति है। ९ प्रकारसे परित्याग तो किया, पर वह परित्याग एक है, परिपूर्ण है। वे ९ प्रकार कौन हैं? मनसे हिंसा न करना, वचनसे हिंसा न करना और कायसे हिंसा न करना, यह तीन हैं—हिंसा न करना, हिंसा न कराना और हिंसाका अनुमोदन न करना, इन तीनों का तीनसे परस्पर गुणा किया जाय तो ९ भेद होते हैं अर्थात मनसे हिंसा न करना, मनसे हिंसा न कराना और मनसे हिंसाकी अनुमोदना न करना, ऐसी ही ये तीन बातें वचनसे और तीन कायसे लगायी जाती है। तो औत्सर्गकी निवृत्ति सर्वथा परिहार वाली एक है, पर भिन्न-भिन्न पदोंमें कौन पुरुष किस गुण-स्थान वाला, कितनी हिंसाका परित्याग कर पाता है? इन सब नजरोंसे देखा जाय तो वह सब अपवादरूप निवृत्ति है, वह अनेकरूप है। कोई थोड़ी निवृत्ति कर सका, कोई अधिक निवृत्ति कर सका तो ये तो सब भेद औपाधिक निवृत्तिके है। जैसे गृहस्थधर्म यह तो प्रकट औपाधिक निवृत्ति है। कोई पूछे कि मोक्ष प्राप्तिके लिए क्या करना चाहिए तो उसका उत्तर यह न होगा कि देव, पूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयमश्चतपः तथा सामायिक वदनादिक करना चाहिए। उत्तर यह होगा कि करना चाहिए आत्माके सहजस्वरूपकका श्रद्धान ज्ञान और आचरण। मौलिक उत्तर एक होगा लेकिन ऐसा करनेका जो लक्ष्य करे उसकी परिस्थितिमें कर्तव्य क्या है? तो उसके उत्तर ये सब होंगे—मुनिधर्म और श्रावक धर्म। तो अपवादरूप निवृत्ति है और मुनिधर्म औत्सर्गकी निवृत्ति है। तो अब अपवाद वाली निवृत्तिके सम्बन्ध में वर्णन कर रहे हैं।

स्तोकैकेन्द्रियघाताद्गृहिणा सम्पन्नयोग्यविषयाणाम्।
शेषस्थावरमारणविरमणमपि भवति करणीयम् ॥७७॥

गृहस्थारम्भमें अनिवारित अल्प एकेन्द्रियघातके अतिरिक्त शेषस्थावर घातके त्यागका आदेश— जिसको योग्य विषय प्राप्त हुआ है अर्थात् न्यायपूर्वक आजीविका करते हुएमें जो न्यायपूर्वक ठीक उपभोगमें न धन प्राप्त हुए हैं ऐसे गृहस्थोंको त्रस हिंसाका तो त्याग करना ही चाहिए, पर स्थावर हिंसामें भी प्रयोजनभूत एकेन्द्रिय घातके सिवाय शेष स्थावरोंकी हिंसाका भी त्याग करना चाहिए। श्रावक इस हिंसाका तो पूरा

त्याग करे और स्थावर हिंसाका प्रयोजनभूत स्थावर हिंसाके अतिरिक्त अन्य समस्त स्थावर हिंसा का परित्याग करे। जैसे भोजन बनानेका प्रसग है। जल तो लाना ही पड़ेगा, अग्नि जलाना ही पड़ेगा, कुछ वनस्पति साग वगैरह लाना ही पड़ेगा। तो ऐसी जिनकी परिस्थिति है उनसे कुछ तो एकेन्द्रियका घात हुआ ही। होता है, हो पर इसके अतिरिक्त व्यर्थकी असावधानीके कार्यमें जो एकेन्द्रिय जीवकी हिंसा है उसका तो त्याग करे। जैसे बहुत-बहुत बाल्टियोंसे नहाना, नहानेमें घन्टोंका समय लगाना चलते चलतेमें पेड़ पत्ती पौधोंका तोड़ना, अपना मन रमानेके लिए नाना तरहके फूलोंको तोड़ना, अपना शौक बनानेके लिए खड़े हुए केलेके वृक्षोंको या अन्य अन्य वृक्षोंको मूलसे तोड़ना छेदना। कितने ही काम ऐसे होते हैं कि जिनके बिना काम तो सध सकता था, मगर साध नहीं रहा है। उसको कह रहे हैं कि भाई प्रयोजनीभूत स्थावर हिंसाके अतिरिक्त अन्य हिंसावोंका तो परित्याग कर ही दें क्योंकि एक अन्तरङ्ग हिंसाके निभानेका प्रण किया है, तो उस प्रणके माफिक बाहरमें भी अहिंसा धर्मका पालन होना आवश्यक है।

अमृतत्वहेतुभूतं परममहिंसारसायनं लब्ध्वा।
अवलोक्य बालिशानामसमञ्जसमाकुलैर्न भवितव्यम् ॥७८॥

अज्ञानियोंके मौजी असगत वर्तावको देखकर व्याकुल न होनेका उपदेश—धर्मसाधनाके प्रसंगमें कितनी ही बातें ऐसी देखनेमें आती हैं कि जिनमें चित्त श्रद्धासे डावाडोल हो सकता है। एक मोटी बात यह है कि दिखता है कि जो लोग हिंसा करते हैं, अटपट ढगसे रहते हैं, सयमका नाम नहीं है, श्रद्धा भी नहीं है और मौज उड़ाते हैं, खूब धनिक बनते हैं और नाना तरहकी उन्हें सरकारकी राज्यकी पदवियां प्राप्त हैं और उनका आचरण हिंसापूर्ण रहता है। जो लोग मांसभक्षण कर रहे हैं इससे बढ़कर और अन्यायकी बात क्या कही जाय? लेकिन ऐसे लोग भी बड़े धनी तथा बड़े बड़े ओहदोंपर देखे जाते हैं। तो ऐसी बातें देख करके कुछ श्रद्धा डावाडोल न होनी चाहिए। ऐसे प्रसगोंमें भी ज्ञानी पुरुष तो श्रद्धासे च्युत नहीं होता। प्रथम तो यह समझिये कि बाहरमें परिग्रहमें जितना फसाव है, जितना उनमें रमन है, ढग है वह सब एक विपत्ति है, विडम्बना है, आकुलता है, दुर्गतिका हेतुभूत है, अतएव उन अज्ञानी परिग्रही धनिकोंको देखकर, बड़े नामवरी वाले, राज्यके बड़े पदों वाले पुरुषोंको देखकर उन्हें दयापात्र समझना चाहिए। वे ईर्ष्या करने योग्य नहीं हैं कि हमें भी उतना बड़ा बनना है क्योंकि वे स्वयं अशान्त बन रहे हैं, ऐसे लोग तो दयाके पात्र हैं, न कि ईर्ष्याके पात्र हैं। उसी बात को इस गाथामें कह रहे हैं कि मोक्षके कारणभूत उत्कृष्ट अहिंसारूप रसास्वादनको प्राप्त करके अब अज्ञानी जीवोंके अयोग्य वर्तावको देखकर व्याकुल न होना चाहिए, अपना धर्म न छोड़ देना चाहिए, चाहे ऐसे लोग भी दिख रहे हों कि जो धर्मकी ओर जरा भी दृष्टि नहीं देते और अधर्म, हिंसामें बड़ा प्रेम रखते हैं और फलफूल रहे हैं, सासारिक दृष्टिसे तो ऐसे मूर्खोंको देख करके अपने चित्तमें व्याकुलता न करनी चाहिए कि देखो यह क्या है, हम तो धर्मके लिये बड़े-बड़े उपवास आदिक कर रहे हैं, सब कुछ करते हुए भी यहाँ तो यही हालत है, साधारण परिस्थिति है और वहाँ देखो क्या हो रहा है ऐसा अपनेमें आश्चर्य न करें और न धर्मसे च्युत हों। अरे पूर्वजन्ममें इनका भाव अच्छा था, उससे पुण्यका बध किया था, उसके उदयकालमें इतना मौज मान रहे हैं, पर यह मौज उनकी दुर्गतिका कारण है। उसको देखकर व्याकुल न होना चाहिए और ऐसी परिणति बनाना चाहिए कि जिससे आत्मधर्मके पालनका क्षण प्रतिक्षण उत्साह बढ़े। साराश यह है कि मिथ्यादृष्टि जन यदि हिंसा धर्ममें ठहर रहे हैं और लौकिक सुखोंसे सुखी हो रहे हैं तो उनको यों देखकर अपने चित्तमें व्याकुलता न लायें।

अहिंसापालनके लिये अपना निर्णय और आचरण—भैया! अपना यह निर्णय रखें कि शान्तिका मार्ग

तो एक आत्मस्वरूपका जानना और उसमें रमण करना है, दूसरा कोई मार्ग नहीं। दूसरे किसी भी मार्गसे कुमार्गमें चलते हुए जो जीव मौज पा रहे हैं उनका वह मौज करना झूठ है, उसमें उनका हित नहीं है, ऐसा समझकर अपने निश्चित किए हुए अहिंसा धर्मसे दृढ़तासे रहें और इसी निर्णयके साथ चलें कि हम अपने आपको कितना जान रहे हैं, कितना अपनी ओर रहते हैं, कितनी कषायें त्यागी हैं, कितना विवाद दूर किया है, कैसा उस चैतन्यस्वरूपमें हमारा प्रेम है? ये सब बातें निरख कर बड़े यत्नपूर्वक अपने कार्यमें लगना चाहिए, दूसरे सम्पन्न पुरुषोंको देखकर आश्चर्य न करना चाहिए। जो अहिंसाव्रतके पालनेके इच्छुक हैं वे अन्तरङ्गमें निर्विकार चैतन्यस्वरूपके अवलोकनमें उत्सुक हैं। और व्यवहारमें जो जिस पदमें है उसके अनुसार अपनी अहिंसाको बनाये हुए हैं। उसका बाहरीरूप क्या बनता है, सो वर्णन चल रहा है कि त्रस हिंसाका तो श्रावक पूर्ण परित्याग करता है और स्थावर हिंसामें भी अप्रयोजनभूत स्थावरोंकी हिंसाका परित्याग करता है और साथ ही इस लोकमें बड़े मौजमें रहते हुए अज्ञानियोंको, मांसभक्षियोंको, शिकारियोंको निरखकर अपने चित्तको डांवाडोल नहीं करता कि यह क्या मामला है, हम तो धर्म करते हुए भी इतनेके इतने ही पाये जा रहे हैं, यहाँ तो बड़ी रूखी स्थिति है और वहाँ वे अधर्मी देखो कितना मौजमें अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं, ऐसा खेद ज्ञानी पुरुष नहीं करता। वह तो यह सब मायामयी समझता है, असत्य समझता है, उन जीवोंकी बरबादीका कारण समझता है, ऐसी प्रवृत्ति होती है ज्ञानी पुरुषमें और वह अन्तरङ्गमें और बहिरङ्गमें अपने पदके अनुसार अहिंसाधर्मका पालन करता है। इसीमें यद्यपि सब कर्तव्य बसे हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए और किस रूपमें अपनी परिणति बनाना चाहिए? एक अहिंसा ही धर्म है और हिंसा ही अधर्म है, यह बात अपने-अपने पदोंमें घटाना चाहिए और अहिंसाके पद पर चलना चाहिए और जैसे रागद्वेष मोह हटे वैसा ज्ञान करना चाहिए। वह ज्ञान है वस्तुके स्वरूपमें मग्नताका भान कराने वाला। उस तत्त्वसे प्रेम करें और अपने अन्तःसहज चैतन्यस्वरूपमात्र मैं हूं, ऐसी अपनी प्रतीति रहे।

सूक्ष्मो भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इति धर्ममुग्धहृदयैर्न जातु भूत्वा शरीरिणो हिंस्याः ॥७६॥

धर्मार्थ हिंसनमें दोष नहीं है, इस कुबुद्धिकी भर्त्सना—धर्मका आधार अहिंसा है और सम्यक्चारित्रका आधार अहिंसा है। अहिंसाका अर्थ है रागादिक भावोंकी उत्पत्ति न करना। रागादिक भावोंके कारण इस आत्माके ज्ञानदर्शन प्राणकी हिंसा होती है अर्थात् ज्ञानदर्शन विशुद्ध परिणमन नहीं कर पाता है। विभाव परिणामोंसे जो इस अंतस्तत्त्वकी हिंसा है वह तो हिंसा हुई और रागादिक भावोंके न होनेसे आत्मामें जो अमित गुणविकास होता है वह सब अहिंसा है। विभावोंका न होना ही अहिंसा है। इस अहिंसाकी पुष्टिके लिए प्रवृत्ति करने वाले जीवोंका कर्तव्य है कि वे ऐसी प्रवृत्ति रखें जिसमें भाव कलुषित न हों, लेकिन धर्मके नामपर अनेक लोगोंने ऐसी-ऐसी प्रवृत्तियां चलाई हैं कि जिनमें भाव भी कलुषित होते हैं और अनेक जीवोंका संहार भी होता है, यह सब धर्म नहीं है-ऐसा बताने के लिए अब कुछ गाथाएँ कही जायेंगी। प्रथम गाथामें यह बताया है कि कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि भगवान्का धर्म तो अतिसूक्ष्म है उस धर्मके लिए हिंसा करनेमें कोई दोष नहीं है। सो कुछ लोगोंका हृदय धर्ममुग्ध है, अंधविश्वासमें है और वे धर्मके नाम पर हिंसा करते हैं। उन्हें समझाया गया है कि इस तरह धर्मविमूढ़ मत हो, अंधविश्वासी न बनो। हिंसा हिंसा ही है, चाहे धर्मका ख्याल करके भी करे वह भी हिंसा हिंसा ही है बल्कि धर्मके नामपर हिंसा करनेमें विशेष पापका बंध होता है, क्योंकि अज्ञानसे वासित चित्त अधिक है इस कारण हे शान्तिके इच्छुक पुरुष! धर्मके लिए भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिए। जैसे एक रिवाज चल उठा है गांजा तम्बाकू आदि पीनेका। भगवानका नाम लें और भगवानका नाम लेकर कुछ दोहा भी

बना डालते हैं शंकर हरिहर नाम लेकर। तो जैसे उन्होंने यह दृष्टि बना ली है दूसरे लोगोंमें बुरा न कहलवानेके लिए शकरके नाम पर, शिवके नामपर गाँजा, तम्बाकू आदि पीते रहते हैं, ऐसे ही कुछ लोग ऐसे हैं कि वे धर्मके नामपर हिंसा करते हैं। हिसा हिंसा ही है। जहाँ परिणामोंमें रागद्वेष आया, विकल्पों की होड़ मची वहाँ हिंसा ही है। हिंसा जीव खुद खुदकी करता है दूसरेकी क्या हिंसा करे? एक द्रव्य दूसरे द्रव्यका परिणमन तो नहीं करता, तो हिंसारूप जो परिणाम है वह भी किसमें किया उस हिंसक ने? अपने आपमें हिंसाका परिणाम किया और अपने आपकी हिंसा की। धर्मके लिए भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिए।

धर्मो हि देवताभ्यः प्रभवति ताभ्यः प्रदेयमिह सर्वम्।
इति दुर्विवेककलितां धिषणां न प्राप्य देहिनो हिंस्याः ॥८०॥

देवताओंके लिये भी हिंसाका दोष--कुछ अज्ञानी लौकिक पुरुष ऐसा विचार रखते हैं कि धर्म तो देवतावोंसे मिलता है इस कारण उन देवतावोंको खुश करनेके लिए उन देवतावोंको वलि दें, पशुवोंकी वलि दें, पक्षियोंकी वलि दें तो यह तो धर्मका ही काम है ऐसा ही अज्ञानी जीवोंका विचार रहता है। यह दुर्विवेक है ऐसी बुद्धिके जो वशमें हैं वे प्राणी घोर आपत्तिमें हैं। देवतावोंके लिए भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिए। व्यवहारविमूढ पुरुष ऐसा ख्याल करते हैं कि मुझे धर्म देवतावोंसे मिलता है। अन्य अनेक ग्रन्थोंमें ऐसा लिख भी दिया है कि इन्द्रसे, ब्रह्मासे धर्म मिलता है। इन्हें धर्मके। स्वरूपकी खबर ही नहीं है कि धर्म किसे कहते हैं? धर्म नाम है वस्तुके स्वभावका और इस प्रकरणमें धर्मनाम है आत्माके स्वभावका। आत्माका स्वभाव है चैतन्यभाव। वह चैतन्यतत्त्व न किसीके द्वारा किया गया है और स्वभाव दृष्टिसे यह चैतन्यतत्त्व रूप धर्म न किसी को उत्पन्न करता है। कार्यकारणभावसे रहित अनादि अनन्त सनातन एक रूप जो चिद्‌भाव है, वही आत्माका धर्म है। और ऐसे चैतन्यस्वरूपकी दृष्टि करना, तन्मात्र अपने आपको मानना, मैं चित्स्वरूप हू, इस प्रकारकी प्रतीति करना, उपयोग बनाना यही कहलाता है धर्मपालन। यह धर्म पालन किसी अन्यसे नहीं मिलता। इस धर्मभावको भूला हुआ पुरुष किसी ज्ञानीके उपदेशको सुनकर अपने हृदयमें यह निर्णय बनाता है और इस परम्परासे यह ज्ञानप्रकाश उत्पन्न करता है, इतने पर भी ज्ञानी पुरुषकी परिणतिसे यह दूसरा श्रोता ज्ञानी नहीं बना है। इस श्रोताने अपने आप में ही ज्ञानकी कला प्रकट करके ज्ञानका प्रकाश पाया है। धर्म किसीसे मिलता नहीं है। हाँ उस पुरुषको पूर्वमें जो साधन मिले, निमित्त मिले उनका आदर है, उनका बहुमान है, उनकी भक्ति है, उनका प्रसाद मानते हैं इस दृष्टिसे हम परमेष्ठियोंसे, साधुजनोंसे, ज्ञानीजनोंसे हमें प्राप्त हुआ है, लाभ हुआ है, ऐसा हम व्यवहार करते हैं, पर वस्तुस्वरूपसे देखा जाय तो हमें जो धर्मलाभ हुआ है वह हमारी परिणतिसे हुआ है। फिर ये लौकिकजन तो निमित्तका भी ख्याल न करके एक सीधा ही मानते हैं। जैसे कोई किसी को कपड़े देता है, पैसे देता है ऐसे ही मानते हैं कि देवतावोंसे हमें धर्म मिलता है और इस आधारपर और देवतावोंके स्वरूपका सही निर्णय न करनेसे, तथा देवतावोंकी आवश्यकता समझ लेनेसे मान लेते हैं कि देवतावोंके लिए पशु पक्षीकी वलि देना, प्राणियोंकी हिंसा करना यह धर्म है। ऐसे अनेक लोग जो कि धर्ममें धर्मके व्यामोहमें विमूढ हैं मानते हैं लेकिन प्राणियोंकी हिंसा हिंसा ही है और देवतावोंके नाम पर हिंसा करे तो इसमें तो और अधिक मिथ्यात्व पुष्ट होता है। देवतावोंके लिए भी किसी कारणसे प्राणियोंका घात न करना चाहिए। एक यह आचारका प्रकरण चल रहा है और इसमें मूलमें कहाँसे आचार शुरू करना चाहिए, ऐसा यह भूमिका रूप कहा जा रहा है। हृदय वास्तविक निर्णयको अंगीकार करले तो धर्मके लिए आचार सही बनता है। ८ मूल गुणोंका अभी वर्णन आया था उसका आधार भी अहिंसा है। अपने परिणामोंमें मलिनता न जगे और इसके फलस्वरूप बाह्यमें प्राणियोंका घात न हो, यही

उन अष्ट मूलगुणोंका अभिप्राय है। धर्मके नाम पर लोकरूढ़िमें किस किस प्रकारसे हिंसावोंमें धर्म माना जा रहा है? इसका भी इस कथनमें दिग्दर्शन होता जा रहा है। मूर्ख पुरुष ऐसा भी ख्याल रखते हैं कि कोई अतिथि आये तो उनका सत्कार करनेमें जीव घात कर में कोई दोष नहीं है। देखिये यह कितना मूढ़ता भरा अभिप्राय है। अरे दूसरे जीवोंके प्रति कुछ भी दयाका भाव नहीं रखते। जिसे अपनी कुछ ... नहीं है उसे परका क्या ख्याल हो? पूज्य पुरुषोंके लिए, अतिथिजनोंके लिए बकरा आदिक जीवोंका घात करनेमें कोई भी दोष नहीं है, ऐसा विचार करके उनके लिए जीवोका घात करना यह तो एक महा-मूर्खता भरी बात है।

पूज्यनिमित्तं घाते छागादीनां न कोऽपि दोषोऽस्ति।
इति सम्प्रधार्य कार्यं नातिशये सत्त्वसंज्ञपनम् ॥८१॥

अतिथिके निमित्त भी हिंसनमें हिंसाका दोष—अब कुछ तर्कवादियोंका वर्णन आ रहा है। कुछ लोग ऐसा कुतर्क करते हैं कि अन्न आदिकके आहारमें अनेक जीव मरते हैं तो उनके बदले एक बड़े भारी जीवको मार डालना, खा डालना अच्छा है, ऐसा एक उनका कुतर्क है, उन्हें जीवोंकी जातिका कुछ पहिचान ही नहीं है। एकेन्द्रिय जीवमें स्पर्शन, कायबल, आयु, श्वासोच्छ्वास—ये चार प्राण होते हैं। एकेन्द्रिय जीवके शरीरमें मास नहीं होता है। मासके आधारमें अनन्त उस जातिके जीव उत्पन्न होते रहते हैं। मांसरहित चार प्राणों वाले एकेन्द्रिय जीवका शरीर होता है, दो इन्द्रिय जीवके स्पर्शन, रसना, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोच्छ्वास, ये ६ प्राण होते हैं। दो इन्द्रिय जीवके शरीरमें मांस होता है। त्रस जीवोंमें उनके शरीरमें मास होता है। केवल एक भोगभूमियां देव नारकीके शरीरमें नहीं होता और परमौदारिक शरीर, आहारक शरीर इनमें मास नहीं होता, शेष त्रस जीवोंके शरीरमें मांस होता है। घ्राणेन्द्रिय जीवोंमें ७ प्राण, इसमें नाक और बढ़ गई, चारइन्द्रियमें ८ प्राण, नेत्रइन्द्रिय और बढ़ गई, असंज्ञी पंचेन्द्रियमें ९ प्राण, इसमें श्रोत्र और बढ़ गये तथा संज्ञी पंचेन्द्रियमें १० प्राण होते हैं वहाँ मनोबल और बढ़ जाता है। इस प्रकार इन जीवोंमें प्राणोंका विभाग है। तो कम प्राणों वाले जीवोंके घातसे अधिक प्राणों वाले जीवोंके घातमें अधिक हिंसा है। यह एक प्राणकी ओरसे उत्तर हुआ और दूसरा अपनी ओरसे उत्तर देंगे तो अधिक प्राणों वाले जीवोंके घातमें इस शिकारीको संक्लेश परिणाम अधिक करना पड़ता है। अनेक एकेन्द्रिय स्थावर जीवोंके घातसे यों यह लीजिए कि अनन्त काय, अनन्त स्थावर जिसमें पाये जाते हैं ऐसी चीजोंके भक्षणमें जो हिंसा होती है उससे असंख्यातगुनी हिंसा दोइन्द्रिय जीवों का घात करनेसे होती है। उसकी और इसकी सदृश्यता नहीं हो सकती कि अनेक स्थावर जीवोंके घात से गाय, भैंस, बकरी आदिक बड़े जीवका घात करले तो उसकी अपेक्षा अच्छा हुआ, ऐसी कोई तुलना नहीं है। एकेन्द्रिय जीवोंका शरीर मांसरहित है, चार प्राणों वाले हैं, उसकी तुलनामें एक बड़े जीवका मारा जाना अच्छा बताना मूर्खतापूर्ण कुतर्क है, तो ऐसा भी ख्याल करना योग्य नहीं है जैसे आजकल के लोग भी जो मांसभक्षी हैं वे ऐसा कुतर्क करते हुए पाये जाते हैं। वे ऐसा ही कुतर्क करते हैं। जीवों की जातिकी पहिचान करना और फिर उनकी हिंसासे हटना यह सब अपने आपकी सुध लेनेका वातावरण है, जिनका उपयोग जीवोंका घात करनेमें लगा है उनके उपयोगमें आत्माकी सुध लेनेकी योग्यता नहीं है। अहिंसाव्रत पालनेके लिए यह आवश्यक है कि जीवोंका घात न करें। किसी भी प्राणीकी हिंसा करना हिंसा ही है, उससे पापका ही बंध होता है। भविष्यमें इन कुकर्मोंके कारण दुःख ही भोगना पड़ता है, जन्म मरणकी परम्परा ही बढ़ती है।

बहुसत्त्वघातजनितादशनाद्वरमेकसत्त्वघातोत्थम्।
इत्याकलय्य कार्यं न महासत्त्वस्य हिंसनं जातु ॥८२॥

जङ्गम जीवके घातके लिये अज्ञानियोंका कुतर्क और उसका समाधान—कुछ लोगोंका ऐसा भी ख्याल होता है कि यदि एक जीवके मार डालनेसे अनेक जीवोंकी रक्षा होती है तो उस हिंसक जीवका घात कर डालना चाहिए। इसका स्पष्ट आशय यह उन्होंने समझा कि जैसे सर्प, सिंह, चीता आदिक जानवर हिंसक हैं, ये दूसरोंको बाधा पहुंचाने वाले हैं तो इन्हें मार डाला जाय तो दूसरे जीवोंको बाधा न रहेगी इससे मारने वालेको पाप नहीं है और पुण्यका ही बंध है ऐसा कुछ लोगोंका ख्याल है, लेकिन इस सम्बन्धमें दो बातों पर दृष्टि डालिए एक तो यह कि किसी भी जीवको मारते समय चित्तमें विकल्प और संक्लेश करना पड़ रहा है या नहीं, पाप तो संक्लेश और मलिन भावसे होता ही है। तो किसी भी प्राणीके मारनेमें संक्लेश करना पड़ता है। हिंसाका भाव मारनेका परिणाम होता है उससे अशुभबंध होता ही है। उसे मारकर हमें पापका उपार्जन किसलिए करना? दूसरी बात यह सोचें कि संसारमें अनन्त जीव हैं, मिथ्यात्वके वशीभूत हैं, एक दूसरेके घातक हैं। हम यहाँ कहाँ तक निर्णय और कहा तक व्यवस्था बनायें कि यह जीव दूसरेको मारता है तो इसे मार डालें। अरे एक दूसरेके मारने वाले पड़े हुए हैं। सिंह अगर किसी पशुको मार खाता है तो वह पशु भी किसी को मारकर खाता है, वह भी किसी अन्यको। तो यों व्यवस्था कहा तक बनेगी, किस किसको मारनेका प्रोग्राम बनेगा? इससे भी यह व्यवस्था उचित नहीं है कि एक जीवके मारनेसे बहुतकी रक्षा है तो उस जीवको मार डालें। हाँ गृहस्थावस्थामें विरोधी हिंसा जरूर होती है और उसका त्यागी गृहस्थ नहीं है। सिंह, चोर, डाकू कोई अपना प्राण लेने आया हो तो बचावके लिए उससे लड़भिडकर प्रत्याक्रमण करके यदि कदाचित् किसी जीवकी हिंसा हो जाय तो उसे विरोधी हिंसा कहते हैं। इस विरोधी हिंसाका त्यागी गृहस्थ नहीं है, लेकिन जो ऊपर जितनी बातें हिंसाकी बतायी गई हैं वे सब संकल्पी हिंसा हैं। संकल्पी हिंसा ज्ञानी पुरुषके नहीं होती, तो ऐसा भी सोचकर कि एकके मारनेसे अनेककी रक्षा होती है इस कारण इस जातिके जीवको मारते रहनेका ही काम बनाये रहें, यह भी अहिंसा धर्मका मार्ग नहीं है।

रक्षा भवति बहूनामेकस्यैवास्य जीवहरणेन।
इति मत्वा कर्तव्यं न हिंसनं हिंस्रसत्त्वानाम् ॥८३॥

हिंसक जीवके हिंसनके लिये कुतर्क और उसका समाधान—कुछ लोग ऐसा भी विचार कर डालते हैं कि यह हिंसक जीव है, बहुतसे प्राणियोंका घात करता है। यह ज्यादा दिन जिन्दा न रहे, नहीं तो ज्यादा पाप कमायेगा। इसे मार डालें तो इसमें पाप नहीं है, ऐसी वे अपने मनमें दया समझते हैं। जैसे सिंह बहुतसे जीवोंको मारता है, बहुत पाप कमाता है, सिंहको मार डालें तो वह पापोंसे बच जायेगा और उसकी गति सुधर जायेगी, ऐसा सोचकर लोग उन जीवों पर दया करके उन्हें मार डालनेकी बात सोचते हैं किन्तु उनकी यह भी बात युक्त नहीं है। क्योंकि पहिली बात तो यह है कि इसमें कोई व्यवस्था बना ही नहीं सकता क्योंकि अनेक जीव अनेक जीवोंका भक्षण करने वाले हैं। दूसरी बात यह है कि उस प्राणी पर कोई क्या दया कर सकता। मार करके उसे पापोंसे कोई बचा सकता है क्या? दया तो यह है कि जो सञ्ज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव है उसमें किसी प्रकार एक सम्यक्त्वका भाव आ जाय। जो जैसा स्वरूप है वह यहाँ उसकी समझमें आये, संसारके अनन्त दुःखोंसे बच निकालनेका साधन बने तो दया नाम इसका है, ये तो सब कल्पनाकी बातें हैं। जैसे कोई जीव दुःखी हो रहा है, तड़फ रहा है और कोई सोचे कि इस तड़फते हुएको मार डालें तो इसका तड़फना मिट जायेगा। अरे उसका तड़फना कौन मिटा सकता है? वह मरकर जिस भवमें जायेगा उस भवमें दुःख पायेगा। अपने आपकी सुध सम्हालो, अपने आपकी हिंसाको बचावो। विकल्प मचाकर, परपदार्थोंमें दृष्टि लगाकर, परसे हित मानकर जो अपने आपके आत्मत[illegible] क की जा रही है उसकी सुध लें। हिंसासे बचनेका उपाय एकमात्र सम्यक्त्व लाभ

है। जब तक जीवको सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं होती तब तक वह अपनी हिंसासे दूर नहीं हो सकता। विषय कषाय और मोह भावोंको लादे रहना यह अपने आपकी कितनी बड़ी भारी हिंसा है। विषय कषायों के प्रेमी पुरुष चाहे ऊपरसे मौज मानते हों किन्तु वे अन्तरङ्गमें बहुत दुःखी हैं, बेचैन हैं, आकुलित हैं, कर्तव्यविमूढ़ हैं। मिथ्यात्ववश विषय कषायोंसे हित मानकर, अपना बड़प्पन समझकर मौज मानते हैं, यह उनकी खोटी बुद्धि है। सम्यक्त्वप्राप्तिके बिना जीवको कल्याण नहीं मिल सकता, शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। तो सम्यक्त्व लाभका साधन बनाना यही है वास्तविक दया। ये तो सब दयाके बहाने हैं। उक्त प्रकारके कुतर्क करके भी प्राणियोंकी हिंसा न करना चाहिए। श्रावकाचारमें मूलमें अहिंसाकी कुछ बातें बतायी जा रही हैं जिससे आगेका वर्णन स्पष्ट रहे कि अणुव्रत महाव्रत जो भी धारण किए जाते हैं उसमें क्या प्रवृत्ति होना चाहिए, क्या लक्ष्य होना चाहिए—ये सब बातें स्पष्ट हो सकें इसके लिए सर्वप्रथम ये हिंसा और अहिंसाके अनेकरूप बताये जा रहे हैं। इस सब वर्णनमें सारभूत वर्णन यह समझना कि जीव अपने आपके विषय कषाय परिणामोंके द्वारा अपने आपके परमात्मस्वरूपकी हिंसा कर रहा है और कर ही सकता यह अपनी हिंसा। दूसरेकी हिंसा वह दूसरा जीव अपने आपकी कुबुद्धिसे करता है, लेकिन जिसका परिणाम मलिन है वह मलिन परिणामसे प्रेरित होकर ऐसी प्रवृत्ति करता है कि दूसरे प्राणियोंका प्राण घात कर डालता है। अतः द्रव्यहिंसा और भावहिंसा दोनों हिंसाओंका स्वरूप समझकर अहिंसक पुरुषको दोनों प्रकारकी हिंसाओंसे बचना चाहिए और अहिंसक बनकर इस परम अहिंसककी उपासना करके उचित प्रकाशको दृष्टिमें लेकर अपने अन्तः प्रसन्न रहना चाहिए, निर्मल रहना चाहिए और आत्मीय आनन्दका अनुभव करके अपनेको कृतकृत्य बना लेना चाहिए। इतना ही सारभूत काम है, इसे कर लेना चाहिए। अन्य बाहरी बाहरी कामोंमें हाथ पैर पीटनेसे काम न चलेगा।

बहुसत्त्वघातिनोऽमी जीवन्त उपार्जयन्ति गुरुपापम्।
इत्यनुकम्पां कृत्वा न हिंसनीयाः शरीरिणो हिंस्राः ॥८४॥

हिंसक जीवोंपर कृपाके लिये हिंसकोंके हिंसनका कुतर्क और उसका समाधान—धर्मपालनका आधार अहिंसा है। जहाँ अहिंसा है वहां धर्म है, जहां हिंसा है वहां अधर्म है। इस प्रसंगमें यह बताया जा रहा है कि कोई पुरुष यदि ऐसा विचार करे कि यह हिंसक पुरुष बहुतसे जीवोंको मारता है। यह हिंसक प्राणी बड़ा पाप बांधता है, इस हिंसकको मार दें तो बेचारेके पाप बच जायेंगे। ऐसी दया करके हिंसकको मार देना चाहिए, ऐसा कुछ लोगोंका ख्याल है, किन्तु यह बात धर्मसम्मत नहीं है। तुम किस-किस प्राणीकी व्यवस्था बनावोगे कि यह जीव हिंसक है, तुम कहा तक निर्णय बनावोगे कि यह जीव हिंसक है, यह बहुतसे जीवोंका घात करता है इस लिए इसे मार दो तो यह पापसे बच जायेगा। कहां तक ढूँढ़ोगे और फिर यह तो एक बाहरी बात है। अन्तरकी बात देखो जो जीव विषय कषायोंमें मग्न हो रहे हैं, अपने आपमें रागद्वेष मोहमें मुग्ध हो रहे हैं वे तो निरन्तर हिंसा किए जा रहे हैं, उनका इलाज तुम क्या करोगे? अपने आपकी बात सोचना चाहिए कि हमारे अहिंसा धर्म प्रकट हो। बाहरी व्यवस्था बनाकर कोई अहिंसक वातावरण बना ले अथवा हिंसाका परिहार करदे यह बात न बन सकेगी। यह निर्णय लेना कि ऐसा परिणाम बनावें, जिसमें अपने आपके परमात्मस्वरूपका दर्शन होता रहे और इसी बुनियाद पर बाहरमें दूसरे जीवोंका सताना न बने। यह अहिंसा का वातावरण है। जिसका लक्ष्य विशुद्ध होगा वह पुरुष किसी भी अवस्थामें हो अपने पदके अनुसार ऐसा ही व्यवहार रखेगा जिससे बाहर भी अहिंसा हो और अन्तरङ्गमें भी अहिंसा हो। अहिंसाको परमधर्म बताया है और बताया है कि जहां यह धर्म है, जहा यह अहिंसा है वहाँ नियमसे विजय है। उसका भाव यह है कि अपना परिणाम विशुद्ध रखना, निर्मल

रखना सो अहिंसा है, यही धर्म है। जो अपना परिणाम निर्मल बनायेगा उसकी नियमसे विजय होगी। तो अहिंसासे विजय ही है इसमें किसी भी प्रकारका सदेह नहीं है।

बहुदुःखासज्ञपिताः प्रयान्ति त्वचिरेण दुःखविच्छित्तम्।
इति वासना कृपाणीमादाय न दुःखिनोऽपि हन्तव्याः ॥८५॥

शीघ्र दुःख दूर करनेके आशयसे दुखियोंको मार डालनेका कुतर्क और उसका समाधान— अहिंसाके प्रकरण में अनेक प्रश्न उठाकर उनका समाधान दिया जा रहा है। यहा एक प्रश्न किया गया अथवा एक ऐसा तर्क उठाया कि भाई कुछ जीव ऐसा दुःखी होते है रोगसे, दरिद्रतासे जो भूखे प्यासे अपना गुजारा किया करते है ऐसे पुरुषको यदि तत्काल गोलीसे मार दो तो उसका दुःख दूर हो जायेगा ऐसा कुछ लोग ख्याल करते हैं लेकिन उनका यह विचार धर्मसम्मत नहीं है। अधर्मकी बात है, क्योंकि एक तो ऐसा नियम नहीं है कि शरीरसे जीव छूट जाय, एक शरीरसे जीव निकल जाय तो आगे उसे दुःख न होगा। जिस जीवने जैसा कुछ पाप कमाया है उसके उदयानुसार उसे फल भोगना होगा। मरकर आगे जायेगा उसे भी उस उदयके अनुसार दुःख भोगना होगा। उसका वह दुःख तब दूर होगा जब कर्मोंसे छुटकारा होगा और वह दुःखोंसे तो छूटेगा नहीं, लेकिन यह अज्ञान भरा भाव बनानेसे और दूसरेके प्राणोंका घात करनेसे जो हिंसा हुई है वह हिंसा बराबर रह जायेगी और देखिये नरकगतिके जीव तो चाहते हैं कि मेरा मरण हो जाय क्योंकि वहा अतिशय दुःख हैं। सो उनके चाहने से उनका मरण नहीं हो जाता। वहां तो आयु पूरी भोगनी पड़ती है, चाहे देहके तिल तिल बराबर खण्ड हो जायें, फिर भी वे पारेकी तरह मिलकर फिर शरीर बन जायेंगे। वे बीचमें नहीं मरते, देव भी नहीं मरते और वे चाहते भी नहीं कि मेरी मृत्यु हो जाय। बल्कि देव तो यह चाहते हैं कि मेरा जीवन अत्यन्त लम्बा रहे क्योंकि बड़े सुखमें हैं मनुष्य और तिर्यञ्च कोई यह नहीं चाहते कि मेरा मरण हो जाय, चाहे कैसी ही परिस्थिति हो। किसी घरमें एक बुढ़िया थी, बहुत दुःखी थी, उसके लड़के पोते सुखसे नहीं रखते थे, भूख प्यासकी भी बात नहीं सुनते थे, शरीरसे भी बहुत शिथिल हो गयी थी। वह सुबह शाम रोज भगवानसे यह प्रार्थना करती थी कि हे भगवन्! मुझे उठालो अर्थात् मेरी मृत्यु हो जाय। कुछ दिन बाद एक बड़ा भयकर सर्प निकला तो बुढ़िया चिल्लाकर कहती है— अरे नाती पोतों! दौड़ो मुझे सर्पसे बचावो। तो कोई नाती कहता है— अरी बुढिया माँ तू तो रोज-रोज सुबह शाम भगवानसे प्रार्थना किया करती थी कि हे भगवान, मुझे उठा लो, सो भगवानने आज तेरी प्रार्थनाको सुना है। तो दुःखकी कैसी ही बात आये पर मरना कोई नहीं चाहता है। कोई मरना भी चाहता है तो उसके प्राण घातके समय उसे बड़ी बेचैनी होती है, उसमें वह बहुत अधिक पाप कमा लेता है, इस कारण ऐसा न सोचना चाहिए कि यह जीव बड़ा दुःखी है, इसको मार डालें तो यह दुःखसे छूट जायेगा। अपना परिणाम निर्मल रखिये और जहा तक बने दूसरेके सुख सातामें सहयोग दीजिए, पर किसी भी आधार पर किसी दूसरे जीवके प्राण का घातकर देना, यह धर्म नहीं है।

कृच्छ्रेण सुखावाप्तिर्भवन्ति सुखिनो हताः सुखिन एव।
इति तर्कमण्डलाग्रः सुखिनां घाताय नादेयः ॥८६॥

सुखस्थोंको मारनेसे वे सुखी रहेंगे, इस आशयसे सुखियोंको मार डालनेका कुतर्क और उसका समाधान—

इस प्रसगमें वे सब विचार बताये जा रहे हैं कि जिन विचारोंको करके लोग ऐसा मान बैठते हैं कि यह अहिंसा है और यही धर्म है। कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि सुखकी प्राप्ति बड़े कष्टसे होती है। बड़ी-बड़ी तपस्यायें करते हैं, नियम सयम समाधि धारणा बड़ी-बड़ी तपस्याओंके बाद सुखकी प्राप्ति होती है। और कोई जीव यदि ऐसे सुखमें हो और ऐसे सुखमें रहने वाले उस जीवको मार डाला जाय

तो उसे सुख ही सुख मिलेगा इसलिए जो सुखमे हो उसे मार डालना चाहिए, ऐसा लोग अपना कुतर्क रखते हैं। उनका मतलब क्या ? तो सीधे शब्दोंमें यह समझलें कि जैसे कोई त्यागी व्रती मुनि साधु ऊँचा तपस्वी योगी अगर बड़े ध्यानमें स्थित है, बड़ा आत्मीय आनन्द भोग रहा है तो फिर उसका शिर काट दो तो वह उसी आनन्दमें बना रहेगा ऐसा कुछ लोग कहते है। धर्मकी बात नहीं कही जा रही है। उनका यह विचार बिल्कुल व्यर्थका है, क्योंकि सुख तो सत्य धर्मकी साधनासे होता है। अथवा यों समझिये कि उनका यह भी विचार है कि जो वर्तमानमें बहुत सुख सम्पन्न हैं, धन वैभव भी अधिक हैं, बड़े सुखमें अपना जीवन बिता रहे हैं, यदि ऐसा कोई भोगी गृहस्थ भी हो तो उस मौजमे रहने वाले को भी मार दो तो शायद सुखमें रहा करेगा ऐसा सोचना मूर्खतापूर्ण बात है क्योंकि सुख तो होता है अपने आपके आत्माके दर्शनसे, परमात्माकी भक्तिसे। परमेष्ठीके गुणानुवादसे। उससे ही आत्मीय आनन्दकी झलक होती है, वह जिसके हुआ वह ठीक है और ऐसा भी नहीं है कि कोई यदि ऐसे धर्मध्यान में संलग्न है और उसका घात कर दिया जाय तो धर्मध्यान चलता रहेगा। प्राणघात का एक ऐसा हिंस्र काम है कि प्राणघातके समय वह सब भूल जाता है और एकदम उपयोग बदल जाता है तो उसको सुख कहाँसे होगा ? अहिंसाके बारेमें जितने कुतर्क उठाये जा सकते है वे सब कुतर्क पेश कर करके अमृतचन्द्राचार्य उनका समाधान दे रहे है। सबका समाधान इतना है कि अपने परिणामोंको विशुद्ध रखें, किसी दूसरे जीवके प्राणोंका घात न करें, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह, ये हिंसा कहलाते हैं, इनसे बाहर हटें और अपने आपमें जो अपना विशुद्ध ज्ञानस्वरूप बसा हुआ है उसका उपयोग रखें और आत्मीय आनन्दसे तृप्त रहें। यही परम अहिंसा है। इस गाथामें इस बातसे सावधान किया है कि ऐसा ज्ञान मत बतावो कि कोई जीव यदि सुखमें है, बड़े मौजमें रह रहा है तो उसे मार डालो तो शायद उसके मौज ही मौज बना रहेगा। प्राणघातके समय वह संक्लेश परिणाम करेगा तो दुःख पायेगा, ऐसा अज्ञान भरा विचार बनाना ये सब मिथ्यात्वकी बातें हैं।

उपलब्धिसुगतसाधनसमाधिसारस्य भूयसोऽभ्यासात्।
स्वगुरोः शिष्येण शिरो न कर्तनीयं सुधर्ममभिलषिता ॥८७॥

समाधिस्थ गुरुको मार डालनेसे ये उच्च पद प्राप्त कर लेंगे इस आशयसे गुरुका सिर काट डालनेका कुतर्क और उसका समाधान—एक कुतर्की पुरुष ऐसा विचार कर रहा है कि ये गुरु महाराज, ये योगीश्वर बहुत कालसे समाधिका अभ्यास करते आ रहे हैं इस अभ्यासमें इनके समाधि भी प्राप्त हो रही है और ये समाधिमें मग्न हो रहे हैं, ऐसे समयमें इन गुरुराजका यदि प्राणान्त कर दिया जाय तो ये बहुत ऊँची गति प्राप्त कर लेंगे, ऐसा मिथ्याश्रद्धान करके वहाँ गुरुवोंका शिर मत काट देना। अहिंसाके बारेमे बहुत बहुत तरहके विचार उठा रहे हैं। देखिये उन गुरुराज ने जो कुछ साधना की है उसके फलमें वे अपने आप निकट भविष्यमें उच्च पद प्राप्त करेंगे, फल पायेंगे। ऐसे समयमें उनके शिरका छेदन कर देनेसे उनका उपयोग बदल सकता है, समाधि भंग हो सकती है। दुर्गतिमें चले गए तो उन्हें क्या लाभ पहुचाया दूसरे जो प्राणघात करता है वह खुद हिंसाका भागी होगा। यह तो पापबंध ही करेगा। अहिंसा है अपने आपके विशुद्ध चिदानन्दस्वरूपके दर्शन करने में उसमें ही अपना उपयोग स्थिर रखनेमें। ऐसा कोई गुरु यदि कर रहा हो तो अपनी समाधिके प्रतापसे ही वह शरीरसे मुक्त हो जायेगा। वह तो पथकी बात है पर कोई किसीका शिर छेदन करदे तो उसमें न हिंसकका भला है और न जिसकी हिंसा की गई है उसका भला है। हिंसा और अहिंसा तो परिणामों पर निर्भर है, यदि विषय-कषायोंसे भरे हैं, चप्रकार के पापोंसे भरे हैं तो हिंसा है और इनसे विरक्त होकर एक अपने आपमें सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके उपयोगरूप रहेंगे तो यही है अहिंसा और भी कुतर्कियोंका कुतर्क सुनिये।

धनलवपिपासितानां विनेयविश्वासनाय दर्शयताम्।
झटिति घटचटकमोक्षं श्रद्धेयं नैव खारपटिकानाम् ॥८८॥

लुब्ध अज्ञानियोंका शरीरवियोग करनेमें मोक्ष बतानेका कुतर्क और उसका समाधान—कुछ कुतर्की ऐसा तर्क पेश करते हैं कि जैसे घड़ेमें कोई चिड़िया बद है और घडेको फोड़ दिया जाय तो चिड़िया उड़ जायेगी, स्वतंत्र हो जायेगी, सुखमें आ जायेगी, ऐसे ही यह आत्मा इस शरीरमें दबा हुआ है, शरीरमें बद है तो शरीर को फोड़ दिया जाय याने शरीरको काट दिया जाय तो यह आत्मारूपी चिड़िया शरीर से अलग होकर सुखी हो जायेगी। इसलिए जिस चाहे जीवको ऐसी दया करके मार डालना चाहिए ऐसा कुछ लोग कुतर्क रखते हैं, खोटे विचार रखते हैं और देखो इस ही विचारधाराको ही वे लिए थे जो शायद अब तो नहीं करते है, जैसे काशी करौत और ओंकारेश्वरमें एक ऊँची जगह बना रखी है जहासे सीधे नीचे चट्टानोंपर गिरते थे, सुनते हैं कि वहासे ऊपरसे पटककर धक्का दे दिया जाता था और नीचे चट्टानपर गिरकर उसका मरण हो जाता था, उससे लोग समझते थे कि अब वह मरने वाला मुक्त हो गया। ऐसे ऐसे स्थान निकट पूर्वमें बने हुए थे जो स्थान अब भी दिखते हैं, इस प्रकार धर्मके नाम पर मनुष्योंको मारा जाता था और वे मनुष्य अज्ञानवश धर्मके नामपर मरनेके लिए तैयार हो जाते थे। कोई पडा किसी को जबरदस्ती न पटकता था किन्तु धर्मके आवेशमें आकर मिथ्या श्रद्धानसे खुद जाकर उन पंडोंसे प्रार्थना करते थे कि मुझे इस शिलासे पटककर मारकर मुक्त करा दो। इस तरह उनका प्राणान्त किया जाता था, उसमें वे अपनी मुक्ति समझते थे। आचार्यदेव कहते हैं कि यह बिल्कुल मिथ्या श्रद्धान है, मूर्खता भरा अभिप्राय है। यह तो थोडेसे धनकी चाह रखने वाले पुरुषोंने एक प्रोपेगंडा किया है और इस तरह मारने की प्रक्रिया बनायी है क्योंकि वे यात्री लोग जो धर्म तीर्थके लिए निकलते थे वे किसी आवेशमें आकर यह चाहने लगे कि झट मेरी मुक्ति हो जाय, झट मैं भगवानके पास पहुच जाऊँ। इस अभिप्रायसे वे पडोंको दान दक्षिणा देते थे अपनी मुक्तिके लिए और उन्हें मार डाला जाता था। यह कोई धर्मकी बात न थी। यह तो थोड़ा पैसोंके लालची पुरुषोंने ऐसा ढोंग रच रखा था। वह तो महापाप वाली बात है। ऐसा विश्वास करके खारपटिक मतके ढगसे शरीरके छुटानेका निषेध किया है कि इस तरहसे अपने प्राण घात मत करो। उसमें तकलीफ होती थी। पर्वतसे गिरकर मरते समय आप अदाज लगा सकते हैं कि वे कितना तड़फ तड़फकर मरते होंगे, कितना सक्लेश उनको करना पड़ता होगा? ऐसे तड़फ तड़फ कर सक्लेशमें मरने वाले प्राणी क्या सद्गतिको प्राप्त कर सकते हैं? कदापि नहीं। अहिंसाका स्वरूप ही विलक्षण है और मूलमें तो यह बताया है कि सकल्प-विकल्प, रागादिक पापोंके अभिप्राय उत्पन्न न हों, उसका नाम अहिंसा है। तो इस प्रकार भी अपने प्राणोंका घात न करना चाहिए।

दृष्ट्वापरं पुरस्तादशनाय क्षामकुक्षिमायान्तम्।
निजमांसदानरभसादालभनीयो न चात्मापि ॥८९॥

देखिये एक और दयालु पुरुष बन करके अपनी बात रख रहे हैं। यह अज्ञानी जीव कहता है कि कोई मास भक्षण करने वाला पुरुष मासकी याचना करने आये उसे मास दे दो। यदि अपने शरीरका मास काटकर भी देना पडे तो दे देना चाहिए। यह दान है यह अहिंसा है—ऐसा मानता है वह अज्ञानी पुरुष। आचार्यदेव कहते हैं कि यह भी बहुत बड़ा भूल भरा ख्याल है। एक तो जो मासकी याचना करे कि मुझे मास दे दो, ऐसी याचना करने वाला पुरुष पापी है, दानका पात्र नहीं है, उसकी बात सुनना काबिल नहीं है, दूसरे मासका दान देना यह शास्त्रमें नहीं बताया है, धर्मसे बहिर्भूत बात है। तीसरी बात यह है कि जिसने अपने आपका घात किया, अपना मांस निकाला, अपने को सक्लिष्ट बनाया वह

तो स्वयं पाप बन रहा है। ऐसे प्रसंगमें कोई मांसकी भिक्षा चाहे और यह दयामें आकर अपने शरीरका मांस दे दे तो ये सारी विडम्बना की बातें हैं।

मासभक्षी पुरुषकी क्षुधा मेटनेके लिये अपने देहका मासदान करनेका कुतर्क और उसका समाधान—जो याचना करने वाला है वह भी पापी है और जो मांस-खण्डका दान करने वाला है वह भी पापी है। अहिंसाके प्रसंगमें मुख्य तो यह बताया है कि भाई सर्वपापोंसे रहित सर्वविकारोंसे परे जो अपने आप का सहज शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, जो परमात्मतत्त्व है, जो समस्त आकुलतावोंसे परे है, परमहितरूप है ऐसे इस अंतस्तत्त्वके, कारणपरमात्मतत्त्वके इस समयसारके दर्शन करिये और इसमें ही उपयोग लगाकर आत्मीय आनन्द अमृतरसका पान करते रहिये। यह एक परम अहिंसाकी बात है। ऐसी मूलमें बात रखकर फिर चूंकि व्यवहारीजन हैं, एक इस भवमें पडे हैं, गृहस्थावस्थामें है, भूख प्यासकी वेदना नहीं सह सकते। तो ऐसे व्यवहारमें रहने वाले जीवोंको क्या उपदेश किया जाय जिससे इनके यह पात्रता बनी रहे कि वे इस कारणसमयसारका जब चाहे दर्शन कर सकें और मोक्षमार्गसे भ्रष्ट न हो सकें, ऐसी दया करके आचार्य महराज श्रावकधर्मका व्याख्यान कर रहे हैं। श्रावकका आचरण कैसा होना चाहिए? अहिंसा की पूर्ति वाला उनका आचरण होना चाहिए। जब एक अहिंसाकी प्राप्तिका उद्देश्य बनाया है तो जब जब व्यवहारमें हो तब तब हमारा ऐसा व्यवहार हो जो अहिंसाके प्रतिकूल न हो। इसी कारण बात यहाँसे प्रारम्भकी है कि सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि मद्य, मांस, मधु और पंच उदुम्बर फल इनका त्याग होना ही चाहिए। इसके बाद फिर कुछ ऐसे कुतर्कोंका खण्डन किया है जो लोग मानते हैं और अपने धर्मसे च्युत होते हैं। वे समझते हैं कि हमने धर्मका पालन किया, जैसे देवतावों को बलि चढाना, अतिथियोंको मांस खिलाना, दुखी जीवोंको मार डालना, सुखी जीवोंको मार देना, समाधिमें मग्न हुएको मार देना, ऐसी अनेक बातों में जो भ्रमवश धर्म मानते हैं और अपने पर दूसरों पर अन्याय करते हैं उनका समाधान किया है कि इस प्रकार अपनेको उन खोटे विचारोंसे बचना चाहिए और परम अहिंसा भावमें आना चाहिए। इस तरह कुछ कुतर्कोंका खण्डन करते हुए यहा तक बहुत सी बातें आचार्यदेवने बताई कि अहिंसा व्रत चाहने वालेको अपना कैसा व्यवहार रखना चाहिए, कैसी प्रवृत्ति रखना चाहिए? एक बात खास यह है कि अपना यह भाव आना चाहिए कि मेरा हित कैसे हो? इस दुनियामें मुझे कुछ नहीं जताना है, मुझे कुछ नहीं बनना है, कोई मेरी बात मान जाय, इससे मुझे कुछ नहीं मिलना। मेरा हित कैसे हो? इन कर्मोंसे प्रेरे गए संसारमे भ्रमण करने वाले इस मुझ दीन संसारी पर्यायोंमें रहने वालेका हित कैसे हो? मूलमें यह बात रखें, बाहरकी और सब विडम्बनाओंको छोडें। यह बात चित्तमें रहेगी तो सर्वसम्पत्तियां प्राप्त होंगी और सम्पन्नता रहेगी। श्रोता वही वास्तविक है जिसके चित्तमें यह भाव हो कि मेरे आत्माका हित कैसे हो? मुझे तो उसी उपदेशको सुनना है कि चैतन्यस्वरूप क्या है और उसमें मुझे कैसी दृष्टि लगानी चाहिए? मैं अपने उपयोगको कहां ले जाऊँ जिससे मेरे आत्माका हित हो। आत्माका हित हो वही वास्तविक अहिंसा है, वही निर्विकल्प रहने का उपाय है। तो निर्विकल्प रहनेका उपाय आचार्यदेव बतला रहे हैं, हमे उस उपायसे चलना चाहिए और अपनी हित-साधना करनी चाहिए।

को नाम विशति मोहं नयभङ्गविशारदानुपास्य गुरून्।
विदितजिनमतरहस्यः श्रयन्नहिंसां विशुद्धमतिः ॥९०॥

ज्ञानी गुरुओंकी उपासना करके धर्मरहस्यके ज्ञाता पुरुषोंके अहिंसासम्बन्धमें मूढ़ताका अभाव—अहिंसा और हिंसाके सम्बन्धमें जो बहुत विस्तृत वर्णन किया गया है, जिसको सुनकर अनेक नयके अनभिज्ञ पुरुषोंको आश्चर्य और शंकाएँ हो सकती हैं। उन समस्त वर्णनोंको यदि नयोंके ज्ञानपूर्वक समझा जाय

तो उसमें संदेहका कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और हिंसाका मूल स्वरूप यह है कि राग द्वेष मोह परिणाम न होना सो अहिंसा है और राग द्वेष मोह परिणाम होना सो हिंसा है। अब इस मूल निरूपणके अनुसार बाह्यमें जो हिंसायें होती हैं, द्रव्यहिंसा चलती है उनका वर्णन करना चाहिए और इस विधिसे अनेक बातें ये सिद्ध होती हैं। जो अपने अन्तरङ्ग परिणाममें अहिंसक है कदाचित् उसकी देह प्रवृत्तिसे किसी कुंथु जीवके प्राणका घात भी हो जाय तो वह हिंसा नहीं होती। कोई पुरुष अन्तरङ्ग परिणाममें सावधान नहीं है और अयत्नाचाररूप प्रमादके अवस्थामें गमन कर रहा है, चाहे कोई जीव उसके चलनेमें न भी मरे तो भी हिंसा है। हिंसाका जहां परिणाम किया है, चाहे प्राणोंका घात न भी होत तो भी हिंसा हो जाती है। कोई हिंसामें प्रवृत्ति करता है उसको भी हिंसा है और कोई हिंसाका त्याग नहीं किए है तो भी हिंसा है। कोई पुरुष हिंसा नहीं भी कर पाता है लेकिन हिंसा परिणाम होनेके कारण हिंसा न करके भी हिंसाके फलको भोगता है और जिसके परिणाममें हिंसाका परिणाम नहीं है बल्कि दयाका परिणाम है उसके शरीरसे हिंसा भी हो जाय तो भी हिंसाका फल नहीं मिलता। देखिये सब वर्णनोंमें आधारको न छोड़िये। रागद्वेष मोह परिणाम होना हिंसा है और रागादिक भावोंकी अनुत्पत्ति अहिंसा है। कोई जीव थोड़ी भी हिंसा करता है और समयपर उसे बड़ी हिंसाका फल भोगना पड़ता है। कोई जीवसे बड़ी हिंसा भी होती है पर उदयकालमें थोड़ी ही हिंसाका फल भोगना होता है। ये सब बातें कही जा रही हैं मौलिकस्वरूपका विरोध न करके। एक साथ कई जीवोंने कोई हिंसा की, किसीको हिंसाका बड़ा फल मिला और किसीको हिंसाका अल्प फल मिलता है। कोई जीव हिंसा नहीं कर सका, पर फल पहिले ही भोग लेता है। हिंसा एक करे फल बहुत लोग भोगें, बहुत मिलकर हिंसा करें, फल एक भोगे, इस प्रकार अनेक बातें जो कि अज्ञानी जनोंको ये शका और आश्चर्यका कारण बनती हैं, किन्तु नयोंके मर्मको जानने वाले गुरुवोंका उपदेश पाकर जो निर्मल बुद्धि वाले विशुद्ध श्रोता हैं उनमें मोह नहीं प्राप्त होता अर्थात् जिन वचनोंमें कोई कुतर्क अथवा उल्टी बातका ग्रहण नहीं करते।

तदिद प्रमादयोगादसदभिधान विधीयते किमपि।
यदनृतमपि विज्ञेय तद्भेदाः सन्ति चत्वार ॥९१॥

असत्यका मौलिक स्वरूप और असत्यके भेद—जैसे हिंसा नामक पाप तो हिंसा है ही, पर झूठ बोलना चोरी करना, कुशील सेवन करना, परिग्रहमें बुद्धि रखना, सचय करना जैसे सब पाप भी हिंसा पाप हैं। लोगोंको प्रकृति भेद बतानेके लिए ५ भेद बताये हैं, वस्तुत ये पांचों पाप हिंसा हैं, क्योंकि आत्माके परिणामोंकी हिंसा इन पाप कार्योंमें होती है। तो हिंसाका वर्णन करके अब यह झूठ नामक पापका वर्णन चल रहा है कि कुछ भी परिणाम कषायके योगसे जो स्व और परकी हानि करें ऐसे जो वचन बोले जायें वे झूठ समझना और वह झूठ बोलने नामक पापके ४ भेद बताये गए हैं। मुख्य बात तो जैसे कि अन्य लोगोंने भी कहा है कि १८ पुराणोंमें सारभूत बात क्या है कि परोपकार पुण्यके लिए है और परपीड़ा पापके लिए है, थोड़ा उसमें यह और मिला लीजिए कि अपना और परका उपकार यह तो पवित्र है, धर्मरूप है और अपने और पराये दोनोंका नुकसान पहुचाना यह पापरूप है। जिस वचनमें अपनी भी हानि है, दूसरेकी भी हानि है वे वचन असत्य कहे जाते हैं। असत्य शब्दका अर्थ है जो सत्य नहीं है। असत्य बोलने वाला कितना घातक है, कितना अविश्वासी है, कितना धोखा देने वाला है? इस सम्बन्ध में सभीको अनुभव होगा। यों समझिये कि असत्यवादी भी घात करने वाले शिकारी जनोंसे कम नहीं हैं। अनेक प्रसग आपने सुने होंगे, देखे होंगे अथवा अनुभव किया होगा कि किसी एकके असत्य बोलनेसे प्राणो पर क्या गुजरती है। जो लोग झूठी गवाही देते हैं, दूसरेकी झूठ बात बोलते हैं, निन्दा करते हैं उनका हृदय कितना क्रूर होता है और ऐसे क्रूर पुरुषमें धर्म समा सकता हो, इसकी सम्भावना कौन कर सकता

है ? क्रूर चित्तमें धर्मकी बात उस तरह नहीं समाती जिस तरह मालाके टेढ़े छिद्र वाले दानेमें सूत नहीं पिरोया जा सकता। जिसका हृदय टेढ़ा हो गया है, कपटी हो गया है, मायाचारसे भरा हुआ है अतएव क्रूर हो गया है ऐसे पुरुषके हृदयमें धर्म नहीं समा सकता। असत्यवादियोंमें ये बातें प्रकृत्या आ जाती हैं। झूठ बोलने वाला क्रूर होता है, मायाचार परिणामसे भरा हुआ होता है, हठी होता है, दुराग्रही होता है, ऐसे पुरुषमें धर्मवासना नहीं आ सकती। वह पुरुष अपनी हिंसा किए जा रहा है। भगवान कारण-समयसार अरहंत सिद्धकी तरह अनन्तचतुष्टयका धनी यह स्वयं है। इसकी हिंसा हो रही है, बरबादी हो रही है। अनुचित वचन भी हिंसा है, इसके चार भेद बताये जा रहे हैं जिनका लक्षण आगे कहेंगे। चार भेद यों समझिये कि चीज तो है नहीं और है कह देवे, यह पहिला झूठ है। चीज तो है और नहीं है ऐसा कह देवे, यह दूसरा झूठ है। चीज तो और कुछ है, बताना और कुछ, यह तीसरा झूठ है और चौथा झूठ है जो वचन निन्द्य हों, पापोपदेशक हों, और अप्रिय हों वे भी असत्य हैं और यह असत्य चौथे प्रकारका है। इसमें अब पहिले प्रकारके असत्यकी परिभाषा करते हैं।

स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥९२॥

सन्निषेधनामक असत्य वचन—जो पदार्थ अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावसे विद्यमान है उसका निषेध किया जाय कि नहीं है वह असत्य है। जैसे किसीसे पूछें कि भाई घरमें देवदत्त है क्या? है तो लेकिन कोई कहदे कि देवदत्त नहीं है, यह असत्य हो गया। इसको क्या ज्यादा समझना। लोकमें इन सब असत्योंका खूब भली प्रकार प्रचार है। जो पदार्थ है उस पदार्थमें न कर देना, यह प्रथम असत्य है। देखिये प्रमाद कषायके सम्बन्ध वाली बात है यह। यहाँ अनेक बातें युक्तियोंसे सोच सकते हैं कि जिनका अभिप्राय अच्छा है और कदाचित् है को न करना पड़े तो अभिप्राय अच्छा होने से उसमें असत्यका दोष न होगा या पद माफिक कम दोष होगा। जैसे एक घटना बहुत प्रसिद्ध कही जाती है कि कोई शिकारी किसी गायको वध करने के लिए जा रहा था, गाय उसके हाथसे छूट गयी और गायने बहुत वेगसे दौड़ लगाई। गाय बहुत दूर निकल गई। वह शिकारी पीछा किए दौड़ा जा रहा था। कोई एक श्रावक रास्तेमें बैठा था, उससे शिकारी ने पूछा कि यहांसे कोई गाय निकली है? तो श्रावक पहिचान गया, उसके हाथमें छुरी थी, उसके कटाक्ष बुरे थे। उसका आशय जानकर वह श्रावक बोल गया कि यहाँसे तो नहीं निकली। देखिये है को न कहा, मगर उसके आशयको तो सोचिये। इसी प्रकारकी और भी बातें हैं कि है को न कहने पर भी झूठका कम दोष लगता होगा। बच्चे लोग खूब पैसा मांगते हैं, पर जेबमें पैसा पड़े होने पर भी कह देते हैं कि नहीं हैं पैसा। तो इसमें कोई आशय बुरा नहीं है, इस कारण झूठका कम दोष लगता होगा। कोई आपसे दो हजार रुपया उधार मांगे पर आप कह दें कि इस समय हमारे पास रुपया नहीं है, अरे है क्यों नहीं? ४०—५० हजार तो जमा हैं पर आपका चूँकि यह अभिप्राय है कि हमें देना नहीं है क्योंकि इससे वापिस न आयेंगे तो आप झूठ बोल देते हैं, पर इसमें ज्यादा झूठ बोलनेके दोष वाली बात नहीं है। झूठका दोष कम लगे, ज्यादा लगे, यह बात एक आशय पर निर्भर है। कुछ लोग झूठ बोलनेका परिणाम न होते हुए भी झूठ बोलते हैं। कोई बाबूजी अपने घरमें बैठे हुए देख रहे थे कि घरके सामने से कोई सेठ आ रहा है, उसका इन बाबू जी पर कुछ कर्ज था। बाबू जी तो घरके भीतर चले गए और अपने बच्चेसे कह दिया कि अगर कोई हमें पूछे तो कह देना कि बाबू जी यहाँ नहीं हैं, बाहर गए। जब सेठने उस बच्चेसे आकर पूछा कि बाबू जी कहाँ हैं? तो वह लड़का उत्तर देता है कि बाबू जी यहां नहीं हैं, बाहर गए। तो सेठ ने फिर पूछा—अरे तो बाहर कहां गए? तो लड़का कहता है अच्छा ठहरो, मैं अभी बाबू जी से पूछकर आता हूं और इसका भी उत्तर देता हूं। उसे पता ही

नहीं कि यह झूठ बोलना कहलाता है। वह तो आज्ञाकारी था, आज्ञा मानता जा रहा था तो पापके प्रकरणमें परिणामोंकी बात देखना चाहिए। कभी कोई बच्चा छत पर खेलता हो और छतकी मुरेड़ पर चलता हो या बहुत ऊँचा उठकर बाहर निरखता हो तो वहाँ तो उस बच्चेके बाहर गिरनेकी सम्भावना है ना, तब मां को गुस्सा आता है और बच्चेसे कहती है नासका मिटा, होते ही न मर गया, कई बातें बोलती है क्योंकि वह मरनेके तो उपाय बना रहा है, सो ऐसा बोलकर भी माँ के चित्तमें उस बच्चेके मरनेका परिणाम है क्या ? प्रेम ही है। प्रेमके कारण वह ऐसा बोल रही है। तो सर्वत्र परिणामोंकी प्रमुखता है। यह पहिला असत्य है कि चीज तो है और उसका निषेध किया जा रहा हो। अब दूसरा असत्य सुनिये।

असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तै ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन् यथास्ति घट ॥६३॥

असत्यविधिनामक द्वितीय असत्यवचन—जहां जो चीज नहीं है वहां उस चीज को 'है' कह देना, यह असत्यका दूसरा भेद है। पहिले असत्यका नाम था सत्यनिषेध और इस दूसरे असत्यका नाम है असत्य-विधि। जो नहीं है उसकी विधि बताना सो यह दूसरा असत्य हो गया। जैसे यहाँ पुस्तक नहीं है और पूछें कि अमुक पुस्तक है ? तो वह कहता है कि है, तो जो चीज असत् है उसका विधान करे, वह असत्य विधि नामका दूसरा असत्य है। तीसरे असत्यका भेद है मिथ्या वचन।

वस्तु सदपि स्वरूपात् पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीय विज्ञेय गौरिति यथाश्वः ॥६४॥

मिथ्यावचन नामक तृतीय असत्यवचन—जिस रूपसे जो चीज विद्यमान है उसे अन्य रूपसे विद्यमान कहना सो तीसरा असत्य है। जैसे बैलको घोड़ा कहना, मनुष्यको पशु कहना, पशुको मनुष्य कहना और सिद्धान्तमें चलो तो इसके तो अनेक दृष्टान्त हैं। ईश्वर है, पर वह किमात्मक है, किस स्वरूपसे है उस स्वरूपसे वर्णन न करके अन्य स्वरूपसे वर्णन करना। ईश्वर हमको सुख देता है, दुःख देता है, हमें बाल बच्चे देता है, हमें खाना देता है, बोलते जावो और वास्तवमें ईश्वर है कैसा ? अपने अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तशक्ति, अनन्त आनन्दमें मग्न है, वह निर्विकल्प है। किसी पर विकल्पमें आता ही नहीं, विशुद्ध है, आनन्दकी मूर्ति है, परम पावन है। किन्तु इसके विपरीत उसे अनेक प्रकारसे बता देना यह क्या है ? यह मिथ्यावचन है। है किसी भांति और माने और भाँति, यही असत्य है।

मूलमें सत्य होकर भी व्यवहारमें प्रसिद्ध विपरीतताके कारण मिथ्यावचनकी उपपत्ति—कभी-कभी कोई बात मूलमें अलंकारिक रूपसे कहे जाने पर भी उसका रूप यथार्थ रहता है, सत्य रहता है, पर आशय मलिन होनेसे धीरे-धीरे वही बात अन्य रूपसे मान ली जाती है तो वह असत्य बन जाती है। जैसे देवी देवतावोंका जो आदि रूप है, जब शुरू हुआ होगा उन देवी देवतावोंका रूप उस समय लोग यथार्थ मानते होंगे ढगसे और धीरे-धीरे उस मर्मका पता न रहा वैसे अन्य रूपमें मानने लगे तो वह असत्य हो गया। दृष्टान्तके लिए सरस्वती की मूर्ति लीजिए। तालाबमें कमलपर एक सरस्वती बैठी है, जिसके चार हाथ हैं, एक हाथमें वीणा लिए है, एक हाथमें माला लिए है, एक हाथमें पुस्तक लिए है और एक हाथमें शंख लिए है, पासमें हंस बैठा है। ऐसी ही तो मूर्तिकी प्रसिद्धि है ना। लोग इसी रूपमें मानते हैं कि हां ऐसी कोई देवी होती है, उसके ऐसे चार हाथ होते हैं, इस ढगसे रहती है, पर मूलमें जिस समयमें यह रूप शुरू किया होगा कविजनोंने, उस समय उसका सही रूप था और वह अलंकार रूपमें था। सरस्वती उसे कहते हैं जिसका बहुत बड़ा विस्तार हो। सबसे बड़ा विस्तार है विद्याका, ज्ञानका। ज्ञान और विद्याके

बराबर किसी भी चीजका विस्तार नहीं होता। उससे बढ़कर फैला हुआ क्या हो सकता है? ज्ञान लोकालोकमें फैल सकता है। क्या कोई पदार्थ ऐसा है जो ज्ञानके बराबर फैल सके? तो सरस्वती नाम विद्याका है जिसका बहुत बड़ा भारी फैलाव होता है। बस उस फैलावको तालावके रूपमें अलंकारमें रखा, क्योंकि तालाव भी फैला हुआ होता है। और सरः तालावका भी नाम है। यह एक संकेत है, विद्याका अधिक फैलाव होता है। चूँकि विद्या शब्द स्त्रीलिङ्ग है इसलिए उसे देवीके रूपमें उपस्थित किया। समस्त विद्या चार अनुयोगोंमें आती है, परमार्थतः कोई भी निरूपण चार अनुयोगोंसे बाहर नहीं है। वे चार अनुयोग उस विद्यारूपके चार हाथ रूपमें किए गए हैं। चार अनुयोगमयी वह विद्या है और उस विद्याकी साधनाका उपाय जिससे विद्याके मर्म तक हम पहुंच जायें, एक ध्यान है। उसका संकेत मिला है मालासे। एक अनाहदध्वनि है। एक गम्भीर स्वरसे उच्चार करना यह भी अपने आप तक पहुंचानेमें एक कारण है। उसका प्रतीक शंख है। पुस्तक द्वारा अध्ययन होता है उस विद्याका, तो पुस्तक है एक हाथमें। और भीतरी स्वर द्वारा भी परिणामोंमें एक उज्ज्वलता आती है और उस विद्याके स्वरूप को समझनेकी सामर्थ्य बनती है तो उसका प्रतीक वीणा है। ऐसी विद्याका उपासक भव्य जीव होता है। जो स्वच्छ हृदय वाला है, जो विशुद्ध व्यवहार रखता है, विशुद्ध वचन व्यवहार रखता है उस विशुद्ध भव्यका प्रतीक है हंस, जो उस सरस्वतीकी ओर टकटकी लगाये बैठा है। तो एक अलकाररूपमें प्रतीक था यह चित्रण जिसने कि विद्याके सही रूपमें पहुंचाया है। अब यहां देख रहे हैं लोक यों कि ऐसी देवी होती है, उसका नाम लेकर मंत्र पढ़ें तो वह सिद्ध हो जाती है। ऐसे हाथ हैं इसके इत्यादि। तो पदार्थ हो और प्रकार और बताया जाय और प्रकार तो यह तीसरा असत्य कहा गया है।

असत्य सम्भाषणसे अनर्थ—असत्य सम्भाषणमें असत्यभाषीका परिणाम तो बिगड़ा ही है अतएव उसे हिंसा होती ही है, पर असत्य सम्भाषणसे दूसरे जीवोंका भी अनर्थ हो जाता है, अतएव उसे द्रव्यहिंसा भी लगी। उसमें स्व और पर दोनोंका अनुपकार है। इस प्रकरणमें हम यह शिक्षा ग्रहण करें कि ऐसा झूठ बोलनेसे कोई प्रयोजन तो सिद्ध नहीं होता और मानलो कल्पनावश कोई प्रयोजन वर्तमानमें सिद्ध भी होता हो तो उसे सिद्ध न समझिये। असत्य सम्भाषणसे जो पापका बंध होता है उस पापके उदयकाल में उससे बीसोंगुना अनर्थ होने वाला है। जैसे हम आप थोड़ासा समझ लेते हैं कि असत्य बोलने से हमको यह लाभ होता है तो लाभ नहीं होता, उससे बीसों गुना अनर्थ होगा, अलाभ होगा, नुकसान होगा। लाभ भी असत्यसे नहीं होता है, केवल एक कल्पना कर लेते हैं लोग। जो लोग झूठ बोलकर भी व्यापार करते हैं, है किसी भावकी चीज और बोलते हैं और भावकी, वे भी यह समझानेकी कोशिश करते हैं कि जो हम कह रहे हैं सो सच कह रहे हैं। तो ग्राहकने जो चीज खरीदी है वह सच समझकर ही खरीदी है। अगर वह समझ जाय कि व्यापारी असत्य बोल रहा है तो वह चीज न खरीदेगा। तो व्यापारीका यह भी कोरा भ्रम है कि असत्य सम्भाषणसे लाभ होता है। अरे लाभ तो पुण्यके अनुसार है। असत्य सम्भाषण करके तो लाभमें कमी की। और भी बरबादीकी ओर ढलना शुरू हो गया। असत्य सम्भाषणसे रहित जीवन हो तो देखिये कितनी प्रसन्नता रहती है। असत्य स्वयं हिंसा है, अतएव असत्य सम्भाषण न करके अपने आपमें विराजमान् अन्तःकारण समयसार परमात्मतत्त्वकी हमें रक्षा करनी चाहिए।

गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत्।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृतं तुरीयं तु ॥९५॥

चतुर्थ असत्य वचन—जो वचन निंद्य हो, पापसे भरा हुआ हो, दूसरेको अप्रिय लगे वह वचन भी असत्य माना गया है क्योंकि सत्य वचन बोलनेका उद्देश्य यह है कि अपने आत्माका और दूसरे आत्मा

का उपकार हो। पर इन तीन प्रकारके वचनोंमें न तो खुदका उपकार है और न परायेका उपकार है, बल्कि अपकार है। इस कारण ये गर्हित सावद्य और अप्रिय वचन भी असत्य वचन जानना चाहिए। अब इनका स्वरूप अलग-अलग बता रहे हैं ताकि विशेष भान हो कि ऐसे वचन हम लोगोंको बोलना न चाहिए।

पैशून्यहासगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपितं च।
अन्यदपि यदुत्सूत्रं तत्सर्वं गर्हितं गदितम् ॥९६॥

गर्हित वचनका विवेचन—जो वचन चुगली रूप हों, हँसी मजाक वाले हों, कठोर हों, मिथ्या श्रद्धान से भरे हुए हों, प्रलापरूप हों और जो वचन आगमशास्त्रसे विरुद्ध हों वे सब वचन निन्द्य वचन कहलाते हैं। चुगली वाले वचन तो अनर्थके लिए हैं, चुगली करने वाला पुरुष खुद हैरान हो जाता है। यहाँकी बात वहाँ मिलाना, उसमें अपना समय बरबाद करना और साथ ही साथ यह शंका बनाये रहना कि कदाचित् इसका असली मर्म इन दोनोंको विदित हो जाय जिसकी चुगली की जा रही है तो उसकी परिस्थिति बड़ी खोटी होगी। उसके यह शंका बनी रहती है। और फिर बिना प्रयोजनके जो यह चुगली की जा रही है उससे दिल अटपटा सा हो जाता है फिर उसका चित्त स्थिर नहीं रहता। इससे चुगलीके वचन झूठ वचन कहलाते हैं, उसमें थोड़ी बहुत सच्चाई भी भरी हो लेकिन छुपकर, एक दूसरेसे बैर बनानेका जो यह प्रयत्न है और उस प्रयत्नमें जो वचन बोले जाते हैं वे वचन हिंसारूप ही हैं, क्योंकि इस चुगली करने वालेका परिणाम तो बहुत खोटा ही हो गया। बादमें वह दूसरोंका अनर्थ करनेका यत्न कर रहा है। अतः मिथ्या वचन है। इसी तरह हँसी मजाक करने वाले वचन असत्य वचन हैं। कहते हैं ना कि रोगोंकी जड़ खाँसी और झगड़ेकी जड़ हाँसी। हँसी मजाकका वचन तो तत्काल भी अनर्थके लिए है। हँसीसे विवाद शुरू होकर बादमें एक दूसरेका सर्वस्व लुट सकता है। तो हँसी मजाकके वचन अनर्थकारी हैं। इसी तरह मिथ्या विश्वाससे भरे हुए वचन असत्य वचन हैं। जैसे देवी दहाड़ेकी पूजा और और भी मनोकामनाओंके लिए अनेक देव कुदेव गुरुवोंकी पूजा ये सब मिथ्या श्रद्धान भरे वचन हैं। किसीको कोई मिथ्यात्वमें लगाने वाला उपदेश दे तो वे वचन भी मिथ्यावचन हैं। जो ज्यादा बोलें, गपसप करें तो वे वचन भी असत्य वचन माने गए हैं। ज्यादा बोलनेमें कुछ वचन निन्द्य अथवा अहित-कर निकल जाते हैं, उससे खुदको भी बड़ा पछतावा होता है और वातावरण भी अशान्त बन जाता है इस कारण प्रलाप भरा वचन भी असत्य वचन कहा गया है। इसी प्रकार जो शास्त्रसे विरुद्ध वचन हैं वे सब वचन गर्हित कहे गये हैं। मनुष्यकी स्थिति वचनोंपर ज्यादा निर्भर है। कौन मनुष्य कैसा है इसकी पहिचान वचनोंसे हुआ करती है। एक दूसरे मनुष्यका विश्वास होना भी वचनोंपर निर्भर है। सो सबको विदित ही है। मनुष्योंका परस्परका सम्बन्ध अच्छा हो, बुरा हो यह सब वचनों पर निर्भर है। तब समझ लीजिए कि वचनोंकी सम्भाल मनुष्य-जीवनको सुखी करनेके लिए कितनी अधिक आवश्यक है? जितने झगड़े बनते हैं, एक दूसरेके जानी दुश्मन बनते हैं वे सब वचनोंसे शुरू होते हैं। सब झगड़ोंका मूल है वचनोंमें कटुता लाना तो क्यों न वचनोंको सम्भालकर बोला जाय? जो वचन निन्द्य भी न हों, पाप भरे भी न हों, अप्रिय भी न हों ऐसे वचन बोले जायें। अब इन चार प्रकारोंमें जो सावद्य वचन बताया है उसकी परिभाषा कर रहे हैं।

छेदनभेदनमारणकर्षणवाणिज्यचौर्यवचनादि।
तत्सावद्यं यस्मात्प्राणिवधाद्याः प्रवर्तन्ते ॥९७॥

सावद्यवचनका विवेचन—जो छेदन, भेदन, मारने, सोचने, व्यापार, चुगली आदिकके वचन हैं वे सब सावद्य वचन हैं, क्योंकि उन वचनोंसे प्राणीमें वध आदिक पापोंकी प्रवृत्ति चलती है। जैसे कहा कि

इस पशुका अमुक अंग छेदो। पशुवोंको वश करते हैं, ऊँटोंको नाथ डालते हैं, बैलों को नाथ डालते हैं और और तरह कान छेदना, पूँछ काटना आदिक जो उपदेश हैं उससे प्राणिवध ही तो हुआ, अपना परिणाम भी कलुषित हुआ, अज्ञानभरा हुआ। मान लो संक्लेश नहीं है मौज मान लिया, मौज मानकर भी तो अज्ञानवश ही किया। दूसरोंका छेदन करना, वध करना, पीटना आदिक ये सब वचन पापसे भरे हुए हैं, सावद्य होते है और सावद्य व्यापारकी बात कहना जिसमे जीवहिंसा होती है और स्वयको भी बहुत संक्लेश करना होता है ये सब वचन भी सावद्य वचन हैं। चौर्य-वचन तो पापसे भरा ही होता है। मनुष्यको धन प्राणोंकी तरह है और कोई उस धनकी चोरी करने का वचन बोले, कोई चोरी करने जाय तो उस मनुष्यका कितना प्राण पीड़ा जाता है। इस प्रकारके वचन सावद्य वचन हैं। चतुर्थ असत्यवचनमें तीसरा प्रकार है अप्रियताका। अब उसका वर्णन करते हैं।

अरतिकरं भीतिकरं खेदकरं वैरशोककलहकरम्।
यदपरमपि तापकरं परस्य तत्सर्वमप्रियं ज्ञेयम् ॥९८॥

चतुर्थ असत्यवचनके अन्तर्गत अप्रियवचनका विवेचन—जो वचन दूसरेसे अप्रीत उत्पन्न करे, भय उत्पन्न करे, खेद कराये, बैर बढाये, शोक झगड़ा कराये और और प्रकारके भी संताप कराये, वे सब वचन अप्रिय समझना और अप्रिय वचन असत्य कहे जाते हैं। मनुष्योंमें कषायोंका आवेश नाना प्रकार का है। उस आवेशमें आकर अपनेको महान् समझकर, दूसरे को अपनेसे तुच्छ जानकर जिस ढगसे वचनोंकी प्रवृत्ति होती है वे वचन दूसरोंको दुःखदायी होते हैं। सदैव दूसरोंका आदर बढे, ऐसे वचनोंका पालन किया जाय तो यह खुद भी बडे चैनमें रहता है और वातावरण भी बड़ा शान्त रहता है। किसी को अपमानजनक वचन न कहना चाहिए। यहाँ कौन तो छोटा है और कौन बड़ा है? यह तो संसार है, आज जो कोई बढ़ा चढ़ा है उसकी कलकी स्थितिका कुछ पता नहीं है। इसलिए इन सांसारिक समागमों में ऐसा विश्वास नहीं किया जा सकता कि जो स्थिति पायी है, जो समागम मिला है वह मेरा है, मेरेसे कभी बिछुड़ नहीं सकता, परिवर्तित नहीं हो सकता। अरे जब बड़े-बडे राजा भी मरकर कीट बन गये हैं, कुछ देव मरकर एकेन्द्रिय तक हो जाते है, कुछ देव मरकर पशु पक्षी तक बन जाते हैं तो और क्या उदाहरण दिया जाय इसको सिद्ध करने के लिए कि ससारमें बड़े बडे ओहदोंको पावर भी उनके बने रहनेका विश्वास नहीं है। आज जो छोटा है वह कल महान् बन सकता है, आज जो महान् है वह कल तुच्छ बन सकता है और फिर छोटे बडे सभी एक दूसरेके काम आ सकते हैं। मालिक सोचता है कि मेरे कारखानेमें ये जो हजारों मजदूर काम करते हैं उनकी आजीविका मैं लगाये हू, पर वे मजदूर भी तो उस मालिककी आजीविका लगाये हैं। मजदूरोंकी कृपासे ही वह मालिक मौज उड़ा रहा है। तो यह एकान्त कहना असत्य है कि मैं इनको पालता हूं। तो यहाँ किसे नीच समझा जाय और किसे ऊँच समझा जाय? बच्चोंकी कहानीमे एक कहानी आयी है कि एक चूहा सोते हुए सिहके ऊपर उछलता उछलता आ गया। उससे उस सिंहको कुछ क्लेश हुआ। सिंह ने उस चूहेको अपने पजे से पकड़ लिया। तो चूहा कहता है कि हे वनराज! मुझे मत मारो, देखो मैं भी तुम्हारे किसी काम आऊँगा। सिंह सोचता है कि यह चूहा मेरे काम क्या आयेगा, पर उसे तुच्छ समझकर यों ही छोड़ दिया। कुछ दिन बादमें वही सिंह एक शिकारीके जालमें फस गया। ज्यों ज्यों वह निकलनेकी कोशिश करता गया त्यों त्यों और भी जालमें फंसता गया। जालमें जकडे हुए सिंहको देखकर वही चूहा पासमें आया और बोलता है कि ऐ वनराज! तुम दुःखी मत हो, हम तुम्हारे प्राण बचावेंगे। क्या किया चूहे ने कि जाल काटना शुरू कर दिया। कुछ जाल कट जाने पर सिंह वहाँसे निकल गया। तो कभी चूहा भी सिंहके काम आता है। यहाँ किसका सम्मान किया जाय और किसका असम्मान किया जाय?

अप्रिय वचन बोलनेका अनौचित्य--अप्रिय वचन बोलना मनुष्यको हितकारी नहीं है। ये अप्रिय वचन भी असत्य वचन हैं। क्यों दूसरेको डराना चाहते हो, उससे अपने आत्माका क्या लाभ होगा? जो दूसरेको भय उत्पन्न कराना चाहता है वह पहिले स्वयं ही एक कोई शंका भय संदेहको उत्पन्न करता है, बादमें कोई दूसरा भयभीत होता है तो उस प्रकरणमें यह भी किसी विपत्तिमें फंसता है। जो वचन भय उत्पन्न करें वे असत्य वचन कहे गए हैं। सत्य वचन वे हैं जो किसी आत्माका उपकार करें। जो खेद बढ़ायें ऐसे वचन भी असत्य वचन हैं। दुःखी पुरुष जिस कारणसे दुःखी होते हैं उसके कारणको दुहरा करके कहें तो खेद ही पड़ता है। जब कभी इष्टवियोग हो जाय और उसके रिश्तेदार समझाने के लिए घर आते हैं तो वे रिश्तेदार उस मरे हुयेके गुण और गा गाकर कुटुम्बीजनोंका खेद बढ़ाते हैं। बड़ा अच्छा था, सबकी रखवाली करता था, खुदके खाने पीनेकी कुछ फिकर न थी, घर वालोंकी बड़ी पूछ करता था। अरे वे घर वाले इसी बातसे तो दुःखी हैं और उनको ये इस बातकी याद दिलवाकर उसका दुःख बढ़ा रहे हैं। चाहे बात ठीक कह रहे मगर खेद ही बढ़ाने वाले वचन हैं। वे योग्य वचन नहीं हैं। जो वचन बैर विरोध, शोक, झगड़ा आदि बढ़ावें वे असत्य वचन हैं। देखिये जैसे यह आरम्भ में बताया जा रहा है कि वचन किस प्रकार बोलना चाहिए तो ऐसे वचनोंका प्रयोग यदि होने लगे तो कोई असंगठन की बात ही न रहे किसी प्रकारका विरोध हो ही नहीं सकता। सभी अपने अपने वचनों की संभाल करलें, एक दूसरेको सम्मानकी दृष्टिसे देखें, घृणासे नहीं। चाहे कोई कैसा ही विचार रखता हो, आखिर सब बुद्धिमान हैं, सबके अन्दर समझ है, धर्मका प्रेम है, सभी जैन शासनके रुचि वाले हैं, फिर परस्परमें क्यों बैर विरोध हो? सभी अपने-अपने कर्तव्यको संभाल लें तो शान्ति मिल सकती है। तीर्थंकर प्रकृतिके बंधकी भावनाओंमें प्रधान भावना दर्शनविशुद्धि है। जिस भावनामें भावके पुरुष संसार के समस्त जीवोंका कल्याण चाहता है। अरे जरा अपनी ही दृष्टि तो संभालना है। अपने आपके स्वरूप का जरा निरखनेका यत्न ही तो करना है, सारे क्लेश मिट जाते हैं। क्यों न ये सब जीव अपने स्वरूप की दृष्टि करलें? इस प्रकारकी भावना होती है तो तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है। तो आप सोचिये कि महापुरुषोंका यह एक गम्भीरतापूर्ण बर्ताव है कि वे सभी जीवोंको सुखी निरखना चाहते हैं। तो सबका यही कर्तव्य है कि सभी जीवोंको सुखी निरखनेकी भावना करें। अब कोई अपने पड़ौसके अपने गोष्ठी के लोगोंको सुखी रखने की भावना तो न करे और वे मुनि सुखी हों, वे ज्ञानी सुखी हों, वे गुरु सुखी हों यों रटन लगायें तो आप बतावो कितनी हँसीपूर्ण उसकी प्रवृत्ति है। एक अपने आपको अशान्त करने वाली है झूठ बात। यों समझिये कि उसके चित्तमें दयाका बर्ताव नहीं है। होता दयाका बर्ताव तो जिनका अपने से घनिष्ट सम्बन्ध है उन पर ही क्यों पहिले कृपा करता? तो जो बातें बैर विरोध बढ़ाये, शोक कलह मचाये ऐसे वचन असत्य वचन ही कहे जाते हैं।

अप्रिय वचन न बोलनेकी शिक्षा—देखो जो अप्रिय वचन हैं उन वचनोंको पशु भी नहीं सह सकते। यद्यपि पशु उन वचनोंका मनुष्योंकी भांति पूरा अर्थ नहीं समझ पाते, किन्तु इतना जरूर जान जाते हैं कि यह हमारा अपकार कर रहा है या हमको अपना रहा है। जब कुत्तेको पुचकारकर बुलाते हैं तो पूछ हिलाकर बड़ी विनयपूर्वक वह पासमें आता है और जब कोई गाली भरा बुरा वचन बोलकर कहता तो वह कुत्ता अपना अपमान समझकर दूर भाग जाता है। तो चाहे मनुष्योंकी भांति शब्दका अर्थ न जान सकें, मगर वे समझते हैं तभी तो गाली भरा बुरा वचन कहने पर वे दांत निकालते हैं, गुर्राते हैं और यहाँ तक कि कोई-कोई पशु उस असम्मानसे अच्छा यह समझते हैं कि इससे तो मेरा अन्त ही जाय तो अच्छा है। भला बतलावो कि जो वचन पशुवोंको भी बुरे लग सकते हैं जिससे हैरान होकर वे भी अपने प्राणघात हो जाना उचित मानते हैं, फिर जो वचन मनुष्योंके प्रति बोले जायें तो क्या वे मर्मको

भेदते नहीं हैं ? वचन मर्मभेदी न होना चाहिए। दूसरेका महत्त्व आँकते हुए वचन होना चाहिए। अरे निगोदसे निकलकर और और भवोंसे निकलकर आज मनुष्य हुए हैं, श्रावक कुलमें पैदा हुए हैं, जैनधर्म के प्रति रुचि है, कुछ तो गुण है ना। क्यों नहीं वात्सल्य उमड़ता है ? यदि किसीके प्रति वात्सल्य हो तो वात्सल्य उमड़ने वालेके चित्तमें दोषोंकी पकड़ नहीं रहती। दृष्टान्तके लिए मां और पुत्रका वात्सल्य ले लीजिए। मां और पुत्रका शुद्ध निष्कपट वात्सल्य रहता है। पुत्रमें चाहे कोई दोष भी हों पर माँके चित्त में वही कृपा, वही करुणा, वही उन्नतिकी आकांक्षा बनी रहती है, तो समझ लीजिए कि साधर्मी बन्धुओं में जब कि सबका उद्देश्य है—जैन शासनकी शरण लेकर अपना उद्धार करना तो फिर क्यों नहीं एक दूसरेके प्रति वात्सल्यभाव उमड़ता है ? ये अप्रिय वचन, असम्मान भरे वचन बोलना योग्य नहीं है। अप्रिय बोलना, असम्मान भरे वचन बोलना यह भी जीवनका एक कलंक है। ऐसे बोलने वाले न स्वयं सुखी रह सकते और न कोई दूसरा सुखी रह सकता है।

सर्वस्मिन्नप्यस्मिन् प्रमत्तयोगैकहेतुकथनं यत्।
अनृतवचनेऽपि तस्मान्नियतं हिंसा समवतरति ॥९९॥

असत्यवचनमें हिंसाका दोष—अहिंसा तो धर्म है और हिंसा अधर्म है। हिंसा ५ तरहकी होती है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। हिंसा तो हिंसा है ही, झूठ बोलना भी हिंसा है, क्योंकि इन सभी प्रकारके वचनोंमें जो कि झूठ बताये गए हैं—है को न करना, न को है करना, निन्दनीय अप्रिय वचन बोलना, इन सब वचनोंमें हिंसा क्यों है कि प्रमादसहित योग है उनमें, अर्थात् कषायसे झूठ बोला जाता है। कषायभाव न हो तो झूठ कौन बोले ? कषाय भाव होनेके कारण चूँकि झूठ बोला जाता है इस कारणसे असत्य वचनमें भी हिंसा ही समझना चाहिए और असत्य वचन बोलकर हिंसा किसकी हुई ? असत्य बोलने वाले की। दूसरे के प्राण दुखें अथवा न दुखें यह आगेकी बात है, पर असत्य बोलने वालेने तो अपने आपकी हिंसा कर ही ली, क्योंकि प्रमादभाव होनेसे उसके हिंसा है ही ? हिंसा क्या ? आत्माका जो चैतन्यस्वरूप है विशुद्ध ज्ञानानन्द, उसका घात हुआ, यह उसकी हिंसा हुई।

हेतौ प्रमत्तयोगे निर्दिष्टे सकलवितथवचनानाम्।
हेयानुष्ठानादेरनुवदनं भवति नासत्यम् ॥१००॥

प्रमत्तयोगके अभावमें कहे गये हेयोपादेयके उपदेशमें असत्यताका अभाव—यहाँ कोई ऐसा प्रश्न कर सकता है कि यदि अप्रिय वचन बोलना भी झूठ है तो मुनिजन जो उपदेश करते हैं कि अमुक चीज छोड़ो, अमुक चीज ग्रहण करो तो जो अज्ञानी जन हैं उनको तो दुःख होता है। जैसे आचार्य ने कहा कि रात्रि भोजन त्याग करो तो उन्हें दुःख होता है तो फिर यह झूठ हुआ, ऐसी यहाँ शंका होती है। उसके उत्तर में कहते हैं कि जितने भी झूठ वचन होते हैं उनका कारण क्या है याने वे झूठ कहलाते क्यों हैं ? उसका हेतु है कषाय भाव। तो साधुजन कषाय करके उपदेश नहीं करते। चाहे वे वचन अज्ञानी जनोंको बुरे लगें, उनके प्रतिकूल पड़ें मगर आचार्य महाराज कषाय भावसे ऐसा नहीं करते। उनके चित्तमें तो करुणा भाव ही है कि अमुक जीवका भला हो, उसके भव मिटें, सम्यक्त्व मिले। उनके चित्तमें तो कृपा ही है। अज्ञानी जीव अगर बुरा मानते हैं तो मानें, उससे ज्ञानी साधु जनोंको झूठका दोष नहीं लगता। आचार्य महाराजके उपदेशमें कोई कोई बात तो अज्ञानीजनोंके तीरकी तरह चुभती है। जैसे शास्त्रप्रवचन कर रहे हों, सब सुन रहे हैं और वहाँ कोई परस्त्रीगमन त्यागका उपदेश कर रहे हों तो जो परस्त्रीगामी पुरुष होंगे उन्हें वे वचन बड़े तीव्र लगते हैं। ऐसे ही अगर जुवा खेलनेका त्यागका उपदेश हो तो जुवा खेलने वालोंको वे वचन तीरकी तरह लगते हैं। तो साधुजनोंके इस प्रकारके वचनोंमें उन्हें दोष नहीं लगता। जिनके चित्तमें दूसरोंका दिल दुखानेका परिणाम है उनके हिंसा लगती है और जहाँ दूसरोंके भलेका ही

परिणाम है वहाँ झूठका दोष नहीं लगता है।

भोगोपभोगसाधनमात्रं सावद्यमक्षमा मोक्तुम्।
ये तेऽपि शेषमनृतं समस्तमपि नित्यमेव मुञ्चन्तु ॥१०१॥

सत्याणुव्रतका निर्देश—त्याग दो प्रकारका होता है—एक तो पूर्ण रूपसे त्याग और एक एकदेशका त्याग। पूर्णरूप त्याग तो मुनियोंके होता है और एकदेश त्याग गृहस्थोंके होता है। तो गृहस्थजन अपना कुछ सांसारिक प्रयोजन भी रखते हैं, आजीविका चलाना, धर्म कमाना, बोलचाल करना आदि। इनका सासारिक प्रयोजन सावद्य वचनोंके बिना नहीं चल सकता, पापयुक्त वचन कोई न कोई प्रकारके बोलनेमें आते ही हैं। व्यापारादिकके वचन धर्मके वचन नहीं हैं, वहाँ कोई न कोई प्रकार सावद्य वचनका दोष लगता है। कोई न कोई प्रकारकी पाप भरी बात होती ही है। मान लो व्यापारमें हैं तो वहा चीजोंके उठाने धरने आदि सभीमें पाप है। तो आचार्य महाराज कहते हैं कि यदि गृहस्थ समस्त सावद्य वचनों का त्याग न कर सकें तो न सही, परन्तु और बाकी झूठ वगैरहका त्याग तो कर सकते हैं। आजीविकाके सम्बन्धमें या भोगों व भोगके सम्बन्धमें यदि वे वचनालाप नहीं छोड़ सकते, सावद्य वचन नहीं तज सकते तो इसके अलावा जो और व्यर्थकी फालतू लड़ाइया आदिक की बातें करते हैं उनका तो परित्याग करें ही करें।

अवितीर्णस्य ग्रहणं परिग्रहस्य प्रमत्तयोगाद्यत्।
तत्प्रत्येय स्तेय सैव च हिंसा वधस्य हेतुत्वात् ॥१०२॥

चौर्य पापका स्वरूप और उसमे हिंसा दोषका कथन—यहा तक झूठ बोलना नामक पापका वर्णन किया, अब चोरीके पापका वर्णन कर रहे हैं, कि प्रमाद कषायके सम्बन्धसे बिना दिए हुए परिग्रहका ग्रहण कर लेना सो चोरी है और वह जीववधका कारण है इसलिए हिंसा है। जो मनुष्य किसीकी चीजकी चोरी करनेका परिणाम करता है तो वह बिना कषाय किए चोरी नहीं कर सकता। उसे कितना सजग होकर रहना पड़ता है, कितनी कषाय करनी पडती है? इस कषायके ही कारण खुदकी वह कितनी बड़ी हिंसा करता है। चोरी करनेमे हिंसा है क्योंकि वह चोरी करने वाला कषाय करके अपने चैतन्य प्राणोंकी हिंसा करता है? चोरी करने वाला अपने स्वरूपकी सुध खो देता है। अपने आपमें वह नहीं रह सकता और बाहरी पदार्थोंमें ही उसकी दृष्टि रहती है। तो चोरी करने में नियमसे हिसा है। चोरी करने वाला यदि पापका परिणाम न करता तो उसके ज्ञान और आनन्दका विकास होता। पूर्ण ज्ञान और आनन्दको भोगता। तो ज्ञान और आनन्दका जो विकास रुक गया यह तो अपने आपकी बहुत बड़ी हिंसा कर ली। तो चोरी करनेमें भावप्राणका तो घात होता ही है और जिसकी चीज चुराया उसके द्रव्यप्राणका घात है। कोई थोड़ा १०-२०-५० रुपये भी काटले तो उसको कितना खेद होता है और अपने हाथसे दान दे दे तो उसमें कितनी प्रसन्नता होती है! दूसरेकी चीज चुरानेमे जिसकी चीज चुराई उसका भी प्राणघात होता है और चुराने वालेके भावप्राणका घात होता है, इसलिए चोरी की हुई वस्तुमें नियमसे हिंसा है।

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चरा पुंसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

चोरीमें हिंसाका दोष लगनेका कारण—जो पुरुष किसी दूसरेके पदार्थको हरता है वह उस जीवके प्राण हरता है क्योंकि धनादिक वैभव इस पुरुषके बाह्य प्राण हैं। यद्यपि धन द्रव्य प्राणोंमें कोई भी प्राण नहीं है। प्राण १० हैं—५ इन्द्रिय, ३ बल, आयु और श्वासोच्छ्वास। लोग धनको भी प्राणोंसे प्यारा समझते हैं। उस धनके कारण प्राण तक चले जाते हैं। एक पजाबकी घटना है, एक आदमी गेहू बेचकर

हजार रुपये लाया, उन हजार रुपयोंकी गड्डी वनी थी। जाड़ेके दिन थे। सो आगके किनारे बैठा ताप रहा था। बच्चेके हाथमें वह गिड्डी खेलनेको दे दी। उस बच्चेने नासमझीके कारण उस गड्डीको आगमें डाल दिया। उसे इतना क्रोध आया कि उस बच्चेको भी उस आगकी भट्टीमे पटक दिया। वह बच्चा मर गया। तो यह धन इस मनुष्यको प्राणोंसे प्यारा है। जिसने किसी दूसरेका धन हरा, उसने दूसरेका प्राण हरा, यों समझना चाहिए। ससारी जीवके जैसे जीनेके कारणभूत इन्द्रियां हैं इसी तरह धन सम्पत्ति मदिर पृथ्वी आदिक ये जितने पदार्थ पाये जाते हैं ये भी उनके प्राणके कारणभूत हैं। इनमें से कोई एक भी चीज चुरा ले तो इससे उन जीवोंके प्राणघातकी तरह दु:ख होता है। जैसे कोई मर्म छेदकर उसमें जो पीड़ा होती है उतनी ही पीड़ा धनके वियोगमें होती है। ऐसे वाह्यभूत धनको कोई ग्रहण करे तो वह चोरी है और वह अपनी और दूसरेकी हिंसा करता है।

हिंसायाः स्तेयस्य च नाव्याप्तिः सुघट एव सा यस्मात्।
ग्रहणे प्रमत्तयोगो द्रव्यस्य स्वीकृतस्यान्यैः ॥१०४॥

चोरीमे हिंसाकी व्याप्ति—जहाँ चोरी है वहाँ हिंसा है, इस लक्षणमें कोई दोष नहीं है, आध्यात्मिक दोष भी नहीं आता, क्योंकि सर्वत्र देख लो—जो चोरी करता है उसके परिणामोंमे कषाय अवश्य है। शान्तिसे निष्कषाय भावसे कोई चोरी नहीं कर सकता। तो जहां-जहां चोरी है वहां-वहा हिंसा है, इस लक्षणमे अभीष्ट दोष नहीं है, क्योंकि कषाय योगके बिना चोरी होती ही नहीं है। दूसरा कोई पुरुष किसीका धन हर ले, धोखा दे दे, ऐसी कषाय भरी वेग भरी प्रवृत्ति कर डाले, और कषाय न हो चित्तमे, तो यह बात हो नहीं सकती, इससे चोरी पाप कम पाप नहीं है, वह हिंसा भी है और चोरी भी है, तो सारेके सारे पाप हिंसा दोष वाले हैं। हिंस के सिवाय और दोष क्या कहलायेगा? अपने तथा दूसरेके प्राणोंका पीड़ना यह तो हिंसा है और ये जो चार तरहके पाप और बताये-झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह। ये लोगोंको समझानेके लिए बताये कि ये काम करनेमे भी हिंसा होती है। दूसरेका वध करनेमें भी हिंसा होती है और झूठ बोलना, चोरी करना, कुशील सेवन करना और परिग्रह जोड़ना, इनमें भी हिंसा है क्योंकि अपने स्वभावकी हिंसा है, अपने स्वभावसे वह विपरीत चला गया, इससे उसने खुदकी हिंसा कर दी।

नातिव्याप्तिश्च तयो: प्रमत्तयोगैककारणविरोधात्।
अपि कर्मानुग्रहणे नीरागाणामविद्यमानत्वात् ॥१०५॥

प्रमत्तयोगसे चोरीको हिंसा कहनेमे अतिव्याप्तिदोषका अभाव--वीतराग पुरुषोंके एक प्रमाद योग रूप कारण नहीं रहता, इसलिए उसमें चोरीका दोष नहीं है। यहाँ एक प्रश्न और उठा कि बिना दी हुई चीज को स्वीकार कर लेना सो चोरी है या नहीं? तो वीतराग पुरुष श्रेणीमे रहने वाले या मुनिजन या ११वें १२वें गुणस्थान वाले वीतराग उनके जो कर्म आते रहते हैं, शरीर वर्गणायें आती रहती हैं, अरहंत भगवंतके भी कर्मका आश्रव है वह शरीरमें आता है और निकल जाता है, लेकिन जो आया है, जो ग्रहणमें हुआ है वह भी तो होता है तो क्या वह चोरी है? उत्तर देते हैं कि इसे भी चोरी न कहो क्योंकि उन वीतराग पुरुषोंके कषाय नहीं है। वह तो कोई निमित्तनैमित्तिक सबंध है उससे ये योग परिणाम होते हैं और कर्म आते हैं, वे कर्म दूसरेके स्वीकार किए बिना होते, उन पर किसीका अधिकार नहीं है। मालिककी मंशा बिना, उसकी इच्छा बिना चीज हर ले तो चोरी है। कोई यों भी कहने लगे कि डाकू लोग तो बिना दी हुई चीज नहीं लेते हैं। वे तो गृहस्थसे कहते कि यह ताला अपने हाथसे खोलो, धन अपने हाथसे दो। तो डाकू लोग तो धन दूसरेके हाथसे ही लेते हैं तो क्या वह चोरी नहीं है? अरे वह गृहस्थ अपने हाथों यह धन जरूर देता है पर अपनी मंशासे नहीं देता है, चूँकि प्राण हरे जानेका

डर है इसलिए देना पड़ता है। वे डाकू लोग गृहस्थको मारते पीटते भी हैं तो यह कितनी बड़ी भारी हिंसा है। तो कषायसे चोरी करे तो उसका नाम चोरी है, पर वीतराग पुरुष बिना किसीके दिए हुए कर्मोंको ग्रहण कर रहे तो उसमें चोरीका दोष नहीं है।

असमर्था ये कर्तुं निपानतोयादिहरणविनिवृत्तिम्।
तैरपि समस्तमपरं नित्यमदत्तं परित्याज्यम् ॥१०६॥

अचौर्याणुव्रतका निर्देश—अब चोरी नामक पापके उपसंहारमें कहते हैं कि चोरीका त्याग दो प्रकार का है—एक तो सर्वथा त्याग और एकएक देश त्याग। मुनिधर्ममें तो परवस्तुका सर्वथा त्याग रहता है और श्रावक धर्ममें एकदेश त्याग रहता है। तो जो कोई सर्वथा त्याग नहीं कर सकते वे एकदेश त्याग तो करें ही करें। जो एकदेश त्यागी है वह दूसरे के कुवें का तालाबका जल मिट्टी आदिक ऐसे पदार्थोंका जिनका कुछ मूल्य भी नहीं है, पर दूसरेके अधिकारमें हैं तो ऐसे हस्तग्रहण करते हैं गृहस्थावस्थामें और इसे चोरी भी नहीं कहा लोकव्यवहारमें। तो दूसरे के कुवेंका मिट्टी पानी आदिकके ग्रहणका त्याग नहीं कर सकते, न करें, पर अन्य चोरियोंका त्याग तो करें ही करें। अगर चोरीका व्यवहार चल उठा तो फिर सारी अव्यवस्था हो जायेगी। किसी ने किसीको हर लिया तो फिर न व्यवस्था रह सकती, न प्रेम रह सकता, न धर्म रह सकता, न चैन रह सकती। विप्लव हो जायेगा, इसलिए व्यवस्थाकी दृष्टिसे चोरी का त्याग रहे तो उससे प्रजाजनोंमें शान्ति रहेगी। और अध्यात्मदृष्टिसे देखा जाय तो यह आत्मा पर-पदार्थोंको अपना स्वीकार करे सो ही चोरी है। जैसे शरीर अपना नहीं है, शरीर भिन्न पदार्थ है। पौद्गलिक तत्त्व है, आत्मा उससे न्यारा है फिर भी उस पौद्गलिक देहको अपना मानना कि यह मैं हू इसके मायने चोरी है। रागादिक जो आत्मामें उठते हैं कर्मोंका उदय पाकर उठते हैं, किसी न किसी परपदार्थका आलम्बन लेकर ही भाव उठते हैं तो वे भी औपाधिक हैं, भिन्न हैं, विनाशीक हैं, उनको अपनाना कि यह मैं हू, तथा जो रागादिक भाव हैं उन्हें अपनाना कि यह मैं हू, यह चोरी है। तो जो अध्यात्मपद्धतिसे चोरी नहीं करते उनको ही सम्यक् दृष्टि कहते हैं। सभी लोग जो शरीरको मान रहे हैं कि यह मैं हू अथवा जो भी बाह्य वस्तुवोंको अपना रहे हैं वे चोरी कर रहे हैं। जो चोर हैं वे भी और करते क्या हैं? किसी दूसरेकी वस्तुको अपने घरमें रखकर अपनी मान लेते हैं, इन्हीं पर-वस्तुवोंके अपनानेका नाम चोरी है। अब वस्तुस्वरूपसे लगायें। धनादिक परवस्तु हैं, भिन्न हैं, जड़ हैं, अपने स्वरूपसे बिल्कुल न्यारे हैं, उनको अपनाना, उनको स्वीकार करना इसीका नाम चोरी है। अध्यात्मपद्धति से जो चोरीका त्याग करता है वह ज्ञानी है, मोक्षमार्गी है। निकट भविष्यमें ही संसारके सभी संकटोंसे छूट जाने वाला है। चोरी नामक जो पाप है वह भी हिंसा है, क्योंकि उसमें अपने और दूसरेके प्राण हरे जाते हैं। इस कारण चोरीको हिंसा जानकर इसका परित्याग ज्ञानी पुरुष करते हैं।

यद्वेदरागयोगान्मैथुनमभिधीयते तदब्रह्म।
अवतरति तत्र हिंसा वधस्य सर्वत्र सद्भावात् ॥१०७॥

कुशील पाप और उसमें हिंसाका दोष—चौथा पाप है कुशील, कामसेवन। जब किसीके काम पीड़ा होती है तो उस समय उसका परिणाम कलुषित रहता है, वह इतना अज्ञान अंधेरेमें रहता है कि उसे अपने ब्रह्मस्वरूप की सुध हो ही नहीं सकती है। तो जो कामपीड़ासे सताया हुआ है उसके अपने भाव प्राणोंका तो नियमसे घात है। पर शास्त्रोंमें बताया गया है कि स्त्रीके अंग अंगमें, विशिष्ट विशिष्ट अंगमें निरन्तर अनेक जीव उत्पन्न होते रहते हैं। जैसे स्त्रीकी नाभिमें त्रस जीव उत्पन्न होते हैं तो उनके विघातमें उन प्राणियोंकी हिंसा होती है। इस हिंसामें एक तो अपना चित्त स्थिर नहीं रहता, वह कामातुर स्त्री अथवा पुरुष बेसुध हो जाता है, न्याय अन्याय भी नहीं गिनता, हेय उपादेयका कुछ भी

विवेक नहीं रहता। इस कामको मनोज कहते हैं। यह वेदना मनसे उत्पन्न होती है। इसमें भूख प्यास आदिककी तरह कोई वेदना नहीं, कोई शारीरिक पीड़ा नहीं, यह तो एक मनकी पीडा है। मनमें जो एक खोटा भाव उत्पन्न हो जाता है, इससे ऐसा व्यथित हो जाता है यह जीव कि वह निरन्तर अपने आपकी हिंसा करता रहता है। इस कामसेवनमें शान्तिका तो काम ही नहीं है। जिस स्त्री अथवा पुरुष पर दृष्टि डाली उसके आधीन बन जाता है। उसकी कषायोंकी पूर्ति इसे करनी पड़ती है। एक कथानक है कि एक कोई वेश्या थी, उसके मनमें आया कि किसी तरहसे इस रानीका हार लेना चाहिए। तो अजन चोरसे उसने सहज ही कहा कि तुम हमारे बडे प्यारे हो, उस रानीका हार लाकर हमें दे दो। तो उस अंजन चोरको पराधीनतामें आकर वैसा करना पड़ा। आगे क्या हुआ यह दूसरी बात है, मगर काम पीड़ा जगने पर वह पुरुष अथवा स्त्री परके आधीन हो जाता है। उससे इस लोकमें भी और परलोकमें भी दुःख भोगना पड़ता है। काम पीड़ा उत्पन्न होने पर थोड़े समयमें बेवकूफी की, उससे वह इतना फंस जाता कि जिन्दगी भर वह उन स्त्री पुत्रादिकके पीछे बड़ी-बडी हैरानियां उठाया करता है, रातदिन चिंतित रहना पड़ता है। आखिर उन सब कष्टोंका मूल यही है कि वह ब्रह्मचर्यको न पाल सका, इससे वे सारे अनर्थ हो गए। तो काम सेवन से अपने और परके द्रव्यप्राण व भावप्राण की हिंसा होती है इससे यह एक महान् पाप है। इस महान पापके कारण यह जीव अपने आपके परमात्मस्वरूप ज्ञानानन्द का विकास नहीं कर पाता है इससे वह निरन्तर अपने आपकी हिंसा किया करता है। तो हिंसा, झूठ, चोरी आदि किसी भी प्रकारके खोटे परिणाम करे तो वह खोटे परिणाम करने वाला नियमसे अपने आपकी हिंसा कर रहा है। उस हिंसाके कारण इस जीवको भव-भवमें दुःख भोगना पड़ता है। इस कारण जिन्हें अपने आप पर दया उत्पन्न हो उन्हें चाहिए कि सम्यग्ज्ञान उत्पन्न करें, पापकार्योंसे बचें और अपने परमात्मस्वरूपकी उपासना करें।

हिंस्यन्ते तिलनाल्यां तप्तायसि विनिहिते तिला यद्वत्।
बहवो जीवा योनौ हिंस्यन्ते मैथुने तद्वत्॥१०८॥

कुशीलमें द्रव्यहिंसा होनेका विवरण—जैसे तिलोंकी नलीमें तप्त लोहा डालनेसे तिल नष्ट हो जाते हैं इसी प्रकार मैथुन करनेसे योनिमें भी बहुतसे जो सम्मूर्छन जीव हैं वे सब मर जाते हैं। अब्रह्ममें भावप्राणकी तो हिंसा है ही क्योंकि उसमें बहुतसे जीवोंका प्राणघात भी है इसलिए द्रव्यहिंसा भी उसमें बहुत है। अब्रह्ममें आत्माकी सुध नहीं रहती, क्योंकि वह ऐसा बाह्य सन्मुखी कार्य है कि इतनी तीव्र आसक्ति उस कामसेवनमें रहती है कि बाह्य चीजें ही उसके चित्तमें बसी रहती हैं। दूसरे का शरीर, दूसरेका रूप, इस कारणसे उसमें भावप्राणघात बहुत ज्यादा भाग है और भी देखिये जैसे ब्रह्मचर्यका अर्थ है आत्मामें रमण करना तो हिंसा आदिक जो ५ पाप हैं उन ५ पापोंके करने से ब्रह्मचर्यका घात है, आत्माका रमण नहीं है। हिंसा करते समय भी आत्मामें नहीं रम रहा, झूठ बोलते समय, चोरी करते समय, परिग्रहके समय, व्यभिचारके समय आत्मामें नहीं रम रहा तो सभीमें ब्रह्मचर्यका घात है। लेकिन ब्रह्मचर्यके घातका नाम चौथा पाप जो रखा गया है यह क्यों रखा गया? पांचों पापोंमें ब्रह्मचर्यका घात है। आत्मामें रमण न हो सके सो ही व्यभिचार है, पाचों पापोंमें व्यभिचार है पर प्रसिद्धि कुशील की है। शेष चारकी अपेक्षा कुशीलमें बडी बेसुधी रहती है आत्माकी ओरसे, इस कारण इसको अब्रह्मचर्य कहा गया है।

यदपि क्रियते किञ्चिन्मदनोद्रेकादनङ्गरमणादि।
तत्रापि भवति हिंसा रागाद्युत्पत्तितन्त्रत्वात्॥१०९॥

अनङ्गरमणादि रूप कुशीलमें भी हिंसा—यहां कोई कुतर्क करे कि कोई स्त्री सेवन तो करे नहीं, और

और उपायोंसे अपने कामसेवनकी प्रवृत्ति करे तो उसे कुशील पाप नहीं लगता है क्या ? उसके उत्तरमें इस गाथामें बताया है कि कामवासनाके आवेशमें आकर जो कुछ अनंगरमण आदिक काम किए जाते हैं उनमें भी रागादिक की तीव्रता तो है ही, इस कारणसे हिंसा होती है। रागादिक भाव तीव्र न हों तो काम पीड़ा होना असम्भव है और जहाँ रागादिक अधिक हैं वहां ही हिंसा है। तो अनंग क्रीड़ासे हिंसा ही है क्योंकि इनमें रागादिक भावोंकी तीव्रता रहती है। कामसेवनका अभिप्राय ही चित्तमें आये उससे ही महाहिंसा हो जाती है क्योंकि रागादिक भाव उसमें अति तीव्र होते हैं। इसका नाम मनोज कहा गया है। इस कामवासनासे शरीरकी कोई वेदना नहीं रहती। जैसे कि भूख प्यास वगैरहकी वेदनाएँ होती हैं उस तरहकी यह कामवासनाकी वेदना नहीं है। मनमें एक इस प्रकारका जहां राग भाव उठा कि ऐसी तीव्र वेदना हो जाती है जिससे वह बेसुध हो जाता है। तो मनकी तीव्र आसक्ति वहां काम कर रही है। इससे इस कुशीलमें महापाप है।

ये निजकलत्रमात्र परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम् ॥११०॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतका निर्देश—आत्मकल्याणके अर्थीको चाहिए तो यह कि सर्वप्रकारके अब्रह्मका त्याग करे। स्त्री मात्रका परिहार करे। लेकिन जो पुरुष मोहके कारण सर्वस्त्रियोंका परिहार न कर सके अर्थात् अपनी विवाहित स्त्रीको छोड़नेमें असमर्थ है तो उसे भी यह चाहिए कि अपनी स्त्री के अतिरिक्त शेष समस्त परस्त्रियोंके सेवनका परिहार करे। ब्रह्मचर्य व्रत दो प्रकारसे है—एक ब्रह्मचर्य अणुव्रत और एक ब्रह्मचर्य महाव्रत। ब्रह्मचर्य महाव्रतमें तो समस्त स्त्रियोंके संसर्गका त्याग बताया है और ब्रह्मचर्य अणुव्रत में धर्मानुकूल विवाहित अपनी स्त्रीको छोड़कर शेष समस्त स्त्रियोंके प्रसंगका त्याग करना, सो ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। तो जो पुरुष ब्रह्मचर्य अणुव्रत नहीं पाल सकता अर्थात् सर्वथा कुशीलका परित्याग नहीं कर सकता वह सद्गृहस्थ रहे, श्रावक रहे। अपनी स्त्रीके सिवाय शेष समस्त स्त्रियोंको मा बहिनकी तरह दृष्टि रखे और उनके प्रति अपने भाव खोटे न करे। इस तरह ब्रह्मचर्य व्रतको मूल पद्धतिके अनुसार बताया कि जो लोग ब्रह्मचर्य नहीं पालते वे अपनी हिंसा कर रहे हैं। वीतराग सर्वज्ञदेवकी तरह निर्दोष और सर्वज्ञताकी सामर्थ्य रखने वाले अपने कारणसमयसारकी हिंसा कर रहे हैं और आकुल व्याकुल होते हैं, इस कारण इसमें भी हिंसाका पाप है।

या मूर्छा नामेयं विज्ञातव्य परिग्रहो ह्येष।
मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥१११॥

मूर्च्छाका लक्षण व मूर्छाकी परिग्रहरूपता—जो मूर्छा नामका परिग्रह है वह क्या है ? मोहके उदयसे उत्पन्न हुआ ममत्व परिणाम। मोहकर्म दो प्रकारका है, एक दर्शन मोह और एक चारित्र मोह। दर्शन मोहके उदयसे आत्माकी दृष्टि विपरीत हो जाती है। है तो परपदार्थ और मानता है कि यह मैं हू, यह विपरीत दृष्टि हुई। है तो यह भिन्न और मानता कि यह मेरा पदार्थ है तो इस तरह ममत्व परिणाम और अहंकारपरिणाम होते हैं वे सब पाप हैं। चारित्र मोहके उदयसे तो ममता जगती है और दर्शन मोहके उदयसे परको 'यह मैं हू' इस तरहका परिणाम होता है, यही मूर्छा है। मूर्छा मायने बेहोशी। बेहोशी का अर्थ है अपनी सुध न रहना। मैं क्या हू, मेरा स्वरूप क्या है, मेरा कर्तव्य क्या है इसकी सुध न रहे और अटपट क्रिया चले उसीके मायने मूर्छा है। जैसे कोई शराब पीने वाला अपनी सुध नहीं रखता और वह अटपट क्रिया करता है तो उसे लोग बेसुध कहते हैं। अब जरा इसी बातको आत्म-परिणाममें देखो। जो आत्मा अपनी सुध नहीं रख सकता, मैं आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप हू, निराकुल हू, जो सिद्धका स्वरूप है उस तरहके स्वरूप वाला हू, दुःखका कहीं काम नहीं। आनन्द ही इसका स्वरूप

है। ऐसी अपने आत्माकी तो सुध न हो सके और बाह्यपदार्थोंके प्रति मूर्छाका परिणाम जगे तो यह जो ममत्व परिणाम है उस ममत्व परिणामोंसे अपने आत्माकी, समयसारकी, परमात्मस्वरूपकी, बहुत बहुत हिंसा है इसी कारण यह आत्मा अपनी अनाकुलतासे मिल ही नहीं सकता है। तो ऐसा जो मूर्छाका परिणाम है वह भी हिंसा ही है। इसीको परिग्रह कहते हैं। तो परिग्रहके संचयमें, परिग्रहकी तृष्णामें, परिग्रहकी दृष्टिमें आत्मा अपने चैतन्य प्राणका निरन्तर घात करता जा रहा है और इस बातका यह पता भी नहीं करता कि इससे मेरा कितना घात है, मेरी कितनी बरबादी है? होड़ लगाये जाते हैं बाह्य परिग्रहोंके जोड़नेमें हजारपति हैं तो लखपति होनेकी बात मनमें है लखपति हैं तो करोड़पति तथा करोड़पति है तो अरबपति बनकी की बात मनमें बनी रहती है।

व्यर्थका मूर्च्छाभाव—भैया! व्यर्थका मूर्छापरिणाम इस जीवके साथ लगा है। है यहाँ किसीका कुछ नहीं, सभी यहाँके प्राप्त समागम छूट जायेंगे, लेकिन इस वैभवमें मूर्छा बनी है। अपनी सत्ता, धन वैभव, परिजन, मित्रजनोंसे मानता है। कुटुम्बीजनोंके लिये तो अपना सर्वस्व ही अर्पण करने को तैयार रहते हैं। अपने कुटुम्बी-जनोंके अलावा दूसरे लोग भी कोई जीव है, उनके लिये यह कुछ भी त्याग करने को राजी नहीं होता, तो यह कितनी बड़ी भारी मूर्छा है। जैसे गैर आत्मा हैं वैसा ही तो इन कुटुम्बी जनोंका आत्मा है। वे भी उतने ही भिन्न हैं जितने कि अन्य सब जीव भिन्न हैं, लेकिन ऐसा मूर्छाका परिणाम इन जीवोंके साथ लगा है कि जिन्हें अपना स्वीकार किया है उनके पीछे तो अपना सर्वस्व अर्पण कर देते हैं और बाकी जीवोंके लिए चित्तमें कोई कृपाका स्थान नहीं है और कुछ स्थान बाकी लोगोंके लिए भी है तो वह अत्यन्त थोडा है। जैसा परिणाम घर वालोंके प्रति जगता है उसकी तुलनामें गैरोंके प्रति तो न कुछ के बराबर है। तो यह बेहोशी नहीं है तो और क्या है? कोई कहे कि गृहस्थावस्थामें तो ऐसा करना पड़ता है और न करे तो क्या धन लुटा दे? लेकिन यह पता नहीं कि धन आता कैसे है? यह जीव तो जानता है कि मेरी कलासे, मेरे मन वचन कायके व्यापारसे, मेरी युक्तिसे धन आता है, लेकिन जिसके पुण्यका उदय सही है उसके धन आता है और उदय नहीं है तो नहीं आता है। यदि गैरोंकी रक्षा करे, वहां चित्त दे तो उससे कहीं कमी नहीं आती है, सिर्फ एक विचार ही संकुचित बना लिया गया, फिर इतनी हिम्मत रखें कि जब तक है तब तक उदारभावका सर्वत्र उपयोग करें और उसमें फिर जो भी हमारे ऊपर परिस्थिति आये हम उसीमें राजी हैं। क्या करना है इस बातको सोचकर कि मैं दूसरोंके लिए दयाका परिणाम रखूँगा नहीं। दूसरोंके प्रति भी दयाका परिणाम जगे तो इसमें कौनसी कमी आती है? मैं आत्मा अपने गुणोंसे सम्पन्न हू, इन ही गुणोंके वैभवसे मैं वैभववान हू। परपदार्थोंके कारण वैभववान नहीं हू। तो मूर्छा नामक जो परिणाम है वह इतना बेवकूफी भरा परिणाम है कि उसमें अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा होती है।

मूर्च्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्तिः परिग्रहत्वस्य।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसंगेभ्यः॥११२॥

मूर्छापरिणाममें परिग्रहत्वकी व्याप्ति—परिग्रहका अर्थ है मूर्छा। बाह्यपदार्थ पास होनेका नाम परिग्रह नहीं, भीतरमें जो ममता परिणाम लगा है, बेसुधी है यह है परिग्रह। पर बाह्यपरिग्रह जो अपने साथ लिपटा है वह मूर्छाके बिना नहीं रह रहा। तो बाह्य पदार्थोंमें मूर्छा है इस कारण परिग्रह है। चाहे बाहरसे कोई परिग्रह न दीख रहा हो, पर जिसके अन्तरङ्गमें मूर्छा परिणाम है उसके साथ तो परिग्रह लगा ही हुआ है। यह बाह्य परिग्रह तो अन्तरङ्ग मूर्छाका अनुमान कराता है कि इसके अन्तरङ्गमें मूर्छा है तभी तो देखो कितना परिग्रह लाते हैं। और जो दोष लगा है अन्तरङ्ग मूर्छा लगी है उसीसे तो ये अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रह इतने इतने दीख रहे हैं। बाहरी चीजसे अथवा दूसरेकी प्रवृत्तिसे आत्मा

को दोष नहीं लगता, किन्तु अपने आपका ही कोई अपराध हो तो उस अपराधसे दोष लगता है। कोई पुरुष नग्नरूप धारण किए हो, बाहरी परिग्रह पासमें न हो, पर अन्तरङ्गमें मूर्छा हो तो वह परिग्रही कहलायेगा। जहाँ जहाँ मूर्छा होती है वहां वहां परिग्रह होता है यह नियम है। तो जिसके अन्दर मूर्छा है उसके नियमसे परिग्रह है और अगर किसीके अन्तरङ्गमें मूर्छा नहीं है, नग्न स्वरूप है, उसके ऊपर कोई कपड़ा उढ़ा दे तो वह परिग्रही न कहलायेगा। परिग्रह होता है जीवके अन्तरङ्ग मूर्छा परिणामसे।

यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः।
भवति नितरां यतोऽसौ धत्ते मूर्छानिमित्तत्त्वम् ॥११३॥

बाह्यपरिग्रहका मूर्छापरिणाममे निमित्तत्व—मूर्छा ही परिग्रह है। निश्चयसे तो बाह्यपरिग्रह कुछ भी परिग्रह नहीं होगा? उत्तर—एकान्ततः ऐसा नहीं है, क्योंकि यह बाह्य परिग्रह मूर्छाका निमित्त तो बनता है। कोई कहे कि बाहरी परिग्रह रखनेसे कोई दोष भी नहीं आता आत्मामें, तो रखे जावो बाह्य परिग्रह सो यह बात नहीं है, क्योंकि बाह्य परिग्रह जो रख रहा है उसके मूर्छा परिणाम है और मूर्छा परिणाम से परिग्रहका दोष है। परिग्रह दो प्रकारका है—एक अन्तरङ्ग परिग्रह और दूसरा बाह्य परिग्रह। तो बाह्य परिग्रह अन्तरङ्ग परिग्रहका विषय है। जैसे किसीको ममता जगी तो किसी पदार्थका नाम लेकर ही तो जगेगी। तो जिस पदार्थको हमने अपने उपयोगमे लिया है वही पदार्थ बाह्यपरिग्रह है। तो बाह्य परिग्रहका ख्याल कर करके यह जीव ममता किया करता है। इस तरहसे बाह्य परिग्रह मूर्छापरिणाम रूप अन्तरङ्ग परिग्रहका कारण है। यह मूर्छा परिणाम अन्तरङ्ग परिणाम से सम्बन्ध रखता है। इस मूर्छा की उत्पत्तिमें ये बाह्यपदार्थ कारणभूत हैं। तो कारणमें कार्यका उपचार किया अर्थात् बाह्यपदार्थोंमें मूर्छा नामक परिग्रहका उपचार किया तो वहाँ भी यह बात बनी कि मूर्छा है इसीका नाम परिग्रह है। बाह्य पदार्थोंमे ममत्व किया उसीके मायने मूर्छा है। मूर्छाका अर्थ उदासीन नहीं। मूर्छाका अर्थ है अपने आप की सुध खो बैठना और बाह्यपदार्थोंमें अपनी दृष्टि लगाना इसीका नाम मूर्छा है। तत्त्वार्थसूत्रमें भी लिखा है कि "मूर्छा परिग्रह"। मूर्छा का नाम परिग्रह है यह बात बिल्कुल युक्त है। बाह्य परिग्रह होते हुए परिग्रहका जो दोष लगा है वह बाह्य पदार्थोंके निकट होनेके कारण नहीं लगा किन्तु अपने अन्तरङ्ग में मूर्छा रहे उसके कारण इसे दोष लगा है। तो मूर्छा नामका जो परिग्रह है वह भी पाप है क्योंकि उसमें भी अपने प्राणोंका घात है और उस वैभवकी प्रीतिके कारण दूसरे दूसरे जीवोंमें जो विसम्वाद बनता है उनके प्राण घाते जाते हैं तो उन जीवोंकी भी हिंसा हो गयी। मुख्यतः तो अपने चैतन्यप्राणकी हिंसा है। अपना जो ज्ञान दर्शन है उसके विकासको रोक दे, उस वैभव प्रीतिके कारण आकुलता बनी रहती है, यह अपने आपकी बड़ी भारी हिंसा है। तो परिग्रहसे अपने प्राणोंकी हिंसा हो गयी, अतः यह भी अधम है।

एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद्भवेन्नैवम्।
यस्मादकषायाणां कर्मग्रहणे न मूर्छाऽस्ति ॥११४॥

परिग्रहके मूर्छालक्षणमें अतिव्याप्ति दोषका अभाव—कोई ऐसा प्रश्न करे कि बाह्य पदार्थोंको अगर द्रव्य परिग्रह मान लिया जाय तो वीतराग अरहंत भगवान जिनके समवशरणकी इतनी बड़ी विभूति है उन्हें भी परिग्रही कहना चाहिए। क्योंकि बाह्य परिग्रहमें भी कारणमें कार्यका उपचार करनेसे परिग्रह नामक दोष लगता है, वह द्रव्यपरिग्रह है, तो द्रव्यपरिग्रह तो अरहंत भगवानके लग रहा है, फिर उन्हें परिग्रही कहना चाहिए। उसके उत्तरमें यह कह रहे हैं कि वे कषायरहित पुरुष हैं, निर्दोष हैं। निर्दोष ऋषिजनों को किसी कारणसे कर्मवर्गणाओंका ग्रहण हो भी रहा है तो भी उनमें मूर्छा नहीं है। जहां जहां मूर्छा है वहां वहां नियमसे परिग्रह है, तो वीतराग पुरुषोंके जो आस्रव चलता है वह ईर्यापथ कहलाता है।

अर्थात् आया और निकल गया। आत्मामें ठहरता नहीं है इसलिए बंध नहीं है और उसी समय आया, उसी समय निकल गया, मायने एक समय लगा तो उसे बंध नहीं कहते हैं। तो ऐसी व्याप्ति घटाना कि जहा जहा मूर्छा नहीं है वहा वहां परिग्रह नहीं है और जहां जहा परिग्रह है वहा वहां मूर्छा अवश्य है। कोई कहे कि हमने तो ज्ञान कर लिया, हम जानते हैं कि पुद्गल पुद्गल है, आत्मा आत्मा है, बाह्य पदार्थ बाह्य हैं, मैं उनसे न्यारा हू, बाह्य पदार्थ मेरे कुछ नहीं लगते, मेरे परिग्रहका दोष नहीं है, ऐसा कोई कहे तो उसकी बात यों असत्य है कि फिर किस परिणामकी प्रेरणासे ये धन, घर, वस्त्र आदिक लाद रखा है? अगर मूर्छा रहित हों तो परिग्रहका संचय नहीं कर सकते हैं। जहां जहां बाह्य परिग्रह रखे जा रहे हैं वहां वहा नियमसे मूर्छा है। और जहा मूर्छा नहीं है वहां परिग्रह नहीं है। वीतराग सर्वज्ञदेवके जो भी समवशरण आदिक होते हैं उनकी रचना इन्द्रादिक देव करते हैं, वे खुशिया भी मनाते, सारे कार्य करते तो उनके क्या वह परिग्रह लग जायेगा? कभी नहीं, वीतराग सर्वज्ञके उसका परिग्रह नहीं लग सकता। इस लिए यह सिद्ध है कि जहां मूर्छा है वहां नियमसे परिग्रह है। मूर्छा परिणाम पशुवोंके भी है। एकेन्द्रिय दोइन्द्रिय जीवोंके भी है। तो जहां मूर्छा है वहां परिग्रह है। यह बताया था अभी कि समवशरण आदिक जो रचे जाते हैं उनका परिग्रह दोष किसे लगता है? आखिर चीज तो बाहर है, बाह्यपरिग्रह है। समवशरण आदिक की विभूतिमें जिसका मूर्छाका परिणाम जगता है उसका परिग्रह है। ये समवशरण इन्द्र कुबेर आदिक द्वारा चौथे कालमें रचे जाते थे, आज पंचमकालमें तो नहीं रचे जाते, आज कल तीर्थंकर भगवान नहीं होते तो उनका समवशरण भी नहीं है, लेकिन वे देव इन्द्र कुबेर आदिक अब निवृत्तकार्य नहीं हैं कि चलो उनका यह काम समाप्त हो गया, वे आरामसे रहें। उन्हें तो प्रभु सेवामें रहकर बड़ा आराम मिलता है। ढाई द्वीपमें जन्म कल्याणक, तप कल्याणक गर्भकल्याणक मनाना आदिक चलता रहता है। भरत ऐरावत क्षेत्रमें तो एक समयमें थोड़े ही तीर्थंकर होते हैं। जैसे ढाई द्वीपमें ५ भरत क्षेत्र हैं, ५ ऐरावत क्षेत्र हैं तो अधिकसे अधिक १० तीर्थंकर होते हैं, किन्तु विदेह क्षेत्रमें १६० नगरी हैं, वहां एक-एक तीर्थंकर हो तो १६० तीर्थंकर एक समयमें हो सकते हैं, तो उन देवोंको भगवानकी सेवा करनेका अवसर मिल जाता है, तो वे देव धर्मकार्यमें लगे रहते हैं, समवशरणकी रचना किया करते हैं। जैसे यहाके ५ कल्याणकके धारी तीर्थंकर होते हैं, विदेह क्षेत्रमें भी ५ कल्याणकके धारी होते हैं प्रायः करके। किसीने गृहस्थावस्थामें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लिया तो उसको गर्भ व जन्म कल्याणक नहीं मिला। उनके तप कल्याणक, ज्ञान कल्याणक और निर्वाण कल्याणक होते हैं। किसीने मुनिपदमें तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध कर लिया तो उसके सिर्फ ज्ञान व निर्वाण—ये २ कल्याणक होते हैं। ऐसे कम कल्याणक वाले तीर्थंकर कम ही होते है। अधिकतर ५ कल्याणकके धारी तीर्थंकर होते हैं। १६० तीर्थंकर वहा एक समयमें हो सकते हैं, पर कमसे कम २० सदा रहते हैं, उसका कारण है कि विदेहक्षेत्र ५ हैं और उनके दो दो भाग हो गए—एक पूरब और एक पश्चिम। पूरबमें १६ नगरी, पश्चिममें १६ नगरी, यों प्रत्येक विदेहमें ३२ नगरी हैं, यों ५ विदेहके १६० नगरी होती हैं। तो कहा यह गया कि जहा मूर्छा है उसके परिग्रह है। समवशरण रचने वाले देव तो चाहे परिग्रही हो जायें, परन्तु वीतराग सर्वज्ञदेवके मूर्छा नहीं है इस कारण उनके परिग्रहका दोष नहीं है।

अतिसंक्षेपाद्विविधः स भवेदाभ्यन्तरश्च बाह्यश्च।
प्रथमश्चतुर्दशविधो भवति द्विविधो द्वितीयस्तु ॥११५॥

परिग्रहके प्रकार—समस्त अनर्थोंका मूल परिग्रह है। परिग्रह दो प्रकारके हैं—एक अन्तरङ्ग परिग्रह और एक बाह्य परिग्रह। अन्तरङ्ग परिग्रह १४ प्रकारके होते हैं। अन्तरङ्ग परिग्रह कहलाता है आत्माका परिणाम। आत्माका जो विकारी परिणाम है वह तो है अन्तरङ्ग परिग्रह और आत्मासे अलग जो बाहर

में चीजें पड़ी हैं वह है बाह्यपरिग्रह। तो अन्तरङ्ग परिग्रह १४ प्रकारका बताया गया है। १४ प्रकारका अन्तरङ्ग परिग्रह और १० प्रकारका बाह्य परिग्रह। इस तरह परिग्रहके २४ भेद हैं। अन्तरङ्गके परिग्रह मायने विकार परिणाम। जीवका जो विकार परिणाम है उसे अन्तरङ्ग परिग्रह कहते हैं। बहिरङ्ग परिग्रह का संक्षेप करें तो वह दो प्रकारका है एक चेतन और एक अचेतन। आत्माके विकार परिणाम तो अन्तरङ्ग परिग्रह हैं और चेतन अचेतन परिग्रह बाह्य परिग्रह हैं।

मिथ्यात्ववेदरागास्तथैव हास्यादयश्च षड्दोषाः।
चत्वारश्च कषायाश्चतुर्दशाभ्यान्तरा ग्रन्थाः ॥११६॥

अन्तरङ्ग परिग्रहके भेद व मिथ्यात्व नामक प्रथम परिग्रहके चिह्न—मिथ्यात्व, वेद परिणामके तीन भेद, हास्यादिक ६, ४ कषायें—ये अन्तरङ्ग परिग्रहके १४ भेद हैं। ये समस्त अन्तरङ्ग परिग्रह मोहनीय कर्मके उदयसे होते हैं। कर्म ८ प्रकारके माने गए हैं, उन सबमें मोहनीय कर्म अत्यन्त प्रबल है। जीवका बंध मोहनीय कर्मके उदयसे होता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—इन ७ प्रकारके कर्मोंके उदयसे बंध नहीं होता है। मोहनीय कर्मके उदयसे जो विकार परिणाम होते हैं उनसे बंध होता है। यों समझ लो कि मोहनीय कर्मके उदयसे जो विभाव परिणाम बनते हैं वे सब अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। मोहनीय कर्म है दो प्रकारके—दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय। दर्शनमोहनीयके उदय से हुआ मिथ्यात्व और चारित्रमोहनीयके उदयसे होते हैं २५ तरहके परिणाम। १६ कषायें जिनको ४ में ले लें—क्रोध, मान, माया, लोभ। हास्यादिक ६ हैं, ये १३ परिग्रह हुए चारित्र मोहके और एक मिथ्यात्व परिग्रह हुआ दर्शन मोहका। यों १४ प्रकारके अन्तरङ्ग परिग्रह हैं। उन्हें अन्तरङ्ग परिग्रह क्यों कहा? यों कि आत्माके अन्दर ही ये विभाव उत्पन्न होते हैं। आत्माके उपादानमें होते हैं, कर्मोदयका निमित्त पाकर होते हैं सो औपाधिक भाव हैं। जो कर्मोंके उदयका निमित्त पाकर आत्मामें विभाव परिणाम होते हैं वे सब अन्तरङ्ग परिग्रह कहलाते हैं। अपने आत्मामें और परपदार्थोंमें भेद न मान सकना, इस देह को ही आत्मा मानना आदिक जो विभाव परिणाम होते हैं सो मिथ्यात्व हैं। १४ प्रकारके परिग्रहोंमें मिथ्यात्वको छोड़कर जो शेष १३ प्रकारके परिग्रह हैं उन्हें अपनाना इसीको मिथ्यात्व कहते हैं। सभी परिग्रहोंमे जबरदस्त परिग्रह मिथ्यात्वका है। जब मिथ्यात्वपरिणाम दूर हो जाता है तो शेषके १३ परिग्रह अपने आप धीरे-धीरे दूर होने लगते हैं। जब मिथ्यात्व नामक परिग्रह दूर हो जाता है तो कषायें भी धीरे-धीरे दूर होती हैं। सभी परिग्रहोंकी जड़ मिथ्यात्व है। बाह्य पदार्थोंको अपनाना, यह शरीर ही मैं हू, ऐसा अनुभव करना सो मिथ्यात्व है।

नव नोकषायरूप परिग्रहका निर्देशन—मिथ्यात्वके बाद बताया है स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसक-वेद सम्बन्धी राग। हैं ये तीनों एक ही बात है पर, इसके तीन भेद कर दिये गए। इस रागमें दूसरेके शरीर सुहाते हैं। तो तीन प्रकारके ये परिग्रह हुए। फिर बताया है ये हास्यादिक ६। हास्य मायने हैं हँसी। अपने आप बहुत ज्यादा हँसना यह भी परिग्रह है, तो हँसनेका परिणाम विभाव है, उसमें खुशी मानते हैं तो यह हुआ हास्यपरिग्रह। एक है रति परिग्रह। कोई इष्ट मित्र है, बन्धु है, पुत्र है ये सुहाते हैं तो यह सब रति परिग्रह है। परिग्रहमें मूर्छाका लक्षण घटाना चाहिए। जब रति परिणाम होता है तो उसमें भी आत्माकी बेसुधी है। एक है अरति परिग्रह। जो चीज न सुहाये उसमें द्वेष होवे, देखना न चाहे, किसी से कुछ अपने विषय साधनामें विरोध हो गया या विघ्न डाल दिया तो उससे मुख मोडे, अप्रीति करें उसे अरति परिग्रह कहते हैं। आप कहेंगे कि अरतिको क्यों परिग्रह कहा? उसमें अपनाया तो नहीं जा रहा है। पर भाई उसने अपने अन्तरङ्ग परिणामोंसे नहीं त्यागा, उसे तो वह पुरुष कुछ कारणोंसे सुहाया नहीं, इसलिए उसे अलग किया, यह तो ठीक है, पर न सुहाया, ऐसा जो भीतरमें परिणाम हुआ

वह परिणाम तो सुहा रहा है। घृणाका, जुगुप्साका भीतरमे जो भाव है उसे बसाया जा रहा है इसलिए वह अन्तरङ्ग परिग्रह है। एक शोक परिग्रह है। इष्टका वियोग व अनिष्टका संयोग होनेसे चित्तमें जो शल्य बस जाती है उसका नाम शोक है। शोकमें दो प्रकारके परिणाम होते हैं। संयोग की वाञ्छा करना और वियोगकी वाञ्छा करना, यों सयोग और वियोग दोनों ही शोकके आधार हैं। एक भय परिग्रह है। अपने को जो इस लोक और परलोकमें किसी बातमे कोई विघ्न देने वाला हो उससे डरना इसे भय परिग्रह कहते हैं। तो भय नामक जो परिणाम होता है तो आत्मा मूर्छित हो जाता है, अपने आपकी सुध नहीं करता, घबडाता है, बेचैन होता है, तो भय भी एक परिग्रह है। इसी प्रकार घृणा करना भी एक परिग्रह है। मामूली चीजमें, बड़ी चीजमें सभीमें जो ग्लानिका परिणाम है वह जुगुप्सा परिग्रह है। कोई पुरुष गंदा है अथवा साधुजनोंका, मुनिजनोंका शरीर गदा हो अथवा रोगी हो, दुःखी हो उनसे ग्लानि करना तथा कफ थूक आदि किसी चीजसे ग्लानि करना ये सब ग्लानि परिग्रह हैं।

क्रोध मान माया लोभ कषाय परिग्रह—ससारी जीवके साथ ४ प्रकारकी कषायें लगी हैं क्रोध, मान, माया-लोभ ये भी परिग्रह हैं। जब जीव क्रोध करता है तो अपने आपको भूल जाता है और वह चाहता है कि मैं दूसरेका बिगाड़ कर दू, मैं इसकी खबर ले लूँ, तो क्रोधमें दूसरेके बिगाड़का परिणाम होता है जिससे अपना बिगाड निश्चित है, दूसरेका बिगाड हो या न हो। जैसे कोई आग उठाकर दूसरेको मारता है तो चाहे वह दूसरा न जले पर उस मारने वालेका हाथ जरूर जल जाता है। ऐसे ही क्रोध करने वाले के यह ज्ञान नहीं जग पाता कि इससे मेरा ही बिगाड़ है, इसी प्रकार मान कषाय है, अभिमानवा परिणाम यह परिग्रह है, क्योंकि अभिमान करते समय यह जीव अपना बड़प्पन रखनेका भाव करता है और दूसरेको तुच्छ गिननेका भाव रखता है, तो इसे अभिमान परिग्रह कहा गया है। यह विकार परिणाम है, अहकार है इसलिए परिग्रह है। तेरहवाँ है मायाचारका परिग्रह। मायाचारमें छल कपटकी बात है। ऐसा मायाजाल रचना कि किसी को कुछ पता न पडे, दूसरोंको भड़का देना, दूसरोंमें मित्रताका भाव पैदा न होने देना, ये सब बातें मायाचारमें आती हैं और यह जीव मायाचारको अपनाता है। भीतर में उन भावोंका गु तारा लगाता रहता है, उसीमें रमता रहता है। तो मायाचार भी अन्तरङ्ग परिग्रह है और लोभ भी अन्तरङ्ग परिग्रह है। लोभमें बाह्य पदार्थोंको अपनाना इसका नाम लोभ है। लोभका दूसरा नाम लालच भी है। लालचमें यह जीव कायर बनता है। लोग लालचको स्पष्ट जानते है। एक कहावत भी प्रसिद्ध है लोभ पापका बाप बखाना। इस प्रकार ये अन्तरङ्ग परिग्रह १४ प्रकारके कहे गए हैं। अब बाह्यपरिग्रह कौन है जिसके कि मूलमे दो भेद किए गए थे—एक चेतनपरिग्रह और एक अचेतन परिग्रह। उन परिग्रहोंको बताते हैं—

> अथ निश्चित्तसचित्तौ बाह्यस्य परिग्रहस्य भेदौ द्वौ।
> नैषः कदापि सङ्गः सर्वोऽप्यतिवर्तते हिंसा ॥११७॥

बाह्य परिग्रहके प्रकार और उनके प्रसगमें भी हिंसाका दोष—बाह्य परिग्रह दो तरहके है—एक सचेतन और एक अचेतन। ये दो प्रकारके परिग्रह हिंसा ही हैं। अन्तरङ्ग परिग्रह भी सब हिंसा है और बाह्य परिग्रह ये हिंसाके कारण होनेसे हिसा हैं, क्योंकि हिंसा नाम है अपने आपके परमात्मस्वरूपका विकास न होने देना। ज्ञान और आनन्दका घात करना इसका नाम है हिंसा। आत्माका प्राण है ज्ञान, दर्शन अथवा चैतन्य। उस चैतन्यका घात करना, उसका विकास न होने देना इसका नाम है परिग्रह। अहिंसा का जहाँ रूप होता है वहाँ ज्ञान और दर्शनका पूरा विकास होता है। जैसे अरहत भगवान अहिंसाकी मूर्ति हैं। परम अहिंसा कषाय रहित मुनिके है। जहाँ १४ प्रकारके अन्तरङ्ग परिग्रह नहीं हैं, बाह्यपरिग्रह भी नहीं हैं। समस्त परिग्रहोंसे रहित जो संतजन हैं वे परम अहिंसक कहलाते हैं। अहिंसाका अर्थ है

रागादिक भाव उत्पन्न न होना। ज्ञानानन्दस्वरूप जहाँ बढ़ता है वहां रागादिक दूर होते हैं। जहाँ रागादिक दूर होते हैं वहाँ ही ज्ञानानन्द बढ़ता है। तो आत्माके ज्ञानदर्शन गुणका घात हो जाने से ये अन्तरङ्ग १४ प्रकारके परिग्रह हैं और बहिरङ्ग भी १० प्रकारके परिग्रह हैं। जिसे संक्षेपमें दो भागोंमें बाँट दिया गया है। परिग्रहका अर्थ है जो चारो तरफसे जकडे अर्थात् जो चारों ओरसे ग्रहण करे। तो परपदार्थोंका जो ग्रहण करना है उसका नाम परिग्रह है। जब जीवके विकार परिणाम होता है उस समय यह जीव चारो तरफसे कुछ न कुछ ग्रहण करना चाहता है। जैसे व्यापारी लोग व्यापार करते हैं तो चारों ओर से आमदनी हो, भाव बढे, कमती बढ़ती देनेसे लाभ हो, उसमें भी कोई हिसाब भूल जाय उसका लाभ हो, यों चारो ओरसे ग्रहण करनेका भाव परिग्रही पुरुषोंका होता है और जब परिग्रह है तो जीवके चारों ओरसे शरीरका और कार्माणवर्गणाओंका ग्रहण होता रहता है। जब विभाव परिणाम हास्यादिक कषायादिकसे जो कर्मका बन्धन होता है वह आत्माके सर्वप्रदेशोंमे चारों ओरसे होता है। कोई ग्रहण करनेका एक ही रास्ता नहीं है। जिस कालमें जीवके विभावपरिणाम होते हैं उसी कालमें आत्मामें ठहरी हुई कार्माणवर्गणायें कर्मरूप परिणम जाती हैं। इस संसारमें ऐसी अनेक सूक्ष्म कार्माण वर्गणायें हैं जो जीवका विभाव पाकर कर्मरूप बन जाती है। ऐसी कार्माणवर्गणायें आत्मामें दो प्रकार की हैं—एक तो वे जो कर्मरूप हो चुकी हैं और एक वे जो कर्मरूप होनेकी उम्मीदवार हैं। जो कर्मरूप होनेकी उम्मीदवार हैं उन्हें कहते हैं विश्रसोपचय। विश्रसोपचय मायने स्वभावसे उनका संग्रह बना होता है। जब जीव मरता है तो शरीर छोड़कर तो जाता ही है, पर साथमें तैजस और कार्माण शरीर ले जाता है। तो कार्माणशरीर उन कर्मोंको लिए हुए है जो कर्मरूप बन गए हैं पर साथ ही साथ विश्रसोपचय कार्माण वर्गणायें भी जाती हैं। मरणके बाद जीवके साथ कर्म तो जाते ही हैं मगर कर्मरूप बनने की उम्मीदवार जो कर्मरूप वर्गणायें हैं वे साथ जाती हैं। जहाँ विभाव परिणाम किया वहां वह कर्मरूप बन गया। रास्तेमें जा रहे हैं और कर्मरूप जो बन रहे हैं उनको लेकर जा रहे हैं तो विग्रह गतिमें भी विभाव परिणाम है तो वहा कर्म बंधन कैसे हुआ ? जीवके साथ ऐसी कार्माणवर्गणायें जाती हैं जो अभी कर्मरूप नहीं है पर कर्मरूप बनेगी और जो कर्मरूप हैं वे भी साथ जाती हैं। तो दो प्रकारकी ये कार्माणवर्गणायें इस जीवके साथ लगी हैं। जब विभाव परिणाम हुआ तो कर्म चारों ओरसे बँध जाते हैं। इस प्रकार इस समय विभाव परिणाम जीवोंके हम आपके शरीरके भी परमाणुका चारों ओरसे ग्रहण करना चाहते हैं। खाकर आये, मालिश करके आये, किसी तरह बाहरसे कण हमारे शरीरमें आ जायें इन्जेक्शन देकर, ग्लूकोश लेकर आहार लेना, हवाको बदल करके आहार लेना, आहार करके आहार लेना, इस प्रकारसे आहार लेनेके लिए इस जीवके चारों ओरसे प्रयत्न होते हैं। तो चेतन अचेतन सभी परिग्रहोंको जो अपनाते हैं वे सब परिग्रह हैं।

उभयपरिग्रहवर्जनमाचार्याः सूचयन्त्यहिंसेति।
द्विविधपरिग्रहवहनं हिंसेति जिनप्रवचनज्ञाः ॥११८॥

परिग्रहोंके त्यागमें अहिंसा और परिग्रहोंके वहनमें हिंसा—जो जिन प्रवचनके ज्ञाता हैं, जैन सिद्धान्तके ज्ञानी आचार्यपुरुष हैं वे दोनों प्रकारके परिग्रहोंका त्याग करते हैं। इन्हीं परिग्रहोंके त्यागका नाम अहिंसा है। १० बाह्य परिग्रह कौनसे हैं ? खेत, मकान, गाय, भैंस, धन, अनाज, सोना, चाँदी, बर्तनभाडे, दासी दास दाम कपडे ये सब बाह्य परिग्रह हैं। जो भी बाहरमें चीजें मौजूद हैं वे सब बाह्य परिग्रह हैं। उनके कंसे ही भेद बना लो तो बाह्य परिग्रहों का ढोना और अन्तरङ्ग परिग्रहोंका ढोना, ये सब हिंसा कहलाते हैं। और दोनों प्रकारके परिग्रह न हों तो वह अहिंसा कहलाती है। जहा मिथ्यात्व नहीं है, किसी प्रकार का कषाय परिणाम नहीं है वह परिणाम कितना उज्ज्वल होता है ? वहाँ एक आत्मीय आनन्दका अनुभव

होता है, विशुद्ध ज्ञान चलता रहता है, ज्ञाता द्रष्टाकी स्थिति रहती है। पदार्थ जाननेमें तो आ रहे पर उनकी पकड़ नहीं है, विकल्प नहीं है ऐसा निर्विकल्प ज्ञाता द्रष्टा रहनेका परिणाम जगता है तो सच्ची अहिंसा इसही परिणामसे समझी जाती है। किसी भी परवस्तुमें रागादिक न हों और अपने आपमें विशुद्ध ज्ञानका प्रकाश बना रहे जिसके प्रतापसे शुद्ध आनन्दका अनुभव होता है उसे अहिंसा कहते हैं। इसे क्षोभरहित परिणाम कहो, अहिंसा कहो, धर्म कहो, रत्नत्रय कहो, शान्ति कहो, यह सब एक ही बात है। अहिंसा शान्तिका कारण है तो उस शान्तिको पानेके लिए हमें पांचों प्रकारके पाप जो एक हिंसा नामसे कहे गये हैं इनका त्याग करें और अपने आत्मामें ज्ञाताद्रष्टा रहनेकी स्थिति बनायें, यही अहिंसा की मूर्ति है। ऐसा जैन सिद्धान्तके ज्ञाता विद्वान पुरुषोंका उपदेश है। एक परिग्रहका बोझ हुआ करता है। जैसे कोई बाह्यमें परिग्रह लाद ले तो बड़ा बोझ हो जाता है इसी प्रकार अन्तरङ्गमें चिंता, शोक, भय आदिक हों, कषायें जगें तो उससे भी आत्मापर बोझ पड़ता है। दबाव है, किंकर्तव्यविमूढता है, वहां एक अपने आपमें रीतापन अनुभव किया जाता है। जैसे बाह्य परिग्रह ढोनेमें बोझ है इसी प्रकार अन्तरङ्ग परिग्रह ढोनेमें भी बोझ है। कितना कषायोंका बोझ ये अज्ञानी जीव लादे हैं और उसे खुश होकर ढोते फिरते हैं। कषायें न हों तो यह जीव तुरन्त शान्तिका अनुभव करता है। कषायोंके अभावसे क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच आदिक गुण प्रकट होते हैं। क्रोध और क्षमामें अन्तर देखिये। जब अपने आपको क्रोध आता तो अपनी गलती नहीं महसुस होती, पर दूसरा कोई अगर क्रोध कर रहा हो तो झट उसकी गलती महसूस हो जाती है, उस दूसरेकी गलती देखकर हँसते हैं। जब तक अपनेमें क्रोध भाव है तब तक आत्मामें क्षमा गुण नहीं प्रकट होता। इसी तरह चित्तमें जब घमंड होता है तो चाहे बरबादी हो जाय पर अपनी हठ जरूर रखना चाहिए, ऐसी बात आ जाती है। जब तक अहंकार है तब तक नम्रता नहीं उत्पन्न होती इसी प्रकार जब तक मायाचार है तब तक सरलता नहीं उत्पन्न होती। उसमें धर्मभाव नहीं ठहर सकता। इसी प्रकार जब तक लोभ कषाय है तब तक सद्बुद्धि नहीं उत्पन्न होती। तो ये १४ प्रकारके अन्तरङ्ग परिग्रह और १० प्रकारके बाह्य परिग्रह इनका बोझ इस जीव पर है। इन कषायोंको हटाये तो यह जीव भाररहित होगा, तभी अपने आपके विशुद्ध स्वरूपका दर्शन करेगा और तभी सच्चे आनन्दका अनुभव होगा। ऐसे अनुभवके लिए हमारा कर्तव्य है कि हिंसा, झूठ, चोरी कुशील और परिग्रह—इन पांचों प्रकारके पापोंका त्याग करें।

हिंसापर्यायत्वात्सिद्धा हिंसान्तरङ्गसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्छैव हिंसात्वम् ॥११६॥

अन्तरङ्गपरिग्रहोंकी स्वयसिद्ध हिंसारूपता एव बहिरङ्गपरिग्रहमें मूर्च्छाकी हिंसारूपता—५ पाप जो बताये गए—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह, ये पाचोंके पाचों पाप हिंसा कहलाते हैं। इनमें हिंसा नामका पहिला पाप है—उसका अर्थ है दूसरे जीवोंको मारना सताना पीटना। इसमें खुदका परिणाम बिगड़ता है। खुदके संक्लेश परिणाम होनेका नाम हिंसा है। इसी प्रकार झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह वगैरहमें अपने परिणाम बिगड़ते हैं इसलिए वे सब हिंसा हैं। उनमें परिग्रह जो ५ वा पाप है उसके दो भेद किए—अन्तरङ्ग परिग्रह और बाह्य परिग्रह। अन्तरङ्ग परिग्रह हुआ मिथ्यात्व और ४ कषायें और ६ नवकषायें। ये सब हिंसा हैं ही। इसमें कोई तर्क करने की बात नहीं क्योंकि जहा कषाय है वहा अपने चैतन्य प्राणका घात है, अपने परमात्मतत्त्वका घात है, अतएव हिंसा है। किन्तु जो बहिरङ्ग परिग्रह है खेत मकान धन धान्य आदिक ये परिग्रह स्वयं हिंसा नहीं है, क्योंकि परिग्रहमें जो मूर्छा परिणाम होता है वह परिणाम हिंसा है। जो कोई बाह्यपरिग्रह रखता है उसके अन्तरङ्गमें मूर्छा परिणाम है तभी तो बाह्य परिग्रह रखता है। इसलिए कारणमें कार्यका उपचार करके उन्हें हिंसा कहा है। वास्तवमें हिंसा तो भाव

हिंसा ही हिंसा कहलाती है और भावहिंसा परिग्रहमें काफी है। अज्ञान अवस्थामें अगर हिंसा होती है तो अज्ञान खुद हिंसा है। ज्ञानी पुरुष ईर्यासमितिसे चलता है, जीवदयाका परिणाम रखकर चलता है। इसलिए उसके द्वारा कदाचित् किसी छोटे जीवकी हिंसा भी हो जाय तो वह हिंसा नहीं मानी गयी है। कोई कहे कि अनजानमें अगर किसी जीवकी हिंसा हो जाय तो उसमें पाप न लगना चाहिए, मगर ऐसी बात नहीं है। इसी तरह झूठ बोलनेमें तो इरादा करता ही है यह जीव कि मैं झूठ बोलूँ। तो झूठ बोलने में हिंसा है। अगर कोई झूठ कषायरहित हो तो उसमें भी हिंसा नहीं है। जैसे शास्त्रका प्रकरण चल रहा है। बड़ी सूक्ष्म चर्चायें होती हैं। जैसे धवलमें बताया किसी आचार्यने कि १६ प्रकृतियोंका नाश है, किसी जगह किसी आचार्य ने बताया कि ८ प्रकृतियोंका नाश है। अब इन दोनोंमें कोई एक किसी अन्य आचार्यके विचारसे मिल जाय तो एकका विचार झूठ न कहलायेगा, क्योंकि उनका झूठ बोलनेका इरादा नहीं है। तो हिंसा तो परिणामोंपर निर्भर है। जैसे कोई पुरुष किसीसे बातचीत करने में लग गया, किसीकी चीज अपने हाथमें ले ली, अपने घर चला आया। घर आने पर जब उसने उस वस्तुको देखा तो ध्यान आया। ओह! अमुककी अमुक चीज भूलसे मेरे पास आ गयी, वह जाकर उसकी चीज उसके पास पहुचा देता है। तो चूँकि उस पुरुषका चोरी करनेका परिणाम न था, अत चोरी करनेका पाप उसके नहीं लगा। कोई चोरी करता है तो अपने परिणाम बिगाड़कर ही करता है इसलिए चोरी करनेमें हिंसा है। कुशील भी हिंसा है। क्योंकि कुशीलसेवनमें अपने आत्माकी सुध नहीं रहती। परिग्रहमें भी ममता परिणाम है। वस्तु तो भिन्न है और मानना कि यह मेरी है, ऐसे मिथ्या अभिप्राय के कारण परिग्रह भी हिंसा है। अन्तरङ्गमें जो १४ प्रकारके विभाव परिणाम बताये वे तो हिंसा हैं ही, पर बहिरङ्गमें जो खेत मकान आदिक हैं उनमें चूँकि ममत्व परिणाम होता है इसलिए वे बाह्यपरिग्रह भी हिंसा हैं, लेकिन किसी मुनि पर कोई वस्तु डाल दी यदि हार, वस्त्र आदिकसे कोई उस मुनिका शृङ्गार करदे तो भी चूँकि उसके अन्तरङ्गमें उनके प्रति ममत्व परिणाम नहीं है, इसलिए उन्हें परिग्रहका दोष न लगेगा। अरहंत भगवान बड़े शृङ्गारयुक्त समवशरणमें विराजमान होते हैं पर उन्हें परिग्रहका दोष नहीं लगता, क्योंकि उसके प्रति ममताका परिणाम अरहंत भगवानके नहीं है।

एवं न विशेष स्यादुन्दररिपुहरिणशावकादीनाम्।
नैवं भवति विशेषस्तेषां मूर्च्छा विशेषेण ॥१२०॥

ममत्वपरिणामोंकी विशेषतासे बिलाव हरिण आदि जीवोंके हिंसामें विशेषता—अब यहाँ कोई यह प्रश्न करता है कि जब अन्तरङ्ग ममत्वका ही नाम परिग्रह है और अन्तरङ्ग परिणामसे ही हिंसा होती है तो बाहरमें कोई कैसी भी हिंसा करे वे सब समान हो गई। चाहे बिल्ली ने चूहा पकड़कर खाया और चाहे हिरणके बच्चे ने घास खाया, इनमें कुछ फर्क तो न डालना चाहिए। रही भीतरकी बात तो भीतरमें जो होता हो, हो। ऐसी कोई शंका करे तो उत्तरमें आचार्यदेव कहते हैं कि यह तर्क ठीक नहीं है, जब कि उन दोनोंको भोजनकी मूर्छामें फर्क है। याने बिल्ली भी अपना खाद्य खाती है, चूहा आदिक शिकार करती है वह भी पेट भरती है, हिरनका बच्चा भी घाससे अपना पेट भरता है, तो दोनोंने अपना पेट ही तो भरा, यह तो बराबरकी बात है। लेकिन उस बिल्लीके पेट भरनेमें विशेष मूर्छा है और हिरणका बच्चा उस घाससे अपना पेट भरनेमें उतनी तीव्र मूर्छा नहीं रखता। इसी बातको और भी बतला रहे हैं।

हरिततृणाङ्कुरचारिणि मन्दा मृगशावके भवति मूर्च्छा।
उन्दरनिकरोन्माथिनि मार्जारे सैव जायते तीव्रा ॥१२१॥

मूर्च्छापरिणामकी विशेषतासे हिंसा और परिग्रहमें विशेषताका उदाहरण—पहिले तो यह देखिये कि

हिरणका बच्चा जो घास खाता है वह घासकी खोजमें अधिक नहीं रहता, जैसे बिल्ली चूहेको बहुत लुक छिपकर यहाँ वहाँ बहुत ढूँढती फिरती है, उस तरहसे यह हिरणका बच्चा घासके लिए खोज नहीं करता और न उतनी आसक्तिसे वह खाता है, क्योंकि थोड़ी भी आहट किसी हिंसक जीवकी पाये तो उस घासको छोड़कर तुरन्त भाग जाता है। बिल्लीका तो बहुत क्रूर परिणाम होता है। उसे अगर अपना खाद्य मिल जाय तो इतनी आसक्ति रहती है कि कोई उसके शिर पर लट्ठ भी पटके तो भी नहीं छोड़ती है। इसके अलावा इतना क्रूर परिणाम होता है बिल्लीका कि चूहे को पकड़ ले तो जल्दी खाती नहीं है, सता कर, खेल कर तोड़कर खाती है। तो यह जो भीतरमें क्रूरता पड़ी हुई है उसकी उसे हिंसा लगी। उसी क्रूरताके कारण पंचेन्द्रिय जीवों तकका वह बिल्ली भक्षण करती है। एक जीव दूसरे जीवको खाये तो उसे बड़ा संक्लेश परिणाम करना पड़ता है। तो तीव्र संक्लेशमें भी हिंसा है और अज्ञान हो तो अज्ञान मे महाहिंसा है ही। इससे जीवका वध जो करता है उसके परिणाममें अवश्य संक्लेश है, आसक्ति है इसलिए उसे हिंसा लगती है। तो जैसे हिंसामें दो भेद पड़ गये कि किसीको तीव्र हिंसा लगी, किसी को मंद हिंसा लगी। इसी प्रकार परिग्रहमे भी दो भेद पड जाते हैं—किसीको ज्यादा मूर्छा है किसीको कम। जिसके अधिक मूर्छा है उसके अधिक पाप है और जिसके कम मूर्छा है उसके कम पाप है। मूर्छा नाम इसलिए रखा है कि उसमें बेहोशी रहती है। उसे अपनी भी कुछ सुध नहीं रहती है। परिग्रहकी मूर्छामें दूसरेका तिरस्कार करे, दूसरे को नीचा गिने, अपना अहकार बढे, गरीबोंको सताये, ऐसी अनेक बातें करनी पड़ती हैं, वह मूर्छा है, पर ज्ञानी जीव ऐसे परिग्रहीको देखकर वह उस पर दया ही करता है कि देखो इसे सम्यग्ज्ञान नहीं है। इसलिए बाह्यपरिग्रहमें इतनी मूर्छा लगाए है जो कि निःसार है। परिग्रह किसीका बनकर रहना नहीं। कुछ समयको मिला है, कुछ समय बाद समाप्त हो जायेगा लेकिन इस परिग्रहमें इतनी मूर्छा रखकर यह जीव इतनी बरबादी कर रहा है जिससे जन्म मरणकी परम्परा बढ़ायेगा। अज्ञानी जन तो धनीको देखकर ईर्ष्या करते हैं कि मैं क्यों ऐसा न हो गया, पर ज्ञानी जीव परिग्रहीको देखकर दया करता है कि देखो ज्ञान न होनेसे यह कितना बाह्यमें फंसकर दुःखी हो रहा है। तो जिसके जैसा ममत्व परिणाम है उसको उसी प्रकारका परिग्रह है और वैसी ही हिंसा लगती है।

निर्बाधं संसिद्धयेत्कार्यविशेषो हि कारणविशेषात्।
औधस्य खण्डयोरिह माधुर्यप्रीतिभेद इव ॥१२२॥

कारणविशेषसे कार्यमे विशेषताकी संसिद्धि—यह बात निर्बाध सत्य है कि कारण अगर विशेष हो तो वहाँ कार्य विशेष होता है, जैसे दो भोजन रखे हैं, मान लो एक सीधी सूखी रोटी रखी है और एक मीठा रखा है तो मीठा खानेमें तीव्र रुचि होगी। इसी प्रकार जो हिंसक लोग हिंसा करते है तो उनको आसक्ति ज्यादा करनी पड़ती है तब हिंसा होती है तो जो कारणका भेद है उससे भी कार्यमें भेद पड़ता है। इसी प्रकार परिग्रहकी बात है। कोई बहुत बढ़िया कपडे पहिने ऊँची कीमतके तो उनमें प्रीति अधिक रहती है। जैसे कोई कीमती जूते पहिने है तो मंदिरके नीचे उन जूतोंको उतार देने पर उसका कुछ न कुछ ध्यान तो उन जूतोंपर ही बना रहता है, और जो साधारण जूते पहिने है वह मंदिरमे जहाँ चाहे बडे आरामसे रहता है, ऐसे ही कीमती वस्त्र पहिननेपर उससे अधिक प्रीति होनेके कारण उसकी बड़ी संभाल करनी पड़ती है और कोई साधारण वस्त्र पहिने है तो जहाँ चाहे निश्चिंत होकर प्रेमसे बैठ जाता है। तो ऐसे ही कोई मुनि बढ़िया चमकीला कमण्डल रखे तो उसमे उस मुनिके कुछ न कुछ प्रीतिका परिणाम आ जायेगा, वह उसे प्रीतिपूर्वक रखेगा और जिस मुनिने यों ही साधारण सा कमण्डल रखा है वह उसमें विशेष प्रीति नहीं रखता है तो जहां कारण विशेष हो वहां उस प्रकारका कार्य विशेष रहता है।

माधुर्यप्रीतिः किल दुग्धे मन्दैव मन्दमाधुर्ये।
सैवोत्कटमाधुर्ये खण्डे व्यपदिश्यते तीव्रा ॥१२३॥

कारणविशेषसे कार्यविशेष होनेका एक उदाहरणरूपमें विवरण—जो मद मिठास वाली चीज है उसकी मिठासमें रुचि थोड़ी होती है और जिसमे मिठास अधिक है उसमें मीठा खानेकी रुचि विशेष होती है। इस बातमें दृष्टान्त देते हैं दूध और खाडका। दूधमें कम मिठास है और खाँडमें अधिक मिठास है। तो दूधकी अपेक्षा खांड खानेकी रुचि ज्यादा होगी क्योंकि उसमें मिठास अधिक है। मिठाई जैसी चीजके सामने यह परिणाम रहता है कि मैं अधिकसे अधिक खाऊँ। तो जैसे मीठा रसके लोलुपी पुरुषको दूधकी अपेक्षा शक्करमें अधिक प्रीति होती है ऐसे ही समझो कि बाह्य परिग्रहमें जो अल्परुचि वाले पुरुष हैं उनका परिणाम अल्प होता है और जो विशेष रुचि वाले हैं उनमें विशेष रुचि होती है। तो जैसी रुचि होती है वैसा ही परिग्रहका पाप लगता है। अन्तरङ्गमे रुचि कम है बाह्यके प्रति तो परिग्रहका दोष कम बताया है। जैसे कोई बड़ा साफ कपड़ा पहिने है तो वह किसी भी जगह हो, बिना कोई कपड़ा बिछाये बैठनेकी इच्छा न करेगा उसे उस साफ कीमती कपड़ेसे बड़ी प्रीति है ना, और यदि सीधे सादे कम कीमतके कपड़े कोई पहिने है तो वह जहाँ चाहे बैठ जाता है, उसे उन वस्त्रोंसे प्रीति नहीं है। तो ऐसे ही समझिये कि अगर बाह्यमे बहुत आरम्भ, बहुत परिग्रह, बहुत व्यापार हो रहा है तो उसमें ममत्व अधिक होता है और यदि परिग्रह अल्प है। रहा तो ममत्व भी अल्प हो रहा है। किसी-किसी पुरुषके परिग्रहके अल्प होते हुए भी अभिलाषा ज्यादा हो सकती है। कोई यह कहे कि परिग्रह तो थोड़ा है और इच्छा ज्यादा लग रही है तो यह इच्छा अगले परिग्रहकी कर रहा है। वर्तमानमें जो भी परिग्रह उसके पास है उसकी इच्छा वह नहीं कर रहा है। भविष्यमें हमें अधिक परिग्रह मिले, इसकी इच्छा होती है। जिसके पास वर्तमानमें ज्यादा परिग्रह नहीं है मगर इच्छा है तो देख लो कितना परिग्रह लदा है? जहा बहुत परिग्रह है, आरम्भ है वहां इच्छा अधिक है, आरम्भ अधिक है, मूर्छा अधिक है। जो परिग्रह कम हो तो मूर्छा भी कम होती है। जिसके परिग्रहके प्रति मूर्छा है उसे उस परिग्रहका पाप लगता है। तो परिग्रहमे भी हिंसा होती है क्योंकि परिग्रहमे बेहोशी रहती है, बेसुधी रहती है। जो बेसुध पुरुष है उसे नियमसे हिंसा लगती है।

तत्त्वार्थाश्रद्धाने निर्युक्तं प्रथममेव मिथ्यात्वम्।
सम्यग्दर्शनचौरा प्रथमकषायाश्च चत्वारः ॥१२४॥

मिथ्यात्व व अनन्तानुबन्धी क्रोध मान माया लोभ परिग्रहकी सम्यक्त्वघातकता—अब देखिये धर्मपालनकी विधि यह है कि पहिले तो सम्यक्त्व उत्पन्न हो, बादमें चारित्रपरिणाम होता है। पर ऐसा न सोचकर कोई कहे कि मुझे सम्यग्दर्शन तो तब होगा जब मैं चारित्र धारण करूँगा, क्योंकि प्रथम तो सम्यग्दर्शन होने न होनेका कोई यथार्थ निर्णय नहीं कर सकता, क्यों कि सम्यग्दर्शन होने पर भी अपनी गलतिया नजर आती हैं और किसीके सम्यक्त्व न भी हो, और बुद्धिमें आ रहा हो कि मैं तो सम्यग्दृष्टि हू, मैंने तो शुद्ध बुद्ध निरञ्जन आत्माको जान लिया है। सम्यक्त्व नहीं भी हुआ और चारित्र पालन करे तो कुछ मंद कषाय तो है तभी तो उसने चारित्र पालन किया है। अब कषाय मद हैं तभी तो परिग्रह कम रखा है, अनशन व्रत आदिक करता है, खाने पीने की चीजोंकी भी बड़ी छोड़छाड करता है। तो सम्यक्त्व न भी हो और चारित्र कोई पालन करे तो बिल्कुल व्यर्थ तो जाता नहीं, मद कषायका लाभ तो मिलता ही है और उसी सिलसिलेमे गुरुजनोंका उपदेश चित्तमें बैठ जाय तो सम्यक्त्व की प्राप्ति भी हो सकती है। पहिले सम्यक्त्व धारण करना चाहिए, सम्यक्त्व होगा तो कषायें मद होंगी, पुण्य समागम मिलेंगे, धर्मात्माओंका समागम मिलेगा। अत चारित्रसयम धारण करना अच्छा ही है, किन्तु मोक्षमार्गकी जो

विधि है वह इस प्रकार कि पहिले तो तत्वार्थका श्रद्धान हो, फिर चारित्रका ग्रहण हो। सम्यक्त्वके न होने में तत्त्वार्थका श्रद्धान न होनेमें मिथ्यात्व कारण है। इस कारण मिथ्यात्व सम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें बाधक है। सम्यग्दर्शनको चुरानेमें क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारों कषायें कारण हैं। अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ ये कषायें सम्यग्दर्शनको चुराने वाली हैं। अर्थात् ये ७ प्रकृतियां सम्यग्दर्शनका घात करने वाली है। तो कोशिश यह करें कि अपना परिणाम विशुद्ध करें, तत्त्वज्ञानकी बात करें, देह और आत्मामें भेदविज्ञान रखें, परवस्तुवोंका त्याग करें, आत्मस्वरूपका ग्रहण करें तो ये मिथ्यात्व और कषायें जहाँ दूर होती हैं वहाँ सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। साथ ही यह भी जानना कि इन ७ प्रकृतियोंका क्षय हो इस पथमें आनेमें किसी प्रकारके विशुद्ध परिणाम भी निमित्त होते हैं सो किन्हीं विशुद्ध परिणामोंसे सप्त प्रकृतियोंका क्षय होता व क्षयसे सम्यक्त्वरूप विशुद्ध परिणाम होता। दोनो तरफसे यही बात जानना चाहिए। अब भैया! कर्मोंका क्षय अक्षय हम तो कर नहीं सकते, उसे कोई देखते भी नहीं, वे पर-पदार्थ हैं, सो करना चाहिए अपना परिणाम ही विशुद्ध। विशुद्ध परिणाम किए हुएमें जब जो बाह्य होता है हो जायेगा। मगर कोई यह सोचे कि मैं अष्टकर्मोंका नाश कर डालूँ, मैं अमुक विधान करूँगा तो यों ८ कर्मोंको देखने निरखने, सोचनेसे कहीं उनका नाश नहीं होता। अपने परिणाम विशुद्ध बनें, परवस्तुवों का परित्याग रखें, अपने ज्ञानस्वरूपमें ही अपनी आत्मीयता जगे तो अष्टकर्म ध्वस्त हो सकते हैं। तो अपने आपकी संभाल करने की जरूरत है। अपने आपकी संभालमें लगें बाकी जो होना हो, हो। किसी साधुको नहीं भी पता है कि ८ वें तथा १० वें गुणस्थानमें कैसे क्षय होता है, तो नहीं पता है, न सही, लेकिन जो साधु अपना परिणाम निर्मल रखेगा उसका वह काम जरूर होगा। अपने परिणाम विशुद्ध रखे, अहिंसामयी परिणाम रखे तो कर्मप्रकृतिया नष्ट होंगी, सम्यक्त्वका लाभ होगा और मोक्षमार्ग मिलेगा।

प्रविहाय च द्वितीयान् देशचारित्रस्य सम्मुखायातः।
नियतं ते हि कषाया देशचारित्रं निरुन्धन्ति ॥१२५॥

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध मान माया लोभ परिग्रहकी देशचारित्रघातकता—मोक्षमार्गमें सबसे पहिले तो सम्यक्त्व चाहिए तो सम्यक्त्वके खातिर दर्शन मोहनीयकी तीन प्रकृतिया—मिथ्यात्व सम्यक्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और चारित्रमोहनीयकी चार प्रकृतिया— अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन ७ प्रकृतियोंका क्षय हो तो सम्यग्दर्शन होता है। तो सम्यग्दर्शनके बाद फिर देशचारित्र होता है तो उस देश चारित्रका वर्णन करते हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार कषायोंके क्षयोपशमसे देशचारित्र होता है क्योंकि ये चार कषायें अप्रत्याख्यानावरणकी, देशचारित्रको रोकती हैं। अप्रत्या-ख्यानावरणका अर्थ है थोड़ा भी त्यागको रोकने वाली। देशचारित्र अणुव्रतको कहते हैं। तो जब सम्यक्त्व हो चुके, देशचारित्र न हो तो उसे चतुर्थ गुणस्थान कहते हैं। और जब देशचारित्र हो तो उसे ५वां गुणस्थान कहते हैं। देशचारित्रके भी ११ भेद हैं। जिसे ११ प्रतिमा कहते हैं। सो जैसे जैसे प्रत्याख्यानावरणी कषायें जो कि मुनिके व्रतको रोकती हैं, उनका कम कम उदय चलता है वैसे ही वैसे देशचारित्र बढ़ता जाता है। देशचारित्रमें जो दूसरी तीसरी और चौथी आदि प्रतिमायें हैं तो वे प्रतिमायें कैसे बढ़ती हैं? अप्रत्याख्यानावरणका तो अनुदय सबमें है। अब जो प्रत्याख्यानावरण कषाय है, जो मुनिके व्रतको रोकती है। उस कषायका जैसे-जैसे मंद उदय होता जाता है वैसे ही वैसे प्रतिमा बढ़ती जाती है, क्योंकि ११वीं प्रतिमाके बाद साधुका पद आता है। वहाँ प्रत्याख्यानावरण कषाय बिलकुल नहीं रहती। देश चारित्रमे ये ११ भेद किए गए हैं। पहिली प्रतिमामें तो सप्त व्यसनोंका त्याग, अष्टमूलगुणोंका पालन ये सब निरतिचार बताया है। इन अष्ट मूल गुणोंके निरतिचार पालनेमें मर्यादा

की बात आती है। कोई पूछे कि मर्यादाकी बात ग्रन्थोंमें कहा लिखी है तो पहिली प्रतिमामें जो वताया है, उसका ही अर्थ है कि मर्यादित भोजन हो। क्योंकि मर्यादासे बाहरके भोजनमें अनेक जीव आ जाने से मास खाने जैसी बात हो जाती है। अमर्यादित चीजोंके खाने में मासका अतिचार है। तो पहिली प्रतिमामें मर्यादित भोजन हो जाता है।

देशचारित्रमें द्वितीय प्रतिमा—दूसरी प्रतिमामें ५ अणुव्रतोंका पालन है—तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। अहिंसा अणुव्रतमें त्रस हिंसाका सर्वथा त्याग है। सत्याणुव्रतोंमें असत्यका त्याग है, अचौर्याणुव्रतमें चोरीका सर्वथा त्याग है, ब्रह्मचर्याणुव्रतमें स्वस्त्रीके अतिरिक्त शेष समस्त स्त्रियोंका त्याग है और परिग्रह परिमाण अणुव्रतमें परिग्रह का परिमाण रखना बताया है। यों ५ अणुव्रत हो गए।

दिग्अणुव्रतमें दिशाका प्रमाण बताया है कि मैं अमुक दिशामें इतने मीलसे अधिक न जाऊँगा। इस दिग्अणुव्रत वालेको उतनी दूरीसे अधिककी चीज मँगाना अथवा उससे बाहर भेजना इसमें निषेध है। देशव्रतमें उसके भीतर ही मर्यादा करले कि इन १० दिनोंमें अथवा इतने दिनोंमें मैं इस नगरसे बाहर न जाऊँगा। प्रयोजन यह है कि बहुत दिनोंका सकल्प विकल्प न करना पड़े, समुचित दायरे में आरम्भ रहे। अनर्थ दण्डविरतिव्रतमें बिना प्रयोजनके काम न करना बताया है। जैसे पाप करे उपदेश देना, हिंसक वस्तुवोंका उपयोग करना, या बिना प्रयोजन पानी बहाना, आग जलाना, कुत्ता बिल्ली आदि हिंसक जीव बिना प्रयोजन पालना ये सब अनर्थदण्ड हैं। इन सबका त्याग देशव्रतमें बताया है। चार शिक्षाव्रतोंमें पहिला है सामायिक शिक्षाव्रत। समय पर सामायिक करना और दूसरा है—अष्टमी, चौदस वगैरहका उपवास करना। उपवास तीन तरहके हैं—उत्तम उपवास, मध्यमउपवास और जघन्य उपवास। जो सप्तमी नवमीको तो एकाशन करे, दुबारा जल भी न ले और अष्टमीको उपवास करे। पूर्ण व्रत रखें वह उत्तम उपवास है और सप्तमी नवमीको तो उत्तमवत एकाशन करे, दूसरी बार कुछ न ले किन्तु अष्टमीको सिर्फ एक बार जल ग्रहण करले वह मध्यम उपवास है और जो सप्तमी नवमीको उत्तमवत् एकाशन ही करे, इन तीन दिनोंमें किसी एक दिन किन्तु अष्टमीके दिन नीरस या एक दो रसमात्रमें एक बार आहार ग्रहण करे वह जघन्य उपवास है। तीसरा शिक्षाव्रत है भोगोपभोग परिमाण। भोगोपभोगकी चीजका परिमाण कर लेना। जैसे कोई लोग हरीका नियम ले लेते कि हमने ३० हरी सिर्फ जिन्दगी भर के लिए रखी है तो यह भोगोपभोगपरिमाणमें आया। तो भोगकी चीज तो हरी भी है और जो सचित्त नहीं है ऐसा भी है, पर हरी पर इस लिए बल दिया कि उसमें एकेन्द्रिय जीवोंकी हिंसा बचे। उपभोग का परिमाण करना। जैसे इतने पलंग रखना, इतने बिस्तर रखना, इतने वस्त्र रखना, यह सब भोगोपभोग प्रमाणमें है। चौथा शिक्षा व्रत है अतिथिसंविभाग व्रत। इसमें किसी त्यागी मुनिको पहिले आहार दे बादमें खुद आहार करना बताया है। यदि कोई त्यागी मुनि न मिले तो द्वारसे पड़गाह कर या किसी त्यागी मुनिका पता लगाकर बादमें आहार करना बताया है।

देशचारित्रमें तृतीयादिक प्रतिमायें—तीसरी प्रतिमामें तीन बार सामायिकका नियम है। चौथी प्रतिमामें अष्टमी चतुर्दशी वगैरहके निरतिचार उपवास निरतिचारका नियम है। ५ वीं प्रतिमामें बताया है कि सचित्त अचित्त चीजोंको मुँहसे नहीं खा सकता। उसका कारण है कि उसके करुणाका भाव जगा है। छठी प्रतिमामें, रात्रिभोजनका त्याग बताया है। रात्रिभोजनका त्याग तो पहिली प्रतिमामें भी है मगर छठी प्रतिमावाला रात्रिको न खुद खायेगा, न दूसरोंको खानेकी अनुमति देगा और न रात्रिके खाने को अच्छा कहेगा। सब तरहसे उसके रात्रि भोजनका त्याग हो जाता है। ७वीं प्रतिमामें ब्रह्मचर्यकी प्रतिमा आ जाती है। घरमें रहते हुए भी पूर्णब्रह्मचर्यसे रहता है, अपनी स्त्री तकसे भी सहवास नहीं कर सकता। आठवीं प्रतिमामें आरम्भका त्याग हो जाता है याने खेती, व्यापार, रोजगार इन सबका त्याग

कर देता है। ८वीं प्रतिमा वाला पेन्शन तो ले सकता है, पर और व्यापार नहीं कर सकता क्योंकि पेन्शन तो पहिलेकी कमाई है और वह माहवार सरकारसे ले रहा है, पर वह व्याज वगैरह पर रुपया उठानेका काम नहीं कर सकता, नई चीज नहीं कमा सकता है। ८वीं प्रतिमा वाला सूद बनाकर खा सकता है। पैसा रखे हो पर पैसे से नई कमाई नहीं कर सकता। ९वीं प्रतिमामें पैसोंका त्याग है। रह रहा है घरमें पर धन धान्यादिक किसी भी चीजमें हुकुम नहीं चला सकता कि यह मेरा है। वह तो अब जो कपड़े पहिने है उतना ही परिग्रह है। लड़के लोग लिवा ले गये तो भोजन कर आये, पर किसी पर हुकुम नहीं चला सकते कि हम भूखे रह गए। १०वीं प्रतिमामें घरके कामोंमें अनुमोदना भी नहीं कर सकते। ९वीं प्रतिमामें तो सलाह दे सकते थे। ११वीं प्रतिमामे क्षुल्लक व्रत है, बादमे ऐलक व्रत है। तो जैसे-जैसे प्रत्याख्यानावरण कषायें मंद होती जाती हैं वैसे ही वैसे प्रतिमारूप व्रत बढ़ता जाता है। तो इसे कहते हैं देशचारित्र।

निजशक्त्या शेषाणां सर्वेषामन्तरङ्गसङ्गानाम्।
कर्तव्यः परिहारो मार्दवशौचादिभावनया ॥१२६॥

मार्दव शौच आदि भावनाके द्वारा अन्तरङ्गपरिग्रहोंका परिहार करनेका कर्तव्य—अपनी शक्तिके अनुसार मार्दव, शौच, संयम आदिक जो दशलक्षण धर्म हैं उनकी भावनासे समस्त अन्तरङ्ग परिग्रहोंका त्याग करना चाहिए। अब यहाँ बात कही जा रही है मुनिव्रतकी। जब प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ भी दूर हो जाते हैं तो मुनिपद प्राप्त होता है। तो अब मुनियोंके अनन्तानुबंधी नहीं, अप्रत्याख्यानावरण नहीं, प्रत्याख्यानावरण नहीं है। सञ्ज्वलन कषाय रहीं। जब संज्वलन कषायका मद उदय रहता है तब होता है ७वां गुणस्थान और जब संज्वलन कषायका उदय विशेष रहता है तब कहलाता है छठा गुणस्थान। तो जो श्रावक है, देशचारित्र पालन करता है तो वह सकल चारित्र कैसे पालन करेगा? उसके लिए दशलक्षण धर्मकी भावना भाता है। जैसे अपने परिणामोंमें शान्ति आये, क्रोध न रहे, क्षमा प्रकट हो, ऐसी भावना करना कि संसारके सभी जीव जुदे-जुदे हैं, कोई किसीका सुधार बिगाड़ करने वाला नहीं है, मैं भी किसीका कुछ करने वाला नहीं हू। सभी जीव अपने-अपने भावोंके अनुसार अपनी अपनी चेष्टाएँ करते हैं। यहाँ किस पर क्रोध करना, किस पर मान करना, किस पर मायाचार करना, किस चीजका लोभ करना, इन कषायोंसे तो अपना अहित ही है। इन दश लक्षण धर्मोंकी भावना भाना, अपना सत्य जीवन रखना, संयमसे रहना, ब्रह्मचर्यका पालन करना, ये सब बातें हों तो उसके कारण अपनेमें एक ऐसा बल प्रकट होता है कि वह सकल चारित्रका पात्र बन जाता है। दशलक्षण भावनाके परिणामसे प्रत्याख्यानावरण कषायें भी दूर हो जाती हैं। गुणोंका विकास होता है। श्रावकों को बतला रहे हैं कि देशचारित्र पालते हुए दशलक्षण धर्मकी भावना बनायें तो उसके मुनि धर्मकी प्रकटता सम्भव है।

बहिरङ्गादपि सङ्गाद्यस्मात्प्रभवत्यसंयमोऽनुचितः।
परिवर्जयेदशेषं तमचित्तं वा सचित्तं वा ॥१२७॥

अनुचित असयमका कारण होनेसे बहिरङ्ग परिग्रहके त्यागका कर्तव्य—बाह्य परिग्रह चाहे वह चेतन परिग्रह हो या अचेतन परिग्रह हो, सर्व प्रकारसे आत्महितार्थी व्यक्ति को छोड़ देना चाहिए। कारण यह है कि बाह्य परिग्रहसे भी असंयम प्रकट होता है। अब देख लो—गृहस्थीमें थोड़ा मानने भरका सुख है। अच्छा घर है, लोग हैं, परिवार है तो एककल्पना भरकी मौज है, मगर देखो तो हृदयमें अशान्ति बराबर चलती रहती है। चिता हो, शोक हो, जरा सा तो सुख है और दुःख कितना भरा हुआ है, इसका अदाज लगाये तो जैसे शास्त्रमें कहा है कि सुख तो तिल भर है और दुःख पहाड़ बराबर है। बतलावो

संसारमें अनन्त जीव हैं, उनमें से कोई जीव अपने घर उत्पन्न हो गए तो क्या है? अरे वे न आते, और कोई आते तो क्या यह न हो सकता था? किसीका कोई जीव कुछ लगता है क्या? किसीका किसी से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। यह तो संसारका समागम है, आना जाना यहा बना ही रहता है, इनमें जो रुचि करता है वह अपने आत्मस्वरूपको बिल्कुल खो बैठता है। अपने आपकी सभाल उसके रच नहीं रहती। तो यह चेतन अथवा अचेतन परिग्रहोंका जो समागम है यह दु खका ही कारण है। ये समागम भी दु'खके कारण नहीं हैं, बल्कि इन समागमोंके प्रति जो हम आपके अन्दर एक मोह भाव पडा हुआ है वह दु खका कारण है। उस मोह भावका ही परिणाम है कि हम आप इस ससारमें जन्म मरण करते चले आ रहे हैं। यहाँ पर आप लोगोंने अजायब घरमें देखा होगा किस किस प्रकारके विचित्र शरीर वाले जीव पाये जाते हैं। इस मोहका ही यह परिणाम है कि यह जीव नानाप्रकारके शरीरोंमें बँधा फिर रहा है। यह जीव धन धान्य, स्त्री पुत्रादिकसे मोह करता है, जिसका फल यह है कि इस ससारमें अनेक जन्म मरण धारण करने पड़ते हैं। मोहमें तत्त्व कुछ नहीं रखा है। जिनसे मोह करते वे स्वार्थ भरे हैं, वे हित न कर सकेंगे। कोई निमित्त दृष्टिसे हमारा हित भी करेंगे तो वे स्वयं दुखी हैं, वे इस मुझ आत्माका हित कर सकनेमें समर्थ नहीं हो सकते। जिन परिजनोंके बीच रहकर हम आप अपना हित समझते हैं वे हमारा हित क्या करेंगे? वे स्वय विषयकषायोंसे प्रेरे हुए हैं, इन ससारमें वे स्वय जन्म मरणका चक्कर लगा रहे हैं, उनसे हमारे आत्माका कुछ भी हित नहीं है। अपना हित अहित करने वाले तो खुद हैं। यह बहिरङ्ग परिग्रह हम आप सबके असंयम का कारण है और असयम इस संसारमें दु ख बढाने वाली बात है। इस कारण बहिरङ्ग परिग्रहको अपने से दूर करना चाहिए। तो यह बात तो साधुजन ही कर सकते हैं कि चेतन अचेतन परिग्रह इन दोनोंका सर्वथा त्याग कर दें, पर श्रावक जनोंसे तो यह बात बन नहीं सकती तो श्रावक क्या करें? उसके उत्तरमें कहते हैं—

> योऽपि न शक्यस्त्यक्तु धनधान्यमनुष्यवास्तुवित्तादि।
> सोऽपि तनूकरणीयो निवृत्तिरूप यतस्तत्त्वम्॥१२८॥

परिग्रहपरिमाण अणुव्रतका निर्देश--यदि धन धान्य घर सम्पदा आदिक परिग्रह बिल्कुल छोडे जाने में शक्य नहीं है तो ये कम तो किये ही जाने चाहियें। जितना परिग्रह सुगमतासे त्याग देनेमें कोई कठिनाई नहीं हो उसे कम अवश्य करना चाहिए। इस परिग्रह परिमाणके प्रकरणमें श्रावकोंकी ओर संकेत किया है। श्रावकजन घरमें रहते हुए परिग्रहके सब प्रकरके त्यागी नहीं हो सकते तो सब चीजोंमें कमी कर लें। उन्हें जितनेमें सतोष हो, जितनेसे विकल्प न बढे उसे निकालकर परिग्रहमें कुछ कमी अवश्य करें। किसी जमानेमें ऐसे लोग होते थे कि उनका नियम रहता था कि इतने का माल बिक चुकने पर हम दुकान बंद कर देंगे। सो ग्राहक यह समझ कर रोज जल्दी ही इकट्ठा हो जाते थे कि कहीं ऐसा न हो कि देरमें पहुचने से सामान न मिले। यों घटा दो घटामें ही उतनेका माल बिक जाता था। बाकी समय दुकान बद करके वे पूजन मंदिर दर्शन, स्वाध्याय तत्त्वचितन आदिमें अपना समय लगाते थे। तो जिन्हें भी अपना कल्याण करना हो उन्हें चाहिए कि वे अपने कल्याणका लक्ष्य बनायें, परिग्रहों में अपनी सामर्थ्यके अनुसार कमी करें। जो यह चाह करता है कि मेरा नाम अधिक बढ़े, मेरे वैभव अधिक हों, यों बाह्य पदार्थोंकी जिनके आकाक्षा लगी है वे पुरुष धर्मपालन नहीं कर सकते। बाह्य पदार्थों की इच्छा करना यह सब अनर्थोंका मूल है। प्रथम तो इस जीवको सम्यक्त्व पालन करना चाहिए जिससे कि उसका चित्त स्वच्छ हो जाय। याने व्यर्थकी इच्छाएं न बढें और अपने आपको महा गर्तमें न डुबायें, यह सम्यक्त्वका प्रताप है, क्योंकि सम्यक्त्वमें उसे स्पष्ट भान है कि मेरा आत्मा ज्ञानमात्र है, मैं मात्र ज्ञानको ही कर सकता हू और ज्ञानको ही भोग सकता हू, ज्ञानको छोड़कर मुझमें कुछ भी करने और

भोगनेकी सामर्थ्य नहीं है। सम्यक्त्वके ही कारण उसमे क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायें भी नहीं ठहर पाती हैं। वह परिग्रहमें भी कमी रखता है। जो कुछ थोड़ी सी पूंजी है उसीमे वह गुजारा कर रहा है, बाकी समय धर्मपालनमें लगाता है। उसके उस छोटे व्यापारको देखकर कहीं यह शंका न करे कि वह लोभी पुरुष है और कोई पुरुष धनी है, खूब खर्च करता है अपने आरामके लिए, बढ़िया भोजन करता है तो यह न समझिये कि वह लोभी नहीं है। जो अपने विषय साधनोंके लिए बहुत खर्च भी करता है तो भी लोभी है और कोई पुरुष परिग्रह कम रखकर थोड़ेमें ही गुजारा करता है, अपना अधिक समय धर्मपालनमें लगाता है तो वह पुरुष लोभी नहीं है। उद्देश्य देखना चाहिए। लोभी पुरुष बाह्य पदार्थोंका संचय करनेका लक्ष्य रखता है और जो लोभी नहीं है, वह बाह्य पदार्थोंके संचयसे अति दूर रहता है। यदि श्रावक अवस्थामें परिग्रहका त्याग नहीं कर सकते तो उन्हें चाहिए कि अपनी शक्तिके अनुसार बहुत कम करलें क्योंकि तत्त्व निवृत्तिरूप है। जो बाह्यपरिग्रहोंको हटाता रहेगा उतनी ही उसके लिए सारभूत बात है। जो सर्वथा निवृत्ति रखते हैं वे मुनिजन हैं और जो प्रवृत्ति रखते हैं वे श्रावकजन हैं। तो अपना भाव यह रखना चाहिए कि प्रवृत्तिसे तो हटें और निवृत्तिमें लगें और अपने आत्माके निकट रहकर प्रसन्न रहा करें और शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकें।

रात्रौ भुञ्जानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसाविरतैस्तस्मात्त्यक्तव्या रात्रिभुक्तिरपि॥१२९॥

रात्रिभोजनमे अनिवारित हिंसा होनेसे रात्रिभोजनके त्यागका कर्तव्य—शान्ति अहिंसामे है और क्लेश हिंसामें है, इस आधार पर श्रावकाचारका वर्णन चल रहा है। वास्तविक अहिंसा उसे कहते है कि जब आत्मामें सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, अपने आत्माके सहज निजी स्वरूपका विश्वास हो और रागादिक क्रोध, मान, माया, लोभ, विशष, कषाय, शल्य, माया, मिथ्या, निदान—इन सब विकारोंसे रहित हुआ किसी जीवके प्रति, किसी परके प्रति इष्ट अनिष्ट बुद्धि न हो, ऐसा शान्त परिणाम हो उसे अहिंसा कहते हैं। लोकमें जो दूसरे जीवोंकी हिंसाका नाम हिंसा कहा जाता है। वह हिंसा इसलिए कही जाती है कि चूंकि सताने वाले ने खुद अपना परिणाम बिगाड़ा तो खुदके परिणाम बिगड़नेका नाम हिंसा है और खुदके परिणाम न बिगड़े, विशुद्ध रहें उसका नाम अहिंसा है। बाहरकी बातोंसे हिंसा और अहिंसाका निर्णय नहीं है, यह जैन शासनका एक मूल आदेश है. इसमें कोई व्यवस्था भंग नहीं होती, क्योंकि जो लोग दूसरेको सताते हैं वे अपना परिणाम बिगाड़ लेते हैं तब सताते हैं। पर दूसरेका दिल दुःख गया इसलिए हिंसा लगी हो यह बात जैन शासनमें नहीं है। किन्तु खुदका परिणाम उसने बिगाड़ा इसलिए हिंसा लगी। तभी तो किसीको सतानेका कोई परिणाम करे और सता न सके तो भी हिंसा है और किसीको सतानेका परिणाम न करे, दूसरा खुद भूलसे भ्रमसे अपनी कल्पनासे दुःखी हो जाय तो भी अहिंसा है। जैसे साधुजनोंको देखकर बहुतसे दुष्ट लोग दुःखी होते हैं तो इससे साधुको हिंसा नहीं है। इस संबंधमें बहुत-बहुत कुछ वर्णन करनेके बाद इस गाथामें यह वर्णन कर रहे हैं कि जो रात्रिको खाते हैं उनको नियमसे हिंसा होती है। इसलिए जो हिंसाके त्यागी हैं उन्हें चाहिए कि रात्रि भोजनका वे पूरा त्याग करें। अब किस तरह रात्रि भोजनमें हिंसा लगती है उसका वर्णन आगे बहुत विस्तारसे किया जायेगा। रात्रिमें भोजन करने वालेका परिणाम कैसा रहता है और उस रात्रि भोजन की क्रियामें बाहर में जीवोंकी कितनी हिंसा होती है? इन दोनों बातों पर दृष्टि दी जाय तब यह बात सही आयेगी कि रात्रि भोजन करनेमें नियमसे हिंसा है। हिंसाकी दृष्टिसे जो रात्रिमें भोजन करनेमें हिंसा है तो वैसी हिंसा रात्रिको भोजन बनानेमें है। अब किस प्रकार भाव हिंसा होती है रात्रि भोजनमे उसके सम्बन्धमे कहते हैं।

रागाद्युदयपरत्वादनिवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा।
रात्रिंदिवमाहरतः कथं हि हिंसा न सभवति ॥१३०॥

अहर्निश भोजन करने वालोंके तीव्रराग होनेसे हिंसाका दोष—रात्रि भोजनका त्याग न कर सकना अर्थात् अत्याग भाव, असयम भाव यह रागादिकका उदय विशेष हो तब हुआ करता है। चीजोंको न छोड़ना, असंयमसे रहना, रागादिककी तीव्रता रहना इन सबका नाम हिंसा है। अभी जो हिंसाका लक्षण कहा था वह यही तो बताया गया कि रागादिक भाव उत्पन्न हों उसका नाम हिंसा है। रागादिक न रहें उसका नाम अहिंसा है। रात्रि भोजनका त्याग नहीं कर सकता है कोई तो क्यों नहीं कर सकता कि राग विशेष है। रागादिक भावोंकी विशेषता होनेसे जो रात दिन खाता रहता है उसके हिंसा होती है। इस कथनमें अभी बाहरी हिंसाकी बात पर दृष्टि नहीं दी गई, किन्तु अपने परिणामोंमें रागादिक भाव विशेष रहते हैं तो उसे हिंसा है और रात दिन अनेक बार खाता ही रहता है उसके रागादिक विशेष हैं ही, इस कारण उसमें हिंसा है ऐसा एक प्रारम्भमें सामान्य कथन किया है। जिस जीवके तीव्र रागभाव होता है वह त्याग नहीं कर सकता। तो जिसको भोजनमें अधिक राग होगा वही तो रात दिन खायेगा, दिनमें भी खायेगा, रातमें भी चैन नहीं। तो रागकी विशेषता है तब ऐसा किया जाता है। जहाँ राग है वहाँ हिंसा अवश्य होती है। तो रात्रि भोजन त्याग न करनेमें हिंसा है। इसका कारण यह बताया इस गाथामे कि चूँकि उसके रागादिक भाव विशेष हैं तभी तो वह रात दिन खा रहा है, इस कारण भावहिंसा है। ऐसा कथन होने पर एक शका उपस्थित होती है, वह शका क्या है उसे स्वय आचार्य महाराज इस गाथा में लिख रहे हैं।

यद्येवं तर्हि दिवा कर्तव्यो भोजनस्य परिहारः।
भोक्तव्यं तु निशायां नेत्थं नित्यं भवति हिंसा ॥१३१॥
नैवं वासरभुक्तेः भवति हि रागाधिको रजनिभुक्तौ।
अन्नकवलस्य भुक्तेः भुक्ताविव मांसकवलस्य ॥१३२॥

हिंसा कम करनेके लिये दिनभोजन त्यागकर रात्रिभोजन करनेकी शका व उसका समाधान--जब रात दिन खाते रहनेमें रागादिक की विशेषता है और इस कारण हिंसा लग रही है तब तो यह काम करना चाहिए कि दिनके भोजनका त्याग करलें और रात्रिमें भोजन कर लिया करे। इससे दिनकी हिंसा तो बच जायेगी। शकाकारका कहनेका मतलब यह है कि दिनके भोजनको त्यागकर रात्रिमें भोजन ग्रहण किया करें तो उसमें सदाकाल हिंसा तो न होगी, दिनकी हिंसा तो बच जायेगी, केवल रात्रिकी हिंसा रह जायेगी। तो शंकाकारकी इस शकाके उत्तरमें आचार्य देव कहते हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि यह शंका ठीक नहीं है क्योंकि दिनके भोजनकी अपेक्षा रात्रिके भोजनमें निश्चयसे रागभाव अधिक रहता है। और कुछ अनुभव करके, कुछ चिंतन करके भी आप सब समझ सकते हैं कि रात्रिके भोजन करनेमें मनुष्य कितना राग करता है, कितनी आसक्ति करता है? दिनके भोजन की अपेक्षा इसमें अधिक राग है। यहाँ अतरङ्गसे जवाब दिया जा रहा है। जैसे कोई यह शका करने लगे कि पेट ही तो भरना है। अन्न खाकर पेट भरे अथवा मास खाकर पेट भरे, इन दोनोंमें कुछ भी तो अन्तर नहीं है, बात एक है। तो देख लो ना, अन्न खानेमें जीवको रागभाव कैसा रहता है और मास खानेमें जीवके कैसा तीव्र राग रहता है? उदर भरनेकी अपेक्षासे सब प्रकारके भोजन समान हैं। पर मास खानेमें रागभाव विशेष होता है क्योंकि अन्न तो सभी मनुष्योंको सहज मिल जाता है और मासकी जब बहुत अधिक इच्छा हो अथवा शरीर आदिकका बडा स्नेह हो तो बडा प्रयत्न किया जाता है तब थोड़ा मासरूप भोजन प्राप्त होता है। अतएव मास खानेमें रागभाव अधिक है। तो यह रात्रिभोजन त्यागने योग्य है। इसके समाधानमें दो

तीन बातों पर प्रकाश डाला है। प्रथम बात तो यह है कि दिनमें भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिमें भोजन करनेमें रागभाव विशेष होता है। दूसरी बात यह आती है कि दिनमें भोजनकी सुलभता रहती है। रात्रि में भोजन बनानेमे और प्राप्त करनेमे उसकी अपेक्षा कुछ कठिनाई रहती है, अतः रात्रिभोजनमें रागभाव की तीव्रता रहती है, उसे त्याग देना चाहिए। तीसरी बात यह बतायी है कि रात्रिमें भोजन करनेमें काम-वासना आदिककी विशेषता अधिक रहती है। रात्रिभोजन करनेमें शरीर पर और रागादिक वासना पर विशेष स्नेह है, इस कारण दिनमें भोजन करनेकी अपेक्षा रात्रिभोजनमे हिंसा विशेष है। यह तो एक भीतरी भावका समाधान है। इसमे द्रव्यहिंसाकी बात अभी तक नहीं कही है। अब द्रव्य हिंसाकी ओर से समाधान दे रहे हैं।

अर्कालोकेन विना भुञ्जानः परिहरेत्कथं हिंसां।
अपि बोधितः प्रदीपे भोज्यजुषां सूक्ष्मजन्तूनाम् ॥१३३॥

रात्रिभोजनमें विशेषहिंसा होनेका प्रतिपादन—रात्रिमें दीपकके प्रकाशमें बहुतसे छोटे-छोटे जंतु आ जाते हैं। दिनमें रात्रिकी अपेक्षा स्वभावत जंतुवोंका आवागमन कम रहता है। रात्रिमें भुनगा भुनगी कीड़ा मकौड़ोंकी भरमार विशेष रहती है। अत' रात्रिभोजन करनेमें प्रत्यक्ष हिंसा है। जो रात्रिभोजन करेगा वह प्रत्यक्ष हिंसासे कभी बच नहीं सकता। यह द्रव्यहिंसाकी ओरसे उत्तर है। आजकल बाबू लोग क्या कहने लगते हैं कि हमारे पास तो दिनमें इतना काम रहता है कि दिनमें खानेको टाइम नहीं मिलता। जब कामसे फुरसत मिलती है तो रात्रिको विवश होकर खाना पड़ता है। इस समस्याका समाधान यह है कि यदि किसीके चित्तमें यह बात अच्छी तरह समा गई है कि रात्रि भोजन करना पाप है तो उसमें हिंसा विशेष है और रात्रिभोजन त्यागनेके योग्य है। यदि ऐसा भाव मनमे आ जाय तो अपनी समस्याका हल ढूँढ लेगा। दूसरे, दिनमें एक बार भोजन करनेको तो सभी को मिलता ही है। अगर कदाचित समय पर दिनमें ही भोजन न मिल सके, रात्रिको न खायेंगे उससे हमें कोई बाधा नहीं है। ऐसा विचार बन जाय तो उसकी चर्या भी ऐसी हो जायेगी कि बाधा न होगी। तीसरी बात यह है कि कोई नियम तो ले। किसी भी जगह जायें, दिनमें भोजन करनेका समय सभी लोग दे देंगे, पर चूंकि रात्रि भोजन त्यागके प्रति विशेष प्रेम नहीं है और सामूहिक रूपसे रात्रिभुक्तित्यागमें प्रेम नहीं है, इस कारण लोग भी जानते हैं कि कितना ढोंग धतूरा है। कभी रात्रिको खाते हैं कभी नहीं, मनमे आया खा लिया न मनमें आया न खाया, कोई नियम नहीं है। कोई रात्रिभोजनके त्याग पर अडिग रहे तो उसे ऐसे मौके न आयेंगे कि जिससे उसे कष्ट हो। इस गाथामें द्रव्यहिंसाकी ओरसे उसे समाधान देते हैं कि जो व्यक्ति रात्रिभोजनका त्यागी नहीं है वह हिंसासे कभी बच नहीं सकता। इस कारण रात्रिमें न भोजन बनाना चाहिए और न खाना चाहिए। एक विशेष आश्चर्यकी बात और भी है कि कोई पुरुष धर्म तो खूब करे—एक बार खाना, मंदिर दर्शन नियमसे करना, बहुत बहुत यात्राएँ करना आदिक, पर उसे यह पता नहीं है कि ये सब क्रियायें कषायरहित बननेके लिए की जा रही हैं, तो वह ये सब क्रियायें करने पर भी कषायें खूब करता है तो वह लोगोंकी दृष्टिमें हँसीका पात्र बनता है। वह व्यक्ति ही हँसीका पात्र नहीं बनता बल्कि लोग तो यों कहने लगते हैं इस धर्मके लोग बड़ा क्रोध करते हैं, बड़ा घमड रखते हैं, बड़ा मायाचार करते हैं और बडे लोभी होते हैं। तो अपने मनमें यह बात जरूर रखनी चाहिए कि हम जो बाह्यमें धर्मका पालन करते हैं, व्रत नियम संयम आदिक करते है वे सब इसलिए किए जा रहे हैं कि हमारी कषायें मद हों, हमारी आत्मापर दृष्टि जाय। मैं अपने आपके स्वरूपमें रमण करूँ इसलिए ये बाह्य नियम हैं। यह लक्ष्य यदि नहीं है तो बड़ी विडम्बनाकी बात है कि परिश्रम भी खूब करते हैं, भूखे भी रहते है और और भी कष्ट उठाते है और फिर भी सही विधिसे धर्मपालन नहीं हो पाता।

इससे अंतरङ्गमें कषायें मंद रखें और आगे बढ़नेके लिए इन विशेष नियमोंका पालन करें।

किं वा बहुप्रलपितैरिति सिद्धं यो मनोवचनकायैः।
परिहरति रात्रिभुक्तिं सततमहिंसां स पालयति ॥१३४॥

रात्रिभोजनके त्याग बिना अहिंसाव्रतकी सिद्धिका अभाव— आचार्यदेव रात्रिभोजनके त्यागके प्रकरणमें अंतिम रूपसे यह कह रहे हैं कि बहुत प्रलाप करनेसे क्या ? जो पुरुष मन वचन कायसे रात्रिभोजनका त्याग कर देता है वह निरन्तर अहिंसाका पालन करता है। याने रात्रिभोजनके त्यागके बिना अहिंसा व्रतकी सिद्धि नहीं है। जैसे बहुतसे संन्यासी लोग घर भी छोड़ देते, पैसा भी मानो पासमें नहीं रखते, जंगलोंमें भी आश्रमोंमें भी रहते और मंतव्यके माफिक धर्मपालन भी करते, मगर एक चीज देखी होगी कि काठकी खड़ाऊ पहिने रहते हैं। चमड़ेके जूते तक भी पहिन कर चलते हैं। अब अहिंसाके नाम पर सब कुछ करके भी उन संन्यासी जनोंमें अहिंसा नहीं है अहिंसा व्रतका पालन नहीं होता। साधुकी सबसे पहिली पहिचान तो यह है कि वे नंगे पैर चलते हैं। यह सभी साधारण साधुवोंके लिए कह रहा हू, जो नामके भी साधु हैं, किसी भी मजहबके साधु हैं वे पैरमें जूता या खड़ाऊ पहिनकर चलते हैं समझो कि अभी उनके अन्तरङ्गमें दयामयी दृष्टि नहीं बन पायी, उनमें अभी साधुता नहीं आ पायी। तो उनका जीवन कैसा है ? लोगोंको बहकाने के लिए अथवा अपनी मान मर्यादा रखनेके लिए। यहा वहाकी बातें बहुत अच्छी कहेंगे मगर चित्तमें धर्मके प्रति रुचि नहीं है। ऐसे ही यहा समझिये कि धर्मके नाम पर और और भी बहुत सी बातें कर डालते हैं—पूजन करना, विधान करना, अष्टमी चतुर्दशीका उपवास करना, बहुत-बहुत यात्राएँ करना, परोपकार करना आदिक, पर सब कुछ करने पर भी यदि रात्रिभोजनका त्याग नहीं है, रात्रिभोजनकी प्रवृत्ति चल रही है तो आचार्यदेव कहते हैं कि रात्रिभोजनके त्यागके बिना अहिंसा व्रतकी सिद्धि नहीं है।

दुर्लभ मनुष्यजीवनको असयममें बितानेकी मूढता— भैया ! कुछ अपनी ओरसे यह भी विचारें कि यह मनुष्य शरीर मिला है, यह सदा नहीं रहेगा, किसी दिन नष्ट अवश्य हो जायेगा और मिला भी यह मनुष्य जीवन तो अन्य जीवोंकी अपेक्षा बहुत श्रेष्ठता है इस जीवनकी। यदि केवल खाने पीनेकी धुनमें ही इस जीवनको लगा दिया—दिनमें खाना, रात्रिमे खाना, विषय कषायोंमें ही बसकर अपना जीवन बिताना, अरे इनसे क्या लाभ मिलेगा ? जो महाभाग रात्रिभोजनका त्याग कर देता है वह सच्चा अहिंसक है। अहिंसा अणुव्रतमें रात्रिभोजन त्यागकी मुख्यता का वर्णन है और मुनिव्रतमें जहाँ पच-महाव्रतोंका वर्णन है वहाँ रात्रिभोजन त्यागका वर्णन जगह-जगह आया है। तो अहिंसा व्रतकी सिद्धिके लिए रात्रिभोजनका त्याग आवश्यक है। जहाँ मुनियोंके महाव्रतका वर्णन किया है वहाँ रात्रिभोजन त्यागका उपदेश क्यों दिया गया है ? उसके कई कारण हो सकते हैं। एक तो यह जरूरी नहीं है कि कोई मनुष्य पहिले प्रतिमा ले और बादमें मुनि बने। कोई बिना प्रतिमा लिए सीधा मुनिव्रत धारण करले, यह भी एक विधि है। तीर्थंकर तो प्रतिमायें धारण ही नहीं करते। उनके जब वैराग्य जगता है तो सीधे मुनि बन जाते हैं। तीर्थंकर ५वें गुणस्थानमें नहीं आते, चौथेमें ही रहे फिर एकदम साधु हो गए। बड़े पुरुषोंकी कुछ ऐसी ही प्रवृत्ति रहती है। तीर्थंकर देव अपने जीवनमें जब वे घरमें चौथे गुणस्थानमें हैं, कोई व्रत नहीं हैं, सम्यग्दर्शन जरूर है, जब उनके वैराग्य जगा तो एकदम मुनि दीक्षा ले लिया। पहिली, दूसरी, तीसरी प्रतिमा आदि धारण नहीं करते, इसका कारण है कि वे ऐसी महान् आत्मा हैं कि उनमें वैराग्य जगा तो पूरा जगा। अधूरा धर्म पालनेकी उनकी नीति नहीं है, या तो अव्रत अवस्थामें रह रहे या वैराग्य हुआ तो एकदम साधु अवस्था में रह रहे। इसके मायने यह नहीं है कि उन तीर्थंकरोंके प्रतिमाधारियोंके प्रति तुच्छताका भाव है। पर बड़े पुरुषोंकी ऐसी प्रकृति होती है तीर्थंकर भगवानकी

दृष्टि एकदम नमस्कारके लिए जायेगी तो सिद्ध प्रभु पर जायेगी, उससे भी यह मतलब न निकालना कि उनकी अरहंत भगवानके प्रति उपेक्षा है। अरहंत भगवानके प्रति उनके आदरभाव है, अरहंत ही नहीं बल्कि साधुवों और मुनियोंके प्रति भी उनके आदरभाव है। तो कोई लोग बिना प्रतिमा धारण किए सीधे मुनि भी हो जाते हैं, इसमें कोई विरोधकी बात नहीं है। ऐसे मुनिजनोंको लक्ष्यमें लेकर भी रात्रिभोजन त्यागका उपदेश है। रात्रिभोजनका सर्वथा त्याग रहे, संकल्प भी न आये, दूसरोंके लिए इशारा भी न करे, ऐसे सर्वथा रात्रिभोजनके त्यागमें उनके दृढ़ता आये, इसलिए रात्रिभोजन त्यागकी बात मुनियोंके महाव्रतके बाद कही गई है।

अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये रात्रिभोजनत्यागकी अनिवार्यता—प्रकरणमें यह बात बतायी जा रही है कि रात्रिभोजन करने वाले पुरुषके अहिंसा व्रतकी सिद्धि नहीं होती है। इसलिए रात्रिभोजनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। कोई घटना ऐसी नहीं है कि रात्रिभोजनका त्याग कर दे तो उसे कोई कष्ट हो। कोई कष्ट की बात नहीं है। रात्रिभोजनका त्याग न कर सकनेसे कुछ आदत ऐसी बन गयी है कि जिससे उसे ऐसा लगने लगा कि रात्रिको खाये बिना गुजारा ही नहीं चलता, दिनमें खा लेनेका हमें टाइम ही नहीं मिलता, पर चूँकि रात्रिभोजनके त्यागका नियम नहीं है, सो मनमें यही बात बनी रहती कि ८ बजे खा लेंगे, ९ बजे अथवा १० बजे खा लेंगे। तो नियम न होनेसे ऐसा महसूस होता है कि रात्रिभोजनका त्याग निभ नहीं सकता, लेकिन अहिंसा व्रतके पालनमें अपने आपकी भावहिंसा बचानेके लिए और द्रव्यहिंसा बचानेके लिए रात्रिभोजनका त्याग अवश्य ही करना चाहिए। रात्रिभोजन त्यागमें एक गुण और विशेष है जिसे अजैन लोग भी महसूस करते हैं। दिनमें भोजनसे निपट जाने पर रात्रि में समय खूब मिलता है। इससे उलझन आरम्भ और भोजन आदिककी चिन्ता नहीं रहती। उस समयमें शामसे लेकर जब चाहे तक भजन, सामायिक जाप, शास्त्रसभा आदि करें। इन सभी धार्मिक कार्योंके करनेके लिए खूब समय मिलता है। कुछ अजैन लोग भी कभी कभी इस बातपर मनमें मात्सर्य करने लगते कि मैं क्यों न हुआ ऐसा, जैन जो दिन दिनमें ही खानेसे निपट लेते हैं। तो इस दृष्टिसे भी रात्रिभोजनका त्याग आवश्यक है। इस प्रकार इस प्रकरणमें रात्रिभोजन त्याग पर उपदेश दिया गया है। श्रावकोंको रात्रिभोजनका त्याग अवश्य करना चाहिए ताकि उनकी भावहिंसा भी टल जाय और द्रव्यहिंसा भी टल जाय।

इत्यत्र त्रितयात्मनि मार्गे मोक्षस्य ये स्वहितकामाः।
अनुपरतं प्रयतन्ते प्रयान्ति ते मुक्तिमचिरेण ॥१३५॥

मोक्षमें ही आत्माकी भलाई—इस जीवका हित मोक्ष है, अर्थात् कर्मोंसे, शरीरसे, रागादिक परिणामोंसे छुटकारा मिलनेमें ही आत्माकी भलाई है। मोक्षके सिवाय अन्य किसी भी अवस्थामें शान्ति नहीं है। इस कारण मोक्षके लिए अपना पुरुषार्थ करना प्रथम आवश्यक है। तो वह कर्तव्य क्या है, वह मार्ग क्या है जिस मार्गपर चलकर हम मोक्षमें पहुंच सकें—वह मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। जैसे किसी नगरमें पहुचना हो तो मार्ग हुआ करता है जिसके सहारे पहुचा जाता है। ऐसे ही पहुचने वाला यह आत्मा है और मोक्षका मार्ग है सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप परिणाम। अर्थात् यह आत्मा अपने आपके स्वरूपका ज्ञान करे और अपने आपमें रमनेका यत्न रखे तो देह भी छूटेगी, कर्म भी अलग होंगे, रागादिक विभाव भी दूर होंगे। तो यह आत्मा विशुद्ध होकर मुक्त होकर सदाके लिए आनन्दमय बनेगा। जिनको अपने हितकी वाञ्छा हो उनका कर्तव्य है कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप मोक्षमार्गमें निरन्तर परिणमन करें।

मोक्षके अर्थ, शान्तिके अर्थ उद्यमनका विश्लेषण—देखिये लोकमें यह जीव करता क्या है? केवलज्ञान

करता है। दुकानमें लगे, घरमें लगे, रागद्वेषमें लगे, किसी न किसी मे यह ज्ञान लगा रहे, उपयोग बना रहे, यही तो काम करता है जीव। अब छटनी यह करलो कि हम उपयोगको किस तरह लगायें कि हमारे आकुलता न हो? छटनी करते जाइये, एक एकका नाम लेते जाइये और उत्तर पाते जाइये। स्त्रीमें, पुत्रमें, अन्य कुटुम्बी जनोंमें धन धान्यमें, मकान महलमें कहीं भी अपना उपयोग लगाया जाय तो क्या शान्ति मिल सकेगी? उत्तर सब ओरसे आयेगा कि शान्ति तो नहीं मिली। सर्वत्र अशान्ति ही अशान्ति मिली। फिर और ढूंढो, कहाँ उपयोग लगायें कि शान्ति मिले? कुछ कुछ जँचेगा कि जो पुरुष ससारसे विरक्त हैं, जिनकी शरीरमे रुचि नहीं है ऐसे संतजनोंमें अथवा जो रागसे बिल्कुल दूर हो गए हैं ऐसे अरहत भगवनोंमें यदि हम रुचि करें, उपयोग लगायें तो उपयोग मलिन नहीं बनता, विशुद्ध होता है और वहाँ शान्ति मिलती है जितनी देरको उपयोग ऐसे विशुद्ध तत्त्वमें लगा उतनी देर को कुछ मिली। बादमें वह उपयोग फिर हट जाता है। तो और कहाँ उपयोग लगायें कि आत्माको शान्ति मिले? सोचते जाइये। अब चलिये अपनी ओर। बाहरमें तो बहुत बहुत ढूंढा, अरहत भगवतोंको भी देखा, वीतराग ऋषि सतोंको भी देखा पर कहीं शान्ति नहीं कहीं थोड़ी शान्ति है, मगर बात टिक कर नहीं रहती। अब अपनी ओर चलिये। जो तत्त्व हमारे भगवतोंने निरखा देखा तत्त्व हममे भी है। अब अपने उस स्वरूपकी ओर चलिए। उस स्वरूपका सच्चा श्रद्धान होता है जैसा कि सहज अपने आप आत्माका स्वभाव है वहाँ श्रद्धा बनती है, वहीं ही उपयोग लगता है और उसहीमें रमनेका चित्त चाहता है। तो यह परमात्मतत्त्व यह आत्मस्वरूप जो कि दूसरेसे नहीं लेना है, दूसरी जगह नहीं देखना है, यह खुद ही है तो इतना तो सुभीता हो ही गया कि जिसमें हम चित्त रमाना चाहते हैं वह हम खुद हैं। वह कभी अलग न होगा, तो जिसमें हम अपना उपयोग लगाना चाह रहे वह चीज तो ध्रुव मिली अपनेको। अब उस ध्रुव चीजमें हम अपना उपयोग लगायें तो कोई धोखा नहीं है, पर राग वासनाका संस्कार ऐसा पड़ गया कि हम अपना उपयोग अपने आत्मस्वरूपमें जमा नहीं सकते। उसके लिए यत्न करें, स्वाध्याय करें, तत्त्वचर्चा करें, आत्मचिन्तन करें, इन उपायों द्वारा अपने आपमे रमनेका यत्न करें। यह उपयोग आत्माको मुक्तिके मार्गमें लगायेगा। जिन्हें अपना हित चाहिए उन्हें चाहिए कि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्ररूप मार्गमें निरन्तर प्रयत्न करें और मुक्ति प्राप्त करें। यहाँ तक श्रावकाचारमें अहिंसाव्रतकी मुख्यतासे ५ अणु व्रतोंका वर्णन किया। अब ५ अणुव्रतोंकी जो रक्षा करें और अणुव्रतोंके परिणामको जो बढ़ायें ऐसे जो अर्द्धवृद्ध हैं उनका वर्णन करते हैं।

परिधय इव नगराणि व्रतानि किल पालयन्ति शीलानि।
व्रतपालनाय तस्माच्छीलान्यपि पालनीयानि ॥१३६॥

अणुव्रतकी रक्षाके लिये सात शीलोंकी पालनीयता—जैसे नगरकी रक्षाके लिए नगरके चारों ओर खाइया खोदी जाती हैं, कोट बनाई जाती है तो उससे नगरकी रक्षा रहती है, कोई शत्रु नगर पर आक्रमण नहीं कर सकता है। इसी प्रकार इस अणुव्रतकी रक्षाके लिए अणुव्रतके चारों ओर सात शीलोंका नियम लिया जाता है, वे ७ शील आगे आवेंगे, पर यहाँ यह समझना चाहिए कि व्रतकी रक्षाके लिए अवश्य पालन करना चाहिए। यह शील एक बाड़ है। जैसे खेतोंके अन्नकी रक्षा बाड़ लगानेसे है ऐसे ही अणुव्रतोंकी रक्षा शीलोंसे है। वे शील क्या हैं, उनको क्रमसे कहते हैं।

प्रविधाय सुप्रसिद्धैर्मर्यादा सर्वतोऽप्यभिज्ञानैः।
प्राच्यादिभ्यो दिग्भ्यः कर्तव्या विरतिरविचलिता ॥१३७॥

दिग्व्रतनामक प्रथम शील—७ शीलोंके २ भाग करें—गुणव्रत और शिक्षाव्रत। गुणव्रत उन्हें कहते हैं जो अणुव्रतमें और अधिक गुण उत्पन्न करें। अणुव्रतमें गुणोंकी वृद्धि करें, ऐसे नियमोंका नाम है

गुणव्रत। गुणव्रत तीन हैं--उसमें प्रथम दिग्व्रत नामका स्वरूप कह रहे हैं--दिग्व्रतमें दो शब्द हैं--दिग् और व्रत। दिग् मायने दिशा और व्रत मायने नियम। चारों दिशावोंमें अपना नियम बना लेना कि हम इतनी दूरसे अधिकका अपना सम्बन्ध न रखेंगे, इस प्रकारका नियम लेकर जो पालन करे उसका नाम है दिग्व्रत। जो भी प्रसिद्ध गाँव हो उनकी मर्यादा बना ले कि पूरबमें हम कलकत्तासे आगेका अपना सम्बन्ध न रखेंगे, दक्षिणमें मैसूरसे आगेका सम्बन्ध न रखेंगे, इसी प्रकार उत्तर तथा पश्चिममें इससे आगेका अपना सम्बन्ध न रखेंगे, ऐसे ही ऊपर नीचेका नियम लेना, ऊपर पहाड़ है और नीचे कुआ है, इनमें भी नियम लेना कि हम इतनी दूरीसे अधिकका सम्बन्ध न रखेंगे, इस प्रकारका नियम लेना दिग्व्रत कहलाता है। दिग्व्रत पालन करनेका प्रयोजन क्या है कि आरम्भ परिग्रह व्यापार सम्बन्ध परिचय व्यवहार इनका संकुचित दायरेमें रहना। अपना परिचय उससे अधिक न बढ़ाना, उससे अधिक दूरका व्यापार सम्बन्धी काम न करना, अधिक विकल्प न बढ़ाना, उससे अधिक दूरकी चिट्ठी पत्री वगैरह न मंगाना आदि बातें दिग्व्रतमें शामिल हैं। हाँ, उससे अधिक दूरका माल अपने यहाँ आ जाय तो उसे खरीद सकते हैं। क्योंकि उसने अपना परिणाम खरीदनेका नहीं बनाया। मगर और प्रकारका सम्बन्ध उससे दूरका नहीं रख सकते। यह जो अपना क्षेत्र कम किया है वह इसलिए किया है कि हमें विकल्प अधिक न हो और समय समयपर अपना नियम निभाते रहें।

इति नियमितदिग्भागे प्रवर्तते यस्ततो बहिस्तस्याः।
सकलासंयमविरहाद्भवत्यहिंसाव्रतं पूर्णम् ॥१३८॥

दिग्व्रतधारीके नियमित क्षेत्रसे बाहर अहिंसाव्रतकी त्रियोगसे परिपूर्णता--जो दिग्व्रतमें इस प्रकारकी मर्यादा करते उन्हें चाहिए कि मर्यादाके बाहरके सभी प्रकारके असंयमोंको त्याग दें। आप समझ लें कि कमसे कम मर्यादाके बाहरकी अपेक्षासे उस मर्यादामें पूर्ण अहिंसाव्रत होता है। जैसे किसीने ५०० मील का नियम लिया तो अब उतनी दूरीसे बाहरका उसका किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न रहेगा। अब उतनी दूरीसे बाहरका वह पूरा संयमी हो गया। जैसे किसीने ६ माहको ही रात्रिभोजनका त्याग कर दिया तो समझिये कि उसका ३ माहका उपवास हो गया। साथ ही बड़े विवेकका उपवास समझिये। रात्रिके भोजनमें बड़ा दोष है। इसी तरह यह भी समझिये कि जैसे दिग्व्रतका नियम रहता है तो दिग्व्रतकी मर्यादाके बाहरके लिए तो वह एक तरहसे संयमी है, पूरा अहिंसक है। इसलिए दिग्व्रतका धारण करना श्रावकको आवश्यक है। इसमें कोई दिक्कत भी नहीं। एक मनको शान्त रखना पड़ेगा। जहाँ तक की मर्यादा की जाती है उसके बाहरके जो त्रस जीव होंगे, स्थावर जीव होंगे उनका घात तो इसके द्वारा होता नहीं, इस कारण वह महाव्रती हो गया, इस कारण यह व्रत धारण करना श्रावकोंके लिए अत्यन्त आवश्यक है।

तत्रापि च परिमाणं ग्रामापणभवनपाटकादीनाम्।
प्रविधाय नियतकालं करणीयं विरमणं देशात् ॥१३९॥

देशव्रतनामक द्वितीय शीलका महत्त्व--एक साधारणरूपसे व्रतोंकी कथनी कर लेने से उन व्रतोंका महत्त्व और व्रतोंके पालनका सही मर्म विदित नहीं होता। तब उन व्रतोंका क्या लक्ष्य है, उन व्रतोंके पालन करनेसे हम दृष्टि कहाँ ले जाते हैं? इस बातका बोध हो तो व्रतका महत्त्व विदित होता है और उनका मर्म ज्ञात होता है। दिग्व्रत पालन करनेमें जैसे बताया था कि श्रावकका उस मर्यादासे बाहरका विकल्प हट गया, अब उससे बाहरके त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसाकी वासना मिट गयी। बाहरकी अपेक्षासे वह बाहरके लिए महाव्रतीकी तरह है और भी देखिये--जैसे कोई भोगोपभोग महाव्रतमें हरी का नियम ले लेता है, मैं अमुक अमुक नामकी ५० हरीके अलावा बाकी हरी अपने जीवनमें न खाऊँगा

तो समझिये कि नियमसे बाहरकी हरीका त्याग उसके इस प्रकार है जैसे कि सकल त्याग हो जाता है, सर्वथा त्याग हो जाता है। ऐसे ही जो व्यक्ति देशव्रत पालन करता है वह मर्यादासे बाहरके क्षेत्रसे अपना किसी भी प्रकारका सम्बन्ध नहीं रखता। इसका ही नाम देशव्रत है। यह देशव्रत किसी पर्वादिके समयपर किया जाता है। मैं इतने दिन तक अब इस मौहल्लेसे अथवा इस नगरसे बाहर न जाऊँगा, ऐसा नियम लेने पर फिर वह उतनेसे बाहरका न व्यापार कर सकता, न सम्बन्ध बना सकता, न किसीको बाहर भेज सकता, न किसीको बाहरसे बुला सकता। जब तक यह मर्म और यह लक्ष्य ज्ञात नहीं होता तब तक व्रतोंका पालन करनेमें विडम्बना ही आती रहती है और अनेक हँसी मजाक हुआ करती है।

व्रतका उद्देश्य न जाननेसे क्रियाओंमें विडम्बना—जैसे एक कथानक है कि एक भाई जी थे, यह सागर की बात है। तो जहाँ पर भाई जी रहते थे वहीं पर हमारे गुरुजी भी रहते थे। उस समय गुरु जी थोडे ही नियम लेकर घर पर ही रहते थे। तो बात क्या हुई कि उस भाई जी के यह नियम था कि हम कभी साग न छौंकेंगे और एक दिन खायेंगे, एक दिन न खायेंगे, ऐसा उनका नियम था। सो जो दिन उनका खानेका होता था वह उनका पूरा दिन खाना बनाने व प्रबन्ध करनेमें बीतता था। और साग तो काटकर रख लिया और उसे छौंकनेके लिए दूसरेका इन्तजार कर रहे थे कि कोई आवे तो साग छौंकवायें वह खुद न छौंक सकते थे क्योंकि उनके न छौंकनेका नियम था। आखिर गुरु जी आ गए। भाई जी बोले कि हमारा साग छौंक दो। गुरु जी बोले कि तुम क्यों नहीं छौंक लेते? तो भाई जी ने कहा कि हमारा तो साग छौंकनेका त्याग है। तो गुरु जी ने कहा कि हम साग तो छौंक देंगे पर कह देंगे कि उससे जो पाप लगेगा वह तुम्हीको लगे। भाई जी ने बहुत मना किया पर गुरु जी ने छौंकते समय बोल ही दिया कि इसमें जो हिंसाका पाप लगे वह भाई जी पर लगे। तो व्रतोंके पालन करनेका लक्ष्य मालूम होना चाहिए तब व्रतोंका पालन होता है। देशव्रत और दिग्व्रतके पालन करनेका भाव यह है कि मर्यादाके बाहर व्यापार, सम्बन्धी, आने जानेका आनने पठानेका कोई सम्बन्ध न रखे, दिग्व्रतमें तो जन्मपर्यन्तका त्याग बताया है और देशव्रतमें नियतकाल पर्यन्त त्याग बताया है। मैं ६ माह तक इतनी दूरीसे ज्यादाका सम्बन्ध न रखूँगा, ऐसा नियम हो तो उसमें विकल्प कम होते हैं और उससे देशव्रतका पालन होगा, और अगर विकल्प बढ़ाया तो पालन न होगा। जैसे कोई भोजनमें त्याग तो कर दे कि इन इन चीजोंको हमने त्याग दिया, मानो एक मीठे रसका त्याग कर दिया, कुछ धर्मबुद्धिमें आकर त्याग किया या भावुकतामें आकर त्याग कर दिया। पर जब भोजन करनेको होता तो बहुत-बहुत छुहारा किसमिस वगैरहकी मीठी चीजें बनवाकर खाते तो यह कोई मीठे रसका त्याग नहीं है। इस बातको सभी लोग जानते हैं। तो हर एक व्यक्तिका त्यागका कोई लक्ष्य होना चाहिए। जब लक्ष्य हो तभी त्याग निभता है। और कोई व्रतका लक्ष्य न पहिचानकर व्रत ग्रहण करे तो उससे व्रत नहीं निभता है। तो देशव्रतमें कौनसा महत्व है इस बातको अब एक गाथामें बतलाते हैं।

इति विरतो बहुदेशात् तदुत्थहिंसाविशेषपरिहारात्।
तत्काल विमलमति श्रयत्यहिंसा विशेषेण ॥१४०॥

देशव्रतमें भी अहिंसाका विशिष्ट पालन—इस देशव्रतमें बहुतसे क्षेत्रका वह त्यागी हो गया, फिर भी बहुतसे देशोंसे क्षेत्रसे निकलता निर्मलबुद्धि वाला यह श्रावक उतने काल पर्यन्त जितने कालमें देशव्रतका नियम लिया है उतने कालमें उस मर्यादाके क्षेत्रसे बाहरमें उसकी हिंसा न होगी। उससे बाहर त्रस और स्थावर जीवोंकी हिंसाका परिहार हो गया तो वह उस व्रतको और अच्छी तरह निभा रहा है। प्रथम तो यह जानना चाहिए कि हमारे जितने भी व्रत हैं छोटेसे लेकर बडे तक तो उन व्रतोंका लक्ष्य है अहिंसा व्रतका पालन हो, क्योंकि अहिंसा ही परमब्रह्म है, अहिंसा ही देवता है, अहिंसा ही शरण है। भगवान

किसे कहते हैं ? जो अहिंसाकी साक्षात मूर्ति हो उसका नाम भगवान है। अहिंसाकी मूर्ति मायने ऐसा विशुद्ध ज्ञान, ऐसा रागद्वेष रहित निर्मल ज्ञान जिस ज्ञानमें कोई दोष नहीं, कोई तरंग नहीं, जिस ज्ञानसे अपना बोध हो रहा है, आत्मस्वरूपका घात नहीं है ऐसा ही स्वरूप है अरहंत भगवंतका। तो वह अरहंत क्या है, वह परमब्रह्म क्या है ? अहिंसा। अब अपने आपको विचारें, अपने आपका स्वरूप कारण समयसार शुद्ध ज्ञायकस्वभाव आत्माका लक्षण, आत्माका निजस्वभाव इसे परमब्रह्म कहते हैं, वह अहिंसाकी मूर्ति है। स्वभावमें हिंसा नहीं पड़ी है। स्वभाव स्वभावका घात नहीं करता। न यह चैतन्यको छोड़कर जड़ बन जाता है।' तो ऐसा जो अहिंसा स्वभावरूप परमब्रह्म है उस परमब्रह्मकी साधना ही समस्त व्रतोंका लक्ष्य है। कोईसा भी व्रत पालें, अहिंसा व्रत है। यह बात स्पष्ट ही है कि शुद्ध ज्ञानमात्र रहनेका लक्ष्य है अहिंसा व्रतका। झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह—इन पापोंके त्यागका भी यही लक्ष्य है। विकल्प जाल हटें, शुद्ध ज्ञान रहे और आत्माका जो विशुद्ध स्वरूप है उस स्वरूपमें हमारा रमण हो, छोटेसे लेकर बडे तक सभी व्रतोंका लक्ष्य है अहिंसाव्रतका पालन करना। दिग्व्रतका भी यही लक्ष्य रहा। और दिग्व्रतमे की हुई मर्यादासे बाहर तो यह पूरा संयमी है। देशव्रतमे भी यही लक्ष्य रहा, पर दिग्व्रत की अपेक्षा देशव्रतमें कुछ थोडी सी कमी है वह कमी यह है कि इसमें यह भाव भरा है कि १० दिनके लिए हमारा इतना नियम है, तो उसके बादके समयकी कुछ न कुछ मनमे तरंगसी बन जाती है, पर दिग्व्रतमें यह तरग नहीं होती। इस प्रकार जो पुरुष दिग्व्रत और देशव्रतका पालन करते हैं। वे पूर्ण अहिंसाधर्मकी रक्षा करते हैं। और इसमें मूल जो अहिंसाणुव्रत है, अहिंसा व्रत है उस अहिंसा व्रतमें अरक्षा हुई है। इस प्रकार अणुव्रतोंकी रक्षाके लिए ७ शील पालन करना चाहिए, ऐसा जो बताया गया था, उन ७ शीलोंमें से २ शीलोंका वर्णन किया गया है। इस प्रकार दिग्व्रत और देशव्रतका नियम धारण करना चाहिए।

पापर्द्धिजयपराजयसङ्गरपरदारगमन चौर्याद्याः।
न कदाचनापि चिन्त्याः पापफलं केवल यस्मात् ॥१४१॥

अनर्थदण्डव्रतनामक तृतीयशीलकी सविधि निष्पाद्यता—धर्मपालनमें अहिंसाकी मुख्यता है। जहाँ अहिंसा है वहाँ धर्म है और जहाँ हिंसा है वहाँ अधर्म है। अहिंसा नाम है आत्मामें रागद्वेषादिक विकार परिणाम न होनेका और आत्मामें रागादिक परिणाम हों उसका नाम हिंसा है। तो अहिंसाकी सिद्धिमें सर्वप्रथम यह बताया कि समस्त परिग्रहोंका परित्याग करके अपने आत्मामें ज्ञानबल बढ़ाकर निर्ग्रन्थ मुनि होकर आत्मध्यान करे तो वहा अहिंसाव्रत है, लेकिन जो ऐसा करनेमें समर्थ नहीं हैं, गृहस्थजन हैं वे घरमे रहकर अणुव्रतका पालन करें और ७ शीलोंका नियम लें। अणुव्रतमे पहिला है अहिंसा अणुव्रत, दूसरा है सत्याणुव्रत, तीसरा है अचौर्याणुव्रत, चौथा है ब्रह्मचर्याणुव्रत और ५ वां है परिग्रहपरिमाण अणुव्रत। इन पाँचोंमें यह लक्ष्य कराया है कि अपना परिमाण रागद्वेषसे रहित बनायें, सकल्प विकल्पसे अपनेको जुदा रखें, जितना संकल्प विकल्पसे जुदा रखें उतना ही अहिंसाका पालन है। इन ५ अणुव्रतों की रक्षाके लिए इसमें और अतिशय गुण उत्पन्न करनेके लिए ७ शील बताये हैं। ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत। तीनमे पहिला है दिग्व्रत। अपने जीवनपर्यन्त चार दिशाओंमें कुछ क्षेत्रकी मर्यादा लेकर अपना सम्बन्ध रखना, फिर उससे बाहरके समस्त आरम्भ परिग्रहोंका परित्याग करना, इसका नाम दिग्व्रत है। फिर दिग्व्रतकी मर्यादाके भीतर ही थोड़ा क्षेत्र घटाकर नियम करे उसे देशव्रत कहते हैं। जैसे दशलक्षणीके दिनोंमें मैं इस नगरसे बाहर जाऊँगा, फिर ऐसा नियम बनाकर बाहरी व्यापार तक का भी त्याग किया जाता है। प्रयोजन यह है कि उपयोग कुछ समय भटके नहीं, उपयोग थोडे क्षेत्रमें रहे जिससे हम अपने आत्मकल्याणकी साधना बना सकें, तीसरा है अनर्थदण्ड व्रत। जिन कामोंके करनेसे

कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं है फिर भी बहुत किये जाते हैं तो उन कामोंको छोड़ दें। बिना प्रयोजन यदि कामोंमे पापका प्रारम्भ है उनका त्याग कर देना सो अनर्थ दण्डविरति व्रत है। ऐसा अनर्थदण्ड विरति व्रत होता है जहां अपना लाभ नहीं है। दूसरेका दिल दुखाना, अपना परिणाम बिगाड़ना उनमें अनर्थ (निष्प्रयोजन) दण्ड (पाप) होता है उनका त्याग करना अनर्थदण्डव्रत है।

अनर्थदण्डव्रतके प्रकार और उनमें से अपध्याननामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन—ये सब ५ प्रकार के अनर्थदण्ड परिणाम होते हैं। वे ५ क्या है, प्रथम तो अपध्यान, दूसरा पापोपदेश, तीसरा प्रमादचर्या, चौथा हिंसादान और ५ वा दुश्रुति। इनका वर्णन आगे कर रहे हैं। इनसे अपना काम कुछ नहीं ना। उनका त्याग करें। अपध्यानमें ऐसे ध्यानोंको बताया है जो अनर्थ हैं निष्प्रयोजन हैं और महापापोंका आरम्भ है, अपना कोई फायदा नहीं। जैसे कुछ लोगोंकी शिकार खेलनेकी प्रवृत्ति होती है, उन शिकारके के कामोंसे लाभ कुछ नहीं है पाप विशेष है। इनका ध्यान छोड़ना चाहिए। इसी प्रकार जय पराजय इस की हार हो इसकी जीत हो, जैसे जब भी तीतर या मुर्गा लोग लड़ाते हैं तो ऐसा ही छाट लेते हैं कि इसकी हार हो इसकी जीत हो, इससे प्रयोजन कुछ नहीं है, पर लोग जिसे अपना प्यारा मान लेते हैं उसकी जीत चाहते हैं और जो प्यारा नहीं है उसकी हार चाहते हैं। तो यह अपध्यान है। अपध्यान उसे कहते हैं जिसमें अपना लाभ कुछ नहीं और पापका बंध होता है। किसीकी जीत विचारना और किसी किसी की हार विचारना यह अपध्यान है। किसी की लड़ाईका ध्यान करना, परस्त्रीके सम्बन्धं खोटे चिन्तन करना अपध्यान है, इसी प्रकार झूठ बोलना, झूठ उपदेश देना, किसीको फँसाना आदिक जो अनेक खोटे चिन्तन हैं उनका नाम अपध्यान है, क्योंकि इस अपध्यानमें केवल पापका फल है, आत्माकी कोई सिद्धि नहीं है। सो जो गृहस्थजन हैं, जिन्होंने व्रत धारण किया है, अपनी उन्नति जो चाहते हैं वे ऐसे अपध्यान नहीं करते। दूसरा अनर्थदंड है पापोपदेश। इसका लक्षण कह रहे हैं।

विद्यावाणिज्यमषीकृषिसेवाशिल्पजीविनां पुंसाम्।
पापोपदेशदानं कदाचिदपि नैव वक्तव्यम्॥१४२॥

पापोपदेशदाननामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन—विद्या व्यापार मसीकृषी सेवा शिल्पकी आजीविका करने वाले पुरुषोंको पापका उपदेश देने वाले वचन कभी न बोलने चाहिएँ। ऐसे वचन कभी न बोलने चाहिएँ जो पाप उत्पन्न करें। जैसे विद्या सिद्ध करनेकी बातें बताना। देखो ऐसे विद्या बांध लो तो जिस चाहे पुरुषको तुम अपना सेवक बना लोगे। जिसे जैसा चाहोगे उसे वैसा बना लोगे। ऐसी कोई बात कहे। ऐसा कोई करने लगे और उससे दूसरेका दिल दुखे, तो ऐसी विद्याका उपदेश न देना चाहिए। इस प्रकारका भी उपदेश न देना चाहिए जिसमें दूसरे जीवोंकी हिंसा हो। जैसे बताना कि अमुक देशमें गाय भैंस बहुत हैं, वहांसे खरीदो, वहाँ ले जावो, इस प्रकारकी बात बताना यह पापोपदेश है। जिससे कुछ लाभ भी नहीं है और वहाँ ही आनन्द आता है। यहाँ वहाँकी बात बताने में पापोपदेश की बात कही है। चाहिए तो यह गृहस्थको कि हमेशा कम बोले। पापके उपदेशका व्याख्यान तो दूर रहा, अपना जिसमें प्रयोजन है ऐसा कमसे भी कम बोले। कम बोलनेमें एक तो बुद्धि सजग रहती है यह बहुत कुछ विचार कर सकता है और कम बोलने वाला पुरुष जब बोलेगा तो सभाल कर बोलेगा, अपनी और दूसरेकी भलाईके वचन बोलेगा। इसलिए प्रथम कर्तव्य है कि कमसे कम बोलें और बोलें भी तो ऐसी बात बोलें जिसमें दूसरे जीवोंको दुःख न उत्पन्न हो, अपने आपको झंझट और विकल्प न आयें। तो ऐसे कोई वचन हों जिनमें हिंसा हो तो वह पापोपदेश अनर्थदण्ड है। इसी प्रकार और और प्रकारके आजीविका करने वाले पुरुष ऐसे वचन बोलते हैं जिनमें पापोपदेश हो तो पापोपदेश नामका अनर्थदण्ड है। इसमें अपने को लाभ कुछ नहीं होता, केवल पापका बंध होता है। व्यर्थके विकल्प बढ़ाना यह भी

अनर्थ दण्डमें शामिल है, तीसरा अनर्थदण्ड बताया प्रमादचर्या।

भूखनन वृक्षमोट्टन शाड्वलदलनाम्बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्याद्दलफलकुसुमोच्चयानपि च ॥१४३॥

प्रमादचर्यानामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन--इस अनर्थदण्डके प्रकरणको सुनकर इतनी बात तो पहिले लेना ही चाहिए कि हमारा मनुष्योंके प्रति साधर्मियोंके प्रति ऐसा विशुद्ध व्यवहार हो कि किसी को कोई कष्ट उत्पन्न न हो मेरे व्यवहारके कारण। इतनी बात तो होनी ही चाहिए, नहीं तो अनर्थदण्डके नाम पर हम छोटे छोटे पेड़ पौधोंके जीवोंकी तो रक्षा करें और साधर्मी मनुष्य जैसे बड़े मन वाले पुरुषोंका कोई विचार ही न करें, उनको चाहे कष्ट हो पर अपना व्यवहार खोटा रखें तो यह अनर्थदण्डसे भी महान् अनर्थदण्ड है। यह प्रमादचर्या नामक अनर्थदण्डमें बतला रहे हैं कि गृहस्थ त्रस जीवोंकी तो हिंसा करता ही है मगर त्रस जीवोंकी हिंसा करे तो व्रत भंग ही हो गया लेकिन और स्थावर जीवोंका घात भी बिना प्रयोजन न हो, जैसे पृथ्वी खोदना, अपनेको बहुत जरूरी हो मिट्टीकी तो मिट्टी खोदकर लाना पड़ता है पर व्यर्थमें मिट्टी न खोदना चाहिए, इस प्रकार बिना प्रयोजन डाली पत्ती फलफूल वगैरह भी न तोड़ना चाहिए। बहुतसे लोगोंको यह शौक होता है कि छोटी-छोटी घासको मशीनसे काटकर गद्देदार बनाते हैं फिर उसपर चलते हैं, पर यह तो बतावो कि उसमें लाभ कौनसा पाया? यह भी अनर्थदण्ड है। बहुत पानी सींचना, बहुत पानी बिखेरना, बहुत पानीसे नहाना--ये सब अनर्थदण्ड हैं। भगवानके नाम पर भी अनेक तरहके फूल तोड़कर लाना फिर किसी देवको पूजना यह भी एक अटपटी सी बात है। बिना प्रयोजन पत्र फल फूल तोड़ना इसकी भी मनाही है। तो कहते हैं कि गृहस्थ जीव त्रस हिंसाका तो पूर्ण परित्याग करते ही हैं, पर जहाँ तक बने स्थावर जीवोंकी भी रक्षा करनी चाहिए। जब तक कोई खास जरूरत न हो तब तक किसी भी जीवकी विराधना न करें। इसके अलावा और भी अनेक बातें हैं। जैसे कुत्ता पालना, बिल्ली पालना, तोता, कबूतर पालना इनसे आत्माकी कौनसी सिद्धि है? बहुतसे कबूतर पाले, किसी बिल्लीने कबूतर खा लिए तो खुदको भी बड़ा खेद होगा, खुदको भी हिंसा लगेगी, यही बात तोता आदिक पालनेमें भी है। किसी तोते को पालने से तो वह तोता बन्धन में आ गया। स्वतंत्र होता तो जहां चाहे खेलता पर परतन्त्र होनेसे वह कहीं जा नहीं सकता। कुत्ता पाल लिया तो वह हिंसक जानवर है, उसके पालनेसे कोई सिद्धि नहीं है। रही यह बात कि कदाचित् मानलो अपना मान कर उसे खिलाते तो श्रावकाचारमें किसीको अपना मानना यह भी बात ठीक नहीं मानी गयी। यदि कोई हिंसक जानवर पाला है तो उसे उसी प्रकारका हिंसक खाना देना पड़ता है. तो वह भी अनर्थदण्ड है। उससे कुछ सिद्धि नहीं है। जहां कुछ सिद्धि नहीं है, केवल पापोंका बंध है ऐसे अनर्थ दण्डका भी त्याग करना चाहिए। चौथा अनर्थदण्ड बताते हैं हिंसा दान।

असिधेनुविषहुताशनलाङ्गलकरवालकार्मुकादीनाम्।
वितरणमुपकरणानां हिंसायाः परिहरेद्यत्नात् ॥१४४॥

हिंसादानविरतिनामक अनर्थदण्डव्रतका वर्णन--हिंसा दान नामक अनर्थदण्ड उसे कहते हैं जो चीज हिंसाके कारण हैं उन चीजोंको दूसरेको बताना अथवा देना सो हिंसा दान अनर्थदण्ड है। हिंसाके जितने साधन हैं उनके बिना यदि अपना कार्य न चलता हो तो रख तो ले, परन्तु वह साधन दूसरेको न दे। जैसे बन्दूक किसीके पास है और किसीको चोर, बदमाशोंको दूर भगानेके लिए उससे बन्दूक माँगनी पड़े तो उसे न देना चाहिए। यदि उसे माँगनेसे दे दे तो यह हिंसा दान है। वह न जाने उस बन्दूकसे क्या-क्या करे? न जाने किस-किसको मारे? ऐसे ही छुरी, अग्नि, हल, तलवार, धनुष ये हिंसाके उपकरण उन्हें दूसरोंको देना इसका नाम है हिंसा दान नामक अनर्थदण्ड। यहां तक कि किसी बेसमय पर

कोई पुरुष आग मागे तो आग भी न दे। यदि यह जान जाय कि यह तो अमुक है, अपनी रसोई बनाने के लिए या अमुक काम के लिए जा रहा है तब तो बात और है, लेकिन न जाने यह आग लेकर क्या करेगा ? किसीके घरमें आग लगावेगा या अन्य कहीं। तो यहाँ तक कि जो हिंसाके साधन हैं उन्हें दूसरों को न दे। साधर्मी जन परस्परमें गृहकार्यके लिए ले दे सकते हैं मगर अनजानको, गैरको न देना चाहिए। अगर देगा तो वह पापबंध करेगा। तो किसीको हिंसाका साधन दे दे तो वह हिंसा दान है।

रागादिवर्द्धनानां दुष्टकथानामबोधबहुलानाम्।
न कदाचन कुर्वीत श्रवणार्जनशिक्षणादीनि ॥१४५॥

दुःश्रुतिविरतिनामक अनर्थदण्ड विरतिका वर्णन— जो रागद्वेष मोह आदिकको बढावे, जिसमें अज्ञानता भरी हुई हो ऐसी खोटी कथावोंका सुनना, सीखना, खोटी कथावोंका संग्रह करना—ये सब अनर्थ दण्ड हैं। बिना प्रयोजनके कामोंमे जिनमें पापोंका प्रारम्भ हो उसे अनर्थदण्ड कहते हैं। कुछ कथाएँ ऐसी होती हैं जो खोटी बातोंसे भरी होती हैं। किसी पुरुषने किस तरहसे प्रेम किया, किस तरहसे धोखा दिया, किस तरहसे मारा, आदि। तो ऐसी पुस्तकोंका खरीदना यह सब अनर्थ दण्ड है। क्योंकि जिन कथावोंमे शृङ्गार बसा हो, जिसमें प्रीति कामकी बात सिखाई गई हो, धोखा छल चोरी, डकैती आदिक बताये गए हों उनसे धर्म तो है नहीं, लेकिन इस प्रकारकी कथावोंमे लोगोंका चित्त बहुत लगता है और ऐसी पुस्तकों का प्रकाशन भी बहुत होता है। उन विकारभरी कथावोंको उपन्यासकी पुस्तकोंमें अन्तमें लिख देते हैं कि इसके आगेकी कथा दूसरे भागमे है, तो लोग उस भागकी पुस्तकको बहुत-बहुत खोज करके खरीदते हैं। तो ऐसी पुस्तकोंका पढ़ना यह सब अनर्थदण्ड है। इससे न तो कोई आजीविका की सिद्धि है और न कोई परलोककी सिद्धि है। यहाँ भी लोगोको दो बातोंकी आवश्यकता है, एक तो आजीविकाका साधन ठीक बना रहे और दूसरे परलोक हमारा ठीक रहे। सभी लोग जानते हैं कि यदि गृहस्थीमें रहकर आजीविकाका साधन नहीं है तो बड़ा कष्ट होता है और वह निर्धन व्यक्ति अधर्म पर भी उतारू हो जाता है। पैसा पासमें न होने पर वह अनर्थ कर सकता है। किसीको मार कर धन लूट ले, किसीको चालबाजीसे फसा दे, वेश्यागमन, परस्त्री सेवन तथा और और प्रकारकी बिडम्बनाएँ बना सकता है। हाँ, वह निर्धन व्यक्ति यदि ज्ञान बढ़ाकर साधु बन जाय तो बात और है, पर जहाँ घर बसाये है, बीबी बच्चे हैं वहाँ उनके पालन पोषणकी चिन्ता रहेगी। तो पासमें कुछ पैसा न होने पर वह बडे-बडे अनर्थ कर सकता है। तो आजीविका का साधन बनाना गृहस्थोंके लिए बहुत आवश्यक बात है। तो दूसरी बात यह आवश्यक है कि ऐसा सद्ज्ञान करें जिससे परलोक न बिगडे। मान लो एक भवमें बड़ा मौज कर लिया तो यह ५०, ६०, या १०० वर्षका समय इस अनन्त कालके सामने क्या समय है ? एक बहुत बड़े भारी स्वयभूरमण समुद्रमें एक बूँदकी तो कुछ गिनती हो सकती है, बस एक बूँदका भी गणित बन सकता है पर इस सागरों पर्यन्त समयके आगे यह १००, ५० वर्षका जीवन कुछ भी कीमत नहीं रखता। तो मान लो एक इस भवको मौजमें ही बिता देनेसे क्या लाभ है ? विषयकषायोंमें ही रमकर यदि इस थोडे से जीवनको बिता भी लिया तो उससे क्या पूरा पडेगा ? अरे कुछ समय बाद फिर आगे बहुत काल तक ससारमें जन्म मरण करना पडेगा। तो गृहस्थोंको सर्वप्रथम आवश्यक है आजीविका का साधन बनाना और फिर अपने परभवकी सभाल रखना तो जिन कामोंके करनेसे न आजीविकाका सम्बन्ध है और न धर्मका ही सबन्ध है, वे सब कार्य अनर्थदण्ड हैं। विकारयुक्त कथन पढने सुननेसे, उनमें उपयोग लगानेसे तो पापबध ही होता है, तो ऐसे कथन सुनने पढ़नेका सर्वथा त्याग करना चाहिए यदि कोई ऐसी बातें सुने तो वह दुःश्रुति नामक अनर्थदण्ड है।

अपने व्यवहारको सर्व अनर्थदण्डोंसे बचाये रहनेकी प्रेरणा—हमारे जीवनमें व्यवहारमें ऐसे वचनोंका

प्रयोग न होना चाहिए जो वचन दूसरेके मर्मको भेदें, दूसरेको कष्ट पहुंचायें ऐसे वचन न बोले जायें, जैसे किसीका अपमान करने वाले वचन। इतनी हिम्मत बनायें, इतना ज्ञान बढ़ाये कि किसी भी घटना में अपने को क्रोध उत्पन्न हो रहा हो तब भी वचन हम ऐसे न बोले कि मर्मको छेद देवे। कारण यह है कि क्रोधमें हम दूसरेको बुरा समझ रहे हैं। हम तो समझ रहे, क्या यह निश्चित है कि वह बुरा ही है? जब क्रोध उत्पन्न होता है तो बुद्धि आधी रह जाती है, बिगड़ जाती है। हम सही बातका विचार नहीं कर सकते। तो क्रोधमें जो कुछ निर्णय किया जाता है वह निर्णय सही नहीं बनता। अपनी ऐसी प्रकृति बनावे कि कैसा ही कारण उपस्थित हो, दूसरेको मर्मछेदी वचन न बोलें। और यह बात तब सिद्ध हो सकती है जब पहिले तो यह लक्ष्य बनावे कि हमें बहुत कम बोलना है। बोलना ही नहीं है। कोई काम पड़ जाये तो बोलें। ऐसी आदत बने तो उसमें यह प्रकृति बनेगी कि दूसरेका अपमान करने वाले मर्मछेदी वचन न बोलेंगे। एक कहावतमें कहते हैं कि जितनी चोट तीरसे भी नहीं लगती उतनी चोट बात से लगती है और फिर बातकी चोट पहुंचानेसे इसे कुछ सिद्धि भी नहीं मिलती। कितना ही कठिन समय हो, कैसी भी बात अपने पर गुजरे, पर मर्मभेदी वचन किसीको न बोलना चाहिए। जिसे आज अपना विरोधी समझा है उससे यदि वचन व्यवहार अच्छा रखा जाय तो सभी मित्रोंसे बढ़कर यह आपका मित्र बन सकता है। खोटे वचनोंसे सिद्धि क्या और उसे जो सुनेगा उसे बुरा कहेगा। यह बड़ा तुच्छ है, छोटे दिल वाला है, अधीर है, इस प्रकार लोग इसे तुच्छ समझेंगे, अतएव खोटे वचन न बोलने चाहिएँ। यह बात तब बनती है जब यह निर्णय बनाले कि हमे बोलना कम है। जब काम पड़े तब सोच विचार कर बोलें। ऐसा व्यक्ति प्रिय वचन बोलेगा जो कि दूसरोंके लिए हितकारी होंगे। हम सभी कर्मों के, शरीरके बन्धनमें पड़े हैं, इस संसारके संकटोंसे निकलना है इसके लिए शान्त वातावरण बनाना है। शान्त वातावरण बनानेका प्रधान साधन है हित मित प्रिय वचन बोलना। हित, मित, प्रिय वचन बोलने से खुदको भी और दूसरोंको भी शान्ति मिलेगी तो यह ५वां अनर्थदण्ड बतला रहे हैं दुश्रुति। खोटे वचन सुनना सुनाना यह सब दुश्रुति अनर्थदण्ड है। ऐसे समस्त अनर्थदण्ड केवल पापके बन्धके कारण हैं, ये आत्माके लाभकी बात नहीं करते, अतएव इनका त्याग कर देना अनर्थदण्ड विरति व्रत है। इस प्रकार श्रावकोंका यह तीसरा शीलव्रत है अनर्थ दण्ड विरति व्रत।

सर्वानर्थप्रथमं मथनं शौचस्य सद्म मायायाः।
दूरात्परिहरणीयं चौर्यासत्यास्पदं द्यूतम्॥१४६॥

अनर्थसिरताज जुवाके त्यागका उपदेश—श्रावकोंके आचारमें यह अनर्थदण्ड व्रत चल रहा है। जिन कामोंमें न तो अपनी आजीविका का प्रयोजन हो, न अपने उदरपोषणका प्रयोजन हो और न कोई धर्म की सिद्धि हो, ऐसे कामोंका करना अनर्थदण्ड है। जैसे पहिले बता चुके हैं कि पाप भरा उपदेश देना, हिंसाकी चीज दूसरेको देना, बिना काम ही बहुत चिंतन करना, कुत्ता बिल्ली पालना, फल फूल, पत्र तोड़ना—ये सब अनर्थदण्ड हैं। यहाँ बतलाते हैं कि सब अनर्थोंका राजा जुवा है। जुवामें बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। हारा है तो हार गया, जीता है तो जीत गया। समस्त अनर्थोंमें प्रथम समस्त व्यसनोंका प्रथम मुखिया जुवा है जो कि सन्तोषको नाश करने वाला है। जुवा खेलने वाले लोग कभी सन्तोष नहीं कर सकते। उनकी जिन्दगी बेकार है और जिसे जुवेका व्यसन लग गया वह कोई रोजगार भी नहीं कर सकता। उसे तो केवल जुवाका ही शौक है, उसकी ही धुन है, उसमें ही वह अपनी बरबादी करता है। भिखारी बनकर भीख मांगता है, उसे सन्तोष नहीं होता। दूसरे जुवा मायाचारका घर है। जुवा खेलने वाले बहुत अधिक मायाचार करते हैं। एक दूसरेसे छलका व्यवहार करना, एक दूसरेसे कपट रखना, अपने मनकी बात किसी दूसरेसे न बताना, सारे कपट जुवेमें चलते हैं। जुवा, चोरी और झूठका स्थान

है। जुवारी लोग सत्यवादी नहीं होते। किसी भी प्रकार हो धन चाहिए। जुवाके धोरे भी खड़ा होना पाप है, उसकी बात सुनना समझना ये सब अनर्थ हैं। तो समस्त अनर्थोंका मुखिया जुवा है। बड़े-बड़े राजा महाराजा भी यदि जुवेके चक्करमें आये तो उनको राज्य खो देना पड़ता है। एक पाण्डवोंकी ही कथा सुनी होगी। कौरवोंने एक जुवाका नाटक रचा जिससे पांडवोंका राज्य छीन लिया जाय। तो फिर क्या-क्या बातें घटीं सो सभी जानते हैं। यह जुवा बरबादीका ही कारण है। अगर जुवा खेलने वालेके पास सम्पदा भी रहे तो उसके चित्तमें सन्तोष नहीं रहता। इसलिए जुवा व्यसन सब अनर्थोंका राजा है। जुवा खेलने वाले चोरी डकैती भी करते हैं। जब पासमें पैसा नहीं है तो चोरी करेंगे। जुवा खेलने वाले झूठ बोलते हैं सच्चाईका वहाँ काम ही नहीं है। झूठ बोल बोलकर हैरानी उठाना यह उनका काम है। जब हारते हैं तो जीतनेकी तृष्णामें अथवा मोहमें चोरी करना पड़ता है, सो असत्य बोलते हैं। जब जीतते हैं तो वेश्यागमन करना, शिकार खेलना, ऐश आराम करना ये सब बातें बन जाती हैं। सब व्यसनोंका राजा जुवा है। जुवामें भावहिंसा बहुत है। हालांकि उसमें कोई कीड़ामकौड़ा नहीं मर रहे पर जुवा खेलने वालेके परिणाममें इतनी आकुलता रहती है कि उसे चैन नहीं है, वह निरन्तर अपने चैतन्यप्राणका घात करता रहता है। तात्पर्य यह है कि जुवा खेलनेमें पाप बंध अधिक होता है, वह भी बुरे भावका पाप है। भाव मरण कहो। अपने भावोंसे अपने ही स्वभावका मरण करता जा रहा है। जहाँ ज्ञान और आनन्दकी सुध नहीं रहती, जहाँ अपने आपमें चेतनेकी सुध नहीं है उसे तो बेहोश समझना चाहिए। जुवा खेलने वालेका उपयोग बाहरमें बहुत भटकता है। मिथ्यादृष्टि अज्ञानी पुरुष ही ऐसे व्यसनोंमें आसक्त होता है।

एवंविधमपरमपि ज्ञात्वा मुञ्चत्यनर्थदण्डं यः।
तस्यानिशमनवद्यं विजयमहिंसाव्रतं लभते ॥१४७॥

अन्य भी अनेक अनर्थदण्डोंके त्यागका उपदेश—इसी प्रकार और और भी कई अनर्थदण्ड होते हैं, उन्हें हर एक कोई जान भी जाता है कि यह अनर्थदण्ड है, इसमे हमारी कोई सिद्धि नहीं है और पापका काम है, ऐसे समस्त अनर्थदण्डोंका परित्याग करना चाहिए। जो मनुष्य इन अनर्थदण्डोंका परित्याग करता है वही निरन्तर अहिंसाव्रतका पालन करता है। हिंसा होती है अपने सक्लेश परिणामसे या रौद्रपरिणामसे। अपने आपके स्वरूपका घात करें उसमें हिंसा होती है। आत्मा तो आनन्दमय है, इसे कोई क्लेश ही नहीं। स्वरूप देखें, स्वभावदृष्टिमें लेवें तो इसमें किसी भी प्रकारका कष्ट नहीं है। यह स्वरूप अनादिसे ओतप्रोत है लेकिन मोहवश परमें दृष्टि लगाकर हमने अपने आनन्दका घात किया है, तो क्या किया? हमने अपनी हिंसा की, अपना बिगाड़ किया, मोह रागद्वेष परिणामसे आत्माके चैतन्यप्राणका घात होता है। अपने आपमें बसे हुए परमात्मस्वरूपकी हिंसा होती है, यह द्रव्यहिंसा, इसी भावहिंसाके कारण हिंसा कहलाती है। वास्तवमें अपने ज्ञान दर्शन प्राणका घात करना सो हिंसा है, लेकिन मोह करके बड़े राजी होते हैं, उन्हें यह पता नहीं है कि इस तरह राजी होनेमें हम अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा कर रहे हैं। मोहमें होता क्या? कर्मबंध, बाह्यदृष्टि। जन्म मरण करनेमें लाभ क्या मिला? जन्म मरण की परम्परा मिलती है मोह करनेसे। जो देह पाया है इस देहमें यह मैं हूं, ऐसा अभिमान बनाना मोह है। और फिर इस मोहके कारण शरीरका लोभ करना पड़ता है। शरीरका आराम बनाना पड़ता है, इन्द्रियकी साधना बनानी पड़ती है, फिर तो बाहरमें बहुत कुछ डोलता रहता है। मोह करनेसे अपने परमात्मस्वरूपकी हिंसा है। यह मौज माननेकी बात नहीं है, घरमें रह रहे हैं, घरके अच्छे लोग हैं, खूब बढ़िया साधन हैं तो इस में मौज मत मानो। इससे आत्माका लाभ नहीं है। इसीसे तो जगतको धोखा कहते हैं। लग तो रहा है अच्छा और हो रही है बरबादी। जसे मोह करनेमें लग तो रहा है अच्छा, उस समय दिल रागी हो रहा

है मगर अपने आपके आत्माकी कितनी बरबादी हो रही है ? इसका पता नहीं रखते। यह भी धोखा है। मोह रागद्वेष परिणाम ही हमारा बैरी है दूसरा कोई हमारा बैरी नहीं। खूब समझ लो, कोई दूसरा मेरा अनर्थ नहीं करता। कैसे करेगा ? दूसरा तो दूसरा ही है, दूसरेका परिणमन दूसरेमें है, वे जैसी कषाय करें, जो इच्छा करें, जो भी परिणाम करें सो वे अपना परिणाम कर रहे हैं, मेरा कुछ नहीं कर रहे, मैं अपने आपके मोह परिणामसे बरबाद हो रहा हू क्योंकि उस परिणाममें मुझे अपना पता नहीं रहता। बाह्यकी ओर हमारा आकर्षण रहता है, यह ही अज्ञानभाव है। इस भावमें कर्मोंका बध है और हम भी स्वय विभावमें जकड़ जाते हैं उसके कारण जन्म मरण शरीरकी परम्परा मिलना और शरीरकी वेदना भूख प्यास नाना प्रकारके कष्ट होना—ये सब हमें मोहके कारण प्राप्त होते हैं। तो हमारा बैरी मोह भाव है।

धर्मपालनकी पात्रताके भाव—धर्मपालन करना है तो सबसे पहिले यह दृष्टि डाले कि हे नाथ ! मेरा यह मोह परिणाम दूर हो और मैं कुछ नहीं चाहता। मोह भाव दूर हो गया तो सब शान्ति मिल चुकी, फिर कोई कष्ट नहीं है, कष्ट तो मोहका है और व्यर्थका मोह। कोई जीव कहींसे आया, कुछ दिन के लिए संयोग मिला, अन्तमें वियोग होना ही पड़ता है, सबसे बिछुड़ना पड़ता है। जो अपने घरसे गुजर गए हैं उनसे ही शिक्षा ले लो, उन्होंने भी बहुत-बहुत मोह किया, घर बसाया, व्यवस्थाएँ बनाया, अब उनका क्या रहा ? जिन-जिनसे भी उन्होंने ममता की थी स्त्री, पुत्रादिक से, उनमें से कोई रह गया क्या ? जितने दिन उनमें ममता की उतने दिन अपनी बरबादी कर ली और चल बसे। संसारका यही खेल चल रहा है, मोह करना और अपनी बरबादी करना। मर जाना, आगे फिर कष्ट पाना, मोह करना बरबादी करना, यही दो काम हैं इस संसारी जीवके। ये बड़े बड़े राजमहल, बड़े बड़े ठाठबाट जो दिखनेमें आ रहे हैं उनसे यह ही तो शिक्षा मिलती है कि ये लोग कैसे मस्त हो रहे पुण्यके ठाटसे, किस किसमें उन्होंने अपनी बढवारी समझी, कैसे कैसे ठिकाने बना गए, क्या किया ? मोह किया अपनी बरबादी की, चल बसे। तो मोह रागद्वेषके समान अपना कोई बैरी नहीं है, यह अपनेमें निश्चय रखो। जब कभी भी दुःखी हों तो यह निर्णय रखें कि मुझमें मोह और राग बसा है इसलिए दुःखी हैं। भाईने यों किया इस कारण दु खी हैं यह बात गलत है। घरके किसीने यों व्यवहार किया इससे मुझे दुःख हुआ यह बात गलत है। कोई दूसरा आदमी चाहे कुटुम्बका हो, चाहे बाहरका हो हमको दु.खी नहीं कर सकता। हमारे में मोह बसा है, राग बसा है, अपनाते हैं इसलिए दु'खी होते हैं। दु खका कारण हमारा मोहरागद्वेष परिणाम है अन्य कोई नहीं। इस दुःखके मिटानेका उपाय है—निजको निज परको पर जानना। बस जानलें कि देहसे भी निराला केवल ज्ञानानन्दमात्र जो चैतन्यप्रकाश है वह मैं आत्मा हू। वह तो मैं हू और उस भावको छोड़कर अन्य जो कुछ भी तत्त्व हैं, शरीर है, रागादिक भाव हैं, कर्म हैं, विभाव हैं वे सब परतत्त्व हैं। अपने आपके स्वरूपको जानकर उसमें ही 'यह मैं हूं' इस प्रकारकी अपनी प्रतीति बने तो दु ख दूर हो जायेगा। जब भी संसारके संकट दूर होंगे तो इस ही उपायसे हो सकेंगे। अब इस कामको चाहे अभी करलें चाहे अन्य किसी भवमें, पर जितना जल्दी हो सके यही उपाय बना लें अन्यथा जो यहां के समागमकी सुविधा से चूके तो पता नहीं कि कितने समय बाद अवसर मिल सकेगा ? यह बहुत बड़ा ससार है जिसे हम आप एक मूली गाजरकी तरह खतम कर रहे हैं। अपने आप की सुध नहीं ले रहे हैं। अरे भाई अपनी प्रतीति रखें और परिस्थितिवश कुछ कार्य करना पड़े तो विवेक सहित तो करें। जिसमें अपनी इन्द्रियके विषयोंमें आसक्ति न बने, अपनेमें विषय कषाय न जगें, अपने कारण दूसरोंको कष्ट न पहुचे ऐसी प्रवृत्ति बनावें और अन्य सब अनर्थके काम हैं जिनसे अपनी कोई सिद्धि नहीं है। उन कामोंका परित्याग कर दें। तो यह गुणव्रतमें भी तीसरा गुणव्रत अनर्थदण्डविरति व्रत

चल रहा है। अनर्थदण्डविरति व्रतका पालन करनेसे ही बुद्धि ठिकाने रह सकेगी। जो जुवा खेलना, खोटा बोलना और व्यर्थके प्रमादके काम करना ऐसी बातोंमें अपना उपयोग लगाते हैं वे आत्माकी ओर टिक नहीं पाते। जो पुरुष इन सब प्रकारके अनर्थोंका त्याग करता है वह पुरुष अहिंसाव्रतका पालन करता है अर्थात् अपने आपके स्वरूपकी रक्षा करता है।

रागद्वेषत्यागान्निखिलद्रव्येषु साम्यमवलम्ब्य।
तत्त्वोपलब्धिमूलं बहुशः सामायिकं कार्यम् ॥१४८॥

सामायिक शिक्षाव्रत नामक चतुर्थशीलका वर्णन—अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए ७ शील बताये गए थे तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत। उनमें ३ गुणव्रतका तो वर्णन हो चुका, अब शिक्षाव्रतका वर्णन कर रहे हैं, जिन व्रतोंके पालनेसे मुनिधर्मकी शिक्षा मिले उसे शिक्षाव्रत कहते हैं। प्रथम शिक्षाव्रतका नाम है सामायिक, दूसरा शिक्षाव्रत है प्रोषधोपवास, तीसरा शिक्षाव्रत है भोगोपभोग परिमाण और चौथा शिक्षाव्रत है अतिथिसम्विभागव्रत। तो चार व्रतोंसे मुनिधर्मकी शिक्षा मिलती है। सामायिकका अर्थ है समतापरिणाम बनाना। गृहस्थ अपनी कुछ सामायिककी क्रियासे कुछ समाधिके पाठ स्तवनसे सामायिकमें किए जाने वाले चिंतनसे समताभाव ग्रहण करनेका उद्योग करता है और समता मुनिधर्म है। मुनि और किसका नाम है? जिस आत्मामें रागद्वेष न हो, पक्षपात न हो, केवल एक अपने आत्मतत्त्व की धुन बनाये हुए जो समस्त आरम्भ परिग्रहोंसे निवृत्त हो गया हो उसे मुनि कहते हैं। मुनि समताके पुञ्ज होते हैं, उनके शत्रु तथा मित्र दोनोंमें समताका भाव रहता है।

मुनिराजकी परमसामायिकका एक दृष्टान्त—जब श्रेणिक राजाने ईर्ष्या करके एक जंगलमें जाकर मुनिके गलेमें मरा हुआ सांप डाल दिया, सांप डालकर आये तो श्रेणिकने रानीको चिढ़ाना शुरू किया, और फिर बताया कि हम तुम्हारे साधुके गलेमें सांप डालकर आये हैं। रानी चेलना बोली कि तुमने जो कुछ किया वह अपनी बुद्धिके अनुसार ठीक किया लेकिन यदि वह हमारे साधु हैं तो उस स्थानसे डिगे न होंगे, वे उसी मुद्रामें वहीं विराजमान होंगे। राजा श्रेणिक बोला—अरी बावली दो तीन दिन हो गये, वे तो कहांके कहीं चले गए होंगे, सांपको हाथसे पकड़कर फेंक दिया होगा। तो चेलना बोली—नहीं ऐसा नहीं हो सकता, चलो उनके दर्शन करने चलें। जब उस जंगलमें दोनों गए तो देखा कि वे मुनिराज उसी मुद्रामें बैठे थे, दो तीन दिन हो गए थे, सांप गल गया था, चींटियां चढ़ गई थीं। उस दृश्यको देखकर श्रेणिक राजाको बड़ा पश्चाताप हुआ, सोचा, अहो! मैंने ऐसे ज्ञानी योगी पर उपसर्ग किया। श्रेणिक सांपको हटाने लगा तो चेलनाने रोक दिया, कहा रुको, इस तरह सांपको नहीं हटाया जा सकता। ऐसा करनेमें इन चींटियों को बाधा होगी। सो थोड़ी-सी शक्कर नीचे डाल दी, सारी चींटियां उतर आयीं तब बड़ी सुकुमाल वृत्तिसे उस सर्पको गलेसे निकाला। उपसर्ग दूर हुआ। उपसर्ग दूर होने पर ज्यों ही साधुकी आंख खुली और देखा तो ये शब्द निकले उन मुनिराजके मुखसे—उभयो धर्मवृद्धिरस्तु। दोनोंको धर्मवृद्धि हो। ये शब्द सुनकर श्रेणिकके चित्तमें और अधिक परिवर्तन हुआ। धन्य हैं ये मुनिराज। मैं तो उपसर्ग करने वाला पापी और यह रानी चेलना शुद्ध सम्यग्दृष्टि, धर्मात्मा, दोनोंको देखकर भी मुनिके चित्तमें यह बात न आयी कि यह तो धर्मात्मा है, मित्र है, उपसर्ग हटाने वाली है और यह उपसर्ग करने वाला है, शत्रु और मित्रका परिणाम इन महाराजके नहीं है। तब और अधिक पछतावा हुआ, ओह! मैंने कितना अनर्थ किया, अपनेको उसने बहुत धिक्कारा और यह निर्णय किया कि अपनी ही तलवारसे मैं अपना शिर उड़ा दूं। अब जीनेका क्या काम है? तब मुनिराजने कहा कि हे श्रेणिक! तुम क्यों आत्मघातका विचार कर रहे हो? श्रेणिकने सोचा—ओह! यह तो हमारे मनकी भी बात जान गए। इतना विशिष्ट ज्ञान है। और अधिक प्रभाव पड़ा, उस समय जो पछतावा किया तो समझिये कि उपसर्ग

किया, उससे तो ७वें नरकका बंध हुआ था और अब जो निर्मल परिणाम हुआ पछतावा हुआ तो उसमें इतना विशुद्ध परिणाम हुआ कि पहिले नरककी ही स्थिति रह गई। अब आप समझें कि शायद ८०-८४ हजार वर्षकी स्थिति रह गयी। ७वें नरककी ३३ सागरकी आयुके सामने ये हजार लाख वर्ष क्या गिनती रखते हैं? कितना बड़ा सागर होता है, उसको उपमामें आचार्यने बताया है। गणना तो हो ही नहीं सकती थी। कल्पना करो कि दो हजार कोशका लम्बा, चौड़ा, गहरा कोई गड्ढा हो और उसमें कोमल बालोंके छोटे छोटे टुकड़े, जिनका दूसरा टुकड़ा न हो सके, उन्हें खूब दबाकर भर दिया जाय और उस पर हाथी चलवा दिया जाय ऐसा ठोस भरा जाय, फिर प्रत्येक १०० वर्ष बाद एक बाल निकाला जाय, यों जितने वर्षोंमें वे सब बालके टुकड़े निकल आयें उतने समयका नाम है व्यवहारपल्य। व्यवहार पल्यसे असंख्यातगुणे कालके होते हैं उद्धारपल्य और उससे असंख्यात गुणे कालके होते हैं, अद्धापल्य। एक करोड़ अद्धापल्यमें एक करोड़ अद्धापल्यका गुणा करके जो आवे उसका नाम है एक कोड़ाकोड़ी अद्धापल्य ऐसे ऐसे १० कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यका एक सागर होता है, ऐसे ऐसी ३३ सागरकी आयु बँधी थी श्रेणिक राजाकी, लेकिन गुरुभक्तिके प्रसादसे, गुरुके गुणोंमें तीव्र अनुराग होनेके प्रसादसे सारी स्थिति कम हो गई, केवल कुछ ही हजार वर्षकी स्थिति रह गई, आप सोचिये कि मुनि समताके पुञ्ज होते हैं।

सामायिकव्रतकी शिक्षाव्रतरूपता—सामायिक व्रतमें समताकी शिक्षा मिलती है इसलिए सामायिक व्रतका नाम शिक्षाव्रतमें रखा गया है। रागद्वेषका त्याग होनेसे समस्त इष्ट और अनिष्ट समताभावोंको अंगीकार करके सामायिक करना चाहिए। यह सामायिक आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका मूल कारण है। सामायिकके प्रयत्नसे यह गृहस्थ आत्मतत्त्वका अनुभव कर सकता है। सामायिकमें प्रथम तो चारों दिशावोंके पूज्य पुरुषोंको नमस्कार किया गया, फिर बैठकर परमेष्ठीका स्मरण करना, बारह भावनाओंका चिंतन करना और कुछ समय ऐसा भी बिताना कि सर्वचिन्तन रोककर परमविश्रामसे रहना। ऐसी सामायिक की क्रियामें आत्मतत्त्वके अनुभवका अवसर मिलता है। समता परिणाम जागृत होता है, ऐसा सामायिक नामक शिक्षाव्रत गृहस्थको अहिंसाव्रतकी रक्षाके लिए नियमसे पालन करना चाहिए।

रजनीदिनयोरन्ते तदवश्यं भावनीयमविचलितम्।
इतरत्र पुनः समये न कृतं दोषाय तद्गुणाय कृतम् ॥१४६॥

सामायिककी बहूपयोगिता—रातके और दिनके अन्तमें एकाग्रतापूर्वक सामायिक अवश्य करना चाहिए। फिर यदि अन्य समयमें भी किया जाय तो वह भी गुणके लिए है। गृहस्थोंको सामायिक कमसे कम दो बार तो अवश्य करना चाहिए। वैसे तो सामायिक सदा की जाय, प्रभुका नाम जपना, अपने आत्माका चिन्तन करना, तत्त्वका चिन्तन करना यह तो जब चाहे कितनी ही बार करे, वह लाभके लिए है। पर अधिक न बन सके तो कमसे कम दो समय सुबह और शाम अवश्य सामायिक करना चाहिए। सामायिकके लिए एक तो योग्य क्षेत्र देखे, जगह प्रासुक, पवित्र, जहुरहित हो, स्थान एकान्तका हो। जहाँ अन्य अज्ञानी जनोंका संचार न हो, दूसरे योग्य काल होना चाहिए। सामायिकका समय सूर्यास्तके बाद और सूर्योदयके पहिलेका है, उस समयका ध्यान बहुत उत्तम होता है। गृहस्थजन ऐसा विचारते हैं कि जब नहायेंगे, मंदिर जायेंगे तब जाप देंगे, मगर तबका काम वह नहीं है। ध्यानका समय तो प्रातःकाल है। पहिले सुबह उठकर दूसरा कोई काम ही नहीं है। घरका यदि विशेष कार्य हो तो उसको करके पहिले नहाना, सामायिक करना, मंदिर पूजन करना यह सबसे पहिला काम है और यात्राका यही लाभ है, उससे यह सीखें कि यात्रा को लोग ५ सालमें महीना भरको निकले, फिर न खबर लें सामायककी, स्वाध्यायकी, धर्मनियमकी तो वह तो उत्तम बात नहीं है। घर पर बारहों महीने सुबह शाम धर्मध्यानका विचार जरूर रखना चाहिए और फिर मान लो कई काम घरके अन्दर हैं तो उसका हिसाब लगा लेना चाहिए कि

कि इतना समय तो हम धर्मध्यानमें लगायेंगे, इतना समय घरके कामोंमें लगायेंगे, पर सामायिकका जो समय है वह उसी समयमें होना चाहिए। योग्य आसन होना चाहिए। बैठे तो पद्मासनसे बैठें, कायोत्सर्ग से बैठें, क्योंकि सामायिकमें मन, वचन, काय--इन तीनोंको स्थिर करना पड़ता है। तो सबसे पहिले कायाकी स्थिरताकी बात कही है। काया स्थिर करें, फिर इसके बाद वचन स्थिर करें मायने खराब बोलना बन्द करें, भीतरमें जो एक जल्प उत्पन्न होता है उसे बन्द करें और मनको स्थिर करें, मन यहाँ वहाँ न दौड़ायें, विकल्प न करें, अपना मन अपनेमें सावधान रहे, योग्य विनय करें, विनयसे बैठें, विनय से नमस्कार करें। जब प्रभुका ध्यान करें, परमेष्ठियोंका ध्यान करें तो उनके प्रति बहुत बड़ा भारी विनय भाव रखें। भक्ति पूजाकी शोभा तो विनयसे होती है। योग्य विनय होना चाहिए। मन, वचन, काय शुद्ध हो, मनकी शुद्धि है किसी भी चीजका बुरा न विचारना, सबका भला सोचना, सभी जीव सुखी हों, किसी जीवको मेरे द्वारा पीड़ा न हो और प्रयत्न भी यही करें कि जिसमें जीवका हित हो। वचन शुद्ध रखें, वचन बोलें तो ऐसे विनयपूर्वक बोलें, हित मित, प्रिय बोलें कि दूसरोंको सुखसाता हो और कल्याणका उन्हें मार्ग मिले। काया शुद्ध होनी चाहिए। कायाकी शुद्धि स्नानसे भी है और जितना बाह्य आडम्बरोंसे दूर रहें, निर्लेप रहें उतनी ही कायाकी शुद्धि है। विशेष सम्पर्क न रखें सो काया शुद्ध है, यह अनुकूल बात रखकर सामायिक करें। सामायिकमें अगर इतनी बातोंका ध्यान नहीं रखा जाता तो परिणाम निर्मल और निश्चल नहीं हो सकते।

सामायिकश्रिताना समस्तसावद्ययोगपरिहारात्।
भवति महाव्रतमेषामुदयेऽपि चारित्रमोहस्य ॥१५०॥

सामायिकस्थ पुरुषोंमें महाव्रतत्वका दिग्दर्शन—सामायिक दशाको प्राप्त हुए श्रावकके चारित्र मोहका उदय होने पर भी समस्त पाप योगके परिहारसे महाव्रत होता है, याने हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह--इन पाचों पापोंका सर्वदेश त्याग होना सो महाव्रत है। गृहस्थ जिस समय सामायिक कर रहा है उस समय उसकी दृष्टि आत्मस्वभावपर, परमात्मतत्त्वपर, कारणसमयसार पर जा रही है, कहीं ममता और अहंकार नहीं हो रहा, तो ऐसे जब अपने आपके समताके पुञ्ज ज्ञानस्वभावपर दृष्टि टिकती है तो उस समय पाप कैसे हों? जब राग द्वेष पर दृष्टि है, कारणसमयसार पर दृष्टि है तो उसके पाप नहीं होता। तो सामायिक करते समय वह गृहस्थ भी मुनियोंकी तरह है। अगर सामायिक विधिपूर्वक ढंगसे हो जाय तो वह भी उपचारसे महाव्रती है। यद्यपि उसके प्रत्याख्यानावरण चारित्रका उदय है जिसकी वजहसे महाव्रती नहीं हो सकता, सो महाव्रती यथार्थमें नहीं है क्योंकि अभी महाव्रतका आवरण करने वाली कषायें बनी हैं लेकिन जिस समय वह सामायिक कर रहा है और उसका उपयोग अपने आत्माके स्वभावमें पड़ा हुआ है तब तक समस्त पापोंका उसके परिहार हो गया, लेकिन अच्छा आसन माडकर योग्यकालमें सामायिकमें बैठा है, अपने आपके अतस्तत्त्वपर दृष्टि है उस समय वह महाव्रती है ऐसा आचार्यदेव कह रहे हैं। इसी सामायिकके बलसे निर्ग्रन्थ लिङ्गधारी ग्यारह अङ्गके पाठी भी हैं, यद्यपि वे अभव्य हैं फिर भी अहमिन्द्र पदतक सामायिकके बलसे प्राप्त करते हैं और जो भव्य हैं वे मुनिव्रत धारकर सच्चे मायनेमें अपने स्वभावकी आराधना करके मुक्त हो जाते हैं। मतलब यह है कि सामायिक करना बहुत जरूरी चीज है जिससे दृष्टि अपने स्वभावपर जाय और इस प्रकारकी भावना बने कि मैं सबसे निराला, घरसे, देहसे, सकल्पविकल्पसे न्यारा ज्ञानमात्र हू। इसही भावनासे आत्माका लाभ है।

सामायिकसंस्कारं प्रतिदिनमारोपितं स्थिरं कर्तुम्।
पक्षार्द्धयोर्द्वयोरपि कर्तव्योऽवश्यमुपवासः ॥१५१॥

प्रोषधोपवास शिक्षाव्रतनामक पञ्चम शीलका वर्णन—प्रतिदिन अंगीकार किए हुए सामायिकरूप व्रतका

स्थिर करनेके लिए अष्टमी और चतुर्दशीके दिन १४६ उपवास रखनेका अभ्यास भी करना चाहिए। यह श्रावकोंके बारह व्रतोंका वर्णन है। चार शिक्षाव्रतोंमें पहिला सामायिक व्रत शिक्षाव्रत है, उसका वर्णन किया। अब दूसरा प्रोषधोपवास व्रत है। इसमें अपने परिणामोंकी विशेष निर्मलता करने के लिए, सामायिकका संस्कार बढ़ानेके लिए उपवास करना चाहिए। उपवासका प्रयोजन बताया है समतापरिणाम बढ़ानेके लिए करना चाहिए। अन्दरमें रागद्वेषके परिणाम न जगें, उनके स्थिर करनेके लिए अष्टमी और चतुर्दशीका उपवास करना चाहिए। उपवास करनेकी सामर्थ्य नहीं है और चूँकि नियम लिए हुए हैं उपवासका, इसलिए उपवास करना पड़ता है, ऐसा किसीका भाव है तो समझो कि उसका उपवास उपवास नहीं है। उपवास किया जाता है कषायें दूर करनेके लिए व अपने स्वरूपमें लीन होनेके लिए। तो अष्टमी और चतुर्दशी ये अनादिनिधन पर्व हैं और बाकी पर्व जैसे रविव्रत, सुगंधदशमीव्रत वगैरह तो कभी किसी कारणसे बने हैं मगर अष्टमी और चतुर्दशीके पर्व अनादिनिधन हैं। ये कभी नहीं बनाये गए, अनादिकालसे चले आ रहे हैं। अष्टाह्निकापर्वके ८ दिनोंमें नन्दीश्वर द्वीप देवगण जाते हैं और पूजन वन्दन करते हैं, तो ये आठें चौदसकी परम्परा अनादिकालसे है, क्योंकि मोक्षमार्ग भी अनादिसे चल रहा है। श्रावकाचार, मुनियोंका आचार भी अनादिसे चल रहा है। वे पंचमहाव्रतोंका पालन करें, आठें चौदसका उपवास करें, सामायिकके संस्कारको स्थिर करें इसके लिए उपवास करना चाहिए।

मुक्तसमस्तारम्भः प्रोषधदिनपूर्ववासरस्यार्द्धे।
उपवासं गृह्णीयान्ममत्वमपहाय देहादौ ॥१५२॥

प्रोषधसमयमें आरम्भत्यागपूर्वक उपवास ग्रहण करनेका उपदेश—समस्त आरम्भोंसे मुक्त होकर शरीर आदिकमें आत्मबुद्धिको त्यागकर उपवासके दिनके एक दिन पहिले मध्यान्हमें उपवास अंगीकार करें। मतलब यह है कि सप्तमीको दोपहरमें आहार करनेके बाद उपवासका नियम लेना चाहिए और उपवासके समय समस्त आरम्भोंको छोड़ दें, अब जैसे घर गृहस्थीके काम रोज रोज करते हैं तो ८ दिनमें एक दिन घरके काम छोड़कर धर्मध्यानमें रहना चाहिए, इसलिए आठें चौदसमें उपवास बताया है और शरीरका ममत्व तजकर उपवास करना चाहिए। असली चीज तो शरीरमें ममत्व त्यागनेकी बात है। जहाँ शरीरमें ममता है वहाँ धर्म रच भी नहीं लगता क्योंकि ममतामें पक बड़ा अज्ञान बसा है। जब शरीरसे ममता तजे तब धर्म शुरू होता है। शरीरसे निराला ज्ञान मात्र मैं हूं ऐसी सुध लें तो धर्मपालन वहाँसे शुरू होता है। सो आरम्भ छोडकर देहमें ममताका त्याग करें फिर उपवासके पहिले दिन याने सप्तमी और त्रयोदशी के दिन मध्यान्हमें उपवासका नियम करना चाहिए। उपवासके मायने खाली आहारका त्याग नहीं है। विषय कषाय आरम्भ व्यापार आदिकमें सब प्रकारकी प्रवृत्तियोंका परित्याग होता है वह उपवास कहलाता है। उपवासका अर्थ है—उप मायने समीप और वास मायने बसना, केवल अपने आत्माके निकट बैठना इसका नाम है उपवास। कोई आहारका तो त्याग करदे और आत्मामें संक्लेश मच रहा है वह तो उपवास न कहलायेगा। वहाँ तो विषय कषाय और आहार तीनोंका त्याग हो तो वह उपवास कहलता है। हाँ, उस लघन करने से एक यह फायदा होता है कि स्वास्थ्य ठीक हो जाता है पर मोक्षमार्गकी बात उससे नहीं बनती।

श्रित्वा विविक्तवसतिं समस्तसावद्ययोगमपनीय।
सर्वेन्द्रियार्थविरत कायमनोवचनगुप्तिभिस्तिष्ठेत् ॥१५३॥

उपवासी पुरुषको विविक्तवसतिमें इन्द्रियार्थविरक्त होकर त्रिगुप्तिसाधनमें रहनेका उपदेश—फिर करे क्या उपवास करने वाले? निर्जन वसतिमें जायें। जहाँ एकान्त स्थान हो, नगरसे बाहर धर्मात्मा लोगोंके ठहरनेके लिए जो स्थान बना हो वहाँ जायें, घरमें न रहें। घरमें रहकर परिणाम उज्ज्वल नहीं बनते,

घरमें रहकर चिंताएँ अवश्य होती हैं। तो उस दिन अपना घर त्यागकर किसी निर्जन स्थानमें रहें। चौबीस घंटेकी बात है। जो चौबीस घंटेको घर त्याग दे तो उसका उपवास सच्चा है। जैसे दशलाक्षणीके दिनोंमें जब उपवास करते हैं तो उपवासके समय घरको छोड दें ऐसा बहुतसे लोग करते भी हैं। किसी मित्रके पास या धर्मशालामें या किसी दूसरे स्थानमें उसे शयन करना चाहिए। तो इन योगोंका परिहार करके, सब इन्द्रियके विषयोंसे विरक्त होकर अपने मन वचन कायको सयत करते, अर्थात मनसे किसी का संकल्प न करें, वचनसे कुछ न बोलें, और अपने शरीरको स्थिर करलें तो ऐसी स्थिति धर्मध्यानकी है। यही उत्तम उपवास करनेकी विधि है। घरमें रहकर तो उपवासकी विधि नहीं बनती। गृह आरम्भ त्यागकर उपवास करना यह भी काम है। सामायिक दो वार बताया है--सुवह और शाम। दिन भरकी भूलकी क्षमा शामकी सामायिकमे माग लो और रातभरकी भूलकी क्षमा सुबहकी सामायिकमें मांग लो। यों बारह बारह घंटे बाद अपने आत्माकी सुध बन.ये तो इसमें और दृढ़तासे सुध बनती है। इसके बाद श्रावकोंको पाक्षिक प्रतिक्रमण बताया है। १५ दिनके वाद एक दिन सारे १५ दिनके दोषों को विचार विचार करके फिर उनका परिहार करें, इस तरहसे फिर चार महीने वाद बताया। फिर चार महीनेके सारे अपराधोंको विचार कर उनका प्रायश्चित्त करना, फिर बारह महीने का एक वर्षमें इकट्ठा प्रायश्चित्त करना, फिर जिन्दगी भरमें जब अन्तमें मरण समय आये तो मरण समयपर फिर वह सारी जिन्दगी भरका प्रायश्चित्त करे तो कितनी बार उसने अपने अपराधोंको शुद्ध किया ? और अपराध दूर हुए तो आत्माकी उन्नति है और जब तक जीवमें अपराध लगे हैं तब तक ससारमें भटकना है। तो ऐसा पुरुषार्थ करें कि कर्म दूर हो सकें।

आत्मोद्धारार्थ भावना—मेरा आत्मा सबसे निराला चिदानन्दमात्र अकेला है, ऐसा ही विश्वास बनाये, ऐसा ही ज्ञान बनाएँ और ऐसे ही अपने आपमें स्थिर होनेका प्रयत्न करें तो यह हुआ उसका सम्यक्चारित्र। तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता होती है तो जीवको मुक्ति प्राप्त होती है। जब इसके विपरीत चलता रहे, देहको मानता रहे कि मैं आत्मा हू, परिजनोंसे ही ममता करने में अपना हित समझ रहा है, उनमें ही रम रहा है, विषय कषायोंमें अपना उपयोग बसाये रहता है तो समझिये कि वह संसारमें जन्म मरण करता रहेगा। तो जिसे अपना उद्धार करना हो उसे चाहिए कि हिम्मत करके अपने आत्मामें अपने उपयोगको लगाये, ममताका परित्याग करे, सर्व कुछ इस ससारमें विनश्वर, अहितकर एवं असार दीखे। इस ससारमें सारकी चीज कोई नहीं है। देखो बाहुबलि स्वामीने सबको जीत लिया था, चक्रवर्ती तकको जीत लिया था, फिर भी इस लक्ष्मीको असार जानकर उसका परित्याग किया था। जब बडे बडे तीर्थंकरोंने इस विभूतिको त्यागकर, अपने आत्मामें रमकर अपना कल्याण किया तो हम और आपका क्या यह कर्तव्य है कि घरमें ही घुसे रहें, घरमें ही रहकर मरण करें ? अरे घरका मरण तो अच्छा नहीं। नाती, पोते सभी पासमें आ जाते हैं तो उस मरने वालेका चित्त उनकी ओर लग जाता है, उसके परिणाम खराब हो जाते हैं। मरण समय परिणाम खराब होनेसे सारी जिन्दगीकी की हुई सभी धार्मिक वृत्तिया व्यर्थ हो जाती हैं। अगर मरण समयमें परिणाम सुधरे तो भव भवके लिए सुधार हो जाता है और यदि मरण समयमे परिणाम बिगडे तो ससारमें आवागमन का कष्ट भोगना पड़ता है।

समताकी उपलब्धिके लिये प्रोषधोपवास करनेका अनुरोध--श्रावकाचारमें यह प्रकरण चल रहा है कि भाई सुबह शाम सामायिक करना चाहिए। समय गुजरता जा रहा है, जो समय गुजर गया वह पुन वापिस नहीं आता सो शाम सुबह निश्चित समयपर सामायिक तो करना ही चाहिए और सामायिककी वृद्धिके लिये, रागद्वेषादिक न आने पायें, इसके लिए उपवास करना चाहिए, उपवास करके अपने परिणामों

की शुद्धि करनी चाहिए। ढूँढ़ ढूँढ़कर रागद्वेषादिकको हटायें, अपने दिलमें किसी प्रकारका क्लेश न रहे ऐसा अपना प्रयत्न करें तो उस प्रयत्नसे अपने परिणामोंकी निर्मलता जगती है, तो अपने परिणाम निर्मल बनानेके लिए उपवास करना बताया है और उपवास भी एकान्तस्थानमें जाकर, गुरुवोंके निकट जाकर तत्त्वचर्चामें समय लगाकर उपवास करना चाहिए। जिससे अपना परिणाम निर्मल हो, आत्मानुभव जगे, ऐसे आत्मानुभवकी साधनाके लिए श्रावकाचारमें इस सामायिकका वर्णन किया और सामायिकके बाद प्रोषधोपवासका वर्णन करते हैं। प्रोषधोपवासमें त्रयोदशीको नियम लेकर चतुर्दशीमें उपवास किया और सप्तमीको नियम लेकर अष्टमी को उपवास किया। यह शिक्षा व्रत है। इस शिक्षा व्रतमें मुनियोंकी शिक्षा दी जाती है। मुनि क्या करते हैं? वे रोज रोज उपवास करते हैं, उनका चौबीस घंटेका उपवास हो जाता है। तो २४ घंटेका उपवास यह गृहस्थ सीख रहा है। आठ दिनमें एक बार सप्तमी और त्रयोदशीको नियम लेकर २४ घंटेका उपवास करके सीख रहा है। यदि शक्ति न हो तो अष्टमी चतुर्दशीको जल ले ले और भी कम शक्ति हो तो दो एक रसके साथ भोजन लेता है। त्रयोदशी, चतुर्दशी और पूनोको इसी तरहका उपवास करले तो ये तीन दिन उपवासके हो गए। इससे मुनियोंकी शिक्षा मिलती है, इसलिए इसे मुनिव्रत तुल्य कहा है।

धर्मध्यानासक्तो वासरमतिवाह्य विहितसान्ध्यविधिम्।
शुचिसंस्तरे त्रियामां गमयेत्स्वाध्यायजितनिद्रः ॥१५४॥

समताकी वृद्धिके लिये प्रोषधोपवासका विधान—श्रावकके बारह व्रतोंमें चार शिक्षाव्रत हैं—सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण और अतिथि संविभाग। शिक्षा व्रत उसे कहते हैं जिससे मुनि व्रतकी शिक्षा मिले। तो हमें इसका स्वरूप इस पद्धतिसे जानना चाहिए कि इस व्रतसे हमें मुनिधर्मकी शिक्षा मिलती है। सामायिकमें तो स्पष्ट है समताका परिणाम। मुनि समताके पुञ्ज होते हैं। तो हम अहर्निश समता नहीं धारण कर सकते हैं इसलिए तीन समय हमारे लिए सामायिकके बताये गए हैं और यह सामायिक ६—६ घंटे बाद बताया है। जैसे कि प्रायः सुबहके कालमें ६ बजे, दोपहरको १२ बजे और शामको फिर ६ बजे। मुनियोंके तो निरन्तर सामायिक रहती है पर गृहस्थोंको ६-६ घंटे बाद तीन बार सामायिक बतलायी है। सामायिकमें मुनिशिक्षा तो है ही, पर प्रोषधोपवासमें मुनि शिक्षा रखना हो तो प्रोषधोपवास इस विधिसे करें कि सप्तमीको प्रथम वेलामें आहार लेकर फिर नवमीको सिर्फ एक बार आहार लें। इस पद्धतिमें ३ दिन मुनि जैसी आहार वेला हो गई। जैसे लोग कहने लगते कि सप्तमीकी शामको खाये, अष्टमीको न खाये तो यह उपवास हो जायेगा, पर शिक्षाव्रत न होगा। उसका कारण यह है कि मुनिजन प्रतिदिन एक बार ही आहार लेते हैं। एक बार आहार लेवें, शामको पानी न लें इस तरह लें तो शिक्षाव्रत है। सप्तमीको दोपहरके भोजनके बाद त्याग कर दे, अष्टमीको चाहे भोजन ले ले पर शामको न ले, नौमी की शामको न लें तो भी शिक्षाव्रत है मगर ७वीं ६वीं के शामको अन्न ले लें तो उपवास रहेगा। तो प्रोषधोपवासमें लक्ष्य यह बताया है कि जो सामायिक व्रत अङ्गीकार किया है वह समताका संस्कार बढ़ानेके लिए है और उसे घरमें उस समय न रहना चाहिए। जबसे उसने आहारका त्याग किया तबसे उसने घर छोड़ा। मन्दिरमें अथवा कहीं भी एकान्तमें रहें तो जो आश्रयभूत साधन हैं रागद्वेषके वे उसने हटाये, एक तो यह कारण हुआ जिससे उसे समताकी स्थिति मिल गई। दूसरे आरम्भ और व्यापारका भी त्याग किया तो उससे भी उसे समतामें सहायता मिली और फिर कुछ अनशनोंमें अन्नोंमें ऐसा प्रभाव है कि ज्ञानदृष्टि हो किसीके तो उसे समतामें सहायता मिलती है। खाली शरीरको आहार न देना इतने पर ही दृष्टि हो तो वह समता नहीं कर सकता, उसमें तो नाना विकल्प उत्पन्न हो जायेंगे।

दृष्टिका शरण्यभूत विषय—मनुष्यका लक्ष्य होना चाहिए उस स्वभावका जो स्वभाव सम्यग्दर्शन

से भरा है। आत्मामें जो एक स्वभाव है, प्रत्येक पदार्थमें एक स्वभाव होता है। तो आत्मामें जो एक स्वभाव है उसे हम चैतन्यस्वभावसे जानें। चैतन्यस्वभाव स्वयं समता रससे भरपूर है, उस स्वरूप सत्में विकार नहीं हैं। चैतन्यमें विकार उत्पन्न होते हैं तो परप्रकृतिका निमित्त पाकर अपनी ही योग्यतासे, अपनी कमजोरीसे होते हैं। विकार निमित्त चीज है, अगर निमित्त चीज न हो तो सदाकाल विकार आत्मामें रहना चाहिए। निमित्त है तभी तो उस विकारका विनाश होता है। अब इस प्रसंगमें विशेष बात जाननेकी है कि लोग हर बातमें निमित्तनैमित्तिक कह देते हैं, पर ये दो बातें हैं निमित्त और आश्रय। निमित्त केवल कर्मकी स्थिति है, अन्य पदार्थ निमित्त नहीं कहलाते। हमारे रागद्वेषादिक भावके होनेमें ये पदार्थ निमित्त नहीं कहलाते, ये आश्रयभूत हैं और निमित्त है तो केवल कर्मकी परिस्थिति। कर्म दो प्रकारके हैं—द्रव्यकर्म और भावकर्म। भावकर्म तो स्वयं विकार हैं। वे भावकर्म कैसे उत्पन्न होते हैं? तो निमित्तभूत कर्मका उदय पानेपर आत्मामें चूँकि ऐसी योग्यता है तो यह विभावपरिणमनको परिणमाने वाले पदार्थकी ऐसी कला है कि निमित्त पाकरके विभावरूप परिणम जाय। जैसे हम आप लोग यहाँ बैठे हैं तो आश्रय तो यह पृथ्वी है मगर इस पृथ्वीकी कला नहीं है जो हम यहाँ बैठे हैं। वह केवल निमित्तमात्र है। यह हम आपकी कला है जो अपनी शक्तिसे इस रूप बैठ गए हैं। तो यह परिणमने वालेकी कला है कि निमित्तका सन्निधान पाकर विभावरूप परिणम जाता है। आश्रयने अथवा निमित्तने परद्रव्योंमें कुछ किया नहीं, क्योंकि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव सबका अपना-अपना अलग-अलग है। आत्माका चतुष्टय आत्मामें है, पुद्गलका चतुष्टय पुद्गलमें है। सो आत्मामें शाश्वत परमार्थ तत्त्व की दृष्टि करना चाहिये।

ज्ञानीकी अन्तस्तत्त्वस्पर्शोन्मुखी उद्भावना—ज्ञानी पुरुष यद्यपि सब जान गया है—ज्ञानका काम है जान लेना। निमित्तका क्या योग है? उपादानका क्या योग है, यह सब समझ गया। सब कुछ समझ कर भी जो रागद्वेष होते हैं हम आपके ये कुछ काल तक श्रेणीमें भी चलते हैं तो इस प्रसंगमें कुछ ऐसी भी अपने को दृष्टि लगानी चाहिए थोड़ासा भाव बनावर कि जिस क्षण पदार्थमें उनका कुछ ज्ञान नहीं है लेकिन निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध बराबर है। जैसे अग्निका निमित्त पाकर जल गर्म हो गया तो न अग्निको खबर है, न जलको। दोनों ही एकेन्द्रिय हैं यह बात अलग है मगर ऐसा ज्ञान जल नहीं कर रहा कि मैं अग्निके पास हूँ, मुझे गर्म हो जाना चाहिए और न अग्निको यह ज्ञान है कि जल मेरे निकट आ गया है, मुझे इसको गरम करना चाहिए। तो जैसे जड़ पदार्थमें परस्परका निमित्तनैमित्तिक भाव होता रहता है इसी प्रकार आत्मामें ज्ञानगुणका तो विकार होता नहीं है। विकार होता है तो जो चेतन गुण नहीं हैं उनमें होता है। एक दृष्टि है, तो आत्मामें जो विकार हुआ है, चारित्र गुणमें विकार हुआ है, श्रद्धागुणमें विकार हुआ है, दोनों गुणोंमें विकार होता है। जो अज्ञानी जीव है उसके श्रद्धागुणमें भी विकार है और जो ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष है उसकी श्रद्धामें विकार नहीं है पर चारित्रगुणमें विकार चलता रहता है। अब सोचिये जैसे जड़ पदार्थोंमें परस्परमें निमित्तनैमित्तिक भाव है, क्योंकि वह अपने में चेतनेका काम नहीं रखता है, इसी प्रकारसे रागद्वेष जिस शक्तिसे उठा है वह शक्ति चेतनेका काम नहीं करती। उसे समझ लीजिए भावदृष्टिमें कि वह गुण जड़ है। जैसे अकलंक देवने कहा है कि आत्मा चैतन्य चेतनात्मक है, प्रमेयत्वकी दृष्टिसे अचेतन है और ज्ञानकी दृष्टिसे चेतन है तो एक ही आत्मामें भेदविवक्षा करके चेतन और अचेतन गुणको देखने लगिये तो रागद्वेष जिस शक्तिसे उठते हैं वे अचेतन हैं, चेतनेका काम नहीं करते। तो जो चेतनेका काम नहीं करते ऐसे गुण और प्रकृतिका उदय इन दोनोंका ऐसा निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध चल रहा है, उसमें ज्ञान क्या करना, ज्ञान तो जान रहा है और जानते हुए भी उस समय ऐसा ही निमित्तनैमित्तिक योग है कि रागद्वेषरूप भी परिणम रहा है, उसे वश

वर मानते रहे और वस्तुकी स्वतन्त्रता भी पूरी तौरसे दिखती रहे—ये दोनो बातें नजर आ सकें तो समझो कि हमने वस्तुस्वरूपके बारेमें जानकारी की।

समता संस्कारवृद्धिके लिये व्रतोंका योग—इस प्रकरणमें समताका संस्कार बनानेके लिए ये व्रत बताये जा रहे हैं इसी प्रकार मुनियोंका भी व्रत समताका संस्कार बनानेके लिए है। कभी कोई पुरुष बाहरसे द्रव्यलिङ्ग धारण करले तो मुनिभेष धारण करने मात्रसे कर्म कहीं डरते नहीं कि इसने मुनि भेष लिया है, हमें बँधना न चाहिए। चूँकि उसके अन्तरङ्गमें विभावपरिणाम हैं सो कर्मबंध होगा ही। कषायें न होना यह योग्यतापर निर्भर है, भेष पर नहीं। यह बात बिल्कुल सत्य है कि मुनि भेष लेकर भी अगर अनन्तानुबंधी कषायें उठ रही हैं तो वह मुनि पदके विरुद्ध बात नहीं है। धर्मपालनके लिए जिसने अपनी कमर कसी है और वास्तवमें वह अध्यात्मप्रेमी हुआ है तो उसे इस देहमें ममता है ही नहीं, फिर भी आहार आदिक आवश्यक हैं, तो उसके पुण्यका इतना उदय है कि उसे आहारका योग मिल ही जायेगा पर अध्यात्मप्रेमी साधु अपने आपमें कुछ चिन्ताएँ रखे इस सम्बन्धमें तो उस चिन्तासे तो उसका पुण्य रस घटा। अध्यात्मप्रेमी कहाँ रहा ? यदि कोई बड़ी दृढ़तासे अध्यात्मका प्रेमी हो जाय, कुछ फिकर न करे तो उसको योग मिल जायेगा। केवल अध्यात्म दृढ़ता है सो बात नहीं है, अध्यात्मसे प्रेम भी है, चिगता भी है तो ऐसी स्थितिमें उसके विडम्बना है जिसे कि व्यवहारमें रत रहने वाला कहते हैं। वह दूसरों पर शासन करनेमें, उनकी व्यवस्था करनेमें ही अपना समय लगाता है, बल्कि संघमें रहने वाले अन्य साधुजन अपना नित्यकर्म करते रहते हैं, उनको तो लाभ है पर वह उनकी व्यवस्था करनेमें ही लगा रहता है उसे कुछ लाभ नहीं मिल पाता है। यह मुनिव्रत तो बहुत बड़ी खड्गकी धार है। इसमें यदि समता भाव है तो वह मुनि है और नहीं है समता भाव तो वह मुनि नहीं है। मुनिजन ज्ञान साम्राज्यके पुञ्ज होते हैं, उनके किसीमें राग अथवा किसीमें द्वेष नहीं होता है। कोई शिष्य बड़े संयमसे व स्नेहसे रहता हो और वह उससे अलग हो जाय तो भी उस साधुके वैरभाव नहीं होता। किसीकी राग-द्वेषयुक्त बातें सुननेका भी उसके चित्तमें चाव नहीं रहता। मुनिधर्म बहुत ऊँचा धर्म है, इसलिए इस मुनि धर्मको परमेष्ठियोंमें शामिल किया है। इस मुनिधर्ममें कितनी उत्कृष्टता होनी चाहिए सो समझ लीजिए। यदि इसके विरुद्धआचरण है, श्रावकोंसे भी उसके अधिक कषायें जगे तो करणानुयोगमें बताया है कि ऐसा मुनि वास्तवमें मुनि नहीं है।

विभावानुत्पत्तिरूप अहिंसाकी सिद्धिके लिये व्रतोपयोग—विभाव परिणामोंका निमित्त होगा तो कर्मबंध हो जायेगा। विभाव परिणाम भी जड़वत हैं और कर्म भी जड़वत हैं, तो जड़ जड़का निमित्तनैमित्तिक अडोल रहता है। वहाँ सम्बन्ध होता ही है। तो विभाव परिणाम जब उत्पन्न होता है तो कर्मबन्ध होता है इसलिए अपना यत्न होना चाहिए भेद विज्ञानका कि मुझमें रागद्वेष संस्कार न बढ़ें, अपने इस उपयोग का अधिकाधिक यत्न करना चाहिए क्योंकि रागद्वेष मोह हटनेमें ही अहिंसा है। जितने भी व्रतोंका पालन है वह अहिंसाकी सिद्धिके लिए है। अहिंसा कहो या समतापरिणाम कहो, दोनोंका एक ही भाव है। अपने आपकी अहिंसाकी सिद्धिके लिए सारे यम नियम हैं। उपदेश करना, उपदेश सुनना, चर्चा करना ये सभी कार्य इसलिए किए जाते हैं कि मेरा अपने ज्ञानस्वभावसे प्रेम हो, मेरेमें रागद्वेषादिक विकारोंकी उत्पत्ति न हो। हम अपने ज्ञानस्वभावको निरखेंगे तो रागद्वेषादिक विकार न होंगे। परपदार्थों में दृष्टि लगनेसे तो इष्ट अनिष्टकी बुद्धि होगी। दो भाई बैठे हैं अगर उनमें से एककी ओर अधिक आकर्षण होता है तो समझिये कि यहाँ रागद्वेषकी उत्पत्ति है। बस यहीं से ये रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। तो ये रागद्वेष न उत्पन्न हों, इनका मूल उपाय यह है कि हम अपने अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्यस्वरूपका आश्रय लें। मैं चित्स्वरूप हूँ। अपने स्वरूपकी दृष्टि न छोड़ें तो रागद्वेष न हों। राग

द्वेष होते हैं परपदार्थोंका आश्रय लेनेसे। जो अपने आपके स्वभावका आश्रय लेता है उसके संकट दूर होते हैं। जो अपने स्वभावका आश्रय न लेकर परपदार्थोंका आश्रय लेता है उसके रागद्वेष होते ही हैं।

आत्महितप्रेरणामें अनुयोगोंका सहयोग—विभावसे निवृत्त होनेके लिये चरणानुयोग भी बहुत साधक है। जिस-जिस आश्रयको लेकर रागद्वेष विभाव परिणाम अवश्य होते हैं उस उसका परिहार कर दिया जाय तो ये रागद्वेष दूर हो जायेंगे। यही इस चरणानुयोगका लक्ष्य है। द्रव्यानुयोगका यह लक्ष्य है कि आत्मतत्त्व व अनात्मतत्त्वका परिज्ञान करके अनात्मतत्त्वसे उपयोग हटाकर आत्मतत्त्वमें उपयोगको स्थिर करें। करणानुयोग वस्तुके स्वरूपका चिन्तन करानेका लक्ष्य करता है। देखिये जब हम जानते हैं कि यह लोक कितना बड़ा है? एक जम्बूद्वीप एक लाख योजनकी सूची वाला है, उसके पासका लवण समुद्र उससे दूना है, उसके बादका उससे दूना है, ऐसे ऐसे असंख्याते द्वीप समुद्र हैं। अब समझ लीजिए कि कितना बड़ा विस्तार हो गया? यह सब विस्तार अभी एक राजू भी नहीं पूरा हुआ, ऐसे ऐसे एक राजू लम्बे चौडे मोटे विस्तारमें जितना घेरा बने उसे एक घन राजू कहते हैं। ऐसा ३४३ घन राजू प्रमाण लोक है। यों लोकके विस्तार पर जब हम दृष्टि देते हैं तो इसके अन्दर यह जीव उत्पन्न हो जाता है कि इतने बड़े लोकमें कोई प्रदेश ऐसा नहीं बचा जहाँ हम अनन्त बार जन्म मरण न कर चुके हों। तो इस छोटेसे क्षेत्रमें जहाँ हम आप जन्मे हैं वह क्या चीज है? ये सभी चीजें बिघट जायेंगी, कितने दिनोंका यह समागम है? यह अवसर्पिणी काल है, इससे पहिले उत्सर्पिणी काल गुजर गया। ऐसे ऐसे अनन्त काल व्यतीत हो गये। अनन्त कालके सामने यह १००--५० वर्षका समय क्या कीमत रखता है? यहाँ जो भी समागम आज मिले हुए हैं वे क्या कीमत रखते हैं? तो उनसे रागभाव हटाना है। करणानुयोगके ज्ञानका लक्ष्य बताता है कि उन समागमों हमें कुछ भी लाभ नहीं मिलता है। जीव अनन्तानन्त हैं। जिनमें से अनन्त जीव मोक्ष चले गए हैं फिर भी यह सिद्धान्त है कि जितने मुक्त जीव हैं उनसे अनन्त गुने ससारी जीव हैं। इन अनन्त जीवोंमें से कोई दो चार जीव आज अपने परिवारमें आ गए हैं तो कौनसी बड़ी बात है? ये न आते और आते तो क्या यह न हो सकता था? तो इन जीवोंका किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं। यहाँ कोई किसीका नहीं लगता। यहाँ अपनी बुद्धि फँसानेमें कुछ भी लाभ नहीं है। तो यों हमें सभी अनुयोगोंसे ज्ञान वैराग्यका शिक्षण लेना चाहिए। यह प्रोषधोपवास अणुव्रती श्रावकका प्रकरण है। प्रोषधोपवासी श्रावकको सुबह शाम और दोपहर तीन बार सामायिक करना चाहिए, पठन पाठनमें व एकान्तस्थानमें बैठकर धर्मसाधन करनेमें अधिक समय लगाना चाहिए। इससे हम आप भी यह शिक्षा लें कि ऐसे ही आचरणको हम आप अपनावें तो अपनेको कल्याणका मार्ग मिलेगा।

प्रात प्रोत्थाय ततः कृत्वा तात्कालिक क्रियाकल्पम्।
निर्वर्तयेद्यथोक्त जिनपूजां प्राशुकैर्द्रव्यैः ॥१५५॥

प्रोषधोपवासमें धर्मपालनका सहयोगी विधान—प्रोषधोपवास करने वाले श्रावक किस तरहसे धर्मपालनमें अपना समय बितायें, यह वर्णन चल रहा है। सप्तमीके दिन आहार करके उपवासका नियम लेवे और नवमीके दिन दोपहरसे पहिले तक का नियम लें और नवमीको शामको भी कुछ न लेना यह तो है उनका उत्कृष्ट उपवासका समय। अब उस समयमें अपना घर छोड़कर, आरम्भ परिग्रह छोड़कर एकान्त स्थानमें जिन-मंदिरमें या किसी वस्तीमें वसतिकामें किसी साधु संगमें रहे और धर्मध्यानमें अपना समय व्यतीत करे। सामायिकके कालमें सामायिक करे, इस प्रकार पहिली रात्रि व्यतीत की, अब उसके उपरान्त प्रभातकालमें उठकर प्रभातकाल की क्रियावोंको करके प्रासुक द्रव्योंसे जैसा शास्त्रोक्त विधान है जिनेश्वर देवकी पूजा करे। यद्यपि प्रोषधोपवासमें सब आरम्भ छोड़ दिया था लेकिन पूजाके आरम्भका त्याग इस लिए नहीं है कि पूजाके परिणामोंका पुण्य इतना अधिक है कि उसके प्रकरणमें

आरम्भजनित साधारण-सा पाप गिनतीमें नहीं है। पूजाके आरम्भमें कोई त्रस हिंसाकी बात है नहीं, जल लाना, प्रासुक करना और प्रासुक द्रव्य सजाना तो यह कोई आरम्भ गिनतीमें नहीं रहा, अतएव प्रोषधोपवासमें श्रावकको पूजा करनेका विधान है और पूजाके लिए स्नान करनेका भी विधान है। इतना अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि जिनेश्वर देवकी पूजामें द्रव्य प्रासुक हो, सचित्त न हो, फल फूल पत्ती ये न होने चाहिए। क्योंकि उनमें अनन्त स्थावर जीव रह सकते हैं। असंख्यात तो रहते ही हैं, जो फल भक्ष्य हैं उनमें भी असंख्यात जीव हैं। कदाचित कोई छोटे फल हों, उनमें अनन्तकाय भी सम्भव हैं। तो सचित्तद्रव्यसे भगवानकी पूजा न करनी चाहिए। यह पहिले दिनका कार्य बताया गया, अब इसके बाद क्या करें?

उक्तेन ततो विधिना नीत्वा दिवसं द्वितीयरात्रिं च।
अतिवाहयेत्प्रयत्नादर्द्धं च तृतीयदिवसस्य ॥१५६॥

इसी विधिसे जैसे कि सप्तमीके दिन किया, दूसरे दिन और दूसरी रात्रि भी धर्मध्यानमें व्यतीत करे, सामायिकके अतिरिक्त शेष समयमें स्वाध्याय करना चाहिए, कुछ श्रमको दूर करनेके लिए अल्प निद्रा ऐसी चर्यासे दूसरा दिन व्यतीत करे और रात्रि भी ऐसे धर्मध्यानमें व्यतीत करे और तीसरे दिन का आधा समय समझ लीजिए एक प्रहर, यह बड़े प्रयत्नसे यत्नाचारपूर्वक व्यतीत करे। उपवासके पहिले दिनका जो आधा समय था अर्थात उपवासकी प्रतिज्ञा ली सप्तमीको उस दोपहरके बादका जो आधा दिन है जैसे कि दिन धर्म ध्यानमें व्यतीत करे ऐसे ही उपवासके दिन याने अष्टमीका भी पूरा दिन धर्मध्यान में व्यतीत करे और उपवासकी रात्रिमें भी धर्मध्यान अपना बनाये रहे, फिर उपवासके दूसरे दिन दोपहर पर्यन्त समयको धर्मध्यानमें व्यतीत करे, इसके बाद फिर भोजन सामग्री जुटावे व भोजन करे। उसके पश्चात् गृह सम्बन्धी कुछ अल्प आरम्भ आदिक तो कर सकता है पर चूँकि यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत है, इससे मुनिव्रतकी शिक्षा मिलती है, सो नवमीके दिन भी शामको भोजन ग्रहण न करे तो मुनिव्रतकी शिक्षा मिल गई। उपवासके बाद भोजन करने पर क्या परिस्थितियां होती हैं? मुनिजनोंका उनका अनुभव और उन परिस्थितियोंको सहनेकी समता यह शिक्षा मिलती है इसलिए श्रावकके प्रोषधोपवासमें ३ दिन शामको आहार जलका निषेध है।

इति यः षोडशयामान् गमयति परिमुक्त सकलसावद्यः।
तस्य तदानीं नियतं पूर्णमहिंसा व्रतं भवति ॥१५७॥

षोडशयाम प्रोषधोपवासीके अहिंसाव्रतका वर्णन--इस प्रकार जो जीव समस्त पाप क्रियावोंको छोड़कर १६ प्रहर धर्मध्यानमें व्यतीत करता है उस पुरुषके उतने समय तक तो सम्पूर्ण अहिंसा व्रत है, आरम्भ का त्याग कर दिया, परिग्रहसे चित्त हटा दिया, एकान्तमें बस रहा है, तो उसके ये १६ प्रहर अहिंसाव्रत ही रहा। कोई उसने ऐसा विकल्प नहीं बनाया जो पाप क्रियाके हों, दूसरेके नुकसान पहुचाने वाले हों या आरम्भके हों, किसी भी प्रकारके विकल्प नहीं रक्खे अतएव उसके अहिंसा व्रत है। जितने भी व्रत नियम पाले जाते हैं धर्मके निमित्तसे उन सबमें यह शिक्षा लेना है कि अहिंसाव्रत की सिद्धि हो और अहिंसा नाम किसका है? अपने आत्माकी हिंसा न होनेका, ज्ञानदर्शनका घात न होनेका और जहाँ ज्ञानदर्शनका घात हुआ, विकास रुका तो उसका नाम हिंसा है। तो प्रोषधोपवासमें ऐसी चर्या बतायी गई है कि जिन धार्मिक कार्योंमें आत्माके ज्ञानदर्शन गुणका विकास हो सके ऐसा अवकाश मिले। तो प्रोषधोपवास व्रत करने वाले पुरुष ने १६ प्रहर तक अहिंसा व्रतकी सिद्धि की।

भोगोपभोगहेतोः स्थावरहिंसा भवेत्किलामीषां।
भोगोपभोगविरहाद्भवति न लेशोऽपि हिंसायाः ॥१५८॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रतनामक छठवें शीलका वर्णन—अब यहां भोगोपभोग प्रमाण व्रतका वर्णन करते हैं, भोग और उपभोगके निमित्तसे हिंसा होती है, इस कारणसे इस श्रावकको अपनी शक्तिके अनुसार भोग और उपभोगके साधनोंको और भोगोपभोगकी प्रवृत्तियोंको छोड़ देना चाहिए। यहां शक्तिके अनुसार बताया है क्योंकि घरमें रहने वाला श्रावक भोग और उपभोगकी चीजका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि घरमें रह रहा है, स्वयं भोजनका प्रबंध करता, उसके लिए कुछ कमाई भी करता और भोजनका आरम्भ भी बनाता बनवाता ये सब उस गृहस्थमें सम्भव हैं, इस कारणसे उसके भोग और उपभोगका सर्वथा त्याग तो हो नहीं सकता इसलिए बताया है कि अपनी शक्तिके अनुसार भोग और उपभोगके साधनका त्याग कर दे। अब इसमें जो हरीका नियम रखते हैं कि मैं जिन्दगी पर्यन्त केवल इतनी हरी खाऊँगा तो यह भोगोपभोगव्रतमें आ गया। जो अचित्त वस्तुयें हैं गेहूं, दाल, चावल आदिक उनको भी भोगमें शामिल समझिये लेकिन सचित्त वस्तुवोंके त्यागपर ज्यादा दृष्टि डालिए। जैसे कोई नियम ले लिया कि हम २५ हरीसे अधिक जीवन पर्यन्त न खावेंगे तो उसका यह सकल्प तो हो गया कि मेरा इन २५ हरीके सिवाय बाकी सब वनस्पतियोंका त्याग है। मनसे उसका विकल्प हट गया इसलिए उसके अहिंसाव्रत लगा। तो गृहस्थके भोग और उपभोग पदार्थोंके निमित्तसे स्थावर जीवोंकी हिंसाका बंध होता है उसको टालनेके लिए ऐसा परीक्षण करना चाहिए कि किस वस्तुमें अधिक पाप है। अब देखिये भोगका साधन अन्न भी है और भोगका साधन हरी भी है पर उसमें विवेक तो करना चाहिए कि अन्नके सेवनमें अधिक पाप है या हरीके सेवनमें। हरी तो साक्षात् स्थावर जीव है उसका तो त्याग करना चाहिए फिर ऐसा विवेक करके जिसमें पाप अधिक जँचे उसका त्याग कर देना चाहिए। तो भोगोंके त्यागमें अहिंसाव्रत चलता है इसी प्रकार जो उपभोगके पदार्थ हैं जैसे वस्त्र, पलग सवारी जो बारबार भोगने में आये उसे उपभोग कहते हैं। तो उपभोगकी चीजका भी नियम रहे, हम इतने वस्त्र, इतनी सवारी आदि रखेंगे ऐसा नियम कर लेनेमें भी अहिंसाव्रत चलता है क्योंकि उसमें आरम्भ कम हो जायेगा। आरम्भ कम होनेसे अहिंसाव्रत की सिद्धि है, इस कारण भोग और उपभोगका अपनी शक्ति माफिक श्रावकको परित्याग कर देना चाहिए। इसमें भी अहिंसाव्रत चलता है। किसे अहिंसाव्रत बोलते हैं उसे कहते हैं।

एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणां परिहरणमनन्तकायानाम् ॥१६२॥

समस्त अनन्तकायोंके परिहारके आजीवन नियमकी अनिवार्यता—अगर एक भी साधारण कदमूल आदिकका घात करनेकी इच्छा करे तो उसने अनन्त जीवोंकी हिंसा कर ली। तब अनन्त कायोंका तो पूरा ही त्याग करना चाहिए। उन हरियोंमें भी जो अनन्तकाय हैं—एक फलके आश्रित अनन्त जीव बसते हैं ऐसे अनन्तकायोंका तो परित्याग अवश्य करना चाहिए, फिर जो अनन्तकाय नहीं हैं, जिनमें असख्यात जीवोंका विनाश है उसकी फिर सीमा लेवें। कोई भोगकी सीमामें ऐसा नियम कर ले कि हम आलू या और और चीजें इतनी रखेंगे, इससे अधिकका त्याग है तो वह श्रावकके लिए उचित नहीं है। कदमूल आदिकका त्याग तो सबसे पहिले करना चाहिए, फिर जिसमें असख्यात काय हैं ऐसी हरीका नियम करे। हम इतनी हरी लेंगे। पहिले बड़ा पाप छोड़नेका प्रयत्न करे फिर छोटा पाप छोड़नेका प्रयत्न करे, आचरणमें ऐसा बताया गया है। जिसमें त्रस जीवोंकी हिंसा होती है उसका तो सर्वथा त्याग ऐसा पुरुष कर ही देता है। जैसे बाजारका दही, मर्यादासे बाहरकी चीजें, गोभीका फूल—इनका तो त्याग सर्वथा ही करता है, फिर अनन्त कायका परित्याग करे जहां असख्यात जीवोंका विनाश है। ऐसा नियम ले कि इतने फलोंके अलावा शेष फलोंका हमारा परित्याग है। इस प्रकार भोगोपभोगके

साधनोंका प्रमाण करने वाला पुरुष अहिंसाव्रतका पालन करता है। इससे भी भावकी विशेषता अपनी बनाये। जितने भी नियम किए जा रहे हैं उन सब नियमोंका पालन करते हुए अपने को मंदकषायरूप रखना, यह अतीव आवश्यक है। अपनेमें कषायोंकी तीव्रता न जगे ऐसा प्रयत्न जरूर रखें, क्योंकि कषाय हुई तो वही हिंसा है। अपनी हिंसा करली। दूसरेकी हिंसा नहीं की। दूसरेकी हिंसा तो हो जाती है निमित्तनैमित्तिक विधिसे। सो इसके मूलमें चूँकि भावहिंसा बसी है, संकल्प विकल्प बसे हैं इसलिए हिंसा है। वास्तवमें यह जीव अपने परिणाम खोटे बनाकर अपनी हिंसा करता है। तो इस हिंसासे बचनेके लिए हम बाह्यमें चरणानुयोगके अनुसार अपना व्रत पालन करें और निश्चयसे अपने उस कारणसमयसार चैतन्यस्वभावकी दृष्टि रखकर हम स्वभावके परमब्रह्मकी उपासना करें। अपने अविकारी भावकी उपासना करनेसे पर्याय भी अविकारी बन जायेगी, इस कारण अपना जैसा ज्ञानानन्दस्वरूप है ऐसा अविकारी-चैतन्यमात्र अपनेको प्रतीति करें और नियमोंका पालन करते हुए धर्मध्यानमें अपना समय व्यतीत करें।

नवनीतं च त्याज्यं योनिस्थानं प्रभूतजीवानाम्।
यद्वापि पिण्डशुद्धौ विरुद्धमभिधीयते किञ्चित् ॥१६३॥

नवनीतकी त्याज्यता—भोगोपभोग प्रमाणव्रतमें प्रथम तो यह शिक्षा दी है कि जिन चीजोंमें अनन्त स्थावरकी हिंसा होती हो उन चीजोंका सर्वथा त्याग करें, क्योंकि अनन्त काय जीवोंमें अनन्त जीवोंकी हिंसा होती है। अब कहते हैं कि ऐसी भी चीजोंको त्याग देवें जो अनेक जीवोंका योनि स्थान बन गए हो। यद्यपि उनमें प्रकट जीव नहीं दिखते है तो भी जो योनि स्थान हैं उनका त्याग करना चाहिए। जैसे मक्खन। मक्खनमें अन्तर्मुहूर्त बाद जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है और वैसे भी मक्खन एक कामवर्द्धक वस्तु है इसलिए उसका त्याग करना चाहिए पर कदाचित् यह सम्भव हो सकता है कि कोई विशेष बीमारी इस प्रकारकी हो जिसमें मक्खन औषधिमें लिया जाता हो तो तत्कालका मक्खन औषधिरूपमें लिया जा सकता है। तो मक्खन त्यागने योग्य है और आहारकी शुद्धतामें जो वस्तुविरुद्धता जचती हों वे सब त्यागने योग्य है। इस प्रकरणमें सीधा स्पष्ट यों जानना चाहिए कि जो पदार्थ त्रसकायक हैं वे तो प्रकट हिंसा की चीज हैं, उनका तो त्याग करें ही करें, पर जो वस्तुवें जीवोंका योनि स्थान हों उनका भी परित्याग करना चाहिए। फिर इसके बाद अनन्त काय जीवोंका त्याग करें? अनन्त काय जीव दो तरहके हैं, एक तो निराधार। और एक साधार। जो निराधार निगोद जीव हैं उनकी ऐसी हिंसा अग्निसे भी नहीं हो सकती क्योंकि निराधार है, सूक्ष्म है, वायुसे भी उनकी हिंसा नहीं हो सकती। वे तो अपने आप एक श्वासमें १८ बार जन्मते और मरते रहते हैं। जो साधार हैं वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहलाते हैं याने "प्रत्येक शरीर" उन्हें कहते हैं जिनके एक शरीरका एक ही जीव स्वामी हो। जैसे हरी चीजमें जो कि प्रत्येक तो है पर अनन्तस्थावर जीव और उसके आधार रहते हैं, उन्हें अनन्तकाय कहते हैं, वे सप्रतिष्ठित प्रत्येक हैं। जो निगोदसे रहित हैं वे अप्रतिष्ठित प्रत्येक है। अप्रतिष्ठित प्रत्येक तो त्यागी खा सकता है, मगर सप्रतिष्ठित प्रत्येकको त्यागी नहीं खा सकता और भी चीजे जो त्यागने योग्य हों उनका परित्याग करना चाहिए। जैसे हींग आदिक ये कुछ चमड़ेमें रखकर आते हैं। कुछ यों ही गलाई सड़ाई जाती है तो उसका भी त्याग करे। दूध, दही, मट्ठा, अनछना पानी ये अगर चमड़ेमें रखे हो तो उनका परित्याग करें। क्योंकि उनमें भी त्रस जीवोंकी सम्भावना है। बिना जाने हुए फलोंका भी त्याग करें, घुना बीधा हुआ अन्न, बाजारका आटा, अचार, मुरब्बा आदि चीजोंका परित्याग करें।

अविरुद्धा अपि भोगा निजशक्तिमपेक्ष्य धीमता त्याज्याः।
अत्याज्येष्वपि सीमा कार्यैकदिवानिशोपभोग्यतया ॥१६४॥

अविरुद्धभोगोंको त्यागनेका यत्न और लक्ष्य—जो आत्माका अर्थी है, आत्मस्वरूपमें मग्न होने की जिसकी अभिलाषा है उसका बाहरमें प्रथम कर्तव्य तो यह है कि भोग और उपभोगके साधनों को दूर करे। जो भोग और उपभोगके समागमोंमें रहता है तो चूँकि वह आश्रयभूत पदार्थ है तो नोकर्म का निमित्त पाकर कर्मोदय अपने फल देनेमें कारणभूत हो जाता है, चरणानुयोगकी प्रक्रियामें भोगोपभोगका त्याग बताया गया है, तो चाहिए तो यह कि उपभोगके साधनोंका परिहार करें। लेकिन जिन श्रावकोंसे भोगोपभोगके साधनोंका पूरा परिहार नहीं बन सकता है उन्हें भी अपनी शक्ति देखकर भोगोपभोगके साधनोंका त्याग करना चाहिए। जो विरुद्ध हैं, त्रस जीवोंकी हिंसा वाले हैं, अनन्त स्थावर जीवों की हिंसा वाले हैं ऐसे पदार्थोंका तो त्याग नियमतः करना चाहिए, पर जो अविरुद्ध भोग हैं अर्थात् त्रस और स्थावर हिंसा अनन्त जहां नहीं भी है तो भी उन भोगोंको अपनी शक्ति माफिक त्याग करना चाहिए। उचित भोग उपभोग त्याग नहीं हो सकता तो मर्यादा करके त्यागे। कुछ समयका नियम लेकर त्यागे। जैसे उपवासके समय त्यागकर दिया वैसे ही अन्य समयका भी त्याग करे। जितना बाह्य साधन दूर होगा उतना हिंसारूप परिणामका परिहार होगा। इन तो मुख्य है ही आत्माका परिज्ञान तो होना ही चाहिए, मैं क्या हू इसका स्पष्ट निर्णय हो और भोगोपभोगके साधनोंसे दूर रहे तो उसे ऐसा अवसर मिलता है कि ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व उसके उपयोगमें समाता रहता है, अद्भुत आत्मीय आनन्द प्रकट होता रहता है। तो बाह्य पदार्थोंकी दृष्टि न रखकर अपने आप अपनेमें जो सहज अनाकुलताकी स्थिति प्रकट होती है वही सारभूत है, यही आत्मीय आनन्द है, यही वास्तविक आनन्दका अनुभव है, हम दूसरी जगह क्या दृष्टि गड़ायें, अपने ही अपराधोंपर दृष्टि देनी चाहिए। बाह्य पदार्थ तो निमित्त मात्र हैं, अपना पतन अपने आपकी कमजोरीसे होता है। हमारी यह कमजोरी है कि हम उस लगनमें नहीं रहना चाहते और अध्यात्ममें जिनकी लगन है ऐसे लगन वालेकी संगतिमें नहीं रहना चाहते और जो व्यवहारमें विशेष अनुरक्त हैं और विषय कषायोंमें भी लगे हुए हैं, अपने इन्द्रिय विषय साधनोंकी सुविधाका ख्याल रखकर उनमें रहना चाहते हैं तो ऐसी अन्त स्थिति होनेपर आत्माके आनन्दका लाभ नहीं हो सकता है, उसके लिए तो साहस और त्यागकी आवश्यकता है।

यम और नियमरूप त्यागनेकी दो पद्धतियां और उनका लाभ—त्याग २ प्रकारसे होता है—एक यमरूप त्याग और दूसरा नियमरूप त्याग। जो आजीवन त्याग किया जाय वह यमरूप त्याग है और जो अपनी शक्ति माफिक कुछ समयके लिए नियम रखकर त्याग करे वह नियमरूप त्याग है। जैसे भोजन करने के बाद उपवासका नियम ले लेते हैं, प्रत्याख्यान कर देते हैं तो संकल्प बना लिया कि हमारा त्याग है, उस त्यागके कारण फिर आकुलता नहीं होती। भूख तो जैसे और लोगोंके लगती है जो दो चार बार भी खाते हैं वैसे ही उसके भी लगती है, पर चूँकि वह २४ घंटेको या ४८ घंटेको त्याग देता है तो फिर उसे उतने समय तकके लिए आकुलता नहीं होती। तो त्याग बाह्यपदार्थोंका हो और आत्माके स्वरूपको बताने वाले वचनोंकी चर्चा चले, उनका हम चिंतन करें और आत्महित की दृष्टिसे हम अपने आपके स्वरूपमें आयें तो यही हमारे कल्याणका मार्ग है। सबसे अधिक बाधक इस काममें है तो एक नामका संस्कार बाधक है। अपने आपमें जो अपना नाम सोचा है लोक व्यवहारमें इस नाम वाला मैं हू, मेरी यह शकल है, उसमें कुछ थोड़ा बहुत संस्कार रहता है तो वह अध्यात्म साधनोंका सर्वाधिक बाधक है, क्योंकि आत्मा तो नामरहित है और नामरहित चैतन्य मूर्ति निज अन्तस्तत्त्वमें अपनेको प्रवेश करता है तो अपना नाता केवल चैतन्यस्वरूपके ढंगका बनायें, मैं निर्नाम हू, तो ऐसे नामरहित सच्चे स्वरूप की दृष्टि बनायें तो वहाँ निकट पहुच सकते हैं। थोड़ा व्यवहारकी बातमें भी ऐसी अपनी चिंतना रखना चाहिए कि लोग नामवरीके लिए, नामकी प्रसिद्धिके लिए नाना श्रम करते हैं, धनी बनना चाहें, नेता

बनना चाहें, अपनेको कुशल सिद्ध करना चाहें ये सभी क्रियायें नामवरीके लिए हैं। मोही पुरुष जितने जितने काम करते हैं वे सब अपनी नामवरी के लिए करते हैं और यह नामकी चाह मूर्खतापूर्ण चाह है, मिथ्यात्व है। यदि कोई अपने नामकी चाह रखता है कि दुनियामें मुझे लोग जानें तो यह मिथ्यात्व से भरी चाह है। सबसे अधिक बाधक है नामका संस्कार। तो यह देखिये कि जो लोग नामवरी भी करते तो उनकी इस क्रियासे उन्हें लाभ मिलता क्या है? केवल श्रम करना, दुःख उठाना, लोगोंको दुःखी करनेके लिए अन्तरङ्गमे संक्लेश रखना, सुखी करनेके लिए भी नहीं। ये लोग राजी हो जायें इतनेके लिये बड़ा श्रम उठाते, अपने आपकी सुध खोते, अपने आपमें सक्लेश मचाते। पर मिलता क्या है? कुछ नहीं। न वैभवकी प्राप्ति है और न यशकी। यश भी है क्या? लोग अपनी कषायमें आकर अपने मनके विचार प्रकट करते, यही तो है बाहरमें और यश किसका नाम है? उसमें आत्मीय बुद्धि लगाया तो उसका नाम यश बन जाता है, तो लोगों से नाम प्रशंसा, कीर्ति, यशकी चाह रखने से मिला कुछ भी नहीं। ज्योंके त्यों रहते हैं। मरकर अकेले ही चले जाते हैं और अकेले ही जन्म ले लेते हैं, मिलता कुछ भी नहीं, बल्कि विडम्बनाओंमें फसा, अज्ञान अंधेरेमे रहा, अपने आपके आनन्द निधान परमात्मस्वरूप की सुधसे पतित रहा। वह तो गरीब हुआ, दीन रहा जो लोगोंसे अपने आपकी प्रशसा अथवा नामकी चाह करे वह तो महादीन है, भिखारी है, इससे बढ़कर खोटी भीख और क्या हो सकती है? इस सस्कारको दूर करे तब ही वह अपने अध्यात्ममार्गमे आगे चल सकता है। यह तो अपने अन्तः की चीज बताई, बाहरमें क्या करे? जो भोग उपभोगके साधन है, बाह्य पदार्थ हैं उनका त्याग करें।

विविक्त अन्तस्तत्त्वकी अनुभूतिमें अहिंसा धर्मका यथार्थ परिपालन—अपने आपको जितना विविक्त और एकत्व रूप रखेगे दृष्टिमें उतनी ही इस आत्मामें एकत्वकी स्थिति बनेगी और आनन्दानुभव होगा। स्वाश्रय यह चीज है। अपने आपको ज्ञानरूप अनुभवना यही ज्ञानानुभव है, यही ज्ञानानुभूति है। मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूं, केवल ज्ञानज्योति मात्र हूं, केवल चित्प्रकाश हू, अन्य सबकी सुध भूल जाय, क्या हू, कैसा हूं, इसका विकल्प भी टूट जाय और केवल एक सहज ज्ञानमात्र जो साधारण है, जिसमें तरंग नहीं, केवल एक चित्ज्योति उपयोगमें बसे जिसके बसनेसे साधारण स्थिति बन जाती है, जैसे मानलो सारे भार हट गए। कोई कल्पनाका वजन नहीं रहा, ऐसा निष्कम्प अपने आपका अनुभव हो उसे कहते हैं ज्ञानानुभव। मैं ज्ञानमात्र हू, ज्ञानमात्रका अपने आपके अनुभवमें उपयोग लगे तो वहाँ स्वयमेव अद्भुत आनन्द प्रकट होता है, ऐसा ज्ञानके अनुभवका नाम स्वानुभव है। स्वानुभवका सम्बन्ध है ज्ञान और आनन्दसे, इसलिए आत्माका स्वरूप ज्ञानानन्द रखा है। ज्ञानस्वरूपको ही आनन्दस्वरूप माना है। एकान्त किया तो केवल ज्ञान ही ब्रह्म है, केवल आनन्दस्वरूप ही ब्रह्म है, ऐसा एक सिद्धान्त बन गया, पर वह ज्ञान और आनन्द ये दोनों अविनाशी है। जहां ज्ञान न हो वहा आनन्द नहीं और जहां आनन्द नहीं वहाँ ज्ञान नहीं। ज्ञान और आनन्द ये दोनों आत्माके निजी स्वरूप हैं, इसलिए आत्माको सच्चिदानन्दके रूपमें, ज्ञानानन्दके रूपमें स्मरण किया है वीतराग ऋषीसतोंने तथा ऐसी विशुद्ध अनुभूतिमें अहिंसा धर्मका यथार्थ परिपालन है।

पुनरपि पूर्वकृतायाः समीक्ष्य तात्कालिकीं निजा शक्तिम्।
सीमन्यन्तरसीमा प्रतिदिवस भवति कर्तव्या॥१६५॥

गृहस्थोका अन्तरसीमावर्ती नियम और उसका प्रभाव—इस श्रावकने अपने अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिए भोग और उपभोगका प्रमाण किया था। उसे अब यह उपदेश दे रहे है आचार्यदेव, कि पहिले किए हुए भोग और उपभोगके प्रमाणके और भीतर और विशेष प्रमाण करना चाहिए। कुछ समय रखकर आज के दिन हमारे इस वस्तुका त्याग है जो सीमा की थी उसके भीतर और भी अधिक सीमा बना लेवे, क्योंकि

लक्ष्य इसका अहिंसाव्रतकी सिद्धि है। अहिंसा, समता, एकता—ये सब इस व्रतसिद्धिके सूचक शब्द हैं। समताकी सिद्धि करना अर्थात् मोह रागद्वेष परिणामसे कलंकित न बनाना उपयोग और यह उपयोग रागद्वेष रहित केवल जाननहार रहे इस ही का नाम समता है और इसही परिस्थितिमें आत्मस्वरूपका घात नहीं होता इसलिए इसीका नाम अहिंसा है और यह स्वरूप एकत्व स्वरूप है इसमें विचित्रताएँ नहीं हैं, प्रवृत्तिमें तो विचित्रता है पर निवृत्तिमें विचित्रता नहीं है। भेदमें तो विविधता है पर अभेदमें विविधता नहीं है। रागद्वेषका जहा अभाव हो गया वहाँ जो ज्ञानका सद्भाव है वह एकत्वरूप है, एक स्वरूप है, जिस व्रतके पालन करनेमें पुरुषोंके नाना तरहके उपयोग चलते हैं, नाना स्थितिया बनती हैं। नियम व्रत तपश्चरण इन सबके साधनोंमें नाना प्रवृत्तिया नाना ढग विधिविधान रहते हैं, लेकिन आत्मानुभव में नानात्व नहीं रह सकता है। बाह्य आचारोंमें प्रवर्तनके प्रसगोंमें कुछ न कुछ भेद रहेगा पर आत्माके विशुद्ध अनुभवमें भेद न रहेगा, सभी मनुष्योंमें आत्मानुभव एक स्वरूपमें होगा। नहीं है एक स्वरूपमें तो उनका वह कल्पनाका अनुभव है पर उस एकत्व स्वरूपका अनुभव नहीं बना। तो ऐसे उस एकत्वस्वरूपके अनुभवके लिए हमें निवृत्तिकी अधिक आवश्यकता है। हम बाह्यपदार्थोंका भार तो लपेटते फिरें और चाहें कि आत्मानुभव हो जाय तो यह कठिन बात है। जितनी निवृत्ति बनेगी उतना ही हम अपने आपको निर्भार और सहज स्वरूपमें अनुभव कर सकेंगे। इसीके लिए गृहस्थों को उपदेश दिया गया है कि आत्मार्थी सद्गृहस्थ अपने अहिंसा व्रतकी सिद्धिके लिए, समता परिणामकी प्राप्तिके लिए भोग और उपभोगका जो प्रमाण किया गया था उसके भीतर भी और अधिक परिमाण करले, जिससे वह विकल्पोंसे दूर रह सके। एक निज ध्रुव तत्त्वकी दृष्टि रहेगी तो समान समान विशुद्ध पर्याय निरन्तर चलती रहेंगी याने विशुद्ध परिणाम रहेंगे। हम अविकारी स्वभावका आलम्बन करेंगे तो हमारे परिणामोंमें भी अविकारता बन सकेगी। हम अपने को मैं अमुक नाम, अमुक जाति, अमुक कुल, अमुक प्रसगका हू, ऐसी कला वाला हू, इस प्रकारकी बुद्धि रखें और चाहें कि अपने आनन्दपूर्ण स्वरूपका अनुभव करलें तो यह बात न बन सकेगी। जैसी वस्तु मुखमें पडी हुई है वैसा स्वाद आयेगा। जैसा उपयोग बना है, उपयोगमें जैसी दृष्टि पड़ी है उस प्रकारका स्वाद आयेगा। यदि उपयोगमें परदृष्टि पड़ी है तो हमको आकुलताका स्वाद आयेगा और यदि स्वदृष्टि बन रही है, साधारण, सामान्यरूप निर्विशेष ज्ञानमात्र अंतस्तत्व उपयोगमें बस रहा है तो वहाँ ज्ञानानुभव है, आत्मानुभव है, आनन्दानुभव है। ऐसी स्थिति पानेके लिए कर्तव्य है कि हम निवृत्तिका आदर करें।

इति यः परिमितभोगैः सन्तुष्टस्त्यजति बहुतरान् भोगान्।
बहुतरहिंसाविरहात्तस्याहिंसा विशिष्टा स्यात् ॥१६६॥

भोगोपभोगपरिमाणव्रतका अहिंसाधर्मपालनमें सहयोग—जो गृहस्थ इस प्रकार परिमित भोगोंसे ही तृप्त होकर अन्य भोगोपभोगोंका परित्याग कर देता है उसने बहुत-सी हिंसाका परिहार कर दिया इस लिए उसके उत्तम अहिंसा व्रत होता है। विकल्प करना हिंसा है और निर्विकल्प रहकर ज्ञानानुभव करना सो अहिंसा है। यह हिंसा और अहिंसाके मूल स्वरूपकी बात कही गई है और इस कसौटीसे हम अपने आपकी परीक्षा तो करें कि हम अपनी हिंसा कितनी कर रहे हैं और हम अपने अहिंसा स्वरूपमें कितने क्षण आते हैं। ये इन्द्रिया हमारे ज्ञानके साधनभूत हैं और इन्द्रिया बाह्य पदार्थोंको जाननेमें मददगार है, मगर अन्त स्वरूपके जाननेके लिए इनकी गति नहीं चलती। और की तो बात क्या ये इन्द्रिया स्वय अपने आपको जाननेमें असमर्थ हैं। ये बहुत अधिक बाह्य पदार्थोंको जानती हैं। जैसे नेत्र नेत्रमें लगे हुए अञ्जनको नहीं जान सकते और अन्तःस्वरूपकी तो बात ही क्या कही जाय? इसी प्रकार शेष चार इन्द्रियोंमें भी यही बात पडी हुई है। ये सब इन्द्रिया बाह्यको तो जानती हैं, स्वय स्वयको जाननेमें

असमर्थ हैं, फिर आत्माके अनन्त स्वरूपको तो ये जान ही क्या सकती हैं ? चूँकि इन्द्रियां बाह्यपदार्थोंके ज्ञान करनेमें साधन हैं और इन्द्रियोंके द्वारा हम आप लोगोंका ज्ञान होता रहता है, इससे एक प्रकृत्या विडम्बना बनी रहती है कि हम बाह्य पदार्थोंको जानते हैं और उसमें हम अपनी कल्पना लगाकर इष्ट और अनिष्टका द्वैधीकरण करते हैं और जहाँ इष्ट अनिष्टकी दो बातें चित्तमें समा गईं, वहाँ इस आत्मामें विकल्प बढ़ने लगते हैं। यह हमारी हिंसा है। अब सोच लो यह हमारी हिंसा कितनी अधिक होती है ? इस पर यदि ध्यान दें और बात समझमें आये तो ये सब बातें हमें इसही खेदके कारण छूट जायेंगी। जैसे लोगोंमें कुछ चाहना, लोगोंमें बैठना, समागम चाहना, हँसना, खेलना कूदना--ये सब बातें दूर हो जायेंगी, तब यह चीज समझमें आ जायेगी कि हम अपने आपकी हिंसा कितनी अधिक कर रहे हैं ? इस बातका ध्यान अज्ञानी जीवको नहीं है। आत्मघात लगातार किए जा रहे हैं इच्छाके कारण, इच्छा ही आत्मघात है और जो अहिंसा है, स्वदृष्टि सहज सनातन जो मेरा विशुद्ध स्वरूप है जिसको लेकर यह जीव अनादि अनन्तकाल तक रहा करता है उस स्वरूप मात्र मैं हू, ऐसी इसकी दृष्टि नहीं बनती, अपने आपके अहिंसाकी सिद्धि यह नहीं कर पाता। इन बाह्य साधनोंमें पड़कर आखिर हमें मिलता क्या है, खूब विचार करें और जो चीज अपने पास है जैसे मान लो पिछी है, कमण्डल है तो इनको खूब सजाकर रखना, बढ़िया चमकीला बनाकर रखना, इससे लाभ क्या है ? इन बाह्य पदार्थोंकी खूबसूरता रखनेमें तो हिंसा होती है। वैसे तो ज्ञानी पुरुषकी बाह्य स्थिति जो कुछ भी है वही सुहावनी बन जाती है। शोभा तो ज्ञानसे बढ़ती है शान्तिसे बढ़ती है। कोई पुरुष रूपमें बड़ा सुन्दर जंच रहा हो और क्रोध करनेकी उसकी प्रकृति हो, घमंडमें रहनेकी उसकी आदत हो तो वह लोगोंको सुन्दर नहीं जँचता। शान्त हो, नम्र हो, सरल हो, लोभ, लालच तृष्णा न हो, ऐसा पुरुष चाहे शरीरसे काला भी हो, कैसा भी हो, चाहे उसके आठों अंग टेढे हों लेकिन जिन्हें उसके गुणोंका पता है उनकी दृष्टिमें वह सुहावना लगता है। तो बाह्यपदार्थोंसे हमारी जितनी उपेक्षा बढ़ेगी, हम अपने आपके सहजस्वरूपके जितना निकट आयेंगे वही समझो सारभूत बात है, कल्याणकी बात है, इसके अतिरिक्त अन्य जितनी प्रवृत्तियां हैं वे सब हमारी विडम्बना है। हमारा काम इतना ही है कि परपदार्थोंसे निवृत्ति और अपने स्वरूपमें प्रवृत्ति--ये दो बातें हमारी जिन साधनोंसे बनती हों वह तो हमारा व्यवहारधर्म है और जिन साधनोंसे इससे उल्टी बात बनती हो उन्हें अपना धर्म न समझना चाहिए।

विधिना दातृगुणवता द्रव्यविशेषस्य जातरूपाय।
स्वपरानुग्रहहेतोः कर्तव्योऽवश्यमतिथये भागः ॥१६७॥

अतिथिसंविभागव्रत नामक सप्तम शीलका निरूपण—श्रावकोंके १२ व्रतोंमें यह १२वां व्रत है अतिथिसम्विभाग व्रत। इन बारह व्रतोंमें यदि विशेष रूपसे दो व्रतोंका वर्णन किया जाय—प्रथम और १२ वां तो इन दो व्रतोंके विशिष्ट वर्णनमें सब व्रत आ जाते हैं अर्थात् श्रावकोंके व्रतोंमें ये दो व्रत बड़े मुख्य है, अहिंसाव्रत तो आत्मरक्षाके लिए है और अतिथिसम्विभाग व्रत तीर्थ प्रवृत्तिके लिए है। अहिंसाव्रत में अहिंसाकी साधना है। सत्य बोलना, चोरी न करना, कुशील सेवन न करना, परिग्रह का त्याग करना आदिकमें अहिंसा ही है। दिग्व्रत, देशव्रत भी अहिंसाके लिए हैं। प्रोसधोपवास भी परिणाम विशुद्धिके लिए हैं, भोगोपभोग परिमाणमें भी अहिंसा है। तो इन ग्यारहव्रतों का विशेष सम्बन्ध अपने आत्मासे है और अतिथिसम्विभागव्रतमें विधिपूर्वक अतिथियोंके लिए आहार आदिक दान देना सो अतिथिसम्विभागव्रत है। आहारादानसे स्वोपकार व तीर्थप्रवृत्ति दोनोंका लाभ है। और ये दोनों ही रूप रहने चाहिये श्रावकमें। अपनी आत्मसाधनामें ध्यान हो और धर्म तीर्थकी जैसी प्रवृत्ति चले, जैसे मुनिजन साधुजन उसमें निर्बाध चल सकें, ऐसा योग्य आहार आदिक दान करें, यह भी गृहस्थोंका मुख्य कर्तव्य

है। लेकिन आजकी परिस्थितिमें बिल्कुल ऐसा उल्टा हो गया कि किसी ने पहिली दूसरी प्रतिमा ले ली तो उसके दिमागमें यह भर जाता कि अब तो गृहस्थोंका कर्तव्य है कि हमें आहार करायें। न आहार करायें तो नाराज भी हो गए। ये श्रावक बड़े बुरे हैं, पूछते भी नहीं हैं। यह अपने चित्तमें महसूस नहीं करते कि जब हमने बारह व्रतोंका नियम लिया है तो हमने जैसे पहिले व्रतोंके पालने पर हमारी दृष्टि अधिक है ऐसे ही बारहवें व्रतका पालना भी हमें आवश्यक है। यह सातवीं आठवीं प्रतिमा तक अतिथि सम्विभाग व्रत निभता है। बादमें तो और प्रकारका अतिथिसम्विभाग व्रत चलता है, पूछताछ रखना, उनका पहिले आहार करवाना आदिकरूपसे, पर अष्टम प्रतिमा तक अतिथि सम्विभाग व्रतको रीता भी कर सकते हैं। तो जो दाता हो उसमें दातारके गुण होना चाहिए। और आहार दान देनेका प्रयोजन है अपना उपकार और परका उपकार। अपना उपकार तो यों हुआ कि गुणोंमें अनुराग बढ़ा, अपने परिणामोंमें विशुद्धता जगी। जो अपने पास द्रव्य हो उसमें कुछ त्याग हो, उस द्रव्यका अच्छी जगह उपयोग हो और दान देनेका मूल स्रोत तो यों निकला कि ज्ञानी गृहस्थ जानता है कि यह जो बाह्य परिग्रह है, वैभव है यह विडम्बना, विपत्ति है, परचीज है इसको छोड़ना चाहिए, ऐसा गृहस्थका भाव रहता है। ऐसे गृहस्थको योग्यपात्र सामने आ जाय तो धनके त्यागनेमें लगानेमें उसे सकोच नहीं होता। तो त्यागमें अपना और परका उपकारके प्रयोजनसे श्रावक अतिथियोंको साधुवोंको विशेष द्रव्यका दान करता है।

दानकी विशेषतायें—विधिविशेष हो तो दानमें विशेषता होती है। एक यों ही पड़गाह दिया तो उसमें दानका महत्व घट जाता है। विधिकी विशेषतासे दानमें विशेषता होती है। इसी प्रकार दाताकी विशेषतासे दानमें विशेषता है। दाता निर्लोभ हो, गुणोंमें अनुरक्त हो, अपना अहोभाग्य समझे। तो दातामें विशेषता होने से भी दानकी विशेषता है, पात्रमें विशेषता होनेसे भी दानकी विशेषता है, योग्य पात्र हैं, योग्य मुनि हैं तो उससे भी विशेषता बनी और द्रव्य जो है योग्य उपकारी उनके अनुकूल पड़े, उनके सयममें साधक हो ऐसी चीजोंका दान करें तो उससे भी दानकी विशेषता होती है, यह श्रावकका आवश्यक कर्तव्य है। वैसे श्रावककी चर्या यदि शुद्ध भोजनकी हो तो उसमें अतिथि सम्विभाग व्रत सहज पलता है। शुद्ध भोजन बनाया, भोजन करने से पहिले प्रतीक्षा कर ली, दुबारा भी प्रतीक्षा कर ली, फिर किसी त्यागी व्रतीको आहार देकर अपना अहोभाग्य समझकर फिर खुद आहार करे। इस व्रतका सम्बन्ध अहिंसासे है अहिंसासे परिणामोंमें विशुद्धि, सयममें अनुराग, ज्ञानवैराग्यमें वृद्धि, ये सब बातें होती हैं। तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी साधुजनोंका प्रसग हो तो ऐसा विशुद्ध वातावरण होता है कि अपनेको सद्गुणों की प्रेरणा मिलती है। श्रावकोंका अतिथिसम्विभाग व्रत चलता रहता है और जितना आवश्यक अहिंसा व्रतका पालन है उतना ही आवश्यक श्रावक पदवीमें रहकर अतिथिसम्विभाग व्रतका पालन है। मान लो कि जितने बारह व्रत लेने वाले ब्रह्मचारीजन गृहस्थजन श्रावकजन हैं वे तो अपनेमें यह भाव भर लें कि हमने तो प्रतीक्षा करली है अब और श्रावकोंका काम है कि हमें बुलायें खिलायें और स्वय कुछ न करें तो क्या परिस्थिति हो गयी कि बस मुनिदानकी परम्परा अतिथियोंसे चली। दो प्रकारके गृहस्थश्रावक होते हैं—एक गृहविरत और एक गृहनिरत। अब सब प्रतिमाधारी गृहविरतका रूप रखते हैं लेकिन गृहविरत का अर्थ है घरके व्यापार आरम्भ उल्झन आदिकसे दूर रहें। उसका इतना उच्च अर्थ नहीं है कि परिग्रह त्यागी साधुकी तरह दूसरों पर निर्भर रहे या अपना कुछ कर्तव्य न समझे। अगर ऐसा वह करता है तो अतिथि सम्विभाग व्रत न पालने से इस बारहवें व्रतमें उसके कमी रहती है और कमी रहनेसे उसके उस प्रतिमाका पालन नहीं है। अब दानस्वरूपकी विधिमें नवधाभक्तिकी बात बतलाते हैं।

संग्रहमुच्चस्थानं पादोदकमर्चनं प्रमाणं च।
वाक्कायमनःशुद्धिरेषणाशुद्धिश्च विधिमाहुः ॥१६८॥

पात्रोंको नवधाभक्तिपूर्वक आहारदान करनेका उपदेश—अतिथि सम्विभागव्रतको शिक्षा व्रतमें लिया है। शिक्षाव्रत उसे कहते हैं जिससे मुनिधर्मकी शिक्षा मिले। तो विधिपूर्वक जो साधुवोंको दान देगा वह श्रावकोसे आहारदान लेनेकी विधि अच्छी जान जायेगा और वह निर्दोष उसे ग्रहण कर लेगा। तो उससे मुनिधर्मकी शिक्षा मिली ना ? जो मुनियोंको आहारदान देता है वह जब कभी मुनि बनेगा तो आहार दान लेनेकी निर्दोषविधि उसे खूब याद रहेगी। दूसरे बीच-बीचमें उनकी मुद्रा प्रक्रियाको निरखकर साथ ही उस आहार क्रियाके भीतर भी कब ७ वा गुणस्थानमें आया, कब छठे गुणस्थानमें आ गया, इन बातों का भी अनुमान उनके सकेतसे निरख लेता है तो उसके बहुत उत्कृष्ट गुणानुराग होता है। भोजन करने में कमसे कम २०-२५ मिनट तो लगते ही हैं। और छठे गुणस्थान का समय २०-२५ मिनटका नहीं है। उसका तो सेकेण्डोंका ही समय है। ७वें गुणस्थानके बाद छठा गुणस्थान और छठेके बाद ७वा गुण-स्थान यह बराबर चलता रहता है। तो इतने २०-२५ मिनटके भीतर वह कैसे प्रमत्तदशामे और कैसे अप्रमत्त दशामें पहुंचता है? यह सब एक धर्मलीला भी श्रावक निरखता रहता है और उसके पहिले उत्कृष्ट गुणानुरागमें पहुचता है। विधिमे बताया है कि सबसे पहिले प्रतिग्रहण करे। पहिले तो साधुको बुलाये अब प्रतिग्रहणमें जो विधि है किस तरह बुलाना, किस तरह बुलाकर भीतर ले जाना यह सब प्रतिग्रहण कहलाता है। भीतर ले जानेके बाद फिर उच्च स्थान देना, इसके बाद फिर पैर धोना, पादप्रक्षालन करना इसके बाद अर्चन पूजन गुणस्तवन, इसके पश्चात् प्रणाम नमस्कार करे, फिर मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि और आहारशुद्धि बोले। इस प्रकार यह नवधाभक्ति हुई। अब जरा एक साधारण दृष्टिसे विचारो तो मामूली गृहस्थको भी किसी रिश्तेदारको आप खिलाते हैं तो इन ९ बातोंकी झलक उसमें भी आ जाती है। थोडे रूपमें आप बोलेंगे चलिये साहब भोजन करनेके लिए। वहाँ ले जाकर ऊँचे आशनपर भी बिठायेंगे, चाहे पलंग हो, चाहे गद्दा हो अथवा कुर्सी हो। फिर आप जब उसे भोजनशालामें ले जायेंगे तो पैर धुलायेंगे अथवा खुद धो देंगे। भोजन करतेके समय बीच बीचमें आप अच्छे शब्द बोलते ही हैं। प्रमाणकी तरह उसके साथ झुकने व्यवहार करनेकी बात भी आप करते हैं। यदि इस प्रकारका आदर आप नहीं करते तो वह महिमान भोजन करनेकी चाह भी मनमें नहीं रखता। उसे यदि पता पड़ जाय कि बिना मनके खिला रहे हैं तो उससे रोटी नहीं चलती। फिर शरीरशुद्धि भी उसके अनुकूल है जैसा कि वह महिमान है। कुछ ढंगसे रहे, कुछ और और काम करता हुआ न खिलाये। तो कमसे कम इतनी शरीरकी शुद्धि तो हर एक महिमानके लिए करनी होती है कि आहार कराते समय और काम न करे, वहां ध्यान रखे और साधारण रूपसे इन ९ बातोंकी झलक करीब-करीब सबमें आती है, लेकिन यह धर्मात्मा गुरुवोंका प्रकरण है। उनके लिए इन बातोंकी बड़ी विशेषता होनी चाहिए। उत्तम पात्रको ९ प्रकारकी भक्तिसे दान देना चाहिए और सामान्यपात्रको अपने और उनके गुणोंको विचारकर यथोचित विधिसे दान देना चाहिए।

अपात्र पापीजनोंके आदरका अर्थ पापका आदर—जो अपात्र हैं, मिथ्यादृष्टि जन हैं उनके लिये ये कुछ भी क्रियायें न करना चाहिए। अगर पापी पुरुषका आदर किया तो उसके मायने यह हो गये कि पापमें आदर बुद्धि हुई। तो उसमें एक तरहसे पापका दोष लगता है। जैसे जो लोग उपदेश करते हैं कि भाई गोहत्या बद हो तो सबसे पहिले उनके लिए यह कहना पड़ता है कि तुम भी चमडेकी चीजोंका त्याग करो। अगर चमडेकी चीजोंका त्याग नहीं करते तो उसका अर्थ है कि गोहत्यामें वे सहायक हैं। इसी तरह पापी जीवोंका आदर करनेमे पापको प्रश्रय दिया है और लोग देखने वाले उससे प्रभावित होंगे।

वे अपनी पापमें परिणति बनायेंगे। इस कारणसे जो पापरूप हैं, पापके आश्रय हैं, मिथ्यादृष्टिजन हैं, अज्ञानी हैं, उनका आदर करनेसे और आदर करके दान करने से पहिले पापमें अनुराग होता है, पापका बंध होता है। उन्हें भूखा देखकर दयाभाव आये तो उसे भोजन करा देवे, मगर वह पात्र आदरबुद्धिका पात्र नहीं होता है। ज्ञानीका आदेय तो विरक्त ज्ञानी संत है।

ऐहिकफलानपेक्षा क्षान्तिर्निष्कपटतानसूयत्वम्।
अविषादित्वमुदित्वे निरहङ्कारित्वमिति हि दातृगुणाः॥१६६॥

दातारके सप्त गुण—इसमें दातारके ७ गुण बताये गए हैं—पहिला है इस लोकके फलकी वाञ्छा न करना। जैसे दान देकर यह भाव हो कि हमारे सम्पदा बढ़े, खूब घरका काम चले या अन्य कुछ प्रयोजन सोचना तो ऐसा प्रयोजन सोचनेमें दोष है। वह गुणवान दान नहीं है, उस दानका प्रभाव नहीं लगता। दूसरा है क्षमा। क्षमाशील होना चाहिए दातार, क्योंकि विशिष्ट क्षमाशील श्रावक ही सविधि साधुपरमेष्ठीको आहारदान कर सकता है। क्षमाशील पुरुष द्वारा विधिपूर्वक दान देनेकी सम्भावना हो सकती है। जिसके जरासी बातमें क्रोध सा आ जाय तो वह दान क्या दे सकता है? दूसरा गुण दातार में क्षमाका होना है। कोई बात अपने प्रतिकूल समझ लें साधुवोंको आहार देते समय या कुछ अपनेको थोड़ा बहुत अरुचिकर जँचे, मन बिगाड़ ले तो वह दान नहीं दे सकता। तीसरा गुण होना चाहिए निष्कपटता। सरलतासे आहार दे। आहार दान देते समय क्या कपट हो सकते हैं। कोई होते होंगे। मनमें प्रसन्नता न हो दान देने वालेको और ऊपरसे मुखमुद्रा खुशीकी बनाये, हम बड़े खुश होकर आहार दान दे रहे हैं, तो ऐसे कुछ कपट होते होंगे। अथवा आहारकी चीजोंके देते समय कोई कपट भाव होता होगा। यह भी कपट सभव है। यह तो कपट बहुत ही बुरा है कि आहारकी वस्तु शुद्ध न हो, योग्य न हो और शुद्ध कह कर दे दे यह तो बहुत कपटकी बात है। तो तीसरा गुण होना चाहिए दातारमें निष्कपटका। चौथा गुण है ईर्ष्यारहितपना। अमुक पड़ौसी ने इतने बार आहार दिया मैं इससे अधिक दू, इससे पहिले दू ये सब ईर्ष्याभाव है। यह ईर्ष्याभाव भी आहारदाता श्रावकमें न होना चाहिए। ईर्ष्यासे दिए हुए दानमें दानका परिणाम नहीं बनता। ५ वा गुण है अखिन्न भाव। खेदखिन्न न हो। उतना ही दान करना, उतनी ही चीजे रखना, उतना ही बनाना जितनेमें खेद उत्पन्न न हो। अब आ गए हैं, कौन करने वाला है, अपन सबको ही तो मुखमुद्रा खुशीकी बनाये, हम बड़े खुश होकर आहारदान दे रहे, तो ऐसे कुछ कपट होते होंगे अथवा आहारकी चीजोंके देते समय कोई कपट भाव होता होगा। यह भी कपट सभव है यह तो कपट बहुत ही बुरा है कि आहार की वस्तु शुद्ध न हो योग्य न हों और शुद्ध कह कर दे दे यह तो बहुत कपटकी बात है। तो तीसरा गुण होना चाहिए दातारमें निष्कपटका। चौथा गुण है ईर्ष्यारहितपना। अमुक पड़ौसीने इतने बार आहार दिया मैं इससे अधिक दू, इससे पहिले दू ये सब ईर्ष्याभाव हैं। यह ईर्ष्याभाव भी आहारदाता श्रावकमें न होना चाहिए। ईर्ष्यासे दिए हुए दानमें दानका परिणाम नहीं बनता। ५ वा गुण है अखिन्न भाव। खेदखिन्न न हो, उतना ही दान करना, उतनी ही चीजे रखना, उतना ही बनाना जितनेमें खेद उत्पन्न न हो। अब आ गए हैं, कौन करने वाला है, अपन सबको ही तो करना है ऐसा कोई खेद भाव न आये तो उसका दान दान है। वैसा करे कोई तो करे, मगर उसमें दानकी महत्ता नहीं हो सकती। छठा गुण होना चाहिए हर्षभावका। दान देते हुएमें हर्ष हो। अब देखिये चोजकी चीज दे रहे, कष्ट भी सह रहे और हर्ष न हो तो चीजसे भी लुटे और परिणाम पापमय ही रहे। उसके दोनों काम बिगड़ गए। तो दानमें हर्षभाव होना चाहिए। जिस साधुको आहार दान दे रहे हैं उसके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र गुणोंका विचार करके, उनकी वैराग्य भावनाका ध्यान करके कि यह संसारसे विरक्त हैं और एक अपने आत्मध्यानकी साधनामें ही लगे रहते

हैं ये सब बातें जब श्रावकको रुचती हैं साधुमें तो वह बहुत हर्षित हो जाता है। ७ वां गुण होना चाहिए निरभिमानता। घमंड न होना चाहिए। दान देते समय श्रावकको घमंड हो सकता है अन्य श्रावकोंपर दृष्टि देकर घमंड दूसरेपर दृष्टि डालकर ही हुआ करता है। तो अन्य श्रावक जनोंको दिखाने के लिए अपना बड़प्पन बताना, अपनी मान्यता साबित करना ये सब अभिमान हो सकते है। तो अभिमान भी न होना चाहिए। कदाचित् साधुवोंको भी निगाहमे रखकर अभिमान कर सकता है गृहस्थी, हम साधुवोंकी ऐसी सेवा करते हैं और हम इन्हें पालते हैं, हम इन्हें लिए जा रहे हैं, हम इनका प्रबंध कर रहे हैं। तो उन साधुवोंके प्रति निगाह रखकर एक अहकार रूप परिणाम कर सकते हैं, पर यह अभिमान अच्छा नहीं है। निरभिमान होकर दान करना चाहिए। ये ७ गुण दातारके हैं जिनके कारण दानमें विशेषता होती है।

रागद्वेषासंयममदुदु खभयादिकं न यत्कुरुते।
द्रव्य तदेव देय सुतपः स्वाध्यायवृद्धिकरम् ॥१७०॥

पात्रके लिये योग्य द्रव्यकी देयताका कथन—इस शिक्षाव्रतके वर्णनमें हमें दो बातें जानना चाहिए कि इससे अहिंसाव्रतकी सिद्धि होती है और मुनिधर्मकी शिक्षा मिलती है। तो समस्त व्रत, नियम जितने भी पालन किए जाते हैं वे सब अहिंसाकी सिद्धिके लिए होते हैं, अहिंसाकी सिद्धिका अगर लक्ष्य नहीं है तो उन व्रत नियमोंका कुछ महत्व नहीं है। सो एक तो यह जाननेमें आना चाहिए कि इस नियममें अहिंसा की सिद्धि क्या होगी, दूसरे यह शिक्षा व्रतका भाव है यह भी ध्यानमें होना चाहिए। कि इसमें मुनिधर्म की क्या शिक्षा मिलती है ? दातारके जो ऊपर ७ गुण बताये उनसे दातारकी आत्मरक्षा है, यही तो अहिंसाकी सिद्धि है और उससे मुनित्वकी ओर आकर्षण है। सो मुनिधर्मकी शिक्षा है। इस गाथामे यह बतला रहे हैं कि पात्रको द्रव्य कैसा देना चाहिए। ऐसा द्रव्य देना चाहिए जो तप और स्वाध्यायमें वृद्धि करनेमें सहायक बने। भोजन श्रावकको न देना चाहिए क्योंकि उससे साधुमें प्रमाद आता है, वह स्वाध्याय नहीं कर सकता। त्यागी जनोंको भी चाहिए कि वे गरिष्ट भोजन न ग्रहण करें जो स्वाध्यायमें बाधक प्रतीत हो। यहाँ यह बात बता रहे हैं कि श्रावकको कैसा आहार देना चाहिए ? जब त्यागियोंकी ओर से प्रकरण चलेगा तो वहाँ यह बताया जायेगा कि त्यागियोंको किस तरहका आहार लेना चाहिए ? तो श्रावकको ऐसा आहारदान करना चाहिए जो तप और स्वाध्यायमें वृद्धि करे। अन्य लोगोंमे जैसे यह प्रथा है कि साधुजनोंको मकान देते, घोड़ा, हाथी देते, सोना चाँदी देते, शस्त्र भी देते त्रिशूल वगैरह, उन साधुवों के पास बड़े ठाठ हैं, उनके मठ बने हैं, तो ये चीजें दान देने योग्य नहीं हैं। जो इन वस्तुवोंका दान करते हैं वे पापबंध करते है। दानमें ऐसे पदार्थ देने चाहिएँ जो विकारभावको न उत्पन्न करें और तपश्चरणकी वृद्धि करें। वे दान चार प्रकारके हैं— आहारदान, औषधिदान, अभयदान और शास्त्रदान। दानमें विशेषता सभी दानोंकी है फिर भी आहारदानकी मुख्यता है। सभी दानोंमें आहारदानकी प्रमुख विशेषता है। आहारदानमे औषधिदान भी हो गया क्योंकि क्षुधा रोग तो लगा ही है, अभयदान भी हो गया क्योंकि उसमें धर्म करनेकी सामर्थ्य जागृत होती है। शास्त्रदान भी है क्योंकि वह ज्ञान ध्यानमें अपना अधिक उपयोग लगानेका अवसर पाता है। शास्त्रदानकी भी बात देखो तो यह दान भी बड़ा मुख्य है, यही ज्ञानदान है क्योंकि आहारसे तो २४ घंटेकी वेदना मिटेगी, पर शास्त्रदानसे अर्थात ज्ञानदान से तो सदाके लिए संसारके संकट छूट जायेंगे। तो ज्ञानदानका भी बहुत बड़ा महत्व है। और यों कहो कि असली तो ज्ञानदान है, मुख्य चीज तो ज्ञानदान है। उसी ज्ञानकी साधनाके लिए बाकी शेष तीन दान हैं। वे तीनों दान ज्ञानकी सहायताके लिए हैं। एक औषधिदान है। कोई रोग हो गया तो उस समय औषधिदान देना भी आवश्यक है। अभयदानमें कोई आपत्ति आये, उपसर्ग आये, कठिन परिस्थिति आये

उस समय जैसे वह साधु निर्भय हो सके वैसा काम करे। वसतिका बनवाना भी अभयदानमें शामिल है। यों ७ गुणवाला दातार अतिथिसम्विभागव्रतमें अतिथिका सम्विभाग करे। यह श्रावकका रोजका काम है। श्रावक सिर्फ साधुके लिए आहार न बनावे। सभीके लिए आहार बना है ऐसा मालूम पड़ना चाहिए। यदि केवल साधुके लिए आहार बनाया है तो उसमें उद्दिष्टकी बात आती है। साधु यह समझ ले कि हाँ यह हमारे ही लिए आहार नहीं बना है बल्कि सभीके लिए यह आहार बना है तो इसमें उद्दिष्टकी बात नहीं आती है। तो यों अतिथि सम्विभागव्रत श्रावकको रोज रोज करना चाहिए।

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारणगुणानाम्।
अविरतसम्यग्दृष्टि विरताविरतश्च सकलविरतश्च ॥१७१॥

तीन प्रकारके पात्र— जिनको दान देना चाहिए उन्हें पात्र कहते हैं। तो इसमें पात्रका लक्षण कहते हैं कि मोक्षके कारणभूत गुणोंका जहाँ सम्बन्ध पाया जाय उसे पात्र कहते हैं। बहुत अच्छा लक्षण कहा है। पात्र मायने योग्य। जहाँ पर रखा जा सके, भरा जा सके। तो जिस आत्मामें सम्यग्ज्ञान रखा हुआ हो, सम्यग्दर्शन रखा हुआ हो और सम्यक्चारित्र रखा हुआ हो वह सब पात्र कहलाते हैं। वे तीन प्रकार के हैं-अविरत सम्यग्दृष्टि, देशव्रती और महाव्रती। जाननेके सम्बन्धमें तो पात्रका निर्णय छठे गुणस्थान तक है, ७ वा गुणस्थान यद्यपि मुनियोंके बीच बीच होता रहता है, आहार करते हुएमें भी लोकप्रवृत्ति वो वहाँ मान्यता है और पात्र अवस्थामें ७ वें गुणस्थानसे अधिक गुणस्थान होता ही नहीं। तो जघन्न हुए चतुर्थगुणस्थानवर्ती जीव। मध्यम पात्र हुए पंचम गुणस्थानवर्ती जीव। जो कुछ व्रत रूप हैं कुछ अव्रत रूप हैं, इसमें जो व्रत अव्रत हैं वे पचमगुणस्थानवर्ती जीव मध्यमपात्र हैं। उत्तम पात्र हैं संयमी जीव, महाव्रती जीव। दानके प्रकरणमें यों जघन्य, मध्यम और उत्तमका भेद है, जहाँ अन्तरात्माका कथन है, मोक्ष पात्रताका कथन है वहाँ उत्तम पात्र उत्कृष्ट अन्तरात्मा तो है ध्यानी मुनि। सप्तम गुणस्थान और इससे ऊपर और मध्यम पात्र हैं प्रमत्त गुणस्थान वाले मुनि और पंचम गुणस्थानवर्ती जीव। ये मध्यम अन्तरात्मा हैं और जघन्न अन्तरात्मा हैं अविरत सम्यग्दृष्टि जीव। पात्रको जैसे भावसे दान दिया जाता है, वैसे ही फलका भोगी दाता होता है और यह पात्र व्यवहार दर्शन ज्ञान और चारित्र गुणोंकी अपेक्षासे होता है। पात्र कौन उत्तम मध्यम और जघन्न है? यह भेद सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके विकासकी अपेक्षा है, इसी कारण पात्रका लक्षण यह है कि जिसके रत्नत्रयका गुण भर जाय, भर रहा हो। पात्रके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंको जो दान दिया जाता है वह दान दयामें शामिल है और दया दानमें विशेषता दयाकी है, इससे भी अत्यन्त अधिक निर्णय तो स्पष्ट शब्दोंमें कोई बता नहीं सकता, ऐसे अनेक परिणमन होते हैं। कोई कुभेषी हैं, कोई खोटे मत वाले हैं। वे आहारके लिए आयें तो उन्हें दान न दे, दे भी तो उन्हें पात्र बुद्धिसे देनेमें दोष है। दया बुद्धिसे दे तो उनको देखकर दयाकी बात चित्तमें नहीं आती, किन्तु थोड़ासा भय होता, लाज होती। अनेक बातें उत्पन्न होती हैं, कदाचित समझमें आये कि यह पीड़ित है वास्तवमें तो कभी दया भी उत्पन्न होती है। क्या स्पष्ट शब्दोंमें निर्णय बताया जाय, यह तो अपने अपने भावों पर निर्भर है। पात्रोंको दान दे तो धर्मबुद्धिसे दे और अन्यको दान दया बुद्धिसे देना चाहिए। इसके अलावा और भी दान हैं। जैसे दानोंमें बताया गया है एक समदत्ती दान। यह दान साधारण पुरुषोंको दिया जाता है। इसमें दया और पात्रता दोनोंका समावेश है। एक होता है सर्वदत्ती दान। कोई पुरुष जब दीक्षा लेनेका उद्यमी होता है तो अपने अधिकारीको पात्रको जो घरका अधिकारी चुना गया है उसको सब कुछ देकर विरक्त हो जाना, इसको सर्वदत्ती दान कहते हैं तो यहा पात्रदानका प्रकरण है। अतिथिसम्विभाग महाव्रतकी बात चल रही है। अतिथिको योग्य भक्तिसे दान देनेका नाम अतिथि सम्विभाग व्रत है।

हिंसायाः पर्यायो लोभोऽत्र निरस्यते यतो दाने।
तस्मादतिथिवितरणं हिंसाव्युपरमणमेवेष्टम् ॥१७२॥

दानमें अहिंसारूपताकी सिद्धि—इस अतिथिसम्विभाग व्रतके पालनेमें इस दानमें चूँकि हिंसाका परिहार होता है इसलिए अहिंसा है। लोभ परिणाममें जीवको परके प्रति अपनायतकी दृष्टि होती, आकर्षण बुद्धि होती, संग्रह करनेका विकल्प होता है, तो इन विकल्पोंसे निज परमात्मतत्त्वका घात होता है, अतः लोभपर्याय हिंसा है। अतिथिसम्विभागमें चूँकि द्रव्यदान किया है अपना परिणाम विशुद्ध किया है वहाँ मनका लोभ, वचनका लोभ नहीं है, वहां कुवचन नहीं बोल सकते। धनका लोभ तो यहां रहा ही नहीं है, लोभ चूँकि यहां दूर होता इसलिए अतिथिसम्विभाग व्रतमें अहिंसा धर्मका पालन होता है। हिंसा नाम है रागद्वेषके उत्पन्न होनेका। तो द्रव्यमें चूँकि राग था, वह राग अब नष्ट किया जा रहा है इसलिए यह अहिंसा ही है। पात्रमें राग होता है वह गुणानुराग है। भक्तिमें केवल राग ही राग नहीं हुआ करता। केवल राग ही राग हुआ करता है विषयोंमें और जहां केवल राग ही राग है हिंसा उसे कहते हैं, और भक्तिरूप जो परिणाम है वह केवल रागसे नहीं बनता। राग और वैराग्य दोनोंका वहां सम्बन्ध है। जब भक्तिका परिणाम बना उस भक्तिमें भी जो परिणाम बना और उस भक्तिमें भी जो यथार्थरूपसे परमात्मस्वरूपके गुणोंमें अनुराग चल रहा है इसमें वैराग्य तो मुख्य है और राग अल्प है। राग शुभ है तो जैसे कुछ लोग ऐसा कह बैठते हैं कि जितने भी राग हैं वे सब हिंसा हैं तो रागका स्वरूप हिंसामें तो आता है मगर इस माध्यमको कह कर भक्तिको भी, ध्यानको भी हिंसा बना देना यह कुछ अनुचित व्यवहार है क्योंकि इस कथनमें जो वैराग्यकी बात है उसे तो चुरा ले गया और रागकी बातको ही सामने रक्खे गया और उसमें हिंसाकी सिद्धि की गई। यद्यपि उस भक्तिपरिणाममें भी जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्धन है और बन्धनका ही नाम घात है, लेकिन जिनेन्द्रदेवकी भक्ति, परमात्मस्वरूपकी भक्ति और निज कारणसमयसार की भक्ति—इनमें जो राग उमड़ता है वह राग एक वैराग्यके आधारको पाकर उमड़ता है। वह राग राग रहे और प्रभुमें भक्ति पहुंचे, यह बात नहीं बनती है। तो जहां राग और वैराग्य दोनोंका समारोह है वहां वैराग्यकी बातको छोटी करके रागकी बात ही सामने रखकर उसे हिंसा कहनेका चाव रखते, यह सन्मार्गगामीका व्यवहार नहीं बनता। तो इस भक्तिमें जो साधुवोंके गुणोंका अनुराग चल रहा है जिस अनुरागकी प्रेरणा पाकर जिसमें ये साधु महाराज भली प्रकार संयम कर सकें, जिनमें इतनी निराकुलता रहे ऐसी वाञ्छासे जो दान दिया जाता है वह अतिथिसम्विभाग व्रत है।

गृहमागताय गुणिने मधुकरवृत्त्या परानपीडयते।
वितरति यो नातिथये सकथं न हि लोभवान् भवति ॥१७३॥

गुणी अहिंसक अतिथिके लिये दान न करने वाले गृहस्थके लोभवत्त्वकी सिद्धि—ऐसे साधुजनोंको जो अतिथि हैं, जिनके किसीसे मोह नहीं है, रागद्वेषका परिहार करके जो समताभावमें रहा करते हैं, ऐसे संयमीजन गुणयुक्त और अपनी गोचरी वृत्तिसे, दूसरोंको पीडा न देते हुए श्रावकके घरके सामने आये हुए हैं और उन्हें जो गृहस्थ आहार आदिक दान नहीं देते हैं, उन्हें लोभी कैसे न कहा जाय? एक ऐसा भी प्रश्न रखा जा सकता है कि घरमें उतनी व्यवस्था शुद्ध भोजनकी नहीं है जितनी देना आवश्यक है, और और कामोंमें तो बहुत कुछ खर्च कर डालते हैं तो इस मामलेमें लोभी कैसे कहलाये? लेकिन जो चीज उनके लिए खास रोज दान करने की है आहार आदिक, मानलो और अन्य-अन्य प्रकारकी सुविधाएँ खूब दी जायें और आहार न दिया जाय तो मुनिका सत्कार या अतिथिका गुणानुराग क्या हुआ? यह एक भावोंकी शिथिलता है। घर पर रहते हुए घरमें रहने वाले गृहस्थ चूँकि अपनी २४ घंटेकी चर्या ठीक

बना सकते हैं, जैसी विधि करे, जैसी प्रक्रिया प्रारम्भ करे बराबर वैसी निभा सकते हैं। केवल एक भाव की कमी होनेसे वह अपने को निभानेमें असमर्थ समझता है। तो गुणानुरागसे प्रेरित होकर गृहस्थ अतिथि दान किए बिना नहीं रह सकता। जो पुरुष घर पर आये हुए संयमी मुनिके लिए आहार आदिक दान नहीं देता उसे लोभी कैसे नहीं कहा जा सकता ?

निर्ग्रन्थ साधुकी आहारचर्यामें गर्तपूरणवृत्ति भ्रामरीवृत्ति--महाराज जो आहारको निकलते हैं, जिस विधिसे निकलते हैं उसे ४ विशेषणोंसे बताया गया है। उनकी चर्याका नाम, भिक्षावृत्तिका नाम है— गोचरीवृत्ति, भ्रामरीवृत्ति, गर्तपूर्णवृत्ति और अक्षम्रक्षणवृत्ति। गर्तपूर्णवृत्तिमें उनका ध्येय है गड्ढा भरना। पेटको एक गड्ढेका अलकार दिया है। जैसे किसी बड़े गड्ढेको भरते समय यह नहीं ध्यान दिया जाता कि बढ़िया चिकनी मिट्टी भरें, या कैसी भी मिट्टी भरें ऐसे ही आहारमें वे यह ध्यान नहीं देते कि यह आहार बढ़िया स्वादिष्ट है या नहीं। जैसा चाहे रस-नीरस प्रासुक आहार हो उसीसे वे मुनिजन अपने उदर गर्तको भर लेते हैं। हाँ, वे केवल भक्ष्य और अभक्ष्यको देखते हैं क्योंकि अभक्ष्य आहारसे उनके संयममें बाधा है। तो यह हुई गर्तपूर्णवृत्ति। भ्रामरीवृत्तिका अर्थ है कि भ्रमरकी तरह साधुजनोंकी वृत्ति होती है। जैसे भ्रमर किसी पुष्पसे मकरद लेता है तो थोड़ी मकरद लेकर उड़ जाता है ऐसे ही साधुजन किसी भी गृहस्थके यहाँ जो भक्तिपूर्वक आहार दान दे रहा है उसके यहाँ आहार लेकर झट अपनी संयम साधनाके लिए चले जाते हैं। खड़े-खड़े आहार लेना साधुवोंको बताया है। तो लोक-व्यवहारकी दृष्टिमें यद्यपि कुछ लोगोंको अयोग्य-सा जंचता है कि यह क्या भोजन है खड़े खड़े ले जाते हैं, लेकिन जिन साधुवोंका चित्त लोकसे उपेक्षित हो गया है वे लोकको न देखेंगे किन्तु जिसमें गुणोंकी वृद्धि हो उस कामको देखेंगे। खड़े-खड़े आहार लेनेमें ऐसा समझा जाता है कि स्वल्प आहार लिया जाता है इस प्रकारकी पेटकी स्थिति रहती है। कुछ ऐसा नसाजाल बना रहता है कि खड़े-खड़े उतना भोजन नहीं लिया जा सकता जितना बैठे-बैठे लिया जा सकता है। यह हम अपनी समझसे कह रहे हैं। और मुख्य बात तो हमें यह मालूम देती है कि उन साधुवोंके पास इतना अवसर नहीं है कि वे बैठकर, ढंग बनाकर आहार ले सके। जैसे जिस बच्चेके खेल खेलनेमें धुन लगी है उसे उसकी मा जबरदस्ती पकड़ ले जाती है, खाना खिलाती है तो वह थोड़ा-सा खड़े खड़े खाकर ही भाग आता है और अपना खेल खेलने लगता है, ऐसे ही ये साधुजन अपने आत्मखेलमें रत रहा करते हैं। उनके चित्तमें आहार करने जाना है ही नहीं तो मानो यह क्षुधा मा इन्हें जबरदस्ती खींचकर आहारके लिए ले जाती है, पर जल्दी ही खड़े-खड़े कुछ खा कर भग आते हैं और अपने आत्मरमणके खेलमें रत हो जाते हैं। तो यों वे साधु खड़े-खड़े ही आहार लेते हैं। साधुजनोंकी अल्प आहार क्यों बताया गया है ? अल्प आहार लेनेसे साधुका ध्यान साधनामें मन लगता है। अधिक आहार लेने पर प्रमाद बना रहता है जिसके कारण सामायिक वगैरहके करनेमें बाधा होती है। जब अधिक आहार करेंगे साधु तो उन्हें करवट लेकर लेटना ही सुहायेगा। प्रमाद ही बना रहेगा, इससे अधिक आहार उनको ध्यानकी साधनामें बाधक है, इसलिए उन्हें अल्प आहार लेना बताया गया है। तो वे साधु भ्रामरीवृत्तिसे दूसरोंको पीड़ा न देकर तुरन्त खड़े खड़े आहार लेकर चले जाते हैं। ऐसे गो पुरुषको जो आहारदान नहीं कर सकते वे क्या लोभवान् नहीं हैं ?

साधुकी आहारचर्यामें गोचरीवृत्ति व अक्षम्रक्षणवृत्ति--साधुकी एक वृत्तिका नाम है गोचरीवृत्ति। गो मायने गाय, चरी मायने चरे। जैसे गाय घास चरती है तो गायको चाहे कोई सुन्दर महिला भोजन दे जाय, चाहे कुरूप महिला भोजन दे जाय, चाहे बहुत शृङ्गारकी हुई महिला भोजन दे जाय, उस गाय को उनसे कुछ प्रयोजन नहीं है, उसे तो ग्रास अर्थात् घाससे प्रयोजन है। ऐसे ही उन साधुजनोंको कैसी ही कुरूप अथवा सुन्दर अथवा बहुत ही शृङ्गारयुक्त कोई भी महिला भोजन दे जाय, उससे उन्हें कुछ

प्रयोजन नहीं है, उनका प्रयोजन तो सिर्फ ग्रास खानेसे है। रूप शृङ्गार आदिक पर उनकी दृष्टि नहीं है। एक चौथी प्रकारकी वृत्ति है अक्षमृक्षणवृत्ति। जैसे गाड़ीका पहिया चलता है तो पहियेमें जब तक ओंघन न डाला जाय अर्थात ग्रीस न डाली जाय तब तक पहिया ठीक ठीक नहीं चलता है, टूट जायेगा, मशीन बिगड़ जायगी, इसी प्रकार यह शरीररूपी चक्का चल रहा है इसमें कुछ ग्रीस डालनेकी जरूरत है इस दृष्टिसे कि यह शरीर चले, क्योंकि यह संयमका साधन है, शरीरको रखना है, इस भावसे शरीरके रखनेके लिए जो औंघनकी तरह आहार डाला जाता है ऐसी विधि है इसलिए इसका नाम अक्षमृक्षणवृत्ति है। प्रवचनसारमें अमृतचन्द्रसूरिने एक जगह बताया है कि साधु महाराज इतना विरक्त होते हैं कि वे आहार का परित्याग करके ही रहें ऐसा उनका भाव है और ऐसा वे करते हैं लेकिन विवेक साधुका हाथ पकड़कर ले जाता है कि तुम चर्या करो, भोजन करो। जैसे एक किवाड़ इस ढगका होता है कि उसके बंद ही रहनेका स्वभाव है, उसमें स्प्रिंग लगा होता है। उसे कोई जबरदस्ती खोले तो जब तक वह खोले रहता है तब तक खुला रहेगा उसके छोड़ देने पर वह फिर झट बन्द हो जायेगा। तो ऐसे ही समझिये कि आहार आदिककी प्रवृत्ति सब बन्द है साधुके लिए, यह तो सदाके लिए है, मगर यह विवेक पकड़कर खिलाता है। विवेक मानो कहता है कि ऐ साधु तू आहार कर। देख यह आहार शरीरका साधक है और यह शरीर तेरी आत्मसाधनाका साधक है। तू आहार ग्रहण कर। देख तुझे संयम पालना है ना, तुझे आत्मसाधना करना है ना ? तू आहार ग्रहण कर तो निराकुलतासे तेरेमें ध्यानकी सिद्धि बनेगी। इस प्रकार यह विवेक मनाता है तब वे आहारको उठते हैं, नहीं तो बंद हैं। सभी पदार्थोंसे उनके उपेक्षावृत्ति है। जो समतापरिणामकी साधनामें लगे हैं, जो व्यवहारके कार्योंसे अति उदासीन हैं, व्यवहार कार्योंमें जिनकी रुचि नहीं जगती है, जो स्वभावमात्र आत्मतत्त्वके मननमें निवास किया करते हैं ऐसे मुनिजन जब कभी आहारके अर्थ इन चार वृत्तियोंसे घर पर आये हुए हों और उन्हें गृहस्थ आहार न दे सके तो वह लोभवान् कैसे न कहा जायेगा ? किसी के मानलो धनका भी लोभ न हो तो शरीरका लोभ तो हुआ मनका लोभ तो हुआ। अतएव श्रावक जो अतिथिसम्विभाग व्रतका पालन करता है वह अहिंसाकी सिद्धि करता है। गृहस्थावस्थामें रहकर जिस पद्धतिसे अहिंसाव्रतकी साधना हो सकती है उसके योग्य आचरण होना चाहिए, उसमें साधक ये बारह व्रत हैं।

कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्तमिति भावितस्त्यागः।
अरतिविषादविमुक्तः शिथिलितलोभो भवत्यहिंसैव ॥१७४॥

अतिथिसंविभागव्रतमें अहिंसाधर्मकी सिद्धिका प्ररूपण—अपने लिए बनाया हुआ भोजन मुनिके लिए देना चाहिए जिसके न अप्रेम है, न विषाद है। इस प्रकारके भावपूर्वक जो गृहस्थ आहारदान करता है उसका समझो लोभ शिथिल हुआ है। जिसने लोभको शिथिल कर दिया वह गृहस्थ अहिंसा स्वरूप ही है। देखो साधुके लिए अलगसे भोजन बनाना पड़े तो उसे देनेमें कोई कष्ट नहीं होता, क्योंकि उसीके लिए बनाया गया, आये तो उनको ही दे दिया, लेकिन अपने घरके लिए बन रहा भोजन हो, सबके लिए बन रहा भोजन हो, उस बीचमें कोई अतिथि आ जाय तो उसमें से भोजन देनेमें सम्भावना है कि कुछ अरति हो जाय, कुछ विषाद भी हो सके। जैसे कि कल्पनामें ऐसा प्रसंग लाये कि घरमें ५ मनुष्य हैं, ५ के लिए ही भोजन बना और ऐसे समयमें कोई दो मेहमान आ जायें, आपके रिश्तेदार कोई आ जायें तो चूँकि उनसे प्रीति है इस कारण स्वयंको खेद न होगा, लेकिन जिससे अधिक सम्बन्ध नहीं, अधिक प्रीति नहीं और आ जाय तो कुछ विषादसा भी हो सकता है। तो एक कल्पनामें दृष्टान्तमें बताया गया है लेकिन यहां गृहस्थ जो धर्मभावना वाले हैं, साधुके विशेष गुणानुरागी हैं ऐसे गृहस्थोंको उस जगह न अप्रेम होता है, न विषाद होता है। तो भला बतलावो कि विषादरहित गुणानुराग सहित अतिथिके लिए

जो गृहस्थ उस भोजनमें से जो अपने घरके लिए बनाया गया है वह दान करे तो उसका लोभ शिथिल हुआ कि नहीं ? ऐसा निर्लोभ गृहस्थ मानो अहिंसास्वरूप ही है। तो इस अतिथिसम्विभागव्रतमें मुनि का दुःख दूर हुआ, सो भी अहिंसा हुई और अपना परिणाम निर्मल हुआ अविकारी निर्दोष आत्मस्वभाव की ओर दृष्टि जगी उन साधुवोंके दर्शनसे, सो भावोंमें भी अहिंसा हुई। इस तरह अतिथि सम्विभागव्रतमें अहिंसाका पालन होता है। आजकलकी रिवाजमें चूँकि गृहस्थजन शुद्ध भोजन नहीं करते तो उनको अलगसे बनाना होता है, उसमें वे खेद मानते हैं। इस सम्बन्धमें इतना ही समझना चाहिए कि जो इस प्रकार खेद मानते हैं और आहार बनाते हैं उन्हें आहार बनाना ही न चाहिए। खेद मानकर दान देने वालेको तत्त्व क्या मिला, लाभ क्या मिला ? समय भी बरबाद हुआ, क्लेश भी रहा। जो पुरुष गुणानुरागी होते हैं तो कुछ थोड़ासा स्पेशल भी हो जाय तो भी उनके अन्दर रंच मात्र भी खेद नहीं होता, बल्कि हर्ष होता है और सारा स्पेशल भोजन बने तो मुनिजन वैसा भोजन नहीं करते हैं। हाँ, साधुके लिए आहार बना रहे हैं। तो उसमें कुछ और विशेष कर ले वह बात और है, मगर वह उनके लिए ही बनाया जाय तो ऐसा आहार मुनि नहीं लेते हैं। यदि सबके लिए बना हुआ भोजन है, उसमें से आहार गृहस्थ देवे, विषाद न करे तो वह अहिंसास्वरूप है। यों अतिथिसम्विभाग व्रतमें अहिंसाव्रतकी सिद्धि हुई।

❀ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन द्वितीय भाग समाप्त ❀

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन तृतीय भाग

इयमेकैव समर्था धर्मस्वं मे मया समं नेतुम्।
सततमिति भावनीया पश्चिमसल्लेखना भक्त्या ॥१७५॥

सल्लेखनाका महत्त्व—व्रतोंके जीवनभर पालन करनेके बाद जब अन्त समय निकट आता है तो यह श्रावक भी सल्लेखनाधर्म अंगीकार करता है। सल्लेखनाका अर्थ है सत् लेखना अर्थात् भली प्रकार क्षीण करना। सत् मायने भली प्रकार लेखना मायने क्षीण करना। लिख शब्द लिख धातु शब्द से बना है जिसका अर्थ है लेपना। जो ताड़पत्रपर लिखा जाता है वह लिखना कहलाता है। लिखनेका अर्थ है क्षीण करना। बाहरी कर्मोंको कषायोंको भली प्रकार क्षीण करना, इसका नाम सल्लेखना है। यहाँ श्रावक यह चिन्तन कर रहा है कि एक सल्लेखना ही पालित धर्मरूपी धनको मेरे साथ ले चलनेमें समर्थ है। जो हमने जीवनभर व्रत पालन किया है और जो कुछ हमने अपने आपमें विशुद्धिका संचय किया है यह सबका सब धर्म मेरे साथ चले, इसके लिए आवश्यक है कि सल्लेखना अवश्य हो। क्योंकि मरण समयमें यदि परिणाम निर्मल न रहें, विषय कषायरूप हो गए, मोहरूप हो गए तो ऐसी परिस्थितिमें मरण होने पर इस अज्ञानका संस्कार अगले भवमें भी जायेगा। मरण समयके बीचमें संस्कार बदला नहीं जा सकता। अर्थात् मरण समय तो हो खोटा परिणाम और मरनेके बाद कुछ कुछ बीचके समयमें वह परिणाम बदल दे और एकदम विशुद्ध बने तो यहाँ शक्ति है। जिसका जीवनमें बड़ा खोटा परिणाम था वह मरण समयमें अच्छा परिणाम भी बना सकता है, मगर मरण समयका संस्कार जन्म समय तक चलेगा और जन्म समयमें जिसकी शुरुवात होती है समझिये कि उसका निर्वाह भी उसी प्रकार प्रायः होगा बदला जा सकता है मगर कठिन है मरणके समयमें जो परिणाम बना है, जब कि मरण होने ही वाला है जिसके बाद समझो कि कुछ समयमें ही मृत्यु होनी है तो उस समयमें जो परिणाम मरने वालेका बन गया वह संस्कार बदला नहीं जा सकता। न बदलनेका कारण है कि मरण समयमें जो परिणाम बना, बना, अब उसको बदलनेके लिए विशिष्ट मन चाहिए, सावधानी चाहिए, विवेक चाहिए। इसके लायक अब उसकी इन्द्रियां और मन समर्थ नहीं है। इस कारण जो संस्कार बना मरणके समयमें वह जन्मके समयपर पहुँचता है और फिर जिसका प्रारम्भ ही खोटा हो उसका बहुत समय तक जीवन चलेगा। इस तरहसे यह श्रावक विचार कर रहा है कि हमने सारा जीवन धर्ममें व्यतीत किया, अब उसमें जो हमारे विशुद्ध परिणामोंका हुआ है उस समस्त धर्मधनको ले जाने में समर्थ एक सल्लेखना है, इस कारण भक्तिपूर्वक मरणके समयमें सल्लेखनाकी निरन्तर भावना बनाये रहना चाहिए।

आवीचिमरण और तद्भवमरण दोनों मरणोंमें सल्लेखनाकी आदेयता—मरण दो प्रकारका होता है—एक तो आवीचिमरण और एक तद्भवमरण। तद्भवमरण नाम तो एक पर्याय छूटनेका है। जिस पर्यायमें हम रह रहे हैं उसके छूटनेका नाम तद्भवमरण है, आवीचिमरण तो प्रति समय हो रहा है। जीवनका एक एक क्षण गुजर रहा है समझो एक एक क्षण हम मर रहे हैं। किसीकी ४० वर्षकी उमर हो और किसीकी ५० वर्षकी हो तो लोग तो यों कहते हैं कि यह इससे १० वर्ष बड़ा है, पर तथ्य यह है कि यह १० वर्ष ज्यादा घाटेमें है। तो यह है आवीचिमरण। प्रथम तो यह प्रकरण तद्भवमरणका है। जब तद्भवमरण निकट आये तो उस समय विषय कषाय आहार आदिकका त्याग कर देना चाहिए।

आहारके त्याग करने का मुख्य प्रयोजन मरण समयमें यह है कि शरीरकी विशुद्ध स्थिति रहे, शरीरमें सावधानी रहे और वेदना कम रहे। इसका सहायक है आहारका त्याग। इस मर्मको न जानने वाला एक धर्मका नाम ही रखकर आहारका त्याग करता है कि हमको समाधिमरण करना है सो आहारका त्याग है। साथमें यह न भूलना चाहिए था कि आहारका त्याग करने से शरीरकी स्थिति अच्छी रहती है, सावधानीकी रहती है और वैसे भी अनुभव किया होगा कि जब कोई रोगकी परिस्थिति होती है तो उस समय आहारका त्याग करनेसे उस पर काबू जल्दी बना लिया जाता है, रोग दूर हो जाता है और उस पर आहार करके शरीरकी स्थिति बिगड़ती है। तो मरण समयमें शरीरकी स्थिति एक ऐसी शिथिल हो जाती है कि महारोग आये, मरणके कालमें यदि कोई खाता ही रहे तो खानेसे उसका रोग बढेगा, बेसुधी होगी, असावधानी होगी साथ ही विकल्प बढ़ेंगे, मोह रागद्वेष भी ठहरेंगे तो उसका भव बिगड़ जायेगा। तो परिणामोंकी सम्भालके लिए ही आहारका परित्याग है, तो आहारके परित्यागकी जो विधि है उस विधिमें पहिले मोटे आहारका परित्याग किया जाता है, जैसे अन्नका परित्याग, बादमें फिर पेय आदिक पदार्थ हैं उनका भी परित्याग हो। पश्चात् छाछ रखा जाता है। आयुर्वेदकी दृष्टिसे छांछ शोधक तत्त्व है, इसके बाद जल। फिर जलका भी त्याग कर दे। आहारके परित्यागके साथ ही साथ विषय कषायोंका भी परित्याग है, उसे सल्लेखना कहते हैं। इन सब विधानोंमे कषायसल्लेखना प्राथमिक है।

सर्वधर्मस्व ले जानेके लिये सल्लेखनाका समर्थ वाहन—यह श्रावक चिन्तन कर रहा है कि हमने मनुष्यरूपी देशमें एक अणुव्रतरूपी व्यापार किया, उससे जो धर्मरूपी धन कमाया है अब इसको हम साथ ले जायेंगे जहाँ हम जा रहे हैं। तो कोई एक आधार होना चाहिए जिसमें भरकर हम ले जायें। जैसे कोई मनुष्य किसी देशमें व्यापार करके धन कमाता है तो धन ले जानेके लिए रेलगाड़ी अथवा जहाज आदिक कोई साधन चाहिए। इसी प्रकार हम व्रत नियम पाल करके धर्मधनको परलोक देशान्तरमें लिए जा रहे हैं तो उसका आधार सल्लेखना है। जिसको मरण समयमें ऐसा वातावरण मिला, ऐसा परिणाम बढे कि मोहका बिलकुल परित्याग हो, रागद्वेषकी ओर उपयोग न जाय और आत्मस्वभावकी ओर दृष्टि रहे, अपने आपकी प्रतीति ज्ञानमात्र रूप रखें, ऐसी स्थितिमें मरण समय गुजारे तो उसका वह क्षण धन्य है। तो अपना यह भावी जीवन सफल करने के लिए अथवा संसार-दुःखसे छुटकारा पाने के लिए यह आवश्यक है कि मरण समयमें सल्लेखना हो, सन्यासपूर्वक मरण हो। जैसे किसीने किसी देशमें पहुंच कर बड़ा कष्ट उठाकर बहुत धन कमाया और चलते समय वह किसीको यों ही सौंप दे तो उसका वह धन शीघ्र ही नष्ट हो जायेगा और जीवन भर उसने जो श्रम किया वह व्यर्थ ही किया, इसी प्रकार अपने इस जीवनमें तप, व्रत, संयम, पूजन, स्वाध्याय आदिकको करके बहुतसा धर्मधन कमाया है और उसे यों ही किसीको सौंप दें अर्थात् चलते समय अपने परिणाम बिगाड़ लें तो वह सब धर्मधन नष्ट हो जायेगा, दुर्गति हो जायेगी, इस कारण मरण समयमें सल्लेखना अवश्य करना चाहिए।

मरणान्तेऽवश्यमहं विधिना सल्लेखना करिष्यामि।
इति भावनापरिणतो नागतमपि पालयेदिदं शीलम् ॥१७६॥

मरणकी निकटतामें सविधि सल्लेखनाका संकल्प—मैं मरण समयमें अवश्य ही विधिपूर्वक समाधिमरण करूँगा, ऐसी भावनासे प्रवृत्त होकर कल्याणार्थी पुरुषोंको उस मरण समयसे पहिले ही सल्लेखना व्रतका पालन करना चाहिए। परमार्थसे आवीचिमरणकी दृष्टिसे देखो तो हमारा प्रति समय मरण हो रहा है। तो हमें चाहिए कि प्रति समय अपना समतापरिणाम रखें, विषय कषायोंका परिहार रखें, ऐसा हमारा प्रयत्न हो तो वह उत्तम बात है और ऐसा किए बिना वह अभ्यास भी नहीं बनता कि मरणके

समयमें परिणाम विशुद्ध रहें। कोई ऐसा नियम नहीं है कि जीवन भर तो खोटा परिणाम रहा हो और मरण समयमें परिणाम सुधर न सकें। सम्भव है मरणके समयमें परिणाम सुधर भी सकते और बिगड़ भी सकते। मरणके समयकी बड़ी विचित्र घटना है। जैसे जब कभी किसीको बड़ा रोग अथवा कोई बीमारी हो जाती, मरणकी ही जिसमें सम्भावना रहती है वह इस समय यही वाञ्छा रखता है कि इस बार कदाचित् मैं मरणसे बच गया तो शेष सारा जीवन धर्मध्यानमें बिताऊंगा, पर होता क्या है कि ज्यों ही बीमारी दूर हुई कि फिर वही पहिले जैसी हालत हो जाती है। धर्मकर्मको वह भूल जाता है। तो मरण समयमें हमारे परिणाम सही रह सकें, इसके लिए यह कर्तव्य है कि हम अपने जीवनमें समताका आचरण करें और उस सल्लेखना का अभ्यास बनायें। सल्लेखना मरणका दूसरा नाम संन्यास मरण भी है। सन्यासका अर्थ है सर्व बाह्यपदार्थोंका त्याग करना और अपना जो परमात्मतत्त्व है उसमें अपना उपयोग जमाना। इस जीवकी प्रति समय आयु क्षीण हो रही है। जैसे अजुलीमें पानी रखे हो तो एक जलका एक-एक बूँद झरता जाता है इसी प्रकार जन्म कालसे मरण प्रारम्भ होता है और अन्त समय तक यह आयु क्षीण होती रहती है। तो उसका परिणाम यह है कि मरण निश्चयसे होगा। इससे मृत्युके पहिले ऐसी प्रतिज्ञा कर लेना चाहिए कि मैं मरणमें अवश्य सल्लेखना धारण करूँगा।

सल्लेखनामें स्वभावदृष्टि बनाये रहनेका यत्न—एक ही तो बात है—स्वभावदृष्टि। जितने भी हमारे व्यवहार धर्म हैं, व्रत पालन हैं, नियम पालन हैं, सल्लेखना मरण है, आदि ये सब एक स्वभावदृष्टि बनानेके लिए हैं। अविकारी ध्रुव निजस्वभावको अपनी दृष्टिमें बनाये रहना यही धर्मपालन है। यह कर सके तो वास्तविक तपश्चरण बन गया और यह न कर सके तो कुछ नहीं बना। किसी जगह हो, कैसी ही परिस्थितिमें हो, सम्पदामें विपदामें, आराममें विश्राममें, छायामें धूपमें, सभी स्थितियोंमें इस जीवकी दृष्टि अपने आपके स्वभावपर है अर्थात् स्वभावमात्र अपने आपमें अहंकी प्रतीति बनाये हुए है तो वह धर्मपालन कर रहा है। धर्मके विषयमें जितने भी शास्त्र हों, निबंध हों, सभीका सार यही है कि अपने आपकी ऐसी प्रतीति हो, ऐसा उपयोग हो कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूं, जो जाननस्वरूप है तन्मात्र मैं हू और उस जाननभावका जो प्रतिसमय परिणमन चलता है बस वह मेरा कर्तृत्व है, कर्तृत्व भी कुछ नहीं, परिणमन को ही कार्य कहते हैं, परिणमने वालेको कर्ता कहते हैं। कर्ता तो कोई भी द्रव्य नहीं है, न परका कर्ता है, न खुदका। परमें करे क्या, खुदमें करे क्या, किन्तु जो परिणमन हो रहा है उस परिणमनमें कर्तापनका व्यवहार किया जाता है। वैसे लोकव्यवहारमें कर्ता कहेंगे परका। कुम्हारने घड़ा बनाया। अगर कुम्हार यों ही खड़ा-खड़ा हाथ हिलाये तो कोई न कहेगा कि कुम्हार कुछ कर रहा है, लोग तो यही कहेंगे कि यह व्यर्थमें नाच सा रहा है। कर्ता बोला जाता है लोकव्यवहारमें परके प्रति। तो परको कोई नहीं कर सकता और स्वके प्रति कर्ताका व्यवहार ही नहीं है, कोई बोलता ही नहीं है कि यह क्या कर रहा है, तो कर्तृत्व नाम कुछ नहीं रहा, बस परिणमन है। उस परिणमनकी दृष्टिसे सब पदार्थोंको देखिये, सभी परिणम रहे हैं। अब व्यवहार दृष्टिसे देखें तो जितने विभावपरिणमन हैं वे विभावपरिणमन यद्यपि वह पदार्थ स्वयं परिणम रहा है, दूसरेकी परिणति लेकर नहीं परिणमन रहा है, मगर उस विभावरूपसे परिणम जानेकी कलामें उस परिणमने वाले पदार्थमें ऐसी पड़ी हुई है कि वह अमुक-अमुक अनुकूल निमित्त पाकर यों यों विभावरूप परिणम जाता है। जैसे अग्निपर रोटी सिकती है तो रोटी सिक जाने की बात रोटीमें बनती है। अग्नि तो अब भी जहाँकी तहाँ पड़ी है। रोटीसे अलग आग है और रोटी जो फूल रही है वह अपने प्रदेशोंमें फूल रही है। मगर रोटी रोटी तैयार हो जानेकी कला जो रोटीमें होती है वह आगका सन्निधान पाकर होती है, इतना होने पर भी परिणमनको देखो, प्रदेशोंको देखो—प्रत्येक वस्तु केवल स्वभावरूपसे परिणमती है, वह अपने स्वभावमें है ही। अगर विवेक

रूप भी कोई पदार्थ परिणम रहा हो तो वह अपने प्रदेशोंमें अपनी ही परिणतिसे विभावरूप परिणम रहा है। इतनी बात और साथ लगी हुई है निर्णयमें कि इस तरहके विभावरूप परिणमनकी कला निमित्त का सन्निधान पाकर ही बन पा रही है। तो धर्मपालन हमारी इस स्वभाव दृष्टिमे ही है, हम अपने आपके शुद्ध जीवास्तिकायमें अपने आपको निरखें तो यही हमारा धर्मपालन है। शुद्ध जीवास्तिकायके मायने यह जीव अपने प्रदेशोंमें ही बस रहा है। विभावरूप परिणमे तो भी और स्वभावरूप परिणमे तो भी वह अपने ही परिणमनमे परिणमेगा। शुद्ध अशुद्ध जो भी परिणमन होगा वह खुदके प्रदेशोंमें ही होगा। केवल अपने प्रदेशोंमें निरखनेकी बातको शुद्ध जीवास्तिकाय कहते हैं, अन्य धर्मास्तिकायोंसे अन्य पदार्थों में संसर्ग जोड़नेका केवल एक परिणमन निरखनेका नाम अशुद्ध स्वभाव है। तो मैं अपने आपमें हू, अपने आपमे परिणमता हू, अपने आपमें बस रहा हू और इससे कुछ विशुद्ध दृष्टि बनाकर अपने आप में अपने सहज स्वभावको निरखा, यही है हमारा धर्मपालन।

ज्ञानीके सर्वत्र स्वभावदृष्टिके यत्नकी सुध—ये जो पूजन वदन यात्राएँ आदि कर रहे हैं इनमें यह ख्याल बनाये रखना चाहिए कि हमें ऐसी दृष्टि मिले, ऐसी परिस्थिति कभी आये कि अपनी स्वभावदृष्टि का अनुभव जगे। यदि इस प्रकारकी भावना न बना पायी तो समझिये कि अभी धर्मपालन नहीं हुआ। क्योंकि धर्म होता है शान्तिके लिए। शान्तिका ही नाम धर्म है। शान्तिरूप परिणाम किसी भी परपदार्थ का आलम्बन लेनेसे न प्राप्त हो सकेगा। चाहे कितनी ही मौज वाली बात है, कितना ही बहुत खासा समागम हो, बड़ी सुविधायें बनी हों, खाने पीने तथा आजीविका आदिके साधन बने हों, फिर भी यदि हमारी दृष्टि किसी परकी ओर चलती है तो उसके परिणाममें नियमसे अशान्ति होगी। उस परिणाम की कला ही ऐसी है। अपने आधारको छोड़कर किसी बाह्यमें परकी ओर आधार बनाया, दृष्टि बनाई तो ऐसी परिस्थिति बनानेकी प्रकृति ही ऐसी है कि अशान्तिको लिए हुए है, ऐसी परिस्थिति होती है। तो हमें धर्मपालन करना है इसके अर्थ समझिये कि हमें शान्तिसे रहना है, मुझे अपना वास्तविक आराम चाहिए, उसीके मायने हैं कि हमें अपना धर्म चाहिए। धर्ममें ही वास्तविक आराम है, वह धर्म है स्वभाव का आलम्बन। धर्मका स्वरूप बताया है वस्तुके स्वभावको धर्म कहते हैं। हमें अपना धर्म चाहिए तो अपने स्वभावको तकें। आत्माका स्वभाव है एक चैतन्यस्वरूप, चित्प्रकाश, चैतन्यस्वभाव। इस स्वभावका आश्रय लेनेमें स्वभावकी प्रतीति करनेसे, स्वभावको उपयोगमें लेनेसे उसका ज्ञान बनाये रहें इसका नाम है धर्मपालन। यही चीज करना है जीवनमें और यही बात लाना है मरण समयमे। यह बात यदि ला सके तो हम धर्म धनको परभवमें भी साथ लिए जा रहे हैं, ऐसा निश्चयसे समझना चाहिए।

मरणेऽवश्यंभाविनि कषायसल्लेखनातनुकरणमात्रे।
रागादिमन्तरेण व्याप्रियमाणस्यनात्मघातोऽस्ति ॥१७७॥

कषायसल्लेखनामें रागादिभावके अभावके कारण आत्मघातके दोषका अभाव—अवश्यंभावी मरण होने पर अर्थात् मरण निकट आ रहा है, कुछ ही समयमें मरण होगा, ऐसी स्थिति आ जाय कि जो कषायोंकी सल्लेखना कर रहे हैं, कषायोंको कम कर रहे हैं अथवा कषायें दूर कर रहे हैं, ऐसी सल्लेखना विधिमे जो प्रवर्तमान पुरुष है उसके रागादिकभाव नहीं हैं अतः आत्मघात नहीं है। इन सबका आधार अहिंसा बताया है। अहिंसाकी यदि सिद्धि है तो ये व्रत तप नियम आदि ठीक हैं। अहिंसाकी सिद्धि होना चाहिए। प्रत्येक यम नियममें यह हमें जान लेना चाहिए कि इस अहिंसाकी सिद्धि किस तरह होती है? अहिंसा नाम है रागादिक भावोंका अभाव होनेका। क्योंकि रागादिक भावोंके होनेसे हमारे आत्माका घात होता है, अर्थात् जो हमारा परमात्मस्वरूप है, कारणसमयसार है, स्वभाव है, चैतन्य प्रभु है उसका विकास वह सब रुक जाता है तो समझे कि इससे हमारे परमात्मतत्त्वका घात हुआ, यही हिंसा है।

तो सल्लेखनामें आचार्यदेव यह बतला रहे हैं कि इससे आत्मघात नहीं है, आत्मरक्षा है क्योंकि सल्लेखनामें इस जीवने कषायोंका परित्याग किया है। अपने आपमें ऐसा अनुभव बनानेका यत्न रखना कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हू, देखिये रागादिक भाव ये अपने आप हट जाते हैं। अपनी हिंसा स्वय दूर हो जाती है। जब यह परिणाम बनाया कि मैं ज्ञानमात्र हूं और ज्ञानमात्र होनेका जो स्वरूप है उसे जब दृष्टिमें रखते हैं कि यह केवल विकल्प कर सकने भरका काम कर रहा है आज तक। इससे आगे कुछ नहीं बढा यह जीव। भव-भवमें जन्ममरण अनेक किये। अनेक इष्ट अनिष्ट समागम पाये और उन समागमोंको कैसे पाया, कैसे त्यागा? ऐसा भी करता रहा तो क्या किया उन सब घटनाओंमें? विकल्प किया। जब यह पुरुष आत्माके ज्ञानमात्र स्वरूपको समझ लेता है तब रागादि विकार स्वयं टल जाते हैं।

सल्लेखनाके यत्नमें आत्मरक्षण—यह अमूर्त आत्मा जो किसी को न ग्रहण करता, न छोड़ता, न जलाने से जलता, न हवासे उड़ता ऐसा अमूर्त यह आत्मा बाहरमें क्या कर सकता है? जो कुछ कर पायेगा अपनेमें कर पायेगा। सो क्या कर पाता है? एक विकल्प ज्ञानका ही अशुद्ध परिणमन। उल्टा परिणमन, परको अपनानेका भाव, यही कर पाया इस जीवने अब तक तो देखिये किया भी कुछ नहीं। कर सका केवल अपनेमें विकल्पभर। लेकिन विडम्बना इतनी बड़ी बनी कि ससारमें इस प्रकारके शरीरों को धारण करना पडा। जैसे कोई पुरुष किसीके बारेमें कुछ बुरा इरादा रखे, और कर न सके बुरा, अथवा बुरा करनेके एक टाइममें यह अपने भाव बदलकर मित्र बन जाय, उसका बुरा न करे तो चूँकि यह बुरा नहीं कर सका इसलिए अथवा इरादा बदल गया इसलिए बुरा न किया जानेकी स्थितिमें लोग उसे झट क्षमा कर देते है। क्या हुआ? बुरा सोचा था, पर बुरा किया नहीं और अगर बुरा कर चुकने पर क्षमा मांगे तो मुश्किलसे क्षमा की जाती है। तो जहाँ अपने परिणाम बिगड़ गए, अर्थात् अज्ञानरूप परिणाम अपने बनाया तो संसारका परिभ्रमण, नाना प्रकारके शरीरोंमें बँधना और अनेक प्रकारके क्लेश भोगना अनिवार्य ही है। जहाँ भीतरमें व्यर्थके विकल्प मचाया, बस इसी अपराधके कारण सारे झंझट झगडे खडे हो जाते हैं। अपराध वास्तवमें क्या है? जो आत्माका स्वरूप है, आत्माका ज्ञान है उसमें दृष्टि न लगाकर बाह्य पदार्थोंमें दृष्टि लगाना है यही वास्तवमें अपराध है। यह राधा अर्थात् यह आत्मस्वरूप जब नहीं मिलता, परपदार्थोंमें ही दृष्टि लगी रहती है यही वास्तवमें अपराध है। यदि कोई पुरुष अपने अन्दरमें ऐसा अपराध न कर सके, ज्ञानमय रहे और उस पुरुषके निमित्तसे या उस पुरुषका ख्याल कर करके करोड़ों ज्ञानी खेद मानें, दुःखी हों तो इससे इसका अपराध न माना जायेगा। यदि स्वरूपसे विरुद्ध न हो तो वह अपराधी नहीं है, तो रागभाव होना विकल्प होना यह अपराध है। संन्यास मरण करने वाले पुरुषके उस कालमें ये रागादिक भाव नहीं हो रहे, इस कारण उसके आत्मघात नहीं है, अहिंसाकी स्थिति है। जब कोई पुरुष किसी निमित्तसे अपनी स्थिति देखकर शरीरकी स्थिति निरख कर जब यह जान जाय कि मरणकाल निश्चयसे आयेगा तो समाधिमरण कर लेना चाहिए। समाधि मरणमें रागद्वेष मोह भावका अभाव होता है इसलिए आत्मरक्षा है, आत्मघात नहीं है, अहिंसा है। सल्लेखनामें धर्मकी स्थिति बसी हुई है अतएव यह महान् आदरके योग्य व्रत है। हम आप सबको यह भावना बनानी चाहिए कि जीवनभर हमारे समतापरिणाम रहे, यथाशक्ति आत्मस्वभावका आलम्बन रहे। यदि इस स्वभाव आलम्बनरूप धर्मको लेकर मरण होता है तो हमारा अगला भव भी अच्छा रहेगा, धर्मका प्रसंग मिलेगा और हम अपने रत्नत्रय धर्मकी साधनामें बढ़ते चले जायेंगे।

यो हि कषायाविष्ट कुम्भकजलधूमकेतुविषशस्त्रैः।
व्यपरोपयति प्राणान् तस्य स्यात्सत्यमात्मवधः॥१७८॥

कषायाविष्ट होकर अपने प्राणव्यपरोपण करने में आत्मवधका दोष—जो पुरुष कषायमें आविष्ट होकर श्वास निषेध कर, जलमें डूबकर, अग्निमें जलकर या विष खाकर या शस्त्रसे प्राणोंका घात करे तो उसके तो आत्मघात ही है। एक यह प्रश्न किया था कि कोई मुनि संयमकी रक्षाके लिए जाने कि अब बहुत तीव्र वेदना है या खोटी परिस्थिति है उस समय यदि अपने आप श्वासको रोक लें, मुख और नासिका बंद कर ले तो वह सन्यासमरण होगा कि नहीं? भाव उसका सयम रक्षाका है, अब संयमकी रक्षा हो नहीं पाती तो अब श्वास निरोध करे, प्राण विसर्जन करे समतासे। तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि वह प्राण विसर्जन नहीं है क्योंकि संयमकी रक्षाका भाव वालेको श्वास निरोधका विकल्प नहीं रहता। जान बूझकर श्वास रोककर मरना या कोई यह सोचे कि अपने आप छुरी चक्कू भोक लें, तो ये सब बातें कषायमें होती हैं, समतापरिणाममें रहकर नहीं होती है, इस कारण ये सब आत्मवध है, सन्यास मरण नहीं है, जिसने जीवन भर व्रत पालन किया उस पुरुषको अन्तमें सन्यासमरण करना चाहिए। विषय कषाय आहार आदिक त्यागकर समतासे रहना चाहिए। कोई प्राणी कषायसे आत्मघात करले तो उसका वह आत्मघात है, वध है, सन्यासमरण नहीं है, जैसे कोई सोचे कि तीव्र वेदना हो रही है, इसमें सक्लेश की सम्भावना है, सक्लेश बढ़ जायेगा इसलिए इस नदीमें कूद जावें और प्राण विसर्जन करें तो सयमकी रक्षा हो जाय तो उसके सयमकी रक्षा नहीं है। जब शरीर किसी असाध्य रोगोंसे ऐसा शिथिल हो जाय कि मरणकी सम्भावना हो या कोई देवता मनुष्य आदिक ऐसे उपाय करें कि जिनके मरणका निर्णय हो अथवा कोई बड़ा दुर्भिक्ष पडे जहाँ आहार बनना सम्भव न हो सके, ऐसी स्थितिमें या बुढ़ापेमें इतना आ गया है कि जर्जरकाय हो गयी और मरण निकट है ऐसी परिस्थितिमें सन्यास मरण किया जाता है।

अद्यतनयुगमें नियमसल्लेखनाकी श्रेयस्करिता—सन्यास मरण बहुत सोच समझकर ग्रहण करना चाहिए और आजकलके समयमें तो नियम सहित सल्लेखना प्राय करके धारण करना चाहिए कि दो दिन तक त्याग है, जीवन रहेगा तो फिर सोचेंगे। यह बहुत कुछ सम्भव है कि नियम ले लिया आजीवन आहारके त्यागका और कदाचित आहार॰ लघनसे जीवन बच जाय जीवन रह जाय तो सक्लेश सहित मरनेसे तो दुर्गति ही होगी। अत प्राय करके नियम लेकर सल्लेखना ग्रहण करना ठीक है। हाँ, जब मरणका बिल्कुल निश्चय समझ लेना है कोई तो वह समाधिमरण करता है और मरणका निश्चय समझना इस कालमें कठिन है। इस कारणसे एक नियमित सल्लेखना धारण करना चाहिए, क्योंकि सल्लेखना रहित मरण हो तो वह बुरा है। सल्लेखना कहते ही उसे हैं जिसमें कषाय न होकर समतापूर्वक मरण हो। प्रथम तो यह शरीर एक सयमका बाह्यसाधनभूत है जब तक जीवन चल रहा है, सयम पालन कर रहा है तो सयमकी रक्षाके लिए उसे आवश्यक हो जाता है कि शरीरको आहार पानी देवे। प्रथम तो जहाँ तक सम्भव है कि शरीरकी थोड़ी सेवा कर देनेसे यह शरीर निर्बाध हो जायेगा, सयम हम निर्बाध पाल सकेंगे तो शरीरको आहार देना जरूरी है। एकदम भावुकतामें न आये कि हम तबियत बिगाड लें, समाधि बिगाड़ लें। प्रथम तो शरीरको धर्मका बाह्य साधन मानकर शरीरको आहार आदिक औषधि दें। जब रोग असाध्य ही हो जाय, किसी भी उपचार से लाभ की सम्भावना न दीख रही हो तो जैसे दुष्ट पुरुषका परिहार कर दिया जाता है ऐसे ही आहार आदिक सभी चीजोंका कुछ नियमित समयके लिए परिहार कर देना चाहिए।

हितमय विवेक—ऐसा समझना चाहिए कि यह आत्मा तो ज्ञानानन्द स्वरूप है और यह शरीर भूख प्यास सर्दी गर्मी रोग आदिक समस्त व्याधियों का घर है। इष्ट अनिष्ट की बुद्धि, सम्मान, अपमान आदिक की बुद्धि-ये सब इस शरीरके ही कारण होते हैं। शरीरमें आपा बुद्धि करते हैं और अपने आत्म स्वरूपपर दृष्टि हो नहीं जाती है। इस आत्मस्वरूपकी दृष्टिपर पहुचनेका यह जीव लक्ष्य ही नहीं बनाता

चलती रहती है। दोनों दशाएँ एकसी हैं। सोया हुआ पुरुष भी मूर्छित है, तो मूर्छित होनेकी स्थितिमें भी इन्द्रियां काम नहीं कर रहीं, तिस पर भी जैसा संस्कार बसा है वह बात बराबर चल रही है। ज्ञानी-सम्यग्दृष्टि पुरुषने जो तत्त्वाभ्यास बनाया है ऐसा तत्त्वाभ्यासी पुरुष मरण कालमें मूर्छित हो जाय तब भी उसका वह अभ्यास बराबर वहाँ संस्कार बनाये रहता है। उसमें उपयोग बनना, आत्मतत्त्वको छू लेना यह बात उसके अन्दरमें चल रही है जिसने जीवनमें तत्त्वाभ्यास किया है।

समाधिमरणमें अतीव सावधानताकी आवश्यकता—अन्त समयमें संन्यासमरणकी बड़ी सावधानी रखनी चाहिए। यदि अन्तमें मरण समय बिगड़ गया तो जीवनभरका सारा श्रम व्यर्थ हो गया। सारा जीवन भरका संयमका श्रम एकदम निष्फल तो नहीं जाता मगर हीन हो जाता है। कोई सोचे कि मरण समयमें यदि परिणाम बिगड़ा तो जीवन भरका सारा श्रम व्यर्थ जायेगा, यदि ऐसी बात है तो फिर क्यों जीवन भर ये क्रियाएँ करना, अन्तमें धर्मधारण कर लेंगे तो सारा काम बन जायेगा क्योंकि अन्तमें जैसा परिणाम होता है वैसी ही गति बनती है। तो ऐसी बात नहीं है। जीवनभर ये संयमकी क्रियाएँ करना चाहिए तब अन्तमें वह समय आ पाता है कि मरणके समयमें परिणाम सुधर जाय। इस संन्यास मरण के लिए कोई क्षेत्र खोजना चाहिए जो तीर्थक्षेत्र हो, जहाँ पर मंदिर भी हों, संयमी जनोंका जहाँ पर निवास हो। सन्यास मरणके लिए सत्सगति अवश्य मिलनी चाहिए जिससे परिणामोंमें बराबर सावधानी बनी रहे। लोग मरने वालेके पास आते हैं और बातें ऐसी पूछते हैं कि जिनसे मोह उत्पन्न हो जाता है। तुम्हारी तबियत कैसी है ? तुम्हारा शरीर बड़ा कमजोर हो गया, यह क्या हाल हो गया ? तुम्हारे ये नाती खड़े हैं, ये लड़के खड़े हैं, यह दामाद खड़ा है आदि, ऐसी बातोंसे यदि उसके मोह उत्पन्न हो जाय तो उसका तो सारा बिगाड़ कर दिया। मरण कालमें ऐसे पुरुष निकटमें आने चाहिएँ जो ऐसी बात पूछें कि जिससे उसके आत्माकी सुध बढ़े और उसके आत्माका क्या कर्तव्य है ? इस ओर उसकी सच्ची दृष्टि जगे।

सल्लेखनाव्रतीका कर्तव्य और उसके हितू जनोंका कर्तव्य—जो पुरुष समाधिमरणमें अपनी प्रवृत्ति करता है वह पुरुष पहिले सर्व पुरुषोंमें क्षमा भाव रखता है। किसी पुरुषके प्रति क्रोधभाव रखते हुए सल्लेखना मरण नहीं किया जा सकता। जो अन्त समयमें सबसे क्षमा मांगता है वह निर्भार हो जायेगा, उसका संसार दूर होनेको है। सन्यास चाहने वाले पुरुषको सर्वप्रथम परिजन एवं मित्रजनोंसे ममता छोड़ देना चाहिए। मरणकाल ऐसा है कि उस समयमें जो धुन बन जाय वह तेज धुन बनती है। मरने वालेको अगर मोह उत्पन्न होता है तो तेज मोहकी धुन बन जायेगी और अगर ज्ञानकी धुन बनती है तो ज्ञान की तेज धुन बन जायेगी। मरणकी एक ऐसी विचित्र घटना है कि उस समय जो भाव बनेगा वह निष्कपट और तेज रूपसे बनेगा। तो परिजनोंका या जिनमें मोह उत्पन्न हो सके, ऐसे लोगोंका लगार उस समाधिमरण वालेके पास न रखना चाहिए जिससे कि परिणाम बिगड़ सकें। अन्त समयमें परिणाम न बिगड़ें, ऐसी कोशिश होनी चाहिए। बेचारा वह तो मर रहा है और उसके ये परिजन लोग मोह पैदा कर रहे हैं। वे १०—५ मिनट भी उसकी सच्ची सेवा नहीं कर सकते। सारे जीवन भर भी उसे कोल्हूके बैल की तरह पेला है और अन्त समयमें भी उसे शान्तिपूर्वक मरण नहीं करने देते। उसके मोह उत्पन्न करा कर उसका सारा बिगाड़ कर रहे हैं। तो जो व्रती लोग हैं, संयमीजन हैं, ज्ञानीजन हैं उनको उस व्यक्तिके पास रहना चाहिए जो उसे आत्मोन्मुख कर सकें। पहिले कोई अच्छे भोजनसे थाल सजाकर उसके सामने रख दिया, यदि वह खाना चाहे तो झट उसे समझा दिया, अरे इस ढंगका भोजन अनन्ते बार किया फिर भी शान्ति न मिली, अब तो इससे ममत्व तजो, अपने आत्मस्वरूपकी कुछ सुध लो, यों वे ज्ञानी पुरुष ऐसा वातावरण बनाते हैं जिससे उसका परिणाम सुधरे, परमात्मतत्त्वमें, प्रभु की

उपासनामें जिस कोटदृष्टि रहे। जो पुरुष उस समाधिमरण करने वालेके निकट रहते हैं वे पुण्यवान् हैं जो उसके गुणोंकी प्रशंसा करते हैं वे पुण्यवान् हैं। धन्य है इनका ज्ञान जो समाधिपूर्वक मरण कर रहे हैं। जितने लोग समाधिमरण करने वालेका दर्शन करते हैं समझो कि उनके बहुत बड़े पाप दूर हो जाते हैं, तो जो समाधिमरण कराते हैं वे बड़े बुद्धिमान् होते हैं, वे जिस चाहे ढगसे हो सके, उसे समाधि परिणाममें स्थिर करते हैं।

सल्लेखनावती की सेवा में धर्मानुरागियों का करतव—संन्यासमरणके प्रसगमें रहने वाले महापुरुष को उसकी सेवा शुश्रूषा करने वाले विद्वान् अनेक प्रकार के ध्यान दिला करके उसे समतामें स्थिर करते हैं। उस समय छोटे-छोटे पद जो आत्मस्पर्शमें सहायक हैं उनका बारबार ध्यान कराते हैं। जैसे मेरा आत्मा एक ज्ञानानन्दस्वरूप है, अरहंत सिद्धके स्वरूपकी तरह विशुद्ध शक्तिवाला है आदि। उस अपने स्वरूपकी सुध लेनेके लिए णमो अरिहंताणं, णमोसिद्धाणं, ओम नमः सिद्धेभ्यः आदिक अपने स्वरूपको स्पर्श करने में सहायक कुछ मंत्रोंका ध्यान करना चाहिए। उस समय शारीरिक वेदनाएँ अनेक उपस्थित होती हैं। उन वेदनाओंको सहन करनेके लिए आचार्यदेव समाधिमरण करने वाले महानुभावको शिक्षा देते हैं कि जो कठिन-कठिन उपसर्गोंमें भी अपने आत्माका ध्यान न छोड़े। जैसे एक पर्कण्डु नामक राजपुत्रने दीक्षा ली थी, सो राजा ने इस मुनिकी रक्षाके लिए जिस जंगलमें वे मुनि तपश्चरण किया करते थे उसके चारों ओर बहुतसे सेनाके लोग रख दिये ताकि वे मुनि महाराज की रक्षा करते रहें, इनको कोई कष्ट न हो लेकिन जब उपसर्गो का अवसर आया तो वे बिछुड़ गए और एक, वैरी आकर राजपुत्रपर उपसर्ग ढाने लगा। वह वैरी तो न था पर राजपुत्रके वियोगसे बहुत दु:खी होकर वैरी समझने लगा था। उसने इतना महान् क्रोध किया कि उस राजपुत्रके शरीरकी चमड़ी चाकूसे छीलने लगा और उस पर नमक भी छिड़कने लगा। हे मुनिराज! उस कठिन वेदनासे बढकर और क्या वेदना होगी? सुकुमाल मुनिराजने गीदड़ियोंके भक्षणका जो कष्ट सहा कि गोडे पर्यन्त स्यालिनियोंने मांस खा लिया, पर वह मुनिराज बराबर आत्म-समाधिमें रत रहे। तो हे मुनिराज! तुझे कौनसी वेदना है? तेरेको तो कुछ भी कष्ट नहीं है, तू अपने को शान्ति और समता रूप रख। अपने आपका ऐसा निश्चय कर कि यह मैं आत्मा केवलज्ञानस्वरूप हूं। अपने ज्ञानस्वभावकी भावना करें तन्मात्र अपनेको माने, ऐसीदृष्टि बनाये रहते हुएमें यदि प्राण विसर्जन हो जायें तो तुझे कल्याणका मार्ग मिलेगा। किसी भी वेदनासे यदि तू दुःखी हो जायेगा, कष्ट अनुभव करेगा तो तू नारकादिक गतियोंमें जन्म लेगा। मरणका समय बड़ी जिम्मेदारीका है। अगला भव कैसे बीते? उसका फैसला मरणसमयके परिणामों पर निर्भर है। हे मुनिराज! आप विचार कीजिए कि यहाँ तो कोई दु:ख का अवसर नहीं है। काहे का दु:ख है? यदि स्वरूप की संभाल की जाय तो क्षुधा तक की वेदना रूप नहीं रहती। जरासा दिल कमजोर किया, राग और मोह की ओर उपयोग निकला कि दु:ख बढ़ गया।

जन साधारणके दु:खरूप विचार—इस समय हम आप लोग जितने समागमोंमें रहते हैं एक भी दु:खी नहीं है, पर अपने दिलको न संभालनेसे सभी दु:खी हो रहे हैं। साधारण रूपसे खानेकी व्यवस्था तो सभी के पास है, सभी लोग समर्थ हैं, कष्ट कोई है नहीं, पर मोह जो बना रखा है उसके कारण सभीको परेशानी हो रही है, अन्यथा परेशानीका कोई मौका नहीं है। कितनी कलुषित बुद्धि है. कितना खोटा विचार है कि मैं लोगोंमें कुछ अच्छा कहलाऊँ। ये लोग जो स्वयं दु:खी हैं, स्वयं कर्मोंके प्रेरे हैं, मुझसे भी अत्यन्त कलुषित हैं ऐसे लोगोंमें अपने को कुछ अच्छा कहलवाना। यह कितनी बड़ी अज्ञानता भरी बात है। बस इसी बुद्धिसे दु:खी हैं। इसी बुद्धिके कारण लोग धनी बनना चाहते हैं। धनी बननेमें लाभ कुछ नहीं है मगर मानता कौन है? सभी धनी बननेके होड़में लगे हैं। कारण क्या है कि भीतरमें यह परिणाम पड़ा

हुआ है कि मैं लोगोंमें कुछ अच्छा कहलाऊँ, इस आशयने परेशान कर दिया।

संस्थानविचय धर्मध्यानका परिणाम— धर्मध्यानोंमें एक संस्थानविचय नामक धर्मध्यान है और उसकी पात्रता मुनिराजको बतायी है। यद्यपि सम्यग्दर्शन होने पर चारों ध्यान समाप्त हैं, लेकिन विशेषताकी दृष्टिसे संस्थानविचय धर्मध्यान मुनिराज ध्या सकते हैं, श्रावक विशेषताके साथ नहीं ध्या सकते हैं। संस्थानविचय धर्मध्यानमें तीन लोक और तीन कालकी बातें उपयोगमें रहती हैं। यही संस्थानविचय धर्मध्यान है। जिसके उपयोगमें ३४३ घनराजूप्रमाण इतना विशाल लोक नक्शेमें रहता हो उतनी बड़ी दुनिया है। तो इस परिज्ञानके साथ अनेक प्रकारसे वैराग्य उसका बना रहता है। जिस द्वीपमें हम रहते हैं उसका नाम है जम्बूद्वीप। यह जम्बूद्वीप एक लाख योजनका सूचीरूप है। एक ओरसे सामने तक एक लाख योजन है। दो हजार कोशका एक योजन होता है। उससे दूना एक ओर लवण समुद्र है, उससे दूना एक ओर दूसरा द्वीप, उससे दूना समुद्र—ऐसे ऐसे दूने दूने चलते जाते हैं और असंख्याते द्वीप समुद्र हैं। असंख्यातका प्रमाण होता है बड़ेसे। उससे भी आगे यह द्वीप समुद्र है, फिर भी वह एक राजू नहीं कहलाता है। फिर यह एक राजू है प्रतररूपमें, इतना ही लम्बा चौड़ा मोटा जो क्षेत्र है उसे घनराजू बोलते हैं—ऐसे ऐसे ३४३ घनराजूप्रमाण लोक है। इतना बड़ा लोक जहाँ जँच रहा हो, नक्शा बन रहा हो उसके सामने यह थोड़ासा परिचित क्षेत्र न कुछ जैसा मालूम पड़ता है। इस थोड़ेसे परिचित क्षेत्रके लोगोंमें अपनेको कुछ अच्छा कहलवाना, यह कितनी मूढ़ताभरी बात है? इतने विस्तार वाले लोकमें कितने जीव हैं? इसका विचार संस्थानविचय धर्मध्यानी पुरुषको होता है। अनन्तानन्त जीव हैं, इन सब जीवोंके सामने ये परिचयमें आये हुए कुछ जीव कुछ भी तो गिनती नहीं रखते हैं। अनन्तानन्त अक्षयानन्त जीवोंको छोड़कर कुछ जीवोंमें एक अपने महत्त्वकी आकांक्षा बतायी तो यह कितना बड़ा अज्ञान है, व्यामोह है? संस्थानविचय धर्मध्यानी जीव चूंकि मोक्षका प्रयत्न कर रहा है सो उसके रागभाव नहीं होता। जिस कालका परिज्ञान है कितना समय व्यतीत हो गया, अबसे पहिले अनन्तकाल व्यतीत हो गया और भविष्यमें अनन्तकाल व्यतीत होते रहेंगे। इतने लम्बे कालके बीचमें ४०-५०-१०० वर्ष कुछ भी तो गिनती नहीं रखते। तो जरासे समयमें एक बड़प्पनकी चाह रखना यह कितना बड़ा व्यामोह है? दुःख है तो केवल इस लोकमें अपना महत्त्व रखनेकी इच्छासे है अन्यथा दुःखका और कोई कारण नहीं है। समाधिमरण जिसने ग्रहण किया है ऐसे जीवको आचार्यदेव समझा रहे हैं कि हे आत्मन् देख, इतने बड़े लोकमें तू प्रत्येक प्रदेश पर अनेक बार जन्मा है, मरा है, ऐसे ऐसे अनन्त जन्ममरण किए हैं। अब एक जन्ममें तू भोगोंकी इच्छा छोड़ दे, लोगोंसे स्नेह छोड़ दे, परिचय छोड़ दे तो तेरा कल्याण होगा। सभी जीव एक समान हैं, तुझसे अत्यन्त जुदे हैं। जब तुझसे अत्यन्त पृथक् हैं प्रत्येक जीव तो किसी जीवमें गहरा परिचय बनाना, उसमें उपयोग रमाना, यह तो केवल बरबादी का कारण है।

वेदनाभय दूर करनेका उपदेश— हे आत्मन्! समाधिमरणके अवसर पर तुझे कुछ रोग वेदनायें विचलित कर सकती हैं, मगर तू देख तो सही कि जब ५ पाण्डव मुनिराज तपश्चरण कर रहे थे तो उस समय उन पाण्डवोंके बैरी कौरव पक्षके कुछ लोगोंने जो शेष बचे थे उन पाँचों पाण्डवोंको देखकर उन पर इतना क्रोध किया कि लोहेके कड़ा हार आदिक गहने बनवा कर उन्हें खूब अग्निमें लाल लाल तप्तायमान कर उन पाँचों पाण्डवोंको पहिना दिये। उस समयमें भी वे पाण्डव विचलित नहीं हुए। युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन ये तीन तो उसी काल मोक्ष चले गए और नकुल, सहदेव भी वेदनासे विचलित नहीं हुए, पर समीप खड़े हुए भाइयोंके उपसर्गको देखकर कुछ धर्मबुद्धिवश कि ये ऐसे निरपराध, ऐसे महान उदार चित्त वाले संत पुरुषों पर कैसी वेदना ढाई जा रही है? जो इतने बलवान थे कि बड़े बड़े राजा महाराजाओंको

क्षणभरमें जीत लेते थे, उन पर आज क्या हालत गुजर रही है ? ऐसी धर्मबुद्धिसे उनके रति उत्पन्न हुई, जिस रागभावके कारण उनका मोक्ष रुक गया । वे भी जायेंगे एक भव पाकर मोक्ष, लेकिन समता देखिए इन पाँचों पाण्डवोंकी । कैसी निर्दोष समता उनमें थी ? ऐसे बडे बडे उपसर्गोंमें भी ये विचलित न हुए तो तुझे कौनसा कष्ट है ? तू कष्टसे विचलित न हो । जब बडे बडे धर्मात्मा पुरुषोंकी कथाएँ सुनते हैं कि उन पर कैसे कैसे उपसर्ग आये तो अपने कष्ट हलके मालूम होने लगते हैं और हैं भी हलके । मनुष्य अपना दिल कमजोर बनाये रहे तो जरा जरासी बातको वेदनारूप महसूस करता है और जब कभी पाप का उदय आ जाए और कठिन उपद्रव आ जाए तो उस उपद्रवको सह लेगा । अपने मनसे कष्ट न मानना चाहिए । और कभी तीव्र कर्मोंका उदय आ जाए तो जो कष्ट आ गया उसे सहन करेंगे, चाहे जिस तरह सहन करें । इसलिए यह अभ्यास बनाना चाहिए कि हम अपने मनको कुछ कुछ कष्ट सहन करने का अभ्यासी बनावें । यही तो तपश्चरण है, यही कर्मोंकी निर्जराका कारण बनेगा ।

कष्टसहिष्णु बननेके लिये विचार— कभी कर्मोदय ऐसा तीव्र आ जाए कि एक दो दिन खानेको न मिले तो उसको भी सहना तो पडेगा, सहेगा नहीं तो करेगा क्या ? पर सक्लेश सहित जो सहन करेगा उसे आत्मलाभ न मिलेगा । कष्टसहिष्णु बनना चाहिए । इस जीवनको मौजी जीवन न बनायें । अपना अधिकतर समय धर्मध्यानमें, स्वाध्यायमें, तत्त्वचर्चा सुनने सुनानेमें व्यतीत करें । इनमें अगर कुछ चित्त को क्लेश होता है तो उस क्लेशको सह लीजिए, पर मनमौजी न बनिये । नहीं मन लगता है शास्त्र-स्वाध्याय वगैरह सुननेमें तो झट ऊब गए, वहाँ न गए, स्वाध्यायमें शामिल न हुए, कुछ थोडासा बैठे तो झट उठकर चल दिए । तो यह कोई अच्छी बात नहीं है । कभी कभी कर्मोंका ऐसा तीव्र उदय आता है कि बड़ी बड़ी वेदनाएँ सहनी पड़ती हैं, जिनको धर्मका प्रसग भी प्राप्त है । दो शब्द जिनवचनके सुननेमे आ गए तो उससे लाभ भी होगा, मगर ऐसे कार्योंमे जरा भी कष्ट सहनेकी मनमें भावना न रखे तो वह जीवन क्या जीवन है ? मनमौजी जीवन बनाना अच्छा नहीं । जरा भी कष्ट नहीं सह सकते, रातभर की भी भूख नही सह सकते । चाहे जिस पदार्थको बाजारसे लेकर खाना, भक्ष्य अभक्ष्यका, मर्यादित अमर्यादितका कुछ भी ध्यान न रखना, यह कोई भली बात नहीं है । अपना जीवन मौज ही मौजमें बितायें, धर्मका कुछ भी ख्याल न रक्खे तो ऐसा जीवन क्या जीवन है ? क्या है ? थोड़ासा जीवन है, सब कुछ छोडकर जाना होगा । इस जीवनका तो कुछ विश्वास भी नहीं है । कहो अभी ही मृत्यु हो जाए । ऐसे अविश्वासनीय जीवनमें भोगोंसे प्रीति न करें । हे समाधिमरणके इच्छुक पुरुष ! देख अपने जीवन को सभाल । कैसा भी कष्ट आया हो वह कुछ भी कष्ट नहीं है । तू अपने आत्माका विश्वास कर । शरीर को शिथिल करके, शरीरको यों ही छोड़कर इस शरीरका उपयोग ग्रहण न करके केवल अपने उस चैतन्य-स्वरूपका मानकर । तू केवल चैतन्यप्रकाशमात्र है । इसमें राग कहाँ ? तेरा उपयोग इस चैतन्यस्वरूपमें रहेगा तो तुझे वेदना न रहेगी । कष्ट तुझे होते हैं तो उन कष्टोंकी यह ज्ञानामृत दवा है, इस ज्ञानामृत का पान कर तो कुछ भी कष्ट न रहेगा । तू तो अपने निर्लेप विशुद्ध चैतन्यस्वभावरूप आत्माका अनुभव कर तो शत प्रतिशत यह यथार्थ बात है कि दूसरोंसे कष्ट नहीं रह सकता ।

आत्मीय अविनाशी स्वरूपका विचार-- हे आत्मन् ! विचार कर यह मैं चैतन्यप्रकाश जो एक साधारण सामान्य स्वरूप है, इसका कहीं विनाश नहीं है । उसकी मृत्यु है ही नहीं । फटे पुराने टूटे घरको छोड़कर नवीन घरमे कोई प्रवेश करता है तो बडे गाजे बाजेके साथ बड़े समारोहके साथ, हर्षके साथ नवीन घरमें प्रवेश करता है । कोई उस समय रोकर जाता है क्या ? इसी प्रकारसे यह देह पुराना हो गया, वृद्ध हो गया—ऐसे इस जीर्ण शीर्ण शरीरको छोड़कर यदि वहीं भी नवीन शरीरमें जा रहा है तो तेरा वहाँ विगाड़ क्या ? तेरी मृत्यु ही नहीं है । एक जीर्ण शीर्ण कुटी छोडकर जो जा रहा है तो ठीक है,

जान लिया। कष्ट क्या है ? कष्ट तो सब मनका है। मरते समय जो यह ख्याल करता है कि हाय यह इतना बड़ा मकान, इतना बड़ा वैभव यह सब छूटा जा रहा है ऐसा मनमें ख्याल करके वह दु खी होता है। मनकी वेदना सबसे बुरी वेदना है। हे आत्मन् ! अपने चित्तको सभाल, अपनी स्वरूपकी ओर दृष्टि ला, फिर तेरा कल्याण ही कल्याण है। कहाँ है तेरी मृत्यु ? कहाँ है तुझे वेदना ? तू चैतन्यमात्र है, चैतन्य-स्वरूपको वेदता है। यही तेरी शुद्ध वेदना है। इसके अलावा और तेरेमें क्या वेदना है ? यह ज्ञानी पुरुष चिंतन कर रहा है कि मेरी मृत्यु नहीं, मैं जवान, बालक, वृद्धा भी नहीं, स्त्री पुरुष भी नहीं, मैं तो एक चित्स्वरूप हू। इसमें कोई लिंग नहीं, इसका कोई नाम नहीं। यदि कुछ नाम रखा तो वहीं लिङ्ग शुरू हो जाता है। यह मैं नामरहित हू, तब मुझमें लिङ्ग कैसे हो सकता है ? इसमें कोई भय भी नहीं है। भय किस बातका ? सबसे बड़ा भय जीवको लगा है मरणका। सभी लोग और और हानिया तो सह सकते हैं, पर मरणकाल आ गया ऐसा जानकर वे घबड़ा जाते हैं। अरे, मरण तक भी मेरा नहीं है तो फिर मरणका भय क्या ? जब मरणका भय नही है तो अन्य भयोंकी कथा ही क्या है ? मैं मरणरहित हू तो फिर मरणका भय किस बातका ? मैं देहरूप नहीं, मनरूप नहीं, फिर मनकी वेदना कैसी ? ऐसा निरपेक्ष होना पड़ता है तभी समाधिमरणके अवसर पर उस समय साधकका साधु मुनि जैसा परिणाम होता है। बहुत निर्मल परिणाम होता है समाधिमरण ग्रहण करने वालेका।

समाधिमरणकी पवित्रता— समाधिमरण करने वाला चाहे गृहस्थ ही क्यों न हो, पर उसके भीतरका आशय देखिए। वह तो उस समय पूज्य है, उस समय वह निर्मोह है, निर्लेप है, एकाकीपनके चिन्तनमें लीन है। ज्ञानीजन उस समाधिमरण करने वालेको बार बार इस प्रकार समझाते हैं कि हे महाभाग ! कदाचित् तेरे शरीरमें कुछ वेदना भी हो तो थोडेसे शरीर दुःखसे कायर मत बन। प्रतिज्ञासे च्युत मत हो अपने परम निर्जरास्वरूप शुद्ध स्वरूपकी भावना बना। देखिये एक ही दवा है वेदनायुक्त होनेकी कि उस वेदनासे उपयोग हटाइये और अपने आपकी ज्ञानमात्र अनुभवमें लीजिए। यही वेदनाको दूर करनेका सही उपाय है। ऐसा यह समाधिमरण करने वाला पुरुष अन्तरङ्गसे समस्त बहिरङ्गका त्याग करता है और अपने परमात्मतत्त्वके दर्शनमें स्थिर रहता है। और इस ही आत्मस्थिरताके प्रतापसे आनन्दानुभूतिका स्वाद लेता है। यों समझिए कि समाधिमरण करने वाला ज्ञानी पुरुष आनन्दामृतका पान करता हुआ इस देहको छोड़कर जाता है और मोही पुरुष बड़ी वेदना, बड़े क्लेश भोगकर जाता है। हाय ! यह सब मिटा जा रहा है, ये सब धन वैभव आदिक छूटे जा रहे हैं, यों सोच सोचकर मोही पुरुष दु खी होते हैं। समाधिमरणकी विधिमें बताया जा रहा है कि इस प्रकार समता परिणाम रखे, कषायोंको मदकर रत्नत्रयकी भावना बनायें, पचनमस्कार मन्त्रका स्मरण करें। निजस्वभावका स्मरण करते हुए प्राणविसर्जन हों तो यही है एक पवित्र समाधिमरण।

नीयन्तेऽत्र कषाया हिंसाया हेतवो यतस्तनुताम्।
सल्लेखनामपि तत प्राहुरहिंसाप्रसिद्ध्यर्थम् ॥१७६॥

अहि सल्लेखनामे अहिंसाकी प्रकृष्ट सिद्धि— इस समाधिमरणमे हिंसाके कारणभूत कषाये क्षीण हो जाती हैं, इसलिए यह समाधिमरण अहिंसाव्रत कहलाता है। जो भी व्रत हैं वे अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिए लिए जाते हैं। अहिंसा कहते हैं रागद्वेष मोहभाव दूर हों और अपनी सुध बने, अपनी सावधानी रहे उसको। तो सल्लेखनामें तो विशेषकर अहिंसा बराबर बनी रहती है। यह आत्मा अहिंसास्वरूप है, अहिंसाकी मूर्ति है अर्थात् विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है यह। इसमें रागादिक भाव नही है। अपने स्वभावकी सभालमे तो रागादिक भाव ठहर नहीं सकते। अपने स्वभावकी सुध रखे, रागादिक भाव दूर हों तो उसमें जैसा अहिंसाका स्वरूप था, स्वभाव था, वही प्रकट हो जाता है और यही कल्याणकी बात है, यही

चाहिए। हे आत्मार्थी ! देख तू अपनेसे बाहर कहीं भी किसीको निरखकर कौनसे महत्त्वकी सिद्धि कर लेगा ? कौन तेरा सहायक है ? तू अपने घरसे मत निकल। जैसे सावनके महीनेमें बड़ी तेज वर्षा हो रही हो, बादल भी कड़क रहे हों, बिजलियां भी चमक रही हों, ओले भी पड़ रहे हों तो ऐसे समयमें भला ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो अपनी झोंपड़ीमें न रहना चाहता हो, झोंपड़ीसे निकलकर बाहर जानेकी सोच रहा हो ? वह तो अपनी झोंपड़ीसे बाहर न निकलना चाहेगा। ऐसे ही बाहरमें जहाँ रागद्वेषमोहकी बिजली चमक रही हो, विषयकषायोंके ओले पड़ रहे हों, अनेक प्रकारकी आपत्तियोंकी वर्षा हो रही हो, ऐसी स्थितिमें विवेकी पुरुष तो अपनेसे बाहरमें अपना उपयोग न रखनेकी सोचेगा। हे आत्मन् ! इस प्रकारकी भयानक स्थितिमें आज तुझे जैनशासनके प्रभावसे एक विशुद्ध निज घर ध्यानके लिए मिल गया है, अपने उपयोगको रमानेके लिए मिल गया है तो अब तू यह कोशिश कर कि अपने ही घरमें ठहर। अपने घरसे बाहर तू झाक हो मत। ऐसा ही अपने आपका भाव समाधिमरणमें रहने वाला पुरुष भर रहा है और इस चिन्तनके प्रसादसे समतापूर्वक ठहर जाता है जिससे भवरहित बन जाता है।

इति यो व्रतरक्षार्थं सततं पालयति सकलशीलानि।
वरयति पतिंवरेव स्वयमेव तमुत्सुका शिवपदश्रीः ॥१८०॥

व्रतरक्षार्थ सकल शीलको पालने वालेके मुक्तिकी भाजनता— श्रावकोंके आचारमें ५ व्रतोंकी मुख्यता है— अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाण अणुव्रत। शेष जो और कुछ बताए गए हैं ७ शील (३ गुणव्रत, ४ शिक्षाव्रत) ये ५ अणुव्रतकी शिक्षाके लिए बढ़ाए गए हैं। इन ५ अणुव्रतोंमें मुख्य तो एक ही है, जो शेष ४ हैं वे अहिंसाकी सिद्धिके लिए हैं। इसलिए आधार तो एक ही है अहिंसा। उस अहिंसाकी रक्षाके लिए इन ७ शीलोंका वर्णन किया गया और सल्लेखनाका। सल्लेखना भी अहिंसाकी रक्षाके लिए है। जो पुरुष अहिंसाकी रक्षाके लिए इन ७ शीलोंका और सल्लेखनाव्रतका पालन करता है उस पुरुषको मोक्षरूपी लक्ष्मी प्रसन्न होकर स्वयंवरकी कन्याकी तरह स्वयंवरवरण करती है अर्थात् जैसे स्वयवर मण्डपमें राजपुत्र चारों ओर बैठे हुए हैं और वह कन्या स्वयं प्रसन्न होकर स्वयवरमण्डपमें चारों ओर घूमकर स्वय वरवरण करती है इसी प्रकार वह मुक्ति स्वय ढूंढ लेती है। उसको जो स्वय अहिंसक है, जो अपने स्वभावकी उपासना करने वाला है अर्थात् उसका मोक्ष अवश्यंभावी है। तो आचारमें बारह व्रत और सल्लेखना इन तेरहका पालन बताया है। जीवनभर इन बारह व्रतोंके निर्दोष पालने में रहे और अन्त में सल्लेखना में मरण करे तो वह मोक्षका परम अधिकारी है।

अतिचाराः सम्यक्त्वे व्रतेषु शीलेषु पञ्च पञ्चेति।
सप्ततिरमी यथोदितशुद्धिप्रतिबन्धिनो हेयाः ॥१८१॥

द्वादश व्रत, सम्यक्त्व व सल्लेखनाके पञ्च पञ्च अतिचारोंकी हेयता—५ व्रत, ७ शील और सल्लेखना मरण और सम्यक्त्व इन सबमें ५—५ अतिचार हुआ करते हैं। सम्यक्त्व, बारह व्रत और सल्लेखना इन १४ में ५—५ अतिचार होते हैं। सब ७० अतिचार हैं वे यथार्थ आत्मविशुद्धिको रोकने वाले हैं उनका त्याग करना चाहिए। अतिचार नाम है दोषोंका। जहाँ नियमका मूल भग तो नहीं है, कुछ दोष लग रहे हैं उसे अतिचार कहते हैं। अतिचारके सम्बन्धमें बताया है कि मानो १०० डिग्री आचार बिगड़ जाय तो दोष हो जाता है। अगर मूल व्रतका पालनका अभिप्राय बना हुआ हो, मूल व्रतका पालनका संस्कार और यत्न होता हो तो सब तो नहीं, फिर भी बहुत अधिक दोष होने पर भी वह अतिचार है लेकिन अतिचार मात्र अतिचार है ऐसा जानकर अतिचारको करता रहे तो वह अनाचार ही है, अतिचार नहीं रहता, ये अतिचार चौदहोंके ५-५ हैं उनमें से पहिले सम्यग्दर्शनके अतिचार कहते हैं।

शङ्का तथैव कांक्षा विचिकित्सा संस्तवोऽन्यदृष्टीनाम् ॥
मनसा च तत्प्रशंसा सम्यग्दृष्टेरतीचाराः ॥१८२॥

सम्यक्त्वके शंका कांक्षा विचिकित्सा नामक अतिचार– शंका करना, आकांक्षा रखना, ग्लानि करना, अन्य दृष्टियोंकी स्तुति करना और मनसे प्रशंसा करना—ये सब सम्यग्दर्शनके अतिचार हैं अर्थात् सम्यक्त्वमें ये दोष न लगना चाहिए। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें ये अतिचार कुछ अंशोंमें सम्भव हैं, उपशम सम्यक्त्वमें अतिचार नहीं होते, क्षायक सम्यक्त्वमें अतिचार नहीं होते। अतिचार एक दोष है। पहिला अतिचार है शंका करना, सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्रणीत अनेकान्तकी, जैन शासनकी किसी बातमें संदेह करे तो वह सम्यक्त्वका दोष है, और जो सप्तभय बताये गए हैं उन भयोंमें भी कुछ वैसी वृत्ति बन जाय तो वह भी सम्यक्त्व का अतिचार है अर्थात् जितने अंशोंमें संदेहसे सम्यक्त्व हो न दिखे, पर सम्यक्त्व में दोष लगे और ऐसा दोष मानता रहे तो सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाय ऐसा यह अतिचार होता है। जैसे नरक स्वर्गोंकी रचना बतायी गई है, ७ नरक है, इस प्रकार उन नरकोंमें परिस्थितियां होती है! स्वर्ग हैं ऐसे इन्द्रका विमान है, ऐसे श्रेणीबद्ध विमान हैं, उनके ऐसा उत्तम शरीर है आदिक जो ये कथन हैं उन कथनोंमें सन्देह करे तो वह अतिचार है और वह ही एक पूरा संदेह करे तो वहां तो सम्यक्त्व ही नहीं है, अगर कुछ अटपटासा लगे तो यह दोष हुआ, लेकिन जिन सर्वज्ञदेवने तत्त्वसम्बन्धी उपदेश किया है और जिनके तत्त्वोपदेशमें रंच भी फर्क नहीं मालूम पड़ा, जिन तत्त्वोंमें हमारा अनुभव चल सकता है, जिनमें कहीं कोई अन्तर नहीं आया तो वह भगवानके द्वारा कहा गया तत्त्व जो परोक्ष है जहाँ युक्ति और अनुभव नहीं चल रहे हैं वे भी यथार्थ हैं ऐसा सम्यग्ज्ञानीका निर्णय रहता है। दूसरा अतिचार है वाञ्छा करना। भोगोपभोगके साधनोंकी जो इच्छा बनी रहती है वह सम्यक्त्वका एक दोष है क्योंकि यह इच्छा कभी प्रबल हो जाय और आत्माकी सुधि खो बैठे तो सम्यक्त्व नष्ट हो सकता है। तीसरा दोष बताया ग्लानि। धर्मात्माओंको निरखकर, चारित्रधारियोंके मलिन गंदे शरीरको देखकर ग्लानि करना यह भी सम्यक्त्वका अतिचार है। अपने आप पर जो भूख प्यास आदिककी परिस्थितियां गुजरती हैं उस सम्बन्धमें भी ग्लानि परिणाम रखे तो वह सम्यक्त्वका अतिचार है। मतलब यह है कि सम्यग्दृष्टि पुरुषको तो सभी परिस्थितियोंमें घबड़ाना न चाहिए। उपसर्ग आये, वेदना हो, आजीविकाका काम हो, किसीका वियोग हो, विरोधीका सामना करना पड़े तो ऐसी स्थितियोंमें अपने चित्तमें ग्लानि न करे। उनकी दृष्टि रहे यह भी अच्छी स्थिति है। अपने स्वरूपकी सुध न खोये और जो थोड़ी घबड़ाहट होती है तो वे सब सम्यक्त्वके दोष हैं और वे दोष बढ़कर सम्यक्त्वको नष्ट कर सकते हैं। ये सम्यक्त्व के अतिचार हैं।

सम्यक्त्वके अन्यदृष्टिस्तव व अन्यदृष्टिप्रशंसा नामक अतिचार––चौथा अतिचार बताया है मिथ्यादृष्टियों की संस्तुति करना। कोई पुरुष बड़ा चमत्कारी है, शुभ परिणाम भी रखता है, नियम भी अच्छे पालता है पर सम्यक्त्व नहीं हुआ है और उसकी प्रशंसा कर रहा है कोई, प्रशंसा करते हुएमें यदि कहे कि इस पुरुष को सम्यक्त्व प्राप्त हुआ है तो यह उसके सम्यक्त्वका अतिचार है। और ऐसे पुरुषके प्रति मनमें यह भला माने, उसकी प्रशंसा करे यह भी सम्यक्त्वका अतिचार है। यों ये ५ सम्यक्त्वके अतिचार हैं। अतिचार से सम्बन्धित ये चार बातें होती हैं—अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार। अतिक्रम तो कहते हैं व्रतके खिलाफ होनेका मनमें कुछ विचार उठने को और व्यतिक्रम कहते हैं विषयोंकी अभिलाषा रूप चित्तमें मलिनता आने को। अतिचार कहते हैं व्रतके नियमोंमें शिथिलता आने को। विरुद्ध कुछ वृत्ति बन गयी तो वह अतिचार है और अनाचार कहते हैं स्वच्छन्द होकर व्रतोंके विरुद्ध प्रवृत्तिमें लग जानेको। इसे आगम शब्दोंमें कहें तो बाढ़का (व्रतोंका) भंग करना अतिचार है, अतिक्रम, बाढ़के

भगोंका मनमें विचार होना अतिक्रम है और बाढ़ भग होना व्यतिक्रम है और सम्यक्त्वकी बात ही भूलकर उसके विरुद्ध प्रवृत्ति हो जाना सो अनाचार है। तो ये जो सम्यक्त्वके अतिचार बताये गए हैं इनमें ऐसा साधारण दोष लेना जो कि सम्यक्त्वमें मलिनताको उत्पन्न करे, यह अतिचार क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें होता है और उनका निमित्तकारण है सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय। सम्यक्त्वमें बाधा देने वाली ७ प्रकृतियां हैं--मिथ्यात्व, सम्यकमिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति, अनन्तानुबंधी, क्रोध, मान, माया, लोभ। जब इन ७ प्रकारकी प्रकृतियोंका क्षय होता है और आगामी कालमें ये सब प्रकृतियां उदयमें आ सकती हैं, सत्तामें अभी मौजूद हों, इनकी उदीर्णा न हो सके तथा सम्यक् प्रकृतिका उदय हो, ऐसी स्थितिमें सम्यक्त्व प्रकृतिका उदय होता है। इस उदयके कारण ये अतिचार लगने लगते हैं। सम्यक्त्वके ८ अग कहे हैं और उन ८ अंगोंके परीक्षक ८ दोष होते हैं। वे ८ दोश ही अतिचार हैं। पर यहाँ बताया गया है कि उन आठोंका किसी न किसीमें अन्तर्भाव हो जाता है, इसलिए संक्षेप करके ५ बताये गए हैं। सम्यग्दर्शन के बाद अहिंसाणुव्रतका वर्णन किया गया है तो उसके अतिचारोंको बताते हैं।

छेदनताडनबन्धा भारस्यारोपणं समधिकस्य।
पानान्नयोश्च रोधः पञ्चाहिंसाव्रतस्येति ॥१८३॥

अहिंसाणुव्रतके अतिचार-- अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचार हैं। किसी पशु आदिकके हस्त पैर नाक कान आदिका छेदन करना यह अहिंसाव्रतका एक अतिचार है। बहुतसे लोग गाय, भैंस, कुत्ता तथा अपने ही बच्चोंके कान, नाक वगैरह छेद डालते हैं तो यह अहिंसाणुव्रतका दोष है। ताडन--लकड़ी कोड़ा आदिसे मारना यह भी अहिंसाणुव्रतका अतिचार है। बाँधना--उनको ऐसा दृढ बाँधते हैं कि वे पशु फिर छूट नहीं सकते। कहीं कहीं सङ्कलोंसे घोड़ोंको बाँध देते हैं और आग लग जाए तो वे भस्म हो जाते हैं। ऐसी अनेकों घटनाएँ सुननेको मिलती भी हैं। उन्हें दृढ बन्धनसे तो बाधना ही न चाहिए और जहाँ तक हो उन्हें एक बाडेमें प्रवेश कर देना चाहिए, जो पशुशाला हो, जहांसे वे पशु भाग न सकें और उन्हें बांधा न जाए और बाधा जाए तो साधारण रस्सीसे बाध दिया जाए ताकि विपत्ति आने पर वह रस्सी जल जाए, टूट जाए, भला उसके प्राण तो बच सकें। तो दृढ़ बन्धनसे बाधना अतिचार है। पशु आदिक पर अधिक बोझा लादना अतिचार है। सामर्थ्य तो है ४ मनकी और ६ मन लाद दे तो यह अतिचार है। ये गृहस्थोंके अतिचार बताये जा रहे हैं। मुनियोंके तो ये सम्भव ही नहीं हैं। कैसा व्यवहार उनका बने तो अहिंसामें दोष आता है उसका कथन चल रहा है और पशु आदिकका समय पर भोजन पान रोक देना अतिचार है। अथवा जैसे कोई पशु दूध अधिक देते हैं तो उनकी चौगुनी सेवा होती है उनकी अपेक्षा जो कम दूध देने वाले हैं अथवा नहीं भी देते हैं, उनकी सेवा तो क्या भर पेट भोजन भी नहीं देते, इसमें अतिचारका दोष है।

मिथ्योपदेशदान रहसोऽभ्याख्यानकूटलेखकृती।
न्यासापहारवचनं साकारमन्त्रभेदश्च ॥१८४॥

सत्याणुव्रतके अतिचार--सत्याणुव्रतके अतिचार बतला रहे हैं, मिथ्या उपदेश देना, किसी शुद्ध अर्थका झूठा अभिप्राय लगाना और जिससे सुनने वाला खुश हो जाय, ऐसा मिथ्या उपदेश कर देना, जिससे हितका अधिक सम्बन्ध नहीं है यह सत्याणुव्रतका अतिचार है। किसी की एकान्तमें कोई चीज है या गुप्त रखने योग्य बात है उसे देख ले और प्रकट कर दे तो वह सत्याणुव्रतका अतिचार है। झूठे लेख लिखना, सत्याणुव्रतका अतिचार है। वैसे है वह पूरा सत्य, पर वचनोंका प्रयोग नहीं है और कुछ सीमामें रहकर डरते हुए कुछ कूट लेख करले तो वह अतिचार है, इन अतिचारोंके बारेमें जैसे पहिले बताया कि ९९ डिग्री तक दोष लगनेमें ये अतिचार बदले जा सकते हैं। यदि उस लक्ष्यको छोड़ दें तो

दो चार डिग्री तकका दोष हो उससे भी अतिचार है। इस तरह अतिचारोंकी बात सुनकर कभी मनमें आ सकता है कि इतनी बड़ी बात बतायी गई है। जो व्रतभगकी चीज है उसे अतिचार बताये तो इन अतिचारोंकी बात सुनते हुएमें आशयको जरूर ध्यानमें रखना चाहिए कि जैसा ज्ञानीके व्रत पालनेका तो भाव है, उसका ही यत्न है, मगर कुछ कठिन स्थितियां ऐसी मजबूर कर रही हैं या कर्मोदय ऐसा मजबूर कर रहा है कि जिन परिस्थितियोंमें व्रतका सम्बन्ध रखते हुए भी कुछ हटना पड़ रहा है, कुछ दोष लग रहे हैं—ऐसी परिस्थिति मनमें सोचकर अतिचारोंकी बात सुने तो वह ठीक बैठती है और उसके मूल आशयमें व्रतरक्षा आदिककी बात न रखें, मात्र अतिचारकी बात सुनें तो उसे व्रतभंग या अनाचार जैसा लगेगा। सत्याणुव्रतका चौथा अनुचार बताया है धरोहरका अपहरण करना। इसके लिए दृष्टान्त बतलाते हैं कि कोई पुरुष किसीके यहां जैसे (१२००) रख गया, बोल गया कि हम परदेश जा रहे हैं, जब वापिस आयेंगे तो हमारे रुपये हमें दे देना। वह गया परदेश। परदेशसे वापिस आने पर वह कहता है कि जो हम हजार रुपया रख गए थे वह हमें दीजिए तो वह कहता है कि हां जो आप कहते हैं सो ले जाइये। तो कुछ इसमें लगता ऐसा है कि मायाचार भी है, चोरी भी है, असत्य भी है, सभी ऐब इसमें भरे हुए हैं। कोई भीतरमें चाह बनी हुई है व्रतभंगकी और व्रतपालनेकी। सत्याणुव्रत पालनेकी उसके मनमें लगार है और इन वचनोंमें कह रहा कि जो आप कह रहे हैं वह आप ले जाइये। यह अतिचार त्यागने योग्य है। इसे इस दृष्टिसे सुनना चाहिए कि इसे दूर ही करना चाहिए। उस धरोहर वालेके हजार रुपये दे दिए, पर इसमें चोरीका दोष लगा, थोड़ासा भाव लगार लगा है तो थोड़ेके लिए स्वच्छन्द होकर असत्यको नहीं छोडना चाहता है, उसको अतिचार बताया गया है। किसीकी मुद्रा निरखकर उसके मनकी बात समझ लेना व उसके आशयको दूसरोंके समक्ष प्रकट कर देना यह सत्याणुव्रतका ५ वां अतिचार है। इस तरह ये सत्याणुव्रतके अतिचार कहे गए हैं।

अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिए अतिचारोंकी हेयता— उक्त अतिचारोंके कहनेका प्रयोजन है कि इन दोषों को न करें और आत्माका जो एक अहिंसास्वरूप है सत्यज्ञानमात्र जो स्वरूप है, ज्ञाताद्रष्टा रहना यह जो अहिंसकवृत्ति है इसकी ओर ध्यान देवे और इसका रक्षण करें। धर्म तो एक ही है और वह है ज्ञाताद्रष्टा रहना। अब ज्ञाताद्रष्टा रहनेमें कमी होती है और उस कमीके समय ज्ञाताद्रष्टा रहनेके लिए जो यत्न किया जाता है, प्रवृत्ति की जाती है, वह प्रवृत्ति अनुकूल है और उसे नाना प्रवृत्तियोंसे व्यवहारमें धर्म कहा है। तो व्यवहारधर्म तो अनेक प्रकारके होते हैं, पर निश्चयमें धर्म एक ही है। रागद्वेषरहित रहना, केवल ज्ञाताद्रष्टा रहना, यही धर्मका पालन है। पर व्यवहारधर्म अनेक क्यों हो गए कि ज्ञाताद्रष्टा रहनेके प्रयत्नमें जो इसकी प्रवृत्ति चली, वे नाना प्रकारकी होती हैं? जैसे दूसरोंका दिल न दुःखाना, सत्य बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यव्रतसे रहना, परिग्रहका परित्याग अथवा प्रमाण करना—ये नाना प्रकारकी प्रवृत्तियाँ चलती हैं, इस कारणसे नाना व्यवहारधर्म हो जाते हैं, पर व्यवहारधर्मका काम कवच जैसा है और निश्चयधर्मका काम शस्त्र जैसा है। जैसे युद्धमें कोई वीर लड़ रहा है तो वह तलवार और कवच रखता है। तलवारसे तो युद्ध करता है और कवचसे दूसरोंके आने वाले शस्त्रोंको रोकता है ऐसे ही यह ज्ञानी आत्मा विषयविभावोंसे लड़ रहा है तो वह अपने भावशत्रुका घात तो कर सकता है निश्चयदृष्टिसे, ज्ञानस्वभावदृष्टिसे, पर व्यवहारधर्मका कवच क्यों रखे हुए है कि ये विषयकषाय यदि आक्रमण करें तो इस व्यवहारधर्मके प्रतापसे हम बच जायेंगे, इसलिए यह व्यवहारधर्मका पालन है। जिससे कि हमारे एक निश्चयज्ञानस्वभावमें लगनेकी पात्रता बनी रहे, यह तो व्यवहारधर्मका कार्य है और निश्चयधर्म तो साक्षात् धर्म है। तो कल्याणार्थीको ये दोनों धर्म पालनेके योग्य हैं। जिसको यथार्थ निर्णय हुआ है, सत्पथका निश्चय हुआ है ऐसा पुरुष निश्चयमार्गमें लगता है और जब नहीं कर पाया, कर्मोदयकी

ऐसी प्रेरणा है न अवलोकन कर सका तो भी जो भी प्रवृत्ति करेगा, उस ज्ञानकी परिणति ऐसी होगी जो इस लक्ष्यके एकदम खिलाफ न जाए। उसीका नाम व्यवहारधर्म है। जैसे विषय भोगोंमें मग्न होना यह आत्मसुधको बिल्कुल खो देता है और पूजामे, भक्तिमें, दानमें, गुरुसेवामें लगते हैं। यद्यपि यह भी निश्चयकी निश्चलवृत्ति नहीं तो भी दान पूजा भक्ति दया आदिकके समय वह जीव उतना पात्र नहीं बन सकता कि आत्मसुधिको भी खो बैठे। आत्मसुधि रखे हैं तो आत्मदृष्टिके पात्र रह सकते हैं, पर व्यवहारधर्मके लिए शुद्ध व्यवहार पालन करनेसे इस जीवमें निश्चयधर्मकी पात्रता नष्ट नहीं होती। वैसे व्यवहारधर्म और जिन कार्योंके करनेमे धर्मधारणकी पात्रता नष्ट हो जाती है वह कहलाता है पाप। जैसे बताया गया है कि राग पाप है। भले ही राग पाप है और एक विषयका राग हो और एक भगवानके गुणों का राग हो। भगवानके गुणोंमें अनुराग होनेसे पाप भाव नहीं उत्पन्न होता और पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें राग करनेसे पाप भाव बढ़ता है। भगवानके गुणोंमे अनुराग होनेमें पुण्य बताया है और विषयभोगोंमे अनुराग होनेको पाप बताया है। तो व्यवहारधर्मका पालन करते हुए निश्चयधर्मका भी लक्ष्य न छोड़कर यथाशक्ति प्रयत्न करते हुए अपनी स्वभावदृष्टिमें रहें तो इससे अहिंसाव्रतकी सिद्धि होती है।

प्रतिरूपव्यवहार' स्तेननियोगस्तदाहृतादानम्।
राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणं च ॥१८५॥

अचौर्याणुव्रतके अतिचार— गृहस्थोंके बारह व्रतोंमें एक अचौर्याणुव्रत है। सो अचौर्याणुव्रतमें क्या क्या दोष लग सकते हैं, उन दोषोंका इसमें वर्णन है। किसी खोटी चीजको किसी अच्छी चीजमें मिलाकर बेचना इसमें अतिचारका दोष है। हलाकि एकदम किसीकी चीज हर नहीं रहे, खाली बेच रहे पर लोगों की आंखोंमें धूल डालकर बेच रहे हैं। जैसे घीमे तैल मिलाना, दूधमे पानी मिलाना आदिक खोटे कामों में अनाचारका दोष लगता है, लेकिन अचौर्यव्रतके प्रति ध्यान है और भय भी लगा है, इस कारण उसे अतिचारमें शामिल किया है।

दूसरा है स्तेननियोग अर्थात चोरी करने वालेको सहायता देना, चोरी करानेमें मदद करना और चुराकर लायी हुई चीजका ग्रहण करना, चोरीकी चीजको सस्ते भावमे खरीद लेना, उसे कीमती भावमें बेच देना—ये सब अतिचार कहे गए हैं। एक है राजविरोध अतिक्रम। राजाने जो नियम बनाया है उसका उल्लंघन करना। जैसे किन्हीं दो राज्योंमें लड़ाई छिड़ गई हो और किसी तीसरे देश वाले उन दोनोंको और भी लड़ाकर अपना लाभ उठायें, इसमें वे समझ रहे हैं कि हम चोरी कर रहे हैं, यह अतिचार दोष है। चुंगीका टैक्स वगैरह कोई चुराले, सरकारके नियमका कोई उल्लंघन कर दे तो वह भी चोरीका अतिचार है। अचौर्य महाव्रतमें जो ५ भावनाएं कही गई हैं, उनमें एक भैक्ष्यशुद्धि भावना है। कोई कहे कि इस चोरीके त्यागका विधिवत भिक्षा लेनेसे क्या सम्बन्ध है? तो जो लोग भिक्षा भोजन कर रहे हैं और कदाचित कोई छोटासा बाल निकल आये, उसको अगल बगल करके यों ही हटा देवे, उसका अन्तराय न माने और खा ले तो बतावो उसमें चोरीका दोष लगा कि नहीं? तो भिक्षाकी जो शुद्धि न बने तो उसमें चोरीका दोष लगा। ऐसे ही राजाने जो भी नियम बनाया तो उसमें भी चोरीका दोष लगता है। जैसे एक नियम बनाये कि इस रास्तेको कोई यों ही सीधा क्रास न करे इधरसे जावे और कोई करे सीधा ही उस रास्तेको क्रास तो उसमें चोरीका दोष लगता है। चोरीके दोषको दिल गवाही दे देता है। जहा छुप करके करनेका भाव है उसके मायने चोरी है। छुपकर चाहे अपनी ही चीज खाये तो वह चोरी है। घरका लड़का पैसा उठाता है, पर छुपकर उठाता है तो वह चोरी है। छुपकर कोई भी काम करे तो वह चोरी है। घरकी चीज छुपकर उठाकर खाये यह चोरी है। छुपकर जो काम किया जाए, उसका ही नाम चोरी है। कोई पूछे कि घरके कई काम ऐसे होते हैं कि सबके सामने किए जाते हैं और

कई कई काम ऐसे होते हैं कि अकेलेमें किये जाते हैं तो वहां चोरी लगी कि नहीं ? जैसे मानों स्त्री पुरुष रहते हैं, वे लुक छिपकर परस्परमें कुछ वार्तालाप करते हैं, लोगोंकी जानकारी छिपाते हैं तो वह चोरी है। यदि वे यों ही लोगोंके सामने बैठकर खुले आम बात करें तो वह चोरी नहीं है। दूसरोंकी जानकारी से छुपावे तो वह चोरी है। ५ वां अतिचार है हीन और अधिक माप। चीजोंके खरीदने व बेचनेमें बाट तौलमें कम व ज्यादा रखना यह चोरी है। सेरभरका बाट १५ छटाक रखे अथवा १७ छटाक रखे तो वह चोरी है। वह कोई चोरी तो नहीं कर रहा, मगर हीन अधिक बाट वस्तुवोंके खरीदने व बेचनेमें काम लेता है तो वह चोरी है। ये ५ अचौर्यव्रत अतिचार हैं, इन्हें त्यागना चाहिये, तब अहिंसाव्रतकी सिद्धि होगी। अहिंसाव्रतके मायने है रागद्वेषरहित विशुद्ध ज्ञानपरिणाम होनेका। अपनी अहिंसा, अपने परमात्मतत्त्वकी अहिंसा, अपने आत्माकी अहिंसा होती है रागद्वेष भावसे। रागद्वेष न करें तो मेरा ज्ञान शुद्ध रहेगा, समतामें रहेगा तो समता कहो, अहिंसा कहो एक ही बात है। अहिंसाकी सिद्धिके लिये अणुव्रत गृहस्थको निर्दोश पालना चाहिये।

स्मरतीव्राभिनिवेशानङ्गक्रीडान्यपरिणयनकरणम्।
अपरिगृहीतेतरयोर्गमने चेत्वरिकयोः पञ्च ॥१८६॥

ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतिचार— अब ब्रह्मचर्य अणुव्रतके ५ अतिचार कहते हैं। ब्रह्मचर्य अणुव्रत है स्वदारसंतोषव्रत। परस्त्रीका सर्वथा त्याग और अपनी स्त्रीमें सन्तोषसे रहना, वहां भी कामवासना न रखना सो ब्रह्मचर्याणुव्रत है। पहिला अतिचार है कामसे बनकी अतिशय लालसा रखना। यह अणुव्रत है, इसलिये यह व्रत गृहस्थके लिये हैं। पर उसमें तीव्र लालसा होना, उसकी धुन रहना, यह ब्रह्मचर्यव्रतका अतिचार है। दूसरा दोष है अयोग्य अंगोंसे रतिक्रीड़ा करना। तीसरा है अन्यका विवाह करना। ये ब्रह्मचर्याणुव्रतमें दोष कहे जा रहे हैं। जैसे कुछ लोगोंका शौक होता है यहां वहां शादी सम्बन्ध करानेका तो यह भी ब्रह्मचर्याणुव्रतका एक अतिचार है। तीसरा अतिचार है अपरिग्रहता अर्थात जिसका विवाह न हुआ हो ऐसी स्त्रीसे सम्बन्ध रखना, गमन करना। यों समझिये कि वेश्या तो बिना विवाहकी होती हैं और जो विवाहसहित घरमें रहने वाली हैं, इन दोनों प्रकारकी स्त्रियोंसे सम्पर्क रखना, विलक्षण सम्बन्ध, घनिष्टता—ये भी अतिचार हैं। ये ब्रह्मचर्याणुव्रतके ५ अतिचार हैं। ब्रह्मचर्य कहते हैं—शब्दार्थमें ब्रह्म मायने आत्मा, उसमें चर्य मायने ठहर जाना। आत्मामें ठहर जाना भी ब्रह्मचर्य है। आत्मामें रमण करनेके बाधक ५ पाप हैं। हिंसा करनेसे, किसीका दिल दुखानेसे भी ब्रह्मचर्य नहीं रहता, क्योंकि ब्रह्मचर्यका अर्थ है आत्ममग्नता। जो दूसरेका दिल दुःखा रहा वहाँ आत्माकी सुध कहाँ है ? हिंसा करता है, उसमें भी ब्रह्मचर्यका भग है। झूठ बोलना उसमें भी आत्माकी सुध नहीं है। तो स्वरूपकी सुध हो जाना, इसका नाम है ब्रह्मचर्य। तो जिसके ऐसे सकल्प विकल्पमें धुनि लग रही है ऐसे पुरुषके ब्रह्मचर्य कहां, आत्माकी सुधि कहां ?—तो झूठ बोलनेमें भी ब्रह्मचर्यका भग, चोरीमें भी ब्रह्मचर्यका भंग। परवस्तुवोंमें मौज मानने का परिणाम है तो वहां भी ब्रह्मचर्य कहां ? ब्रह्मचर्यके भंगमें ब्रह्मचर्य भग है ही और परिग्रहकी लालसामें भी ब्रह्मचर्यका भग है। इनमें आत्माकी सुध नहीं रहती। तो ब्रह्मचर्यका घात पाचों पापोंमें है, मगर चौथे नम्बरके पापको ही ब्रह्मचर्यघातक क्यों कहा ? सभी अतिचार हैं। आत्मा अपने स्वरूपको छोड़कर परवस्तुवोंमें रमे उसका नाम अतिचार है। तो चौथे नम्बरके कुशील नामके पापके कुशील हैं। ब्रह्मचर्यघातमें कुशील पापकी रूढ़ि होनेका प्रयोजन यह है कि पापोंमें कुशील नामका पाप कुछ ऐसी विलक्षण जातिका है कि जहां आत्माकी सुध बिल्कुल खो बैठते हैं, इसलिये कुशील नामक पापको ब्रह्मचर्यका विरोध कहते हैं। ये पाचों प्रकारके पाप ब्रह्मचर्यव्रतके घातक हैं, ये दोष हैं। शील जीवनमें बाड़की तरह रक्षक है।

जैसे फसलकी रक्षाके लिये खेतोंके चारों ओर बाड़ लगाई जाती है ऐसे ही अपने जीवनकी रक्षाके लिये ये ६ शील बाड़की तरह हम आपके रक्षक हैं। ये शील पापोंसे बचाते हैं। इनकी रक्षा न करना अतिचार है।

वास्तुक्षेत्राष्टापदहिरण्यधनधान्यदासदासीनाम् ।
कुप्यस्य भेदयोरपि परिमाणातिक्रियाः पञ्च ॥१८७॥

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके ५ अतिचारोंमें आदिकके दो अतिचारोंका कथन— अब परिग्रह परिमाण अणुव्रतके ५ अतिचार कह रहे हैं। परिग्रह परिमाणके इन व्रतीश्रावकोंने १० प्रकारके पदार्थोंका परिमाण किया। पहिले तो घर। एक घर रखना, दो घर रखना, नियम किया, फिर उससे ज्यादा न रखे तो वह उसका परिग्रह परिमाण व्रत है। एक घर रखा नियममें और उसी घरसे लगा हुआ कोई दूसरा मकान हो, वहां से भी सम्बन्ध रखे और दरवाजा सिर्फ एक रखे और कहे कि हमने एक ही मकान परिमाणमें रखा है तो उसका यह कहना मिथ्या है। एक घरका नियम तो बना रहा और सोचकर केवल परमाणुको इस तरह लुप्त करे तो वह अतिचार है। देखो उसकी समझमें व्रतपालनका चाव उसके तो है, कहीं मेरा परिग्रह-परिमाण भंग न हो जाए, इस तरहकी दृष्टि है तो चूंकि व्रतकी ओर उसका झुकाव है और फिर कर रहा है भंग तो उसे अतिचारमें शामिल किया है। जब व्रतका ख्याल ही न करे तो उसमें पूरा भंग ही हो गया। भूमि, खेत जैसे मानों किसीने ४ रखनेका नियम किया, पर पास पड़ोसकी पड़ी हुई जमीनको तोड़ ले, अपने खेतकी मेड़को मिटाकर वैसे ही चार खेत बना ले तो उसकी वह मर्यादा नहीं है। यद्यपि क्षेत्रकी मर्यादा कहीं भंग न हो जाये इस ओर तो कुछ विचार है, पर उसने किया भंग तो यह अतिचार है। कोई सोना चांदी आदिका परिमाण रखे है, मानों एक किलो सोना और दस किलो चांदीका परिमाण है, पर मौका पड़ने पर वह ३ किलो सोना कर ले और ८ किलो चांदी रख ले, ११ किलो हो गये, ऐसा यदि कोई करे तो वह अतिचार है। व्रतपालनकी ओर उसका लगाव है, व्रतभंग करनेके लिये स्वच्छन्द नहीं हुआ है, इतनी भर बात है, इसलिये उसे अतिचार कहते हैं। जैसे कोई लड़का कोई पाप करता हो, किन्तु शर्म रखता हो तो बाप यह कहता है कि अभी मेरा लड़का बिगड़ा नहीं है। एक सेठका लड़का था। वह वेश्यागामी हो गया। उसके बापको भी यह पता हो गया कि लड़का वेश्यागामी हो गया। एक व्यक्तिने आकर शिकायत भी की कि आपका लड़का वेश्याके यहां जाता है। तो वह सेठ कहता है कि अभी मेरा मेरा लड़का बिगडा नहीं है। तो वह व्यक्ति बोला कि अरे आप कहते हैं कि मेरा लड़का बिगड़ा नहीं है, पर चलो हम आपको चलकर दिखा दें। जब सेठ उसके साथ देखने गया तो सचमुच वह लड़का वहीं खड़ा था। उस लड़केने अपने पिताको देखकर अपने हाथोंसे अपनी आंखे बन्द कर लीं। तो वह सेठ उस व्यक्तिसे कहता है कि देखो मेरे लड़केमें अभी मेरे प्रति कुछ आन तो है। जब यह बेशर्म होता, मेरी कुछ आन न होती तो मैं इसे बिगड़ा हुआ समझता, पर इसको हमारी आन है, इसलिये अभी बिगड़ा नहीं है। इसी ढंगकी बात यहां देखनी है कि व्रतके अतिचार लग रहे हैं, बड़े दोष लग रहे हैं, तिस पर भी उसका अभी व्रतकी ओर लगाव है, इच्छा है, व्रतभंगका भय है, फिर भी तीव्र उदयवश दोष लग रहा है तो वह उस व्रतका अतिचार है। इस तरह सोना चांदीका जो परिमाण किया था, गृहस्थने परिग्रहपरिमाणमें उसका अतिचार है।

परिग्रहपरिमाणाणुव्रतके शेष अतिचारोंका कथन— धनधान्यपरिमाणातिक्रम—धन नाम है गाय भैंस आदिकका और धान्य नाम है अनाजका। गोधनका परिमाण ले लिया, उसका भंग हो रहा है। जैसे संख्या रख ली कि मैं १० गाय रखूँगा, पर चार पांच गायोंके बछड़े पैदा हो गये तो उसमें थोड़ा ऐसा संकल्प बना लिया कि ये तो बछड़े हैं, पड़े हैं तो क्या हुआ? तो उसने भंग तो कर दिया व्रतका, पर

उसके थोड़ी समझ ऐसी बनी है कि मेरे परिग्रह परिमाणका व्रत बना रहे, इसलिये जबरदस्ती सूझ बनाई। धान्य अनाजमे कोई परिमाण भग करे तो वह अतिचार है। नौकर नौकरानीका कोई परिमाण रखे है, कुछ समय पाकर वह नौकर घटा ले और नौकरानी बढा ले तो चूँकि उसने हेरफेर ही किया, पर यह परिमाणका अतिचार है। वस्त्र बर्तन आदिका परिमाण करके उसमें अदल बदल करने लगे तो वह अतिचार हो गया। बर्तनोंका परिमाण रखकर उसमें कुछ सख्या गिनतीका अदल बदल करके छुपा लेना और उसका परिमाण अपनी समझमें सही मान ले तो वहाँ पर भी वह परिग्रह परिमाणका अतिचार है। इस तरह परिग्रह परिमाणके जो १० परिमाण थे उनमे दोष लगते हैं। ५ अणुव्रतोंके सन्तोष पालन करने के लिये गृहस्थ ७ शीलोंका पालन करता है। ७ शीलोंमें ३ गुणव्रत और ४ शिक्षाव्रत हैं। गुणव्रतमें पहिला गुण है दिग्व्रत। हम चारों दिशावोंमें इतनी दूरसे अधिक न जावेंगे, इस प्रकारका नियम ले लेना दिग्व्रत है। जैसे किसीने यह नियम लिया कि पूरबमें ५०० मील और पश्चिममें ५०० मीलसे अधिक दूर न जावेंगे और मौका पड़ने पर वह पश्चिममें २५० मील कर ले और पूरबमें ७५० मील कर ले तो उसने सही सीमाका भग किया, इसलिये परिग्रह परिमाणमें दोष लग गया। ऐसे ही दिग्व्रतके जो ५ अतिचार हैं उनको बताते हैं।

ऊद्‌र्ध्वमधस्तात्तिर्यग्व्यतिक्रमा क्षेत्रवृद्धिराधानम्।
स्मृत्यन्तरस्य गदिता पञ्चेति प्रथमशीलस्य ॥१८८॥

दिग्व्रतके अतिचार-- दिग्व्रतके ये ५ अतिचार हैं। ऊपर नीचे समान भूमिके किये हुए परिमाणका उल्लंघन करना, उससे बाहर चले जाना इसका नाम अतिचार है। ये तीन अतिचार हो गये। ऊपर पर्वतादिकमे चढ़नेके लिये मानों तीन मील तकका नियम लिया और नीचे कुवा आदिकके लिये मानों एक फर्लांगका नियम लिया, इस नियममें यदि वह कुछ हेरफेर करे या थोड़ा उल्लघन भी करे प्रयोजनवश तो वह अतिचार है। इसी प्रकार दिशावोंमें भी जो नियम किया था उसका हेरफेर करे तो वह अतिचार है। दिग्व्रतके ये तीन अतिचार हैं। चौथा है—जो मर्यादा की थी उसका स्मरण न करके अधिक चले जाना या स्मरण ही न रखना, उस ओरका याद भी न करे तो वह चौथा अतिचार है। ५ वा अतिचार है क्षेत्रवृद्धि। परिमाण किया था कि ५०० मील तक जायेंगे, पर मौका पड़ने पर वह उस समय थोड़े समयको ७०० मील का परिमाण करे (यह सोचकर कि फिर तो पूर्व परिमाण ही पालना है वही सदाका नियम है) तो वह भी अतिचारमे आया।

दिग्व्रतके पालनका लक्ष्य यह था कि अधिक सीमामें हमारा आरम्भ व्यापार न चले। क्यों इतना विकल्प बढ़ायें? थोड़ा ही दायरा रखें, इसके अन्दर ही हम अपने विकल्प बनायें, व्यापार करें, इससे अधिक न करें तो अहिंसाकी सिद्धिके लिये दिग्व्रत धारण किया था। अहिंसा क्या होती है? रागभाव घटे, लोभभाव घटे। तो दिग्व्रतका लक्ष्य आरम्भ परिग्रह घटानेका उसका परिणाम था, सो अहिंसा था। उन अहिंसाकी सिद्धिके लिये दिग्व्रत पालन किया, बादमें सकल्प विकल्प मचाने लगा तो उससे लक्ष्यकी कहाँ सिद्धि हुई? विकल्प ही तो अहिसा है। तो उन विकल्पोंसे यह अपने चैतन्यप्राणका घात करता है। तो ये अतिचार त्यागने योग्य हैं। अगर निरतिचार दिग्व्रत पाले तो उसकी आकाक्षाएँ नियमित रहें। इससे बाहर जो देशव्रतके अतिचार बताये जायेंगे वे भी नहीं कर सकते, दिग्व्रतकी मर्यादासे बाहर अपना सम्बन्ध नहीं रख सकते। अगर सम्बन्ध रखता है तो उसने शील कहा पाला? शील उसे कहते हैं जो व्रतकी रक्षा कराये। मूलमें व्रत है अहिंसा। विकल्प मचाना हिंसा है। मानों किसीके नमकका त्याग है और वह छुहारा, मुनक्का, बूरा, पकवान आदिकी वाञ्छा करे तो उसने विकल्प ही तो मचाया। त्याग का तो प्रयोजन था कि उनसे निवृत्ति हो जाये, मगर वह निवृत्त न हो सका तो उसने अपना व्रत पूर्णतया

तो भंग नहीं किया, किन्तु दोष तो विशेष लगाया। तो अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये ५ अणुव्रत पालन किया और ५ अणुव्रतोंकी रक्षाके लिये ये ७ शील पाले गये। जो दिग्व्रती है-उसके ये अतिचार सम्भव हो सकते हैं। उनका यह वर्णन किया गया है। अतिचार भी टालने योग्य है। कहीं ऐसा नहीं है कि अतिचार लगें, भंग न हों। ये अतिचार ९९ अश तकके दोष लगते हैं। अगर परिणाम उस समय व्रतपालनका है, व्रतपालनका लक्ष्य है तो अतिचार है। मतलब यह है कि लक्ष्य विशुद्ध होना चाहिये। लक्ष्यकी विशुद्धि न होगी तो कुछ भी करे वह सब निष्फल है।

प्रेष्यस्य संप्रयोजनमानयन शब्दरूपविनिपातौ।
क्षेपोऽपि पुद्गलाना द्वितीयशीलस्य पञ्चेति ॥१८९॥

देशव्रतके अतिचारोंकी हेयता—मुख्य व्रत तो अहिंसा है, जो जीवका उद्धार कर सकता है। जीवको शान्तिमें पहुचाने वाला व्रत अहिंसा है। अहिंसाका अर्थ है अपने आत्मामे रागद्वेष सकल्प विकल्प विषय इच्छा—ये कोई तरग न उठे, केवल ज्ञाताद्रष्टा रह सके—ऐसी स्थिति बने उसका नाम अहिंसा है। सो देख लीजिये कि अहिंसामें अशान्तिकी वहाँ गुञ्जाइश है? जहाँ मोह नहीं, रागद्वेष नहीं, केवल आत्मतत्त्वका अनुभव है, वहा हिंसा कहा है? ऐसी अहिंसाकी सिद्धिमें मुनिराज तो अति समर्थ हैं, क्योंकि संकल्प विकल्पके बन्धनको हल कर दिया है और एक उत्कृष्ट ज्ञान उनमें जगा है। ज्ञान तो जगा हुआ है श्रावकमें भी, पर संकल्पविकल्पके बन्धनमें रह रहा है, घरमें रह रहा है, आरम्भ परिग्रह व्यवहार आदिकमें रह रहा है. ऐसी स्थितिमें अपनी अहिंसाकी सिद्धिके लिये श्रावकको ५ अणुव्रतरूप बताया है। वे श्रावक महाव्रत नहीं पाल सकते। अहिंसामहाव्रत, सत्यमहाव्रत, अचौर्यमहाव्रत, ब्रह्मचर्यमहाव्रत तथा परिग्रहत्यागमहाव्रत—इन सब महाव्रतोंको श्रावक नहीं पाल सकते इसलिये श्रावकको ५ अणुव्रत पालनेको कहा है। इन अणुव्रतोंको पालनेके लिये ७ शील पालें। इन ७ शीलोंमें एक दिग्व्रतशीलका वर्णन किया जा चुका है, उसके अतिचार बता दिये गये। दूसरा है देशव्रत। जिन्दगी पर्यंत चारों दिशाओंमें ऊपर नीचे जानेका जो परिमाण रखा था, उससे बाहरका वह कुछ भी सम्बन्ध नहीं रख सकता। कुछ समय तकके लिए नियम करके कि मैं अमुक समय इतनी देर मन्दिरमें रहूगा, दशलाक्षणीके दिनोंमें इस नगरसे बाहर न जाऊँगा, ऐसा नियम ले ले, फिर उतनेसे बाहरका उतने समय तकके लिये किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न रखे, अपने मुख्य कर्तव्यमें सावधान रहे, उसका नाम देशव्रत है। इस देशव्रतमें ५ अतिचार लगते हैं, जिनका त्याग करना चाहिये। वे ५ अतिचार क्या हैं? जो नियम रखा था—जैसे मैं पौन घण्टेको इस हालसे बाहर न जाऊँगा ऐसा कोई नियम करे तो उसका प्रयोजन है कि उतने समय तक उससे बाहरके संकल्पविकल्प न करे। इससे बाहरके सकल्पविकल्प बनाये तो इसमें हिंसा हुई। विकल्प बने, विषयकषायोंके परिणाम बने सो ही आत्माकी हिंसा है। जीवको और दुःख क्या है? केवल एक मनका दुःख है, एक इच्छाका दुःख है, एक सोचनेभरसे कुछ सद्भावोंके कारण दुःख बना लिया है। जीव तो स्वय आनन्दस्वरूप है। उसके स्वरूपमें दुःखका तो नाम ही नहीं है। मगर जहाँ सभाल न की, रागद्वेष विषय कषाय किए, वहीं दुःख बन जाते हैं। जब अपनी ओर दृष्टि लगे तो ये सब क्लेश शान्त हो जाते हैं। परकी ओर दृष्टि जाये तो क्लेश बढ़ जाते हैं।

देशव्रतके पाच अतिचार—तो इस देशव्रतीने पर्वतादिक क्षेत्रोंके बाहर किसीको भेजनेका सकल्प विकल्प किया तो उसने अपनी मर्यादका भंग किया और वहा विकल्प होनेसे इसे हिंसा लगी। यह दोष है, इसका त्याग करना चाहिये। कोई जैसे नियम ले ले कि हम एक घण्टा मदिरके हालमें रहेंगे और नियम करके रह गये तो यह नियम केवल इतनेसे ही पूरा न होगा, उसे चाहिये कि उतने समय तक मदिरसे बाहरका कोई भी किसी भी प्रकारका सम्बन्ध न रखे। अगर उतने समय वह मदिरसे बाहरका किसी भी

प्रकारका अपना सम्बन्ध बनाता है तो उसमें दोष है, वहां इस जीवकी हिंसा होती है। हम आपका कितना सौभाग्य है कि आज पवित्र जैन शासन मिला है। इसका आलम्बन लेकर अनेक मुनिराज पवित्र हुए हैं। जिनकी मूर्ति बनाकर हम आप पूजते हैं, उन्होंने भी क्या किया ? उन्होंने भी जैनशासनका आलम्बन लेकर अपने आत्माको कर्मकलंकोंसे रहित किया। जैनशासन मानने वालोंको यह सिद्धान्त इतना इष्ट है कि कभी इस जैनशासनके मदिर पर कोई आक्रमण करे तो सभी जगहोंके जैन लोग आकर उसका मुकाबला करेंगे। जैनशासनके बलसे भेदविज्ञान प्राप्त करते हैं, यह शरीर न्यारा है। इस देहका भी मान छोड़कर केवल ज्ञानमय आत्माका उपयोग रहे तो ऐसा अद्भुत आनन्द प्राप्त होता है कि उसको छोड़कर अन्य कोई सच्चा आनन्द नहीं है। ऐसे पवित्र जैनशासनको पाकर हम प्रमादी रहें, इसका उपयोग न कर सकें तो हमारे लिये यह कितनी खेदकी बात होगी ? होगा क्या कि ससारका ऐसा ही जन्ममरण और रुलना बना रहेगा। तो उस अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये श्रावकजन जो कुछ भी प्रयत्न कर सकते हैं कर रहे हैं, उसी वर्णनमें ये देशव्रतके अतिचार चल रहे हैं। तीसरा अतिचार है शब्द सुनाकर इशारा करना। जैसे देशव्रतमें यह नियम लिया कि १ घण्टे तक हम मन्दिरसे बाहर न जावेंगे और करते क्या हैं कि खुद तो मन्दिरसे बाहर एक घण्टे तक न जावेंगे, पर तालीसे आवाज देकर इशारा करके किसीको बुला लेंगे और मन्दिरसे बाहर भेज देंगे और घड़ी, कपड़ा आदि जिस चीजकी भी जरूरत हुई सो मगा लेंगे। तो यह उनके उस व्रतमें दोष हो गया। अरे, उस नियम लेनेका प्रयोजन तो यह था कि उस एक घण्टे तक बाहरके सारे विकल्प छोड़ दें पर बाहरके और और विकल्प बना डाले। तो इसमें अतिचारका दोष है। ५ वां है कङ्कड़ पत्थर आदिक फेंककर किसीको बुलाना। चूंकि १ घण्टे तकके लिये मन्दिर में अन्दर मौनसे रहने व कहीं न जानेका व्रत लिया है सो बिना बोले कङ्कड़ पत्थर आदि फेंककर किसीको बुलाकर अपना मन्दिरसे बाहरका काम करा लेते हैं तो यह उस देशव्रतमें दोष है।

कन्दर्पं कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यम्।
असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१६०॥

अनर्थदण्डविरतिके कन्दर्प व कौत्कुच्य नामक अतिचार— अब तीसरा अतिचार है अनर्थदण्डव्रत। जिन कामोंसे अपना कुछ प्रयोजन नहीं, न आजीविकाका प्रयोजन है, न भूख प्यास मिटती है, न कोई धर्मका काम बनता है तो ऐसे अनर्थके कार्य करना अतिचार है। इस अनर्थदण्डके त्यागनेका नाम है अनर्थ दण्ड विरति। उसके ये ५ अतिचार हैं—हास्यसे मिले हुए, कामसे भरे हुए वचन बोलना। जैसे किसी समारोह पर या विवाह आदिके अवसर पर परस्परमें एक दूसरेसे मजाक करे, काम सम्बन्धी वचन कहे, हर्ष करे तो यह अनर्थदण्ड है। यह अनर्थदण्डव्रतका अतिचार है। मनुष्यको वचन मिले हैं। जरा दृष्टि डालो अन्य जीवों पर कि पशु पक्षी वचन नहीं बोल सकते, अपने मनकी बात दूसरोंसे नहीं व्यक्त कर सकते और जो तोता आदि पक्षी बोल भी सकते हैं, वे उतना ही बोल सकेंगे जितना सिखा दिया। उन शब्दों को वे मुखसे बोल देंगे, पर उन्हें उसका भाव नहीं मालूम है। जैसे तोतेको राम राम रटा दिया गया तो वह राम राम तो बोल लेगा, पर उसे यह अर्थ नहीं मालूम कि किस राम भगवानके लिये कहा जा रहा है। एक पञ्जाबीने एक तोते को रटा दिया कि इसमें क्या शक। अब जब भी वह तोता बोले तो वही शब्द बोले कि इसमें क्या शक। वह तोता अच्छा था। एक ब्राह्मणने उसे देखा तो वह तोता बड़ा अच्छा लगा। वह पञ्जाबीसे कहने लगा कि क्या तोता बेचोगे ? पञ्जाबी बोला कि हाँ बेचेंगे। कितनेमें दोगे ? १००) में। अरे, तोते तो ८-८ आनेके बिकते हैं। इसमें क्या खासियत है जो इसकी कीमत १००) है ? पञ्जाबी बोला कि इस तोतेसे ही पूछ लो कि तुम्हारी कीमत १००) है क्या ? जब ब्राह्मणने तोतेसे पूछा कि तुम्हारी कीमत १००) है क्या ? तोता क्या कहता है ? इसमें क्या शक। ब्राह्मणने उसे १००) में

खरीद लिया यह सोचकर कि यह तोता बड़ा विद्वान मालूम होता है। दूसरे दिन उस तोतेके सामने वह ब्राह्मण रामायण लेकर बैठ गया। कुछ रामकथा सुनाने लगा। फिर ब्राह्मणने पूछा कि कहो तोते ठीक है ना? वह तोता कहता है कि इसमें क्या शक? ब्राह्मणने सोचा कि यह तो बहुत ऊँचा विद्वान मालूम पड़ता है कुछ और ऊँची बाते सुनाने लगा, बादमें आत्मस्वरूपकी कथा सुनाने लगा, पर उत्तर वही एक मिला कि इसमें क्या शक? अब ब्राह्मणको भी शक हो गया। ब्राह्मणने पूछा कि ऐ तोते! क्या मेरे १००) पानीमें चले गये? वह तोता बोला कि इसमें क्या शक? तो इन पशु पक्षियोंमें यदि कोई शब्द भी बोल दे तो उनको उन शब्दोंका भाव नहीं मालूम होता। तो उन पशु पक्षियोंके मुकाबलेमें हम आपका कितना उत्कृष्ट जीवन है? हम आप सम्यग्दर्शन प्राप्त कर सकते हैं, सम्यग्ज्ञान बना सकते हैं और सम्यक्चारित्र धारण कर सकते हैं, मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। अन्य भव कोई ऐसा नहीं जहांसे यह आत्मा अपना कल्याण कर सके। इतना उत्कृष्ट भव पाकर यदि इसे विषयभोगोंमें ही गंवा दिया तो क्या लाभ पाया? जैसे किसीसे पूछा कि आप कहाँ गये थे? वह बोला कि दिल्ली। वहां क्या किया? भाड़ झोंका। अरे, भाड़ ही झोंकना था तो अपने ही गांवमे क्या कमी थी? ऐसे ही कहा गये थे? मनुष्य भव में। क्या किया? विषय भोगोंमे रमकर अपना जीवन बिताया। अरे विषयभोगोंमें ही रमना था तो पशु पक्षियोंके जीवनमें क्या कमी थी? वे भी तो आहार, निद्रा, भय मैथुन आदि चारों संज्ञावोंसे अपना सुख मानते हैं। वहा क्या कमी थी?

अरे! यह मनुष्यभव विषयकषायोंसे, विषयभोगोंसे मौज माननेके लिये न मिला था। यह मनुष्यभव मिला था सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी प्राप्तिके लिये, वस्तुस्वरूपका यथार्थ निर्णय करनेके लिये, ज्ञानमात्र अपने आपका अनुभव करनेके लिये। अन्यत्र यह काम नहीं किया जा सकता। ऐसी अनुपम बात कि उससे इस जीवनकी सफलता है। तो वह अवधारण करते हैं कि हम राग द्वेष मोह से हटे, अपने उपयोगको एकमात्र तत्त्वके अनुभव करनेमें लगायें, उसमे तो हमारा लाभ है और राग द्वेष मोहसे कुछ भी लाभ नहीं है। यहाँ इष्ट अनिष्ट बुद्धि करके आखिर अंधेरेमें ही तो रहे। किसी इष्टसे स्नेह हो गया तो उसका वियोग होने पर, बिछोह होने पर फिर बड़ा क्लेश होगा। जो इष्ट वस्तुमें हर्ष मानता है उसको वियोगके समय दुःख होता है। मिली हुई हालत मे मिला क्या? पुद्गल है, पिंड है, उससे आत्माको कुछ नहीं मिलता है, बल्कि राग द्वेष विकल्प आदि हो जाते हैं। ऐसे इष्ट समागमोंमें हर्ष न मानना यह गृहस्थका बड़ा तपश्चरण है। यहां अनर्थदण्डव्रतके प्रयोजनमें इतना ही कहा जा रहा है कि हे गृहस्थ! जिस कामसे तुम्हें कोई प्रयोजनकी सिद्धि नहीं हो रही, जो व्यर्थकी बाते हैं उनको छोड़ो, अपना जीवन निर्भार बनाओ, विवेक बनावो। प्रथम तो मनुष्य जितना कम बोलेगा उतना उसमें विवेक बनेगा और जब वह वचन बोलेगा तो हित मित प्रिय बोलेगा। यदि किसीकी ऐसी प्रकृति हो तो उस मनुष्यका कितना शान्त वातावरण रहता है। तो जो हास्य वचन बोलना है, मजाक भरा वचन बोलना है यह अनर्थदण्डका अतिचार है।

अनर्थदण्डविरतिके भोगानर्थक्य मौखर्य असमीक्षिताधिकरण नामक अतिचार— तीसरा अनर्थदण्ड है अनर्थ भोगोपभोगके साधनोंका संचय करना। जैसे कई चीजे बड़ी सस्ती बिक रही हों तो चाहे उनकी जरूरत कुछ न हो, पर खरीदकर घरमें भर लेते हैं तो बिना प्रयोजन चीजोंको खरीदकर घरमें डाल लेना यह तीसरा अतिचार है। जैसे बच्चे लोग अपनी जेबमें कङ्कड पत्थर आदि बिना प्रयोजन भरे रहते हैं। लोगों को देखनेकी इच्छा हो जाती है कि देखें तो सही कि यह बच्चा जेबमें क्या क्या भरा है? सो जैसे उन बच्चोंकी वे बिना प्रयोजनकी चेष्टायें हैं ऐसे ही कोई मनुष्य बिना प्रयोजनके परपदार्थोंका संचय करे तो वह अनर्थदण्डव्रतका दोष है। इस गृहस्थको केवल दो कामोंसे प्रयोजन है। एक तो आजीविका, क्योंकि

आजीविकाके बिना गृहस्थ गृहस्थ नहीं रह सकता। वह बेकार है, व्यापार चाहिये, आजीविका चाहिये। तो आजीविकाका कार्य गृहस्थको आवश्यक है और दूसरा धर्मपालन करना, जिससे परलोकका सुधार हो। इन दोके अलावा बतावो मनुष्यको और क्या करना पड़ा है? दुनियामें यश इज्जत नामवरी धन दौलत आदिके पीछे जो इतना हैरान हो रहे हैं, जो इनमें बड़ा मौज मान रहे हैं, इनसे कुछ सिद्धि न होगी। वह मौज काल्पनिक है। मरनेके बाद जो भी अन्याय किया उन सबका फल भोगना पड़ेगा। यहां तो केवल आजीविकाका साधन चाहिये और आत्मशान्तिके लिये धर्मपालन चाहिये। इन दो चीजोंके सिवाय तीसरा कौनसा काम आत्माके लिये लाभदायक है? खूब खोज लो। जिस काममें हमारा कोई प्रयोजन नहीं सिद्ध होता उन कामोंकी बात न बोलें, वहां कुचेष्टा न करें, भोगोपभोगके साधनोंमें न बहें। चौथा अतिचार है वाचालिक। अधिक बोलनेकी आदत अच्छी नहीं होती। देखा होगा कि अनेक लोग बहुत बहुत बोलते रहते हैं। बहुत बोलने वालेमें एक तो हृदयकी माप नहीं रहती, जैसा चाहे बोल सकता है। पीछे अशान्त वातावरण हो जाता है, लोगोंकी दृष्टिमें गिर जाना है। फायदा कुछ नहीं मिल पाता। अधिक बोलने वाला अनर्थदण्डका अतिचार करता है। ५ वां अतिचार है बिना विचारे कार्य करना। बिना प्रयोजनके कार्योंकी प्रवृत्ति करना इससे आत्माकी हिंसा है और जिससे आत्माकी हिंसा हो वह आत्माका दोष है।

वचनमनःकायानां दुःप्रणिधानमनादरश्चैव।
स्मृत्यनुपस्थानयुताः पञ्चेति चतुर्थशीलस्य ॥१९१॥

सामायिकनामक शिक्षाव्रतके अतिचार-- ७ शीलोंमें ३ गुणव्रत होते हैं—दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्ड व्रत। इनको तो बता दिया। अब चौथा शिक्षाव्रत होता है। जिससे मुनिधर्मकी शिक्षा मिले उसे शिक्षाव्रत कहते हैं। उनमे प्रथम शिक्षाका नाम है सामायिक। सामायिकका अर्थ है रागद्वेष न करके अपने समताकी उपासना करना, आत्मध्यान बनाना, शुद्ध चिन्तन रखना, रागद्वेषसे हटे रहना। इस सामायिकव्रतमें ५ प्रकारसे अतिचार लग जाया करते हैं जिनका गृहस्थको त्याग करना चाहिये। वचनोंका दुरुपयोग करना, खोटे वचन बोलना, बिना सोचे वचन बोलना--ये भी अतिचार हैं। मनसे दुष्प्रवृत्ति करना, जैसे बैठे हैं मन्दिरमें और ध्यान बनाये हैं दूकानका, घरका तो वह भी सामायिकव्रतका अतिचार है। सामायिकमें कायाको स्थिर न करके, जैसा चाहे टेढ़ा मेढ़ा बन्दरों जैसा बैठ जाना, यह भी अतिचार है। जिसे अपना मन वशमें करना है, मनको शुद्ध अन्तस्तत्त्वमें लगाना है तो उसे पहिले यह भी चाहिये कि कायाको सीधा स्थिर रखे, वचनोंका परित्याग करे। अन्तरमें भी कोई अन्य वचन न निकले और फिर मनको स्थिर बनाये तो मन वचन काय इनका दुरुपयोग न करे। इन मन वचन कायकी सम्भाल न करे, इनको अस्थिर रखे तो वह सामायिकव्रतका अतिचार है। चौथा अतिचार है सामायिकव्रतका अनादर करना। क्या करें? समय काफी हो गया, बार बार घड़ी देख रहे, अभी समय पूरा नहीं हुआ। अभी कब तक बैठना पड़ेगा? अभी तो इतने समय तक बैठना पड़ेगा। अरे! यह तो सामायिकव्रतका अनादर है। तो सामायिककी ओर लगाव न रहनेसे वह अतिचार कहलाता है। ५ वां अतिचार है सामायिककी क्रियावोंका भूल जाना। ध्यान नहीं कि किस मंत्रको अभी नहीं पढ़ा, ध्यान नहीं किस दिशामें अभी नमस्कार नहीं किया, ध्यान नहीं कि अब क्या करना है? तो ये सब सामायिकव्रतके अतिचार कहलाते हैं। सामायिकमें समताकी सिद्धि होती है, अहिंसाकी सिद्धि होती है। समता अहिंसा है। दोनों एकार्थक हैं। इनमें शान्ति बसी हुई है। अहिंसाकी सिद्धिके लिये श्रावकने सामायिकव्रतको धारण किया है। जहां रागद्वेषादिक भाव न आने पावें वह सामायिकव्रत है। जब इष्ट और अनिष्टकी बुद्धि नहीं रहती तो उससे आत्माकी विशुद्धि चलती है। ऐसे परिणाममें रहता हुआ यह जीव सुखको भोगता है। यह जीव भेद-

विज्ञान करे, अपने स्वरूपपर उपयोग जमाये तो उससे इस जीवका कल्याण है और अन्य बाह्यमे फंसाने से आत्माका कोई सुधार नहीं है।

अनपेक्षिताप्रमार्जितमादानं सस्तरस्तथोत्सर्गः।
स्मृत्यनुपस्थानमनादरश्च पञ्चोपवासस्य ॥१९२॥

प्रोषधोपवासके अनवेक्षित व अप्रमार्जित आदान, सस्तर, उत्सर्ग नामक अतिचार— श्रावकके बारह व्रतोंमें एक प्रोषधोपवास नामका शिक्षाव्रत है। शिक्षाव्रत उसे कहते हैं जिससे मुनिधर्म पालनेकी शिक्षा मिलती है। प्रोषधोपवासव्रतमें तीन तो धारणा, उपवास और पारणा है। शामको कुछ ग्रहण नहीं करना पड़ता औ मुनिग्रोंको एक बार ही भोजन बताया है। तो उसे तीन दिनका यह अभ्यास बन जाये, जैसा कि मुनियोंका नशा करता है। तो यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत हुआ। इसमें ५ प्रकारके अतिचार लग सकते हैं जिन्हें लगने न देना चाहिये। वे ५ अतिचार क्या है? बिना देखे, बिना सोधे वस्तुका ग्रहण करना। प्रोषधोपवा व्रतमें हर प्रकारकी सावधानी वर्तना और समितिपूर्वक रहना, किसी भी प्राणीको कुछ भी पीड़ा न हो, किसी भी जीवकी हिंसा न हो। इस श्रावकने मुनिधर्मकी शिक्षा लेनेके लिये प्रोषधोपवासव्रत किया है। मुनिधर्ममें समितियोंका मुख्य आदर है। उसमें अतिचार कहते है कि बिना देखे भाले वस्तुका ग्रहण करना यह उपवासका दोष है। दूसरा दोष है बिना देखे बिस्तरका बिछा देना, चटाई या साधारण कोई दरी जो भी बिस्तर रखा है, उपवासके दिनोंमें उसे बिना देखे सोधे बिछा देना, यह उपवासका अतिचार है। उपवासके दिनोंमें चर्या करनी होती है। चलना, उठना, बैठना सोना, बिस्तरका उठाना, धरना—ये सब समितिकी तरह सावधानी पूर्वक करना चाहिये। यदि समर्गका विधान बिना देखे, बिना सोधे किया है तो वह उपवासका एक अतिचार है। तीसरा—बिना देखे, बिना सोधे जमीन पर मल मूत्र आदिक क्षेपण करना। उपवासके दिनोंमें विशेषरूपसे जिसने मुनिधर्मकी शिक्षाका सङ्कल्प किया है, उसे उस समय बहुत सावधानीसे काम करना चाहिये। बल्कि यह उपवास वाला यों ही किसी जगह जाकर झट शौच पेशाब आदिक कर दे तो इसमें उसे दोष लगेगा। उसे यह देख लेना चाहिये कि इस जगह पर कोई जीव जन्तु तो नहीं है, तब मल मूत्र आदिकका क्षेपण करना चाहिये। यदि इन क्रियाओंमें वह उपवास करने वाला सावधानी नहीं रखता है तो यह उपवासका अतिचार है।

प्रोषधोपवासके स्मृत्यनुपस्थान व अनादर नामक अतिचार— उपवासके दिन यदि प्रतिक्रमण करना, पाठ करना आदिक भूल जाये, ख्याल न रहे, न करे तो यह उसका दोष है। उपवासका अनादर करना भी अतिचार है। उपवास कर लिया, क्षुधा नहीं साधी रही, खा लिया तो यह उसका दोष है। इस क्षुधाकी वेदना तो अपना मन कमजोर बना लेनेसे ज्यादा तंग करती है। इस क्षुधाकी वेदनाका साहससे बहुत कुछ सम्बन्ध है। जहां अपनेमें कुछ साहस बनाया तहां कोई कष्ट नहीं मालूम होता और जहा अपना साहस गिरा कि फिर दु ख ही दु'ख सामने हैं। कोई भी परिस्थिति ले लो। मानों किसीका १०-५ हजार का नुक्सान हो गया। अगर साहस गिर गया तो उसका दु ख बढ गया और अगर साहस करके यह सोच लिया कि अरे, क्या था वह वैभव? पुण्य पापके अनुसार इसका सयोग वियोग होता है, आया था अब चला गया तो क्या हो गया? जहां ऐसा साहस बनाया कि उसका दु'ख दूर हो जाता है। यही है आत्म-बल, यही है ज्ञानबल। सच्चा ज्ञान बने, जो पदार्थ जैसा है उसका वैसा बोध बने, मैं क्या हू और यह दुनिया क्या है, इसका सही ज्ञान बनाये रहना यही ज्ञानबल है, यही आत्मबल है और इस ज्ञानबलके सहारे ये सब दुःख सङ्कट दूर हो जाते हैं। इस ज्ञानबलके बिना आत्माका कुछ भी बड़प्पन नहीं है। ज्ञानबलसे यहां भी सुख रहेगा और अगले भवमें भी सुख रहेगा। इस कारण सम्यग्ज्ञानका अर्जन प्रत्येक आत्मार्थीको करना चाहिये। तो उपवासके प्रसगमे अनादर करना यह उपवासका दोष है। उपवास किया

जाता है आत्मबल बढ़ानेके लिये, अपने आपके स्वरूपकी नजर बसनेके लिये। कुछ एक ऐसा सम्बन्ध भी वह है कि जब उपवासमें देह हल्का भी रहता है और ध्यान लगाये तो देहका भान जरा जल्दी भी भूल कर अपने आपका भानमें लग सकते हैं। इसके विरुद्ध भरपेट भोजन कर लिया जाये तो ऐसी स्थितिमें न ध्यान जमता, न चित्त एकाग्र होता, क्योंकि वजनदार पेटके समयमें यह देहका भान छोड़कर अपने भानमें आ जाये, इसके लिये सुविधा नहीं मिलती। उपवासके समयमें यह बहुत सुगम है कि देहका भी भान छोड़कर अपने आपके भानमें लग जाये और देखिये अपने आपकी सुध रहेगा। अपने आपका जो यथार्थ परमार्थ स्वरूप है, अविकारी शुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूप यह दृष्टिमें रहे तो इसको कोई संकट नहीं रहता।

उपवास किया जाता है आत्माके निकट बसनेके लिये। उप मायने समीप वास मायने बसना। उपवास करने वाला अपने स्वरूपके निकट बसा करे, रहा करे, क्योंकि लोकमें सारभूत अन्य कुछ भी नहीं है। ये धन, वैभव, परिजन, नामवरी इत्यादि कुछ भी लाभदायक चीजें नहीं हैं, इनसे शान्ति नहीं मिलती। इनके प्रति अनेक समस्यायें सामने आ आकर खड़ी होती रहती हैं, उनकी पूर्ति करनेमें बहुत दिमाग लगाना पड़ता है। तो दुनियामें कौनसी चीज सारभूत निकली? कुछ भी नहीं। आजकल लोग राज्यके अधिकारी बनना चाहते हैं, उसके लिये बड़े बड़े छल कपट भी कर रहे हैं, वे चाह रहे हैं इज्जत और धन। तो इज्जत और धनकी चाहमें भी कोई सारकी बात न मिलेगी। इनका सारा जीवन देख लो। कितने ही मिनिस्टरोंने अपना जीवन बरबाद कर दिया, लोगोंकी दृष्टिसे गिर गये, उन्होंने अपना जीवन दूभर बना लिया। दूसरोंको बाहरसे दिखता है कि ये बड़े सुखी होंगे, मगर उनकी क्या हालत होती है, सो एक दो दृष्टान्त तुम्हारे सामने हैं उनसे समझ लीजिये। तो संसारमें सार कहीं किसी भी स्थितिमें नहीं है। केवल सारभूत बात यह है कि आत्माका जो परमार्थस्वरूप है उसके निकट बसना। यह काम कर सका तो समझो मैंने सारभूत पा ली और यही काम कोई न कर सका तो बाहरमें चाहे कोई कैसा ही कुछ कर ले उसने कुछ पाया नहीं। तो उपवास आत्माके हितमें बड़ा सहायक है। उसमें अनादर करे तो वह उपवासका दोष है।

आहारो हि सचित्त सचित्तमिश्च सचित्तसम्बन्ध।
दुष्पक्वोऽभिषयोऽपि च पञ्चामी षष्ठशीलस्य ॥१९३॥

भोगोपभोगपरिमाणमें अतिचारोंके वर्णनका उपक्रम— अब बारह व्रतोंमें एक भोगोपभोगपरिमाणव्रत ऐसा है जहां भोग और उपभोगका परिमाण किया जाता है। भोग वस्तुवें वे हैं जो एक बार भोगी जायें, उपभोग वस्तुवें वे हैं जो बार बार भोगी जाये। जैसे मर्दन तैल शरीरमें एक बार लगा दिया गया तो उस से पोंछकर फिर किसी दूसरेके शरीरमें कोई नहीं लगाता, फूलकी माला जो एक बार पहिन ली गई उसे दुबारा न कोई खुद पहिनता और न किसीको पहिनाता, एक बारका खाया हुआ भोजन फिर दुबारा कोई नहीं खाता तो ये सब भोगकी बातें हैं और उपभोगकी वस्तुवें वे हैं जिनको बार बार भोगा जाता है। जैसे बिछौना, चारपाई, वाहन, कपड़े इत्यादि। तो इन भोगोपभोगकी चीजोंका परिमाण श्रावक रखते हैं। परिमाण इसलिए किया जाता है कि उससे अधिक वस्तुके प्रति विकल्प न हो जाय। विकल्प हटाना यह जैनशासनका लक्ष्य है। मुक्तिका मार्ग यही है कि विकल्प दूर हों, तब तक यथार्थस्वरूपका श्रद्धान नहीं होना जब तक विकल्प न दूर हों। विकल्प होना सो संसार का मार्ग है और विकल्प न होना मोक्षका मार्ग है। विकल्प न हों इसका उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। इसलिए सम्यग्दर्शन ज्ञान, चरित्र को मोक्ष मार्ग कहा है। सम्यग्दर्शन बिना विकल्प दूर नहीं होता, यद्यपि मन एकाग्र करनेके अनेक प्रकार हैं। कोई एक सामने शून्य बनाकर, ओ३म् लिखकर उसे देखने का अभ्यास करे अथवा प्राणायाम-

करके श्वासको एक जगह रोककर उस ही जगह उपयोगसे देखता रहे, इसमें भी मन एकाग्र बन सकता है। मगर कितनी बार ? उसकी भी सीमा है अथवा मन एकाग्र भी बनेगा तो ऐसी जगह रुककर मन एकाग्र बनता कि जहा एकाग्र होनेमें सीमामें भी विकल्प न चलें विकल्प न चलें इसके लिये प्रथम आवश्यक है सम्यग्दर्शन। वे सब विधियां तो ठीक हैं, पर साथ ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र हो तो वह एक विशुद्ध मार्ग है। तो भोगोपभोगपरिमाण व्रतमें भोगोपभोगकी वस्तुवोंका जो परिमाण किया जाता है वह विकल्पोंको दूर करनेके लिये किया जाता है। मूल बात तो यह है कि जब तक जीवको आत्मरुचि न जगे कि मै आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप हू, स्वयं स्वभावसे आनन्दमय हू, बाह्य वस्तुवे मेरे स्वरूप से अत्यन्त भिन्न हैं, उनको हम अपनाते हैं, पर वे अपनानेके अनुसार अपनाये नहीं जा सकते हैं। हमारे चाहनेसे हमारे मनमाफिक बाह्यपदार्थोंकी स्थिति नहीं बनती है। जब हम किसी बाह्यपदार्थमें अपने मन माफिक परिणमन चाहते हैं और होता है, नहीं तो हम दुःखी होते हैं।

अज्ञानके परिहार बिना विकल्पोके प्रक्षपकी असंभवता— जब तक निजको निज व परको पर जाननेका साहस नहीं आता है आत्मामें, तब तक विकल्परहित अवस्था हमारी बन नहीं सकती। अज्ञान रहते हुए विकल्प दूर हो जाये यह कभी भी सम्भावित नहीं है। जिन्हें विकल्प हटाना है उन्हें पहिले अज्ञान दूर करना होगा। जब सम्यग्ज्ञान उत्पन्न होगा तब वह साहस बनेगा कि आत्मबल बढ़ेगा, जिस आत्मबलमें ये समस्त सकट दूर हो जाते हैं। इन विकल्पोंके ही दूर होजानेका नाम दुःख दूर हो जाना है। विकल्प आते रहनेका नाम दुःख आते रहना है। विकल्पोंको छोडकर अन्य कुछ भी दुःख नहीं है। जरा अपने स्वरूप पर दृष्टि दें, अपनी वर्तमान परिस्थिति पर दृष्टि दे तो हम अचरज और खेदके साथ सोचते हैं कि इस मनुष्यको दुःख तो कोई है नही और कोई दुःखी क्यों हो रहा है ? यह अपनी जगह बैठा है, आप अपने आपमें हैं, इसमें कोई दूसरी वस्तु लगी नहीं, यह परिपूर्ण है। आत्मा जितना है उतना ही है। जो इसमें नहीं है वह इसमें आ नहीं सकता और जो आत्माकी चीज है वह आत्मासे जा नहीं सकती। आत्मा तो परिपूर्ण है, अखण्ड है, पर यह व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है। जो परवस्तुवोंके प्रति ये विकल्प बन रहे हैं कि ये ये चीजे मुझे प्राप्त हो जाये तो इस प्रकारके विकल्प बनानेसे ये नाना प्रकारके दुःख बन गये और जहा ये विकल्प हटे उसीका नाम आनन्द है। एक ही निर्णय है कि जहाँ विकल्प है वहा ही दुःख है और जहा निर्विकल्पता है वहा ही आनन्द है। मै पढा हू, लिखा हू नहीं, पढा लिखा हू, छोटा हू, बड़ा हू— ऐसे विकल्प बना बनाकर लोग दुःखी रहते हैं। छोटे बालकोंको देखो बडेको देखो सभी व्यर्थके विकल्प बना बनाकर दुःखी हो रहे हैं। जो भी शान्त हैं, सुखी हैं, वे साधु सतजन, ज्ञानी ध्यानी ससारसे विरक्त हैं, ऐसे पुरुष शान्त हैं। वे ही विकल्प जालोंसे दूर रहने वाले पुरुष शान्त सुखी नजर आते है। तो वहाँ भी यही निर्णय हो कि उसने विकल्पोंको दूर किया है, इसलिये सुखी हैं, शान्त हैं। और ज्यादा बातोंमें न बढे, विकल्पोंका आश्रय करनेसे लाखो करोडों अरबोंकी सम्पत्ति व्यर्थ है। अगर विकल्पोंके आश्रय पर दृष्टि देकर कुछ निर्णय बनाया तो आप निर्णय तक पँहुच न पायेंगे और बहुत बहुत सोचते रहेंगे। मुझे दुःख मिटानेकी चिन्ता है, मुझे धनमें घाटा हुआ उसका दुःख है, इसकी स्त्री लडती है इसलिये दुःखी हैं ऐसी बाहरी बातोंके नाम लेकर आत्माका निर्णय कहा कर पायेगे ? उसीमें फसे रहेंगे। इसलिये इन वस्तुवोंमें विकल्प है, इसीलिये दुःखी हैं। यह स्पष्ट निर्णय है।

विकल्प विपदावोंके विनाशका उपाय रत्नत्रयभाव—भैया ! विकल्प मिटायें कैसे ? उसका उपाय बता या है अरहत भगवन्तोंने —'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः'। चाहे मोक्षमार्ग कहो और चाहे विकल्पों का हटाना कहो, कोई अन्तर नहीं है। केवल एक ही बात कह लीजिये कि विकल्प हटें सो ही मोक्षमार्ग है। मोटी बुद्धिसे कुछ स्पष्ट उत्तर नहीं मिलता कि हम क्या करें ? इसलिये सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और

सम्यक्चारित्र इनको शान्तिका मार्ग बताया है। मैं क्या हूं और यह दुनिया क्या है, इसका सही ज्ञान होना और श्रद्धान होना यह ही है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान। आत्मामें सारी शान्ति इसीमें है। लोग शान्तिके लिये बडे बडे उद्यम करते हैं, व्यापार करते हैं, कष्ट उठाते हैं, पर शान्ति नहीं मिलती। अरे, शान्तिके लिये बाहरमें चाहे जितने काम कर लें, पर शान्ति न प्राप्त होगी। शान्ति तो प्राप्त होगी अपने आपके स्वरूपका यथार्थ निर्णय करके। इस जीवने शान्तिके लिये लाखों करोड़ों प्रयत्न कर डाला, पर एक यह प्रयत्न नहीं किया कि अपने आत्माको जाने और जैसा आत्मस्वरूप मिले, जाननेमें आये, बस वैसे ही वैसे ही जानते रहें और बाहरमें अन्य किसी बातका प्रयोजन न रखें, ऐसा भीतरमें साहस, ऐसा अन्त पुरुषार्थ यह जीव नहीं कर सका और इसी पुरुषार्थके न करनेके कारण वही बात बन रही है जो बात अनादिकालसे बनती चली आयी है। विकल्प करना, कर्मबन्ध होना, जन्ममरण होना, बस यही सब विडम्बनायें चलती रहेंगी। तो विकल्प दूर करना बस यही धर्मका मर्म है। श्रावक अभी इतना समर्थ नहीं हुए हैं कि वे निर्विकल्प रह सकें। जिनके विकल्प चलते हैं तो वे इस प्रयत्नमें रहते हैं कि हमारे कुछ सीमामें ही विकल्प रहें। अमर्यादित विकल्पोंका जाल तो न फैले। यह उसका प्रयत्न रहता है और उसके ये जो बारह व्रत हैं उन व्रतोंका प्रयोजन बस यही है कि विकल्प जाल स्वच्छन्दरूपसे न ठहरें।

भोगोपभोग परिमाणव्रतसे पांच अतिचार-- यहाँ भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें भोग और उपभोगकी वस्तुओंका परिमाण किया जा रहा है। जिसने भोगोपभोगपरिमाण व्रत पाला है उसके ये ५ अतिचार हेय होते हैं। एक सचित्ताहार है। सचित्त वस्तुवोंका आहार करना सचित्ताहार है। जिसने भोगोपभोगपरिमाण व्रत लिया है उसमें इतनी उदासीनता होनी चाहिये कि जो सचित्त वस्तुवोंका भक्षण न करे, पर करते हैं तो यह एक दोष है। इसी प्रकार सचित्तसे मिली हुई वस्तुका आहार करना। सचित्तसे सम्बन्ध की हुई वस्तुका आहार करना, गरिष्ठ आहार करना। मान लो भोगोपभोगपरिमाण लिया है, पर वह नियम करे किसी गरिष्ठ चीज खानेके प्रति कि अमुक चीजके अतिरिक्त मैं अन्य कुछ इतने समय तक न खाऊँगा तो इसमें उस व्रतका दोष नहीं है। गरिष्ठ भोजन अहितकारी होता है, विषयकषायोंको बढाने वाला होता है। तो अपनी चर्या इतनी सरल रखनी चाहिये कि जिससे इन्द्रिय असयम और प्राण असयम न बढ़ सके। भोगोपभोगपरिमाणव्रतमें इस श्रावकने कुछ सीमा रखकर बाकी सभी विकल्पोंका परिहार किया है इससे अहिंसाव्रतकी सिद्धि हुई।

परदातृव्यपदेश सचित्तनिक्षेपतत्पिधाने च।
कालस्यातिक्रमणं मात्सर्यं चेत्यतिथिदाने ॥१९४॥

अतिथिसंविभागव्रतमें परदातृव्यपदेश नामका अतिचार-- श्रावकके बारह व्रतोंमें अन्तिम व्रत अतिथि-सम्विभागव्रत है। अपने आत्मके उद्धारके लिये मुख्यतासे पहिला व्रत है अहिंसा और तीर्थ प्रवृत्ति करनेके लिये आखिरी व्रत है अतिथिसंविभागव्रत। श्रावकके जीवनमें इन दो व्रतोंकी बड़ी मुख्यता है—अहिंसा अणुव्रत और अतिथिसंविभागव्रत। जिसकी कोई तिथि नहीं है, जब चाहे आ जाये उसे अतिथि कहते हैं। तो अतिथि नाम है मुनिराजका, जिनका कोई निश्चय नहीं है कि कब कहाँसे आ जायें। चारणऋद्धिधारी मुनि तो यों ही आकाशमें विहार करके किसी भी जगह आ सकते हैं। और भी जो मुनिराज हैं उनके कोई बन्धन नहीं है, जहाँ चाहे विहार करें। और विहार करते हुए कहींसे भी आ जायें वे अतिथि कहलाते हैं। आजकल काल दोषसे अतिथिपना ढगका नहीं रहा और कहीं पर है भी, क्योंकि कुछ ऐसे समाज के न होनेसे रास्तेमें विहारकी कुछ कठिनाइयोंसे महीनों पहिलेसे प्रोग्राम बनता है और कहां पहुचना है, क्या करना है यों प्रोग्राम चलता है अथवा अपने यश प्रतिष्ठाके लिये पहिलेसे तिथिवार बडे नगरोंके प्रोग्राम निश्चित कर देते हैं कि अमुक तारीखको वहां पहुचेंगे, अमुकको वहां। तो आजकल अतिथिपना

नहीं रहा। अतिथि शब्दमे जो अर्थ बसा है उसके अनुसार यह हुआ करता है। अतिथियोंको दान देना, संविभाग करना सो अतिथिका संविभाग करना है। इतने मात्रसे उद्दिष्टका दोष नहीं आता। उद्दिष्टका दोष आता है मुख्यतया इस परिणाममें कि अतिथिके लिये मै इतना भोजन बना दू और इस भोजनमें भी जो वचे वह हमे न करना, वह तो अतिथिका है और अपने लिये अलगसे भोजन तैयार करना सो उद्दिष्ट दोष है। यह मूल दोष रहता है तो उद्दिष्ट दोष समझना और यह मूल बात अगर नहीं तो नाम लेकर भी बनाये तो इतने मात्रसे उद्दिष्ट दोष नहीं होता। अतिथिके लिये प्रतिदिन संविभाग करना यह तो श्रावक व्रत लिये हुए है। यह तो उसका अतिथिसंविभागव्रत है। अतिथिसंविभागव्रतमें जो दोष लग जाते है उन्हें बताते हैं। परदातृव्यपदेश। किसी कार्यके वश वहाना बनाकर दूसरेसे दान देनेको कह देना यह परदातृव्यपदेश है। इस शब्दमें और और बातें भी ध्वनित होती हैं। जैसे दूसरेके द्रव्यका दान करे और इस रूपसे करे कि अतिथिको यह मालूम हो कि मैं ही कर रहा हू सो भी परदातृव्यपदेश अतिचार है अथवा जिसकी वस्तु हो उसका नाम लेकर बताना कि यह अमुककी चीज है, लीजिये और फिर देना, यह भी परदातृव्यपदेश है।

अतिथिसंविभागव्रतके सचित्तनिक्षेप सचित्तपिधान कालातिक्रम व मात्सर्य अतिचार— दूसरा अतिचार है अचित्त वस्तुवोंमें आहार रख देना। जैसे अचित्त चीजें सब बनी है रोटी खिचड़ी वगैरह, उनमे कोई सचित्त सब्जी आदिक रख देवे तो यह है दूसरा अतिचार। यहा प्रश्न यह किया जा सकता है कि उस अचित्त चीजमे सचित्त चीजके रख देनेसे अतिथिसंविभागव्रतसे क्या संबन्ध है? तो इसके विषयमें बताया है कि सचित्त वस्तुको अचित्त वस्तु पर भूलसे रख दे तो उसका सम्बन्ध अतिथिसंविभागके दोषसे नहीं है, किन्तु यह समझकर कि यह वस्तु थोड़ी है, इतनी ही देनी है या कोई कृपणताका भाव आकर अचित्त वस्तु पर सचित्त वस्तु रख दे, क्योंकि अचित्त वस्तु पर सचित्त वस्तु रख देनेसे फिर उसे मुनिजन नहीं ग्रहण करते हैं। यदि कोई इस तरहका काम करे तो वह सचित्त विक्षेप नामका अतिचार है और यदि कोई अचित्त पदार्थसे सचित्त पदार्थको ढक दे तो वह अचित्त पदार्थका व्यपदेश है। इसमें कितने ही भाव आते हैं। एक तो साधारणरूपसे यह भाव है कि रोज प्राय करके मुनिजन जिस समय निकलते हैं उस समयको टालकर फिर अन्य समयमे उसकी व्यवस्था बनाये तो वह परदातृव्यपदेश है। ऐसा भी कहा गया है कि कुछ श्रावकजन रोज आहार न दे सकते थे तो कुछ नियत दिन रखा करते थे, नियम ले लेते थे। जैसे नियम ले लिया गया कि हम प्रत्येक महीनेके दोनों पक्षोंमे अमुक तिथिको मानों, पञ्चम तिथिको आहारदान करूँगा—ऐसा नियम लिया जा सकता है और इसमें एक सामाजिक व्यवस्था भी बड़ी उत्तम बनती है। अनेक श्रावक ऐसा नियम ले लेते थे कि मैं अमुक दिन अतिथिसंविभाग करूँगा तो ऐसा नियम लेनेमें उन्हें कोई उद्दिष्टका दोष न लगता था। मानों कोई पंचमीको अतिथिसंविभागका नियम ले और वह चौथको ही या फिर छठको आहारदान देनेकी सोचे तो उसे कालातिक्रम कहा है। ५ वा अतिचार है मात्सर्य। मात्सर्यभावका अतिचार करना। हमारे पड़ोसीने आहार दान किया है तो मैं क्यों न करूँ, हम क्या कम हैं। उसने इतने बार आहार दान किया तो मैं भी इतनी बार क्यों न करूँ। इस प्रकार ईर्ष्यावश कोई आहारदान करे तो वह अतिथिसंविभागमें अतिचार है।

जीवितमरणाशसे सुहृदनुराग सुखानुवन्धश्च।
सनिदान पञ्चैते भवन्ति सल्लेखनाकाले ॥१९५॥

सल्लेखनाव्रत— अब सल्लेखनामें ५ अतिचार होते हैं। जितने व्रत नियम करने चाहियें उन सबका उद्देश्य अहिंसाव्रतकी साधना होता है। अहिंसाव्रत है अपने आत्माकी हिंसा न होना और शुद्ध ज्ञान-स्वभाव जो आत्माका स्वरूप है, अपने आत्माके स्वभावमे रुचि जगे, बाह्यपदार्थोंमे अपना विकल्प न बसे,

अपने आपके स्वभावका दर्शन बना रहे तो यह है अपनी अहिंसा और अपने हकमें बड़ी बात मात्र एक कल्याणकी है और दूसरी बात नहीं। दूसरोंको जताना, दूसरोंसे व्यवहार करना, दूसरोंमें स्नेह जगाना, प्रीतिका बर्ताव करना—ये सबके सब अपनी बरबादीके लिये हैं। अपने आपका कल्याण तो अपने आपके परमात्मस्वरूपके प्रेम रखनेमें है, बाहरमें किसीसे भी प्रेम रखनेमें अपना कल्याण नहीं है। जब अपनी कषायें और अपना मोह दूर हो तो इसीका नाम सल्लेखना है। उपदेश तो यहां यह चल रहा है कि मरणके समयमें सल्लेखना धारण करना चाहिये, पर अर्थ यह समझिये कि आत्महितके लिये हमें सदा सल्लेखना रखना चाहिये। कषायोंका परित्याग करनेको सल्लेखना कहते हैं। हमारी बरबादी सब कषायों से हो रही है, विकल्पोंसे हो रही है। उन विकल्पोंमें भी खोटे विकल्प वे हैं जिन विकल्पोंका मोहसे सम्बन्ध है। अत्यन्त प्रकट भिन्न परपदार्थोंसे मोह करते, ये मेरे हैं, मैं इनका हूं, यह मैं खुद हूं, इस प्रकारका अहङ्कार भाव जगे तो यह विकल्प ऐसा खोटा है कि इसके फलमें संसारमें रुलना पड़ेगा और अपने आपको झंझटोंमें फँसाये रहना पड़ेगा। इस जीवने अनेक भव पाये और उन सब भवोंमें भोगोपभोगके यथायोग्य साधन मिले, पर इसे तृप्ति कहीं न हुई और अन्तमें उन सब साधनोंको छोड़कर जाना ही पड़ा इसी तरह इस भवमें भी जो भी समागम मिले हुए हैं, उन्हें छोड़कर जाना पड़ेगा। कितने समयके लिये ये समागम मिले हैं, ये सब स्वप्नवत बातें हैं। जैसे स्वप्नमें राजवैभव भी मिल जाये तो वह सब झूठा है। स्वप्नकी बात तो स्वप्नको ही है, जब नींद खुल जाती है तो हाथ मलता रहता है। ओह ! क्या मिला ? वह तो स्वप्नकी बात थी। इसी तरहसे ये थोड़े दिनोंको मिले हुए समागम भी कुछ ही दिनों बाद नष्ट हो जायेंगे। ज्ञान जगने पर यह पता पड़ता। ओह ! यह सब व्यर्थ है, मायारूप है, तत्त्व कुछ नहीं, सार कुछ नहीं, अत्यन्त भिन्न परपदार्थ हैं। इनमें मेरा क्या रखा है ? ऐसा जानकर ज्ञानी पुरुष स्वप्नवत् असार समझता है। इन सारे समागमोंमें हम प्रीति न करें ऐसी नीति ज्ञानीकी है। तो इसीका नाम सल्लेखना है कि कषायें न जगें।

सल्लेखनाव्रतका जीविताशंसानामक अतिचार—अब जिसका मरणकाल निकट आया है ऐसे श्रावकने सल्लेखनाव्रत धारण किया है। मैं किसीसे रागद्वेष न करके अपनेको समता परिणाममें बसऊँ, ऐसा सङ्कल्प किया। उस समय उस सल्लेखना मरणव्रत करने वालेके ५ प्रकारके दोष आ सकते हैं जिन्हें न करना चाहिये। एक तो जीनेकी इच्छा करना। अरे जब समाधिमरण चाहता है तो उस समय जीनेकी इच्छा क्या करना ? मरण समयमें इनके जीनेकी इच्छा लग बैठती है, जिससे हैरान होकर यह जीव दुःख भोगता आया है। यदि परिग्रहमें ममत्व जाग उठे कि अहो, यह मेरा घर छूटा जा रहा है, ये घरके लोग छूटे जा रहे हैं, उन सबका लोभ आ गया तभी तो जीनेकी इच्छा बढ़ रही है। अरे जीना क्यों चाहता है ? जीनेका क्या प्रयोजन है इसका ? यही तो प्रयोजन रहता है जीने वालेका कि ऐसा मौज, ऐसा आराम, ऐसी इज्जत। ये सब हमारे बने रहें, इनको मैं खूब भोगता रहूं, इस प्रयोजनसे लोग जीनेकी इच्छा करते हैं। कदाचित ऐसी भी अपने मनमें चर्चा कीजिये कि कोई इसलिये भी जीना चाहते कि हाय, मैंने संयम धारण नहीं किया था, अपने जीवनमें संयमको भली प्रकार नहीं निबाहा था और स्वच्छन्द होकर अपनी जिन्दगी बितायी थी, अब मरणकाल आया है तो अपनी पुरानी बातों पर पछतावा आ रहा है कि मैंने बहुत सावधानीसे अपने मनको संयत करके संयमका पालन नहीं किया था। अब मैं बच गया तो जीवनभर संयमको भली प्रकार निभाऊँगा, ऐसा सोचकर भी मानों यदि वह जीवित रहनेकी इच्छा करता है तो वह सल्लेखनामरणमें दोष है। वह क्यों दोष है ? प्रथम तो यह ठेका नहीं लिया गया है कि मरणसे बच जाने पर धर्ममें चित्त बना ही रहेगा। जैसे साधारण गृहस्थजन भी जब कभी आपत्ति आती है तब उन्हें धर्मकी खबर होती है। वह भी मनमें ठान लेते हैं कि यदि इस बार मैं बच गया तो

हारे जीवनभर धर्ममें अपना अधिक समय लगाऊँगा, पर जब इस आपत्तिसे बच जाते हैं तो सारे धर्म कर्म भूल जाते हैं और फिर पहिले जैसी हालत हो जाती है। तो यह कोई निर्णय नहीं है कि सल्लेखना धारण करने वाला यदि मरणसे बच जाये तो धर्ममें ही अपना समय लगावे। तो सल्लेखना धारण करने वाला यदि मरण समयमें जीनेकी इच्छा करे तो वह दोष है। स्पष्ट बात तो यह है कि यह जीना ही तो अर्थात् जीवन ही तो संसार है, उस जीनेकी वाञ्छा तो ज्ञानीके न होनी चाहिये। तो सल्लेखनाव्रत धारण कर ले और जीनेकी इच्छा करे तो यह दोष है।

सल्लेखनाव्रतका मरणाशंसानामक अतिचार व आत्मनिकटस्थ रहनेका संदेश-- दूसरा दोष है मरनेकी इच्छा रखना। बड़ी कठिन व्याधि आ गई, सही नहीं जाती तो इससे वह परिणाम बनाना कि इससे तो जल्दी मर जाना ठीक है। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि समाधिमरण करने वालेके भावमें नहीं है और ऐसा करने से क्या उपद्रव बंद हो जायेंगे? अगर जीवनसे किसी तरह छुटकारा पा लिया तो क्या यह अगले भवमें इसे छोड़ देगा? जो कर्म इस जीवने बाँधे वे भोगने पड़ेंगे। इस भवमें भी भोगेगा और अगले भवमें भी भोगेगा। ज्ञानी जीव न मरनेकी चाह करता और न जीनेकी। ज्ञानी जीवमें तो सब कुछ सहनेकी सामर्थ्य प्रकट हुई है। वह पञ्चपरमेष्ठियोंके ध्यानमें और अपने आत्मस्वरूपके स्मरणमें बराबर बना हुआ है। इसे किसी भी प्रकारका खेद नहीं है। तो ज्ञानी पुरुष सल्लेखनाव्रत धारण करके मरनेकी चाह नहीं करता। यदि मरनेकी चाह करे तो वह सल्लेखनाव्रतका एक दोष है। देखो जब तक भीतरके नेत्र न खुलें, तब तक मनुष्यजीवन व्यर्थसा समझिये। बाहरमें इन चर्मचक्षुवोंसे जो कुछ भी दिखता है इसमें कुछ भी सार नहीं है। उनसे इस आत्माको कुछ भी लाभ नहीं है। यह आत्मा तो रूप रस गन्ध स्पर्शरहित अमूर्तिक है। अपने लिये यह ही सब कुछ है. मोहमें कहीं कुछ नहीं है, क्योंकि अपना पूरा तो इस आत्मासे ही पड़ रहा है। जैसा यह आत्मा ज्ञान करता है वैसे ही आत्मामें भाव बनते हैं और जैसे आत्मामें भाव बनते हैं, उसके अनुकूल हममें सुख अथवा दुःख होते हैं। आत्मा अपने लिये आपका सब कुछ है और बाहरमें चाहे तीनों लोकका सारा वैभव भी सामने पड़ा हो, पर वह आत्मशान्तिके लिये कुछ नहीं है। सुख शान्ति तो आत्माको अपने ज्ञानसे प्राप्त होती है, बाहरी वस्तुवोंसे नहीं प्राप्त होती, पर हाय रे अज्ञान अंधेरा! इसने बरबाद कर दिया है ऐसा ज्ञान और आनन्दका निधान परमात्मतत्त्व। इसमें स्थिरता नहीं हो सकती। उसका ज्ञान अपने आपके परमात्माके निकट एक सेकिंड भी न बैठ सके। बाहरी पदार्थों पर दृष्टि डाल डालकर हम कितना ही श्रम करें और इतनी भी सच्ची समझ न बनायें कि कुछ अपने परमात्माके निकट तो बैठ जायें। हम धर्मके नाम पर भगवानके दर्शन करने आते हैं, पर यह दृष्टि कभी नहीं बन पाती है कि हमारा भगवान तो हमारे ही अन्दर विराजमान है। एक बार तो अपने आपमें विराजमान उस प्रभुका दर्शन करनेका प्रयत्न इन नेत्रोंको बन्द करके करना चाहिये। जहां सर्व परसे दृष्टि हटाकर परका विकल्प हटाकर अपने शरीरका भी भान छोड़कर अपने आपमें बसे हुए परमात्मतत्त्वका ही ध्यान लगाया कि बस वहीं अपने आपके प्रभुके दर्शन होंगे। उस ही परमात्मतत्त्वके निकट बैठें। उससे बाहर किसी अन्य परवस्तुके निकट मत बैठें। धर्म करनेके लिये हम आये हैं या इसमें हम अपना समय लगा रहे हैं तो इस विधिसे अपने निकट बैठें कि हमारा परमात्मतत्त्व हमारा ज्ञानस्वरूप हमारे अनुभवमें आ जाये। जो अपने स्वरूपके निकट बैठें तो हमारे भव भवके बाँधे हुए कर्म सब कट जाते हैं। तभी यहां मायनेमें सुख शान्तिकी प्राप्ति होती है, सारे विकल्प दूर होते हैं, सारे दुःख टर जाते हैं।

निकला ? यह मैं तो यहाँसे गुजरकर न जाने किस जगह पहुचूगा, न जाने कहा जन्म लूँगा ? ये लोग जिनमें हम बड़ा बडा यश चाहते हैं, ये लोग क्या मेरे लिये परमार्थसे मददगार हो सकते हैं ? कौनसी सारभूत बात यहा है ? केवल एक यों जानों कि जैसे स्वप्नमें देखी हुई बात सारभूत लगती है, ठोस लगती है, इसी प्रकार इस मोहकी नींदके स्वप्नमें अपने विकल्पोंके माध्यमसे ये सब चीजें ठोस लगें, सारभूत लगे तो लगें, पर यह उसका अज्ञानभाव है। यहा सारकी बात कुछ भी नहीं है और सारकी बात जो मानी जा रही है, उसका फल ससारमे रुलना है, जन्म मरण धारण करना है। कोई किसीका साथी नहीं। यह जीव जब अपने ही कर्मोंके फलमें नरकगतिमें जन्म लेता है तो वहा सुधि करता है कि ओह! मैने जिन जिनकी खातिर पाप किया वे सब साथी बिछुड गये, वे कोई भी यहाँ नहीं आये। मैंने जो पाप किया था उनका फल खुद भोगा, कोई भी उस पापफलको बटाने वाला नहीं है। पहिले तो जरा भी सिरदर्द हुआ तो स्त्री पूछती थी कि क्या दवा लगाऊ ? मित्रजन भी पूछते थे, बहुतसे चापलूस लोग भी आया करते थे पूछताछ करने। उन ठाठ बाटोंमे हमने बडा मौज माना, पर इस मोह और अज्ञानके फल में जहाँ न्याय अन्याय कुछ नहीं गिना, अपने आत्माकी सुधि कभी नहीं की। उन कर्मोंके फलमें आज नरकगतिमें जन्म लेना पड़ा है। तो अब उन स्त्री पुत्र मित्रादिकका कुछ भी पता नहीं कि कहां गये ? अब तो वहाँ जो भी नारकी सामने देखता है, वही यही विचार करके दौड़ता है कि काटो छेदो। जब नरकगतिमें जन्म होता है तब कुछ पछतावा करता है। जो ज्ञानी हो वही पछतावा करता है, वही सुधि करता है। अज्ञानी भी तो कुत्तेकी तरह एक दूसरेको देखकर लड़ते हैं, जान लेते हैं और वे फिर शरीरके खण्ड खण्ड पारेकी तरह मिलकर शरीररूप हो जाते हैं। इस प्रकारकी अनेक वेदनाएँ नारकी जीवोंको सहन करनी पडती हैं। इसमें सल्लेखनाकी बात चल रही है कि कषायोंको दूर करें। अगर कषायोंको नहीं दूर करते तो बहुतसी आपत्तिया परभवमे भोगनी पड़ेंगी। इसलिये इन कषायोंको दूर करना, सल्लेखनाका धारण करना परम आवश्यक है और इसे निर्दोष बितायें। तीसरा दोष है मित्रोंमें अनुराग करना। मित्रजनोंमें अनुराग करने से क्या मिलेगा ? अपने सुखोंकी याद करनेसे और निदान बांधनेसे क्या मिलेगा ? ये ५ सल्लेखनाके अतिचार हैं जिन्हें न करना चाहिये।

सल्लेखनाव्रतके मित्रानुराग, सुखानुबन्ध व निदान नामक अतिचार-- सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जब मुनिव्रत धारण करनेमें असमर्थ है तो वह श्रावकव्रत ही ग्रहण कर लेता है और जीवनभर निरतिचार अपने श्रावक व्रतको निभाकर अन्तमे सल्लेखनाव्रत ग्रहण करता है। मरणकाल निश्चितसा समझकर वह समस्त सकल्प, विकल्प, आरम्भ, परिग्रह, कषायोंका त्याग करके समता परिणाममें रहकर अपना जीवन व्यतीत करता है, उसे कहते हैं सल्लेखनामरण। सल्लेखनामरणमें ५ अतिचार लग सकते है, जिन्हें न लगाना चाहिये। जिनमें दो अतिचारोंका वर्णन तो हो—जीनेकी इच्छा करना और मरनेकी इच्छा करना। सल्लेखनामरण ग्रहण करके जीने अथवा व्याधि न सह सकनेके कारण मरनेकी इच्छा करना यह दूसरा दोष है। अब तीसरा अतिचार है मित्रोंमें अनुराग। मरण समयमें मित्रोंकी याद करना, मित्रोंको बुलवाना, उनमें अनुराग करना यह सल्लेखनामरण करने वालेका दोष है ससारमें अनन्त जीव हैं। सभी जीव चैतन्यस्वरूप एकसमान है, इनमें कौन तो मित्र है और कौन शत्रु है ? अब यह मरणका समय है। मरनेके समय किन्हींको मित्र समझकर उनमें अनुराग करनेसे सार क्या निकलेगा ? थोड़े ही समयमें मृत्यु होने वाली है। मित्रोंकी याद करके तो वह कर्मबन्ध करना पड़ना है और उससे इसका परलोक बिगड़ना है। तो यह तीसरा दोष भी ज्ञानी जीव अपनेमें नहीं लाता। चौथा अतिचार है सुखका स्मरण करना। जो सुख पहिले भोगा गया, उसका स्मरण करना, धन वैभव स्त्री पुत्रादिकके सुख जो जो भी सुख भोगे उनकी याद करे तो उन सुखोंकी याद करनेसे लाभ क्या ? उस समय तो समस्त सकल्प विकल्प छोड़

कर एक समता परिणाममें रहे तो लाभ है। तो यह चौथा दोष है पूर्वकालमे भोगे हुए सुखोंकी याद रखना। सल्लेखनाव्रतका अंतिम दोष कह रहे हैं निदान। मैं अगले भवमे इन्द्र बनूँ, राजा बनूँ, सेठ बनूँ, इस प्रकारके भावी कालके भोगोंकी इच्छाके निदान बांधना, यह निदान नामका ५ वां दोष है। जो सल्लेखनाव्रत ग्रहण करता है वह इन ५ प्रकारके दोषोंको नहीं लगाता। उसका तो यत्न रहता है कि मैं अपने सहज शुद्ध चिदानन्दस्वरूप पर दृष्टि दिये रहूं और अपना जो वास्तविक शरण है, एकमात्र शरण है, उस शरणमें ही उपयोग रखूँ, अन्यत्र उपयोग न दूँ—ऐसी स्थितिमे समय व्यतीत हो, उसका यही प्रयत्न रहता है। यों सल्लेखनामरण करके यह श्रावक सोलहवे स्वर्ग तक उत्पन्न हो जाता है और श्रेष्ठ गति पाता है।

इत्येतानतिचारानपरानपि सम्प्रतर्क्य परिवर्ज्य।
सम्यक्त्वव्रतशीलैरमलैः पुरुषार्थसिद्धिमेत्यचिरात् ॥१९६॥

निरतिचार व्रतपालनसे पुरुषार्थसिद्धिकी पात्रता—इस प्रकार यह गृहस्थ पहिले बताये गये समस्त अतिचारोंको, और और दोषोंको विचार करके छोड़ता है और निर्मल सम्यक्त्व निर्मल व्रत निर्मल शीलोंके पालनके द्वारा यह थोडे ही समयमे मोक्षको प्राप्त करता है। यद्यपि श्रावक साक्षात मोक्षपद प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि उसके कुछ आरम्भ परिग्रह या वासना कषाये इस प्रकारकी है कि जिनसे शुक्लध्यान नहीं बन सकता और विना शुक्लध्यानके मोक्षकी प्राप्ति नहीं है। शुक्लध्यान मायने सफेद ध्यान अर्थात् जहा रागद्वेषके रंगसे रहित स्वच्छ वीतरागता हो। इस शुक्लध्यानके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नही होती। अतएव श्रावक साक्षात् मुक्ति नहीं प्राप्त कर लेता, पर वह अपना मोक्षमार्ग बना लेता है, फिर उसी भवमें या दूसरे तीसरे भवमें मुनिव्रत धारण करके पूर्ण रत्नत्रयकी एकता पाकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है, पुरुषार्थसिद्धिको प्राप्त हो जाता है। पुरुष मायने आत्मा, उसके अर्थ अर्थात् उसका प्रयोजन, उसकी सिद्धि प्राप्त हो जाती है। आत्माका प्रयोजन है सुख, निराकुलता। निराकुलता मोक्षमें है, इसलिये आत्माका हित मोक्ष ही है। ऐसे आत्माका हित जो मोक्ष है उसकी सिद्धिको श्रावक प्राप्त करता है। अब सकल चारित्रका वर्णन करते है।

चारित्रान्तर्भावात् तपोऽपि मोक्षाङ्गमागमे गदितम्।
अनिगूहितनिजवीर्यैस्तदपि निषेव्यं समाहितस्वान्तैः ॥१९७॥

यथाशक्ति तपके आचरणका उपदेश—जैनसिद्धान्तमें तपको चारित्रका अन्तर्वर्ती बताया है अर्थात् चारित्रमें शामिल तप भी है और तप मोक्षका अग कहा गया है। यद्यपि तपश्चरण पर पूर्ण अधिकार साधुजन कर पाते हैं, फिर भी श्रावकजनोंके अपनी शक्तिके अनुसार इस तपश्चरणको स्वीकार करना चाहिये। ये तपश्चरण बारह प्रकारके है, जिन्हें आगे बतावेंगे। मोक्षमार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप होता है और तप भी चारित्रका ही एक अग है, इसलिये तप भी मोक्षका अग ठहरा। तपश्चरण करनेके लिये दो बातोंकी आवश्यकता है। एक है शरीरकी और दूसरी है मनकी। मन वशीभूत हो और शक्ति हो तो तपश्चरणका पालन होता है। शक्ति भी प्राय होती है मनुष्योंमें, पर इस शक्तिको छिपाकर रखते है और कोई शक्तिको न छिपकर अपनी शक्तिके अनुसार अपने कर्तव्यमें उद्यमी रहनेका यत्न करते हैं। जैसे यहीं लौकिक कार्योंमे, आने जाने व्यापार आदिक कार्योंमें कुछ लोग ऐसे देखे जाते हैं कि शरीर सबल नहीं है, साधारण है, फिर भी मेहनत बहुत कर लेते है, इस सामर्थ्यका वे पूरा उपयोग करते हैं और कोई पहलवान भी हैं, समर्थ भी हैं, मगर शक्तिको छिपाते हैं, उन्हें कार्यमे सफलताका संदेह बना रहता है, ऐसे लोग शक्तिका सही उपयोग करनेकी बात हो। दूसरे मन वशीभूत हो। यदि तप अंगीकार कर लें और फिर भी मन वश न रहे अर्थात इच्छा बनी रहे तो जहा इच्छा है,

वहां तप कैसे रह सकता है ? इच्छा न बढे, मन वशमें रहे, विषयोंमे आशक्ति न हो तो उससे तपश्चरण बन सकता है। श्रावकजनोंको आचार्य महाराज उपदेश कर रहे हैं कि इस तपको अपनी शक्तिके अनुसार पालन करना चाहिये। वह तप कौन है ? वे तप हैं १२, जिनमें ६ बाह्य और ६ अन्तरङ्ग तप हैं। इनमेंसे ६ बाह्यतपोंका वर्णन करते हैं।

अनशनमवमौदर्यं विविक्तशय्यासन रस त्यागः।
कायक्लेशो वृत्ते सख्या च निषेव्यमेतदपि ॥१९८॥

अनशन व अवमौदर्य नामक तप— बाह्यतप उसे कहते हैं कि जो बाहरमे लोगोंको नजर आ रवें कि हाँ ये तपश्चरण कर रहे हैं। बाह्यतप उसे कहते हैं कि जहा अन्तरङ्ग परिणामोंकी प्रमुखता नहीं है। ऐसे बाह्यतप ६ होते हैं। प्रथम है अनशन। बाह्यपदार्थोंके सयोग वियोगसे यह तपश्चरण चलता है, इसलिये इसे बाह्यतप कहते हैं। भोजनका त्याग करना सो अनशन है। ४ प्रकारके आहार होते है—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय। खाद्य मायने जो पेटभर भोजन किया जाये वह खाद्य भोजन है, जैसे रोटी दाल वगैरह। स्वाद्य भोजन वह है जिसमे स्वाद लिया जाये, जैसे पान। लेह्य भोजन वह है जिसको चाटा जाये, जैसे रवड़ी। पेय भोजन वह है जो पिया जाये, जैसे दूध। तो इन चारों प्रकारके आहारोंका त्याग करना इसे कहते हैं अनशन। अनशनतपमें शरीर हल्का रहता है और आहार न करनेका संकल्प लिया है तो उस अनशनके कारण धर्मकी ओर बुद्धि अधिक रहती है। ऐसी स्थितिमें यह एक योगका साधन है अनशन। वहाँ ध्यानकी साधना अच्छी बनती है। अनुभूति भी जगती है। सकल्प विकल्प हटकर निर्विकल्प स्थिति का भी इसमें यत्न बनता है। अनशन एक तपश्चरण है। समय समय पर, पर्वों पर और विशेष विशेष अवसरों पर अनशन ग्रहण करना चाहिये, पर अनशन धारण करके गृहस्थीके बीच रहना, दूकान पर रहना, मोहियोंकी उठक बैठक रहना, यह त्याज्य है। एकान्तमें गुरुसगतिमे रहकर धर्मध्यानमें अपना समय व्यतीत करना बताया है। तो आहारके परित्यागका नाम अनशन है। दूसरा तपश्चरण है औमोदर्य। भूखसे कम खानेका नाम औमोदर्य है। यह भी क्या कोई कम तपश्चरण है। लोग तो जब तक पेट खूब भर न जाये, तब तक खाना बन्द नहीं करना चाहते, पर जो इस तपश्चरणको करते हैं, उन्हें इससे बड़ा लाभ है। भूखसे कम खानेमें प्रमाद नहीं रहता, सावधानी रहती है, ध्यानसिद्धिकी बात बनती है और ब्रह्मचर्यसिद्धिका भी साधन है। यों औमोदर्य दूसरा तप है।

विविक्तशय्यासन तप— तीसरा तप है विविक्तशय्यासन। एकान्तस्थानमें रहना, बैठना, सोना यह विविक्तशय्यासन तप है, क्योंकि मनुष्योंसे सम्बन्ध रहेगा तो वहाँ बातचीत करनी होगी। जब वाक्व्यवहार होगा तो स्नेह बढ़ेगा। जब स्नेह बढेगा तो लोगोंका बन्धन बन जायेगा। बन्धन बने वही दुःख है। जितना भी दुःख है वह सब स्नेहके बन्धनका दुःख है। इस समय हम आपके दुःख कितने हैं ? पर कुछ पुण्यका साधन पाया है और पुण्यके अनुसार सब चीजें मिलती हैं तो उस पर दृष्टि नहीं देती है, पर विडम्बना लगी हुई है। शरीरके साथ क्षुधा तृषाकी वेदना ऐसी लगी है कि रोज रोज खाते पीते, दिनमें दो तीन चार खाते पीते, तो क्या यह कम विडम्बना है ? मानों पुण्यके अनुसार सब कुछ खूब मिल रहा है, वैभव मिल रहा है, रोज भोजन तैयार मिलता है, जैसा मन चाहे वैसा खाते पीते हैं, बड़ा मौज है, किन्तु यह भव कब तक रहेगा ? इस भवके बाद इस आशक्तिके फलमें कष्ट मिलेगा। आज तो मनुष्य हैं, आध सेर भोजनसे ही तृप्त हो जाते हैं। कलके दिन हाथी घोड़ा आदिक हो गये तो फिर कैसे समय व्यतीत होगा। दुःख लगे हैं इस जीवके साथ, मगर यह मोहमें पुण्यका उदय पाकर अपने आपकी सुध खो बैठता और जो दुःख है उसे दुःखरूप न मालूम करके उस वेदनाकी पूर्तिमें मौज मानता है। इस जीव के साथ दुःख बहुत लगे हैं। उनसे छुटकारा पानेके लिये राग द्वेष मोहके त्यागरूप तपश्चरण करनेकी

आवश्यकता है, न कि मन मौजसे रहनेकी आवश्यकता है। तो यह ज्ञानी जीव विविक्तशय्यासन तपको धारण करता है। एकान्त स्थानमें रहना, सोना, बैठना, ग्रन्थ पढना, उनका मर्म समझना, इनमे अपना समय व्यतीत करता है। यह तीसरा है विविक्तशय्यासन नामका तप।

रसपरित्याग तप— चौथा तप है रसपरित्याग। दूध, दही, घी, तैल, मीठा, नमक—इन रसोंमे एक दो अथवा सबका परित्याग करना सो रसपरित्याग है। यह रस कोई थोड़ी मात्रामें स्वास्थ्यवर्द्धक होता है, कुछ विशेष मात्रा करने पर फिर कामवर्द्धक अनेक बार अवगुणवर्द्धक हो जाता है। तो इन रसोंमें से कुछ का अथवा सबका जो परित्याग करता है, वह अपने अहिंसाव्रतकी सिद्धि करता है। यह तपश्चरण भी अहिंसाव्रतकी सिद्धिके लिये है। अहिंसा नाम है निर्विकल्प अवस्था होनेका। इस निर्विकल्प अवस्थाके लिये ही ये सब तपश्चरण किये जा रहे हैं। ५वा बाह्य तप है काय क्लेश। गर्म स्थानमें, सर्द स्थानमें ध्यान करने बैठना, अनेक प्रकारके कष्ट सहना--ये सब इस निर्विकल्प दशाकी प्राप्तिके लिये है। कदाचित्त पापका उदय आये और कभी क्लेश आये तो उसमें मै कही विचलित न हो जाऊँ, इसलिये काय क्लेश सहनेका अभ्यास जान करके भी किया जाता है। जान बूझकर कष्ट देना सो कायक्लेश है। इसमें भी अहिंसाकी सिद्धिका लक्ष्य है। कहीं कोई कठिन क्लेश आ जाने पर रागभावमे हमारा परिणमन न चला जाये, इस कारण से वह काय क्लेश सह रहा है। तो लक्ष्य तो अहिंसा की सिद्धि का ही रहता है।

कायक्लेश व वृत्तिपरिसख्या तप-- यह ५ वां तप है कायक्लेश। छठा तप है वृत्तिपरिसख्यान भोजन को जाते समय मुनि लोग कुछ आखड़ी लेकर निकलते हैं उसका प्रयोजन यह है कि आहार उन्हें सुगमता से न चाहिये, आहार मुश्किलसे प्राप्त हो, इसलिये अपनी अटपटी आखड़ी लिया करते है। दूसरी बात यह है कि वृत्तिपरिसख्यान करके भी मुनिराज अपने व्रतकी परीक्षा करते हैं कि मेरे कर्म अब किस किस प्रकारके रह गये होगे। वृत्तिपरिसख्यानमें ऐसा नियम लेते कि इस गलीसे चर्याको जायेगे और इस गली से निकलकर जंगल चले जायेंगे, इस बीचमें अगर आहार हुआ तो आहार ग्रहण करेंगे। एक साधुने तो ऐसी आखड़ी ली कि बैलकी सींघमें गुडकी भिदी हुई भेली दिख जायेगी तो आहार लेंगे। भला बतावो ऐसा कौन अन्दाज कर सकता है कि ऐसी आखड़ी ली होगी, पर एक दो दिन अनशनमें गये हों तो क्या हुआ? विधि क्या मिली कि एक बैल बाजारसे चला जा रहा था। गुडकी भेली एक दूकान पर रखी थीं। वह भेली खाने लगा। दूकानदारने उसे भगानेकी कोशिश की। ज्यों ही वह बैल भागने लगा कि उसके सींघमें एक भेली बिध गई। सामनेसे निकले मुनिराज। लो उनका वृत्तिपरिसंख्यान पूरा हो गया। तो ऐसी आखड़ी ले लेना यह वृत्तिपरिसख्यान तप है। इससे रागादिक भावों पर विजय होती है। इस तरह का तप अहिंसाका कारण है। इससे कर्मोंका क्षय होता है, ध्यानकी प्राप्ति होती है। विष्प्रमाद रहता है, शरीरके दोष दूर होते हैं। तपश्चरणसे किसी भी प्रकारको बाधा नहीं। तपश्चरण करनेसे ब्रह्मचर्यका पालन होता है। ब्रह्मचर्य और अहिंसा ये दो साधुके खास तत्त्व हैं। ब्रह्मचर्य न रहा तो तपश्चरण सारा व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्मचर्य साधारण जीवनका और आध्यात्मिक जीवनका सार है। ब्रह्मचर्यके घातमें उसकी पाहचान बनी हुई है, आत्माकी सुध नहीं रहती है। ब्रह्मचर्यको तो अवश्य ही ग्रहण करना चाहिये। बहुत बहुत बार भरपेट भोजन खानेसे ऐसा प्रमाद आता है कि धर्मध्यानका अध्ययनका चित्त नहीं चाहता।

तपश्चरणकी उपयोगिता— तपश्चरणसे ध्यान और अध्ययन दोनोंकी सिद्धि है। इस तपश्चरणसे इन्द्रियोंका दमन होता है। इन इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिके कारण ही तो इस जीवकी बरबादी हो रही है। हम इन्द्रियोंके द्वारा ही जान पाते है, क्योंकि इस समय हमारे परोक्ष ज्ञान है। जब हम इन्द्रियोंके द्वारा

ज्ञान कर पाते हैं और ज्ञान है हमें अभीष्ट। तो जो हमारा परम अभीष्ट है उस ज्ञानका जो साधन है, उसमें हमारी प्रीति जगती है। इसलिये इन्द्रियसे प्रीति जग जाना यह हमारे स्वभावत: हो रहा है। यदि इन्द्रियोंमें प्रीति है तो इन्द्रियके विषयोंमे प्रीति जगनेसे विशेष मोहनीय कर्मका उदय होता है। मोहनीय कर्मके उदयसे यह सारा ससार चल रहा है। ससारभ्रमणसे ही तो इस जीवकी बरबादी है। तो तपश्चरणके प्रतापसे इन्द्रियका दमन हुआ और इन्द्रियके दमनसे अपने आपके स्वभावमें उपयोग जमता है और स्वभावकी दृष्टि बने, यही मात्र आत्मकल्याणका उपाय है। करना क्या है धर्मपालनके लिये ? अपने इस उपयोगको अपने स्वभावकी ओर ले जायें, ऐसा चिंतन करें कि मैं मात्र ज्ञानदर्शन स्वभाव वाला हू, केवल ज्ञानमय हू, केवल ज्ञानप्रकाश हू, अपने ऐसे उपयोग में रह सकें, ऐसी स्थिति बने तो यही तो आत्मानुभव है और यही धर्मपालन है। यह किया जा सका तो समझो कि मैंने सब कुछ कर लिया। परमार्थतपश्चरण यही है कि मैं ज्ञानस्वरूप हू—ऐसा उपयोग अपना बन जाये। इस तपश्चरणका ऐसा प्रताप है कि भव भवके बाँधे हुए कर्म स्वय क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि कर्म बँधे हैं स्नेहसे। जैसे शरीरमें तैल लगा हो, स्नेह लगा हो तो शरीरमें धूल चिपट जाती है। इसी प्रकार आत्मामे मोह राग द्वेषकी चिकनाई हो तो ये कर्म बँध जाते हैं। कर्म बँध तो गये, पर उनके दूर करनेका उपाय क्या है ? तो कर्मों के दूर करनेका उपाय है कि इस राग द्वेष मोहकी चिकनाईको खतम कर देना है। राग द्वेष मोहके परिणाम को अलग कर देनेसे अपना जो सहज आनन्दस्वभावी चैतन्यमात्र आत्मा है उसके दर्शन होंगे। उस आत्माका किसी भी अन्यसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह तो विशुद्ध है, सर्वदा ज्ञाताद्रष्टा रहता है। तो अहिंसाकी सिद्धि इसी तपश्चरणसे है। इस तपश्चरणको करते हुए अन्तरङ्गमें क्या अध्ययन करते रहना कि मैं अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभवता रहू और जिस किसी भी क्षण कोई भी विकल्प न रहेगी, ज्ञानानुभवकी स्थिति बन जायेगी तो वही आत्मानुभूति है। इसमे इतनी विविक्त सामर्थ्य है कि कर्मोंसे नोकर्मों को सबको अलग करनेमे यह आत्मानुभूति ही एकमात्र कारण बनती है। बडे बडे शुक्लध्यानोंमे इतनी ही तो विशेषता है। तो हमारा तपश्चरणमें उपयोग जाये और परमार्थ तपका लक्ष्य न भूलें तो हम अहिंसाव्रतकी सिद्धिमें अपनेको समर्थ कर सकते हैं।

विनयो वैयावृत्यं प्रायश्चित्तं तथैव चोत्सर्गः ।
स्वाध्यायोऽथ ध्यानं भवति निषेव्यं तपोऽन्तरङ्गमिति ॥१९९॥

विनय नामक अन्तरङ्ग तप— बारह प्रकारके तपश्चरण साधुवोंके मुख्य कर्तव्य हैं, किंतु यथाशक्ति श्रावकोंको भी करना चाहिये। इस प्रसङ्गमें अन्तरङ्ग ६ तपोंका वर्णन इस गाथामे चल रहा है। अन्तरग तप उसे कहते हैं जो दूसरोंको न दिखे, किंतु अपने अन्तरङ्ग भावोंके अनुसार हो। वे तप ६ हैं—विनय, वैयावृत्ति, प्रायश्चित्त, उत्सर्ग, स्वाध्याय और ध्यान। विनय नाम है आदर भावका। विनय दो तरहके होते हैं—एक मुख्य विनय, एक उपचार विनय। याने मुख्यतासे हमें किनमें विनय करना चाहिये ? आत्महित के लिये सम्यक्त्वमे भी बाधा न पडे, सम्यक्त्व ज्ञान चारित्रकी वाछा बने। यही है मुख्य विनय और मोक्षमार्गसे सम्बन्ध नहीं है, पर व्यवहारमें रहते हैं तो व्यवहारमें हम दूसरोंसे विनय कर लें, उसे कहते हैं उपचार विनय। तो मुख्य विनय तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका विनय है और इनके धारकोंका विनय है। जो जीव सम्यग्दृष्टि हैं उनके हृदयका सम्मान करना, उनके सम्यक्त्व गुणका स्वरूप विचार कर उन गुणोंको निरख निरखकर प्रफुल्लित होकर उस आत्माका विनय करना सो सम्यक्त्वके धारियोंका विनय है। सम्यक्त्वके धारियोंका भी विनय करना और सम्यग्दर्शनका ज्ञान करना, ज्ञानका भी विनय करना और ज्ञानके धारियोंका भी विनय करना। सम्यग्ज्ञान ऐसा प्रकाश है जिसके द्वारा जीव शान्तिमें पहुच जाता है। वह सम्यग्ज्ञान हृदयमें बसे और उसके प्रति साधुवाद, जयवाद जैसा शब्द

निकले। धन्य है यह सम्यग्ज्ञान गुण, जिसके द्वारा यह जीव मोक्षको प्राप्त करता है। जहाँ आत्माके स्वरूपका दर्शन है, सब द्रव्योंसे न्यारा जो आत्माका चैतन्यतत्त्व है, उसका जहाँ अनुभवन होता है ऐसे सम्यक्त्वको बडे जयवादके साथ ज्ञानी पुरुष देखते हैं। ऐसा सम्यक्त्वगुण जिसके प्रकट होता है, ज्ञानी पुरुष उसका महान आदर करता है। अज्ञानी जीव सम्यक्चारित्र विनयको धारण नहीं कर सकता। लोक में मुख्यतासे देखो तो चारित्र पूज्य है अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान होनेके बाद जब तक सम्यक्चारित्र नहीं होता, तब तक निर्वाणकी प्राप्ति नहीं होती। उस सम्यक्चारित्रकी दृष्टिसे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान भी आ गये। तो जो सम्यक्चारित्रके धारी हैं, शान्त हैं, समताके पुञ्ज हैं, केवल आत्माके दर्शनमें ही जिनकी धुन है—ऐसे जो एक मोक्षमार्गके पथिक हैं, ऐसे साधुजनोंका विनय करना और सम्यक्चारित्रके प्रति आदर भाव करना सो सम्यक्चारित्र विनय है। इसी प्रकार एक है तपोविनय। तपश्चरणके प्रति आदरभाव करना सो तपोविनय है। ये ४ मुख्य विनय हैं और उन गुणधारियोंसे प्रति आदर भाव होना सो उपचार विनय है। वे चार गुण आत्माके गुण हैं, अपने गुण हैं। उन पर दृष्टि जाती है तो हम अपने आपकी दृष्टि बना रहे हैं, इसलिये वह निश्चयगुणमें शामिल हो गया। इन गुणोंके धारी जो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं वे पर आत्मा हैं, भिन्न हैं। तो परवस्तुकी दृष्टि करके विनयभाव होता, इसलिये यह उपचारविनय अथवा व्यवहारविनय है। दूसरी दृष्टिसे मुख्यविनय हुआ आत्मगुणोंको धारक और आत्मगुणोंका विनय और अपने व्यवहारमें आये हुए साधर्मीजनोंका अथवा राजकाज, गृहस्थकाज। जो अधिकारियोंका उस सीमा विनय किया जाता है, वह उपचारविनय हुआ। वह उपचारविनय मोक्षका मार्ग नहीं नहीं है, क्योंकि उसमें सम्यग्दृष्टि, मिथ्य दृष्टिका भेद न करके उपचारविनय हुआ। चाहे सम्यग्दृष्टि हो, चाहे मिथ्यादृष्टि हो, चाहे चारित्रमान हो, चाहे न हो, चूँकि वह एक नगरका है, राजकाजमें रहता है अथवा अपने गाँवमें बसने वाला है, अपने सङ्गमें आता है, वह भी नमस्कार करता है और खुद भी उनका विनय करता है तो यह मोक्षमार्ग नहीं है। मोक्षमार्गमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र—इनका विनय मोक्षमार्गमें विनय बताया है। तो विनयका सम्बन्ध अन्तरङ्गसे है। अपना अन्तरङ्ग परिणाम बनाना विनयभाव है।

वैयावृत्य और प्रायश्चित्त नामक अन्तरङ्ग तप— दूसरा अन्तरङ्ग तप है वैयावृत्ति। वैयावृत्ति पूज्य पुरुषोंकी सेवा करनेका नाम है। वैसे वैयावृत्तिका अर्थ है निवृत्ति। उदासीन विरक्त पुरुषोंके भावका नाम है वैयावृत्ति। वैयावृत्तिके दो भेद हैं— एक शरीर चेष्टा द्वारा वैयावृत्ति करना और एक दान करके वैयावृत्ति करना। धर्मात्मा पुरुष ही इस वैयावृत्तिको कर सकेंगे। इन दोनों प्रकारकी वैयावृत्तियोंका बड़ा महत्व है। पुरुष लोग तो शारीरिक वैयावृत्ति कर लेते हैं और महिलायें आहार दान करके वैयावृत्ति कर लेती हैं। इन दोनोंका एकसा महत्त्व है। आहारदान, औषधिदान, शास्त्रदान और अभयदान देकर जो साधु पुरुषोंकी वैयावृत्ति की जाती है वह शारीरिक वैयावृत्तिसे भी बढ़कर है। इस प्रकारकी साधुजनोंकी वैयावृत्ति करनेका भाव भी एक अन्तरङ्ग तप है। अन्तरङ्गमें ऐसा उत्तम भाव आये बिना ऐसी वैयावृत्ति करनेको कोई उद्यमी नहीं हो सकता। दूसरा अन्तरङ्ग तप है प्रायश्चित्त। कोई अपनेमें दोष लगे तो उन गुरुजनोंके समक्ष पश्चाताप ग्रहण करना प्रायश्चित्त तप है। यह तप भी एक अन्तरङ्ग तप है। अन्तरङ्गमें बिना निर्मल परिणाम बने गुरुजनोंके समक्ष प्रायश्चित्त लेनेकी बात मनमें नहीं आती। परिणामोंमें जब यह निर्मलता जगती है कि अहो! मैंने कितना बड़ा अपराध किया? धिक्कार है मेरे मनको। यों एक रोनासा आ जाये, एक बड़ी भारी भूल अपनेमें महसूस हो, तब प्रायश्चित्त लेनेकी बात मनमें आती है। इस तरहसे उस प्रायश्चित्तका ग्रहण करना यह अन्तरङ्ग तप है।

उत्सर्ग, स्वाध्याय व ध्यान नामक अन्तरङ्ग तप— एक तप है उत्सर्ग याने त्याग करना। बाह्यमें इन धन

धान्य आदिक परिग्रहोंका त्याग करना और अन्तरङ्गमे अहंकार ममकाररूप बुद्धिका त्याग करना इसका नाम है उत्सर्ग। यह उत्सर्ग भी अन्तरङ्ग भावसे सम्बन्ध रखता है, क्योंकि त्याग करना तो भावोंका त्याग करनेको कहते हैं। बाहरमे कोई चीज छोड़ दी, पर उसकी चाह बनी रहे तो वह त्याग न कहलायेगा। तो त्याग भी अन्तरङ्ग तप है। अन्तरगमें ममता छूटी हो, उपेक्षा जगी हो वह तप कहलायेगा। एक तप बताया है स्वाध्याय। स्व मायने आत्मा और अध्याय मायने अध्ययन करना। आत्माका अध्ययन करना, ध्यान करना इसका नाम स्वाध्याय है। अपने आपके ज्ञानकी प्रभावना करनेके लिये आवरण रहित होकर श्रद्धानपूर्वक जैनशास्त्रोंका पढ़ना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, वाचना, सुनना--ये सब स्वाध्य हैं। जैसे किसीके स्वाध्यायका नियम है और आकर झट-साटे तीन लाइन पढ़कर चले गये तो वह स्वाध्याय नहीं कहलाता। स्वाध्याय है आत्माका अध्ययन करना, खुदका अध्ययन करना। स्वाध्यायके ५ भेद बताये हैं। पहला वाचना। ग्रन्थ रखकर उसे पढ़ना और साधारण अर्थ भी जानते जाना इसका नाम है वाचना। इस वाचनेमे भी बराबर उसका अर्थ मनमें आते रहना चाहिये, समझ बनते रहना चाहिये। जो कुछ भी बुद्धि हो उसके अनुसार अर्थ भासता जाये तो वह बाँचनेका स्वाध्याय है और प्रत्येक स्वाध्याय इस पद्धति से करते रहना चाहिये कि जिससे अपने आत्महितपर दृष्टि पहुचे। जैसे वाचनेमे आया कि स्वयभू रमण समुद्र इतना बड़ा, जीवोंके शरीर इतने इतने बड़े हैं, इस इस तरहके विचित्र शरीर हैं, ७ वें नरकमें ऐसे ऐसे नारकी हैं, यों नाना प्रकारकी बातें पढ़कर चित्तमे यह आना चाहिये कि देखो इस सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बिना जीवकी ऐसी हालत हो रही है। इस प्रकारसे जन्म मरण करना पड़ रहा है। एक आत्म-ज्ञानके बिना इस जीवकी कितनी विडम्बनाएँ रही हैं? इस प्रकारका चिन्तन करना स्वाध्याय है। दूसरा स्वाध्याय है प्रच्छना। अपनेको किसी तत्त्वमे शङ्का हो या जानकारी न हो अथवा कुछ समझ रखा हो, उसकी दृढ़ता करनी हो तो उसकी जानकारी करनेके लिये नम्रतापूर्वक गुरुजनोंसे अथवा किसी विद्वानसे पूछना, सो पूछना प्रच्छना नामक स्वाध्याय है। यदि कोई अहकारी बनकर कठोरतापूर्वक किसीसे पूछता है या उन गुरुजनो अथवा विद्वानोंकी परीक्षा करनेके लिये कोई पूछता है तो वह प्रच्छना नामका स्वाध्याय नहीं है।

तीसरा स्वाध्याय है स्वाध्याय है अनुप्रेक्षा। कोई जानकारी कर ली तो उसका बार बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय है। जैसे बारह भावनाओंका ज्ञान किया तो बराबर उनका चिन्तन करना, अपने आत्मस्वरूपका कुछ ज्ञान किया तो बार बार उसका चिन्तवन करना सो अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय है। चौथे स्वाध्यायका नाम है आम्नाय। विद्यार्थीकी भांति किसी गुरुके पास पढना सो आम्नाय नामक स्वाध्याय है। ५ वें स्वाध्यायका नाम है धर्मोपदेश। धर्मकी बातोंका उपदेश करना, जैसे शास्त्र सभायें होती हैं, प्रवचन किये जाते हैं तो वह धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है। इसे स्वाध्यायमें भी स्वका अध्ययन होना चाहिये। धर्मोपदेश सुनने वाला और सुनाने वाला—ये दोनों स्वाध्याय कर रहे हैं। इस प्रकार ५ प्रकारके स्वाध्याय हैं। छठा तप है ध्यान। चित्तको विशुद्ध तत्त्वकी ओर लगाना सो ध्यान है। ये ६ अन्तरग तप कहे जाते हैं।

अन्तरङ्ग तपश्चरणसे लाभ-- अन्तरग तप करनेसे आत्माको क्या क्या लाभ प्राप्त होते हैं? प्रायश्चित्तादिक अन्तरग तप करनेसे पहिला लाभ तो यह है कि अन्तरग तप करनेसे मान कषाय नष्ट हो जाता है। जिसके मान कषाय है वह न चिन्तन कर सकता, न वैयावृत्ति कर सकता, न प्रायश्चित्त कर सकता। तो अन्तरग तप करनेसे मान कषाय दूर हो जाती है। दूसरा लाभ यह है कि ज्ञानादिक गुणोंकी वृद्धि हो जाती है। व्यवहारकी शिक्षाको भी विनयपूर्वक कोई ग्रहण करता है तो उसको जल्दी वह विद्या याद हो जाती है। फिर मोक्षके सम्बन्धकी जो विद्या है, ज्ञानादिक गुण हैं उनका विकास तो विनयके बिना असं-

म्भव है। आत्म विनय करे, धर्मात्मावोंका विनय करे, तब मोक्ष सम्बन्धी विद्याकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार वैयावृत्ति, प्रायश्चित्त, त्याग—ये सब ज्ञानादिक गुणोंकी वृद्धिमें सहायक हैं। तीसरी बात यह है कि अन्तरंग तपके करनेसे गुणोंमें बड़ा अनुराग प्रकट होता है। चौथा लाभ यह है कि इस अन्तरंग तप के करनेसे व्रतसिद्धि होती है। जो चारित्र धारण किया है उसमें बड़ी विशुद्धि बढ़ती है। कोई पुरुष अन्तरंग भावसे तो चारित्र ग्रहण न करे, अन्तरंग विनय आदिक न रखे, बाहरमें भी कठोर है, वह चारित्र ग्रहण किये है तो उसका वह चारित्र नहीं है। जिसके अन्तरंग तप नहीं है, अन्तरंग विनय नहीं है, अपने आत्माके अन्त स्वरूपकी दृष्टि नहीं है उसका चारित्र चारित्र ही नहीं है। वह तो एक भूल है। तो अन्तरंग तपश्चरणके करनेसे व्रत आदिककी सिद्धि हो जाती है। ५ वा लाभ है कि इस अन्तरंग तपके प्रतापसे आत्मा निःशल्य हो जाता है। छठा लाभ यह है कि अन्तरंग तपके प्रतापसे निरन्तर परिणामोंमें उज्ज्वलता रहती है। परिणामोंकी गन्दगी उसके आती है जो स्वच्छन्द होकर अपराधों पर अपराध करता रहता है। त्यागका जहाँ नाम नहीं है और स्वाध्यायसे दूर बना रहता है—ऐसे पुरुषका परिणाम उज्ज्वल कहाँसे रहे? जो इस प्रकारके अन्तरंग, ५ प्रकारके तपश्चरण करता है उसका परिणाम भी उज्ज्वल होता है। इसके बाद लाभ यह है कि सम्वेग परिणाम बढ़ता रहता है। सम्वेगका अर्थ है धर्ममें अनुराग होना या संसार शरीर और भोग—इन तीनोंसे वैराग्य होना और आखिरी लाभ यह भी समझिए कि बाह्य अन्तरंग तपश्चरणके प्रतापसे मन वश हो जाता है, अनाकुलताकी प्राप्ति हो जाती है। जिसके प्रतापसे आत्माका जो परम सहज स्वभाव है, आनन्द है उसमें मग्न हो जाता है। तो इन विनय आदिक अन्तरंग तपश्चरणके प्रतापसे यह जीव संसारके दुःखोंसे हटकर मोक्षके सुखको प्राप्त होता है।

तपश्चरणके वर्णनसे अपने लिए शिक्षाका ग्रहण— इस तपश्चरणके कथनोंको सुनकर हमें अपने आपके हितके लिए कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। प्रथम तो यह कि हम अपना परिणाम विनयपूर्ण रखें। विनयमें बहिरंग विनय और अन्तरंग विनय--ये दोनों बाते आती हैं, जिनमें मुख्य अन्तरंग विनय है। अपना परिणाम अपने हितके लिये बनाये रहें, अपने हितकी दृष्टिसे निर्णय बनाया करें तो यह अन्तरंग विनय है। विनयका अर्थ ही यह है कि जो विशिष्ट पदमें ले जाये। विनयके प्रतापसे यह जीव नियमसे ऊपरकी स्थितिको प्राप्त होता है। विशेष ज्ञानी बने, चारित्रवान बने वैभववान बने। यो विनयके प्रताप जीव उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त होता है। चाहे कोई गृहस्थ विनय करके भी धनी न बन सके, पर वह विनय करके जनताका प्यारा तो हो गया। कदाचित् उसके ऊपर कोई कष्ट आये तो बीसों लोग उसकी सहायता करनेको तैयार हो जाते हैं। तो यह भी एक उत्कृष्टता उसने पायी। विनयके अभावमें होगा अहंकार। अहंकारी पुरुष अहंकार करके लाभ क्या पाता है? डण्डे भी खायेगा, लोगोंकी निगाहसे भी गिर जावेगा। व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि विनयगुणके कारण अपने साथी सैकड़ो बन जाते हैं। तो हम अपने जीवनमें विनयका परिणाम बनाये रखें—ऐसी कोशिश करनी चाहिए, ऐसा अपना ज्ञान बनाना चाहिये। बड़ा पुरुष तो वह है कि प्रतिकूल अवसर आने पर भी अपनेको शान्त और क्षोभरहित बनाये रखूँ— ऐसी उसकी दृष्टि रहती है और योग्य अयोग्य काम करनेका विवेक भी रहता है। तो हम अपना जीवन विनयसहित बितायें।

एक लाभ तो हम अपने मनुष्य जीवनका विनयसे उठायें। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि हम दूसरोंका उपकार करें, शरीरसे दूसरोंकी सेवा करें, और और प्रकारसे दूसरोंकी सहायता करें, दीन दुखियोंकी मदद करें। दीन दुखियोंकी मदद करनेसे अपने आपके धर्मफलके चित्तकी बात बनती है। अपनेमें यह भाव बनता है कि यदि हम भी धर्मबुद्धिसे न रहें तो हमको भी यही दशा प्राप्त होगी। सबसे बड़ा लक्ष्य यह है कि दूसरोंका उपकार करते समय विषयोंकी ओर अथवा गन्दे परिणाम नहीं रहते।

पञ्चेन्द्रियके विषयोंमें आशक्तिका परिणाम नहीं रहता है। तो आत्मलाभ परोपकारमें भी खासा है। तो हम अपनेमें दूसरोंका अपनी शक्ति माफिक उपहार करते रहें। तीसरी बात— अपने मनमें यह निर्णय बनायें कि जितने भी आनन्द मिलते हैं, वे त्यागसे मिलते हैं ग्रहणसे नहीं। इसके मर्मको निरखकर यह समझें कि हमको जितना भी आनन्द मिलता है वह त्यागसे मिलता है ग्रहणसे नहीं। हाँ ग्रहण करके कुछ मौज मान ले वह बात और है, पर शान्ति लाभ प्राप्त करनेके लिये त्यागकी आवश्यकता है। जहाँ सर्व परका विकल्प हटाकर अपनी ओर अपने उपयोगको लगाया तो वहाँ वास्तविक आनन्दकी प्राप्ति होती है और जब बाह्यपदार्थोंमें अपना उपयोग लगाते हैं तो वहाँ ही हम चिंतातुर हो जाते हैं। तो वास्तविक आनन्दका अनुभव त्यागसे होता है ग्रहणसे नहीं। ऐसा अपना निर्णय बनायें और त्यागसे हम अपनेको हानिमें न समझें, किन्तु अपनेको लाभमें ही समझें। एक साधारण शिक्षा यह है कि हम स्वाध्यायमें अपना अधिकसे अधिक समय लगायें, क्योंकि हमारा उपकार होगा तो इस स्वाध्यायसे ही होगा, तत्त्वज्ञानसे ही होगा। चाहे वह तत्त्वज्ञान स्वाध्यायसे मिले। तो हम अन्तरग तपमें अपनी शक्तिके अनुसार बढ़े और अपने इस दुर्लभ मनुष्य जीवनको सफल करें।

जिनपुङ्गवप्रवचने मुनीश्वराणां यदुक्तमाचरणम्।
सुनिरूप्य निजां पदवीं शक्तिं च निषेव्यमेतदपि ॥२००॥

बहिरङ्ग तपोंकी यथाशक्ति निषेव्यता— जिनेन्द्रभगवानके सिद्धान्तमें महाव्रती साधुवोंका जो आचरण कहा गया है वह आचरण गृहस्थोंको अपनी शक्तिके अनुसार सेवन करना योग्य बताया है। अभी ऊपरमें बारह प्रकारके तप मुनीश्वरोंके आचरण करने योग्य बताए हैं। वे बारहों तप गृहस्थोंको भी अपनी शक्ति माफिक करना योग्य हैं। उपवास कोई करे तो वह उसकी गुणवृद्धिके लिए हैं। ऊनोदर करे तो वह भी गुणवृद्धिके लिए है। अटपटी आखिड़ी गृहस्थ ले ले तो वह भी अच्छा ही है, क्योंकि जरा जरासी चीजोंके खानेके लिए मन चाहता है। ऐसी आखड़ी ले लेनेसे वह सीधा दाल रोटी खाकर पेट भर लेगा। इन सबके करनेसे समता न भग होनी चाहिए। कितने ही गृहस्थ तो ऐसे होते हैं कि यदि उनको किसी चीजके खाने पीनेकी इच्छा होती है तो वे झट उसका त्याग कर देते हैं। मानों पापड़ खानेकी इच्छा हुई तो वे ऐसा नियम कर लेते कि आज हमारा पापड़ खानेका त्याग है। तो कुछ लोग तो इच्छा निरोध वाले होते हैं और कुछ लोग इच्छाका आग्रह करने वाले होते हैं। आग्रह करने वालेको यदि किसी चीजके खानेकी इच्छा हुई तो उसे वह चीज खाये बिना चैन नहीं पड़ती। जब तक उसे वह चीज खानेको नहीं मिलती तब तक आफत मचा देता है। तो ऐसी मुनियोंकी क्रियाएँ गृहस्थोंको भी करना योग्य है। कायक्लेश भी गृहस्थोंको करना योग्य है और नहीं तो कमसे कम जानीबूझी सुकुमारता तो न रखनी चाहिए। जरा भी पैदल न चल सकें, एक नखरे जैसी सुकुमारता तो गृहस्थोंको न करना चाहिये। समय पड़े तो पैदल भी चले, श्रम भी करे। जो लोग अपने जीवनमें उपवास भी करते हैं, और और प्रकारके शारीरिक कष्ट भी सहते हैं, उनके कभी कोई घटना भी घट जाए कि दो एक दिन खाने पीनेको कुछ भी न मिले और बड़े श्रमकी भी बात आ जाए तो वे घबड़ाते नहीं हैं और घबड़ा भी जायें तो झट अपने ज्ञानसे वे अपनेको कायम रख सकते हैं। तो ये ६ प्रकारके बाह्य तप गृहस्थ भी अपनी शक्तिके अनुसार कर सकते हैं।

अन्तरङ्ग तपकी यथायोग्य यथाशक्ति निषेव्यता— अन्तरंग तपकी भी बात सुनो। जैसे प्रायश्चित्त स्वयं न करें कि बात क्या है? कोई दोष लगे, कोई बात हो तो उसका प्रायश्चित्त गुरुवोंके समक्ष अथवा सुयोग्य पुरुषोंके द्वारा गृहस्थोंको भी कर लेना चाहिए। विनय तो सर्वसिद्धिका मूलमंत्र है। चाहे व्यवहारमें कोई हो, चाहे मोक्षमार्गमें हो, जो विनयकी प्रवृत्ति रखेगा, उसके शरीरकी शोभा बढ़ेगी और आदर्श

भी न आएगी। मोक्षमार्गमें यदि विनयकी प्रवृत्ति है तो वह सर्वत्र शान्तिका अनुभव होता रहेगा। देव, शास्त्र, गुरुके प्रति विनयभाव रखना श्रावकोंको अत्यन्त आवश्यक है। वैयावृत्ति सेवा यह तो गृहस्थ किया ही करते हैं। चार प्रकारका दान भक्तिपूर्वक देना यह भी उनकी सेवा है। भावपूर्वक उनसे नम्रतासे बोलना चाहिए। इस वचनव्यवहारसे उनका क्लेश मिट जाता है। तो गृहस्थ तन, मन, धनसे सेवा किया ही करते हैं। वैयावृत्ति मेरी सहीरूपसे बनी रहे, इसका भी कर्तव्य होना चाहिए। स्वाध्याय एक खास तप है। ज्ञानप्रकाश हुए बिना तो जीवन बेकार है। पशु पक्षियोका जो जीवन है, सो ही उस मनुष्य का जीवन है। जिसके उपयोगमे ज्ञानप्रकाश नहीं है उस मनुष्यका जीवन क्या है? क्योंकि भेदविज्ञान बिना, सम्यग्ज्ञान पाये बिना जीवनमें बड़ा आराम भी भोग ले तो इतना ही फर्क रहा कि उन पशु पक्षियों से कुछ अधिक भोग भोग लिया। मगर जो काम पशु पक्षियोंने किया सो ही काम इस मनुष्यने किया। जैसे स्वाध्याय साधुवोंका परम तप है ऐसे ही गृहस्थोंको भी यथाशक्ति यह तप करना चाहिए। इसी प्रकार कायोत्सर्ग तप है। उत्सर्ग तप क्या है? बाह्यपदार्थोंका त्याग करना, इनसे ममताका परित्याग करना और जो अपनेको मिला हुआ शरीर है, उसकी ममताका त्याग करना, रागादिक विभावोंकी अपनायतका त्याग करना, ये सब उत्सर्ग तप कहलाते हैं। यह तप साधुवोंको बताया गया, उनके लाभके लिए है। यह तप गृहस्थ भी करे तो उनके लाभके लिए है।

इदमावश्यकषट्कं समतास्तववंदना प्रतिक्रमणम्।
प्रत्याख्यानं वपुषो व्युत्सर्गश्चेति कर्तव्यम् ॥२०१॥

यथाशक्ति आवश्यकोंकी करणीयता— अब ६ आवश्यक कर्तव्य हैं—समता परिणाम रखना, जिनेन्द्र देवका स्तवन करना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। ये ६ साधुवोंके आवश्यक कर्तव्य हैं और यही गृहस्थोंके कर्तव्य हैं। गृहस्थ अपनी सीमामे करते हैं, साधु अपनी पदवीके अनुसार करते हैं। ये आवश्यक कर्तव्य ६ माने गए हैं जीवमें। यों तो आवश्यक शब्दका अर्थ रूढिके अनुसार जरूरीसे लिया जाता है। यह आवश्यकका फलित अर्थ है। शब्दका फलित अर्थ है। शब्दार्थके अनुसार आवश्यकमें तीन शब्द हैं—अ, वश और क अर्थात् जो काम आदिकके वश न हो उसे अवश कहते हैं। जो पुरुष ममताके आधीन न हों, जो पुरुष इन्द्रियके आधिन न हों, वे पुरुष धन्य हैं। जो परेन्द्रिय विषयोंके आधीन नहीं है, जो रागस्नेहके बन्धनमें नहीं हैं- ऐसे पुरुष होते हैं साधु, आत्मसाधना करने वाले महापुरुष। वे साधु पुरुष अत्यन्त स्वतन्त्र हैं। उन साधु पुरुषोंके करनेका जो काम है वही आवश्यक काम है। अब चूंकि मुमुक्षु जिज्ञासु आत्महिताभिलाषी पुरुषोंके करनेका जो काम है वह है जरूरी काम। बाकी काम जरूरी नहीं हैं ऐसा जानकर आवश्यक शब्दका अर्थ जरूरी प्रचलित हो गया है। तो आत्महितके लिए ये सब जरूरी काम हैं। इन ६ आवश्यकोंको अपनी पदवीके अनुसार गृहस्थोंको भी पालन करना चाहिये और साधुवोंको भी।

समता व स्तवन नामक आवश्यक-- रागद्वेषका परिणाम न होकर समता भाव रहना। समता ही सुख है, समता ही शान्ति है, समता ही मोक्ष है, समता ही मोक्षमार्ग है, धर्मपालन समता ही है। जो पुरुष रागद्वेष कर समतापरिणाममें रह सकता है, उस पुरुषने धर्मपालन किया है। समता आवश्यक कर्तव्य है, पर गृहस्थोंमे समता साधुवोंके समान भी बन सकती, फिर भी जितना हो सकता है उतना समता पाले। समतापरिणाम धारण करनेकी इच्छा हो तो यह निर्णय बना सकते हैं कि हमें ऐसे ऐसी स्थितिमें समता तो रखना ही आवश्यक है। बहुतसी घटनाएँ ऐसी आती हैं कि हम थोड़ासा गम खायें, ५ मिनट और घटना देख लें तो इसके बाद ऐसी स्थिति बदल जाएगी कि मुझे समताका पूरा मौका मिल जाता है। पर पर आदत तो कुछ ऐसी बनी है कि बीच बीचमें दूसरेकी बात काट काट अपनी बात रखते जाते हैं।

कितनी ही घटनायें ऐसी हैं कि जिनमें समता रखना हमें आवश्यक हो जाता है और इसके अभ्याससे हम शान्ति पा सकते हैं। हमारी दैनिक चर्यावोंमें और जैसे यात्रा प्रसंग चल रहा है, इसमें अव्यवस्था होने का कारण जरूर हो सकता है इसके ही कारण अधीरता भी है। हर बातमें अधीरता है। समता परिणाम अभी भी शान्तिका कारण है और भावी कालमें भी शान्ति वरतेगी। समतापरिणाम गृहस्थोंको भी अपनी पदवीके अनुसार धारण करना चाहिए। दूसरा कर्तव्य बताया है स्तवन। जिनेन्द्रप्रभुके गुणोंका कीर्तन करना यह स्तवन कहलाता है। इन वचनोंसे खुदको भी शान्ति मिलती है। तो जिनेन्द्र भगवानके वचनोंके मन, वचन, काय इन सबकी सावधानी है। तो उपयोग विशुद्ध बननेसे पुण्यलाभ भी है और धर्मलाभ भी है। यह कर्तव्य साधुवोंके लिए क्यों रखा? चूंकि उनके आरम्भ परिग्रह नहीं लगा है, आजीविकाकी भी कोई चिंता नहीं इसलिए रख लिया। वैसे गृहस्थोंके लिए भी यह काम है। इस कर्तव्य को करके पुण्यलाभ व धर्मलाभ दोनों ही मिलते हैं।

वंदना व प्रतिक्रमण नामक आवश्यक— तीसरा आवश्यक है वंदना। वीतराग सर्वज्ञदेवके गुणोंका स्मरण रखते हुए सिर हाथ आदिक जो नम्र हो जाते हैं ऐसी नम्रताका नाम है वंदना। यह वंदना भी श्रावकके लिए प्रतिदिन किया जाना आवश्यक है। चौथा आवश्यक है प्रतिक्रमण। लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना इसका नाम है प्रतिक्रमण। व्यवहारदृष्टिसे तो सावधान होकर निष्कपट होकर गुरुजनोंके समक्ष अपने दोषोंको प्रकट करना और गुरुजन जो भी आज्ञा दें उस पर संदेह न करते हुए आज्ञाका पालन करना यह है प्रतिक्रमण। मगर व्यवहारप्रतिक्रमणमें यह गारंटी नहीं है कि लगे हुए अपराध दूर हो जायें। लेकिन जिनकी केवल एक बाह्यदृष्टि है—जब कोई दोष लगे तो गुरुवोंसे कहना चाहिए और जो गुरुजन कहें उसे पालना चाहिए ऐसा जो करते हैं, पर मनमें श्रद्धा नहीं, उस प्रकारका भाव नहीं तो उस से शुद्धि नहीं है। प्रतिक्रमणमें गुरुजन जो कुछ कह दे, उसमें सन्देह न करके पालन करनेकी बात करनी चाहिए। अब परमार्थदृष्टिसे प्रतिक्रमण सुनें। जिसके दोष लगे हैं ऐसा वह ज्ञानी पुरुष अपने आपमें चिन्तन करता है कि मैं क्या हूं और ये निमित्त भी जो हो गए ये क्या हैं? इन रागादिक भावोंसे निराला केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र हूं मैं और यह स्वभाव उपकारी है, शाश्वत है, निष्कलंक है, परपदार्थ और औपाधिकतासे रहित है। इस स्वभावमात्र निज अतस्तत्त्वमें अपराध होते कहाँ हैं? उसमें रागादिक ही कहा है? ऐसा उसे परमार्थदृष्टिसे नजर आ रहा है। अब इस परमार्थदृष्टिको कर लेने वाले पुरुषका बाह्यप्रतिक्रमण उसका निमित्त है।

मेरे ये पाप मिथ्या होवें, ऐसा सुन करके कुछ ऐसा अवधारण कर सकते हैं कि यह तो एक खाना पूर्ति करनेकी बात है। कोई अपराध कर ले तो उस समय यह बोलना चाहिए कि मेरे अपराध मिथ्या होवें। तो उसका प्रतिक्रमण पूरा हो गया, मोक्षमार्गमें बढ़ गया। जिसकी दृष्टि निर्विकार सनातन चैतन्य स्वभावके उपयोगमें लग गयी है और अनुभव यथार्थ बना उसके यह सावधानी वर्तती है कि यह मेरा अपराध तो मिथ्या था, ये अपराध करना मेरा स्वरूप नहीं। ऐसा जब अपने आपके विशुद्ध स्वरूपका ज्ञान बनता है तो उसका यह परमार्थदृष्टिका प्रतिक्रमण बना और निष्कलंक विशुद्ध चैतन्यस्वभावके दर्शनसे प्रतापसे अपराध कर्म ये सब खिर जाते हैं। ऐसा प्रतिक्रमण साधुजन तो करते ही हैं और गृहस्थजनोंको भी करना चाहिए। इसका अन्तर्दृष्टिसे सम्बन्ध है और ऐसी अन्तर्दृष्टि गृहस्थ भी कर सकते हैं।

प्रत्याख्यान व व्युत्सर्ग नामक आवश्यक— पांचवां आवश्यक कर्म है प्रत्याख्यान। आगामी काल ही से आश्रवके रोकनेका नाम है प्रत्याख्यान। जैसे जब कभी दोष लगते हैं और इतने बड़े दोष लग गए कि आपत्ति भी आ पड़े तो ऐसी आपत्ति पड़ने पर मनुष्य कह भी देते कि यह काम मुझे न करना था यह तो

है प्रतिक्रमणका रूप। अब मैं आगे न करूँगा यह तो प्रत्याख्यानका रूप है। ६ ठा आवश्यक है कायोत्सर्ग। शरीरका त्याग करनेका नाम कायोत्सर्ग है। काय मायने शरीर, उत्सर्ग मायने त्याग। इस देहसे ममता भाव न रखना, देहको अपने स्वरूपसे निराला रखना इस दृष्टिमे कायोत्सर्ग बनता है। तो शरीर का त्याग करके अथवा पाषाणकी मूर्तिकी तरह निश्चल, निष्काम रहकर सामायिकमें लीन रहनेका नाम है कायोत्सर्ग। ये सभी आवश्यक कर्म है जो कि साधुवोंको बताए हैं, पर ये सभीके सभी गृहस्थोंके द्वारा भी किए जाने चाहिये।

सम्यग्दण्डो वपुषः सम्यग्दण्डस्तथा च वचनस्य।
मनसः सम्यग्दण्डो गुप्तीनां त्रितयमवगन्तव्यम् ॥२०२॥

गुप्तियोंकी यथाशक्ति पालनीयता-- अब इस गाथामें तीन दण्डकी बात बतलाते हैं अर्थात् तीनगुप्ति मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके बारेमें बतलाते हैं कि इन्हें शक्तिके अनुसार श्रावकोंको भी पालना चाहिए। मन वश करना यह ज्ञानके बिना बन ही नहीं सकता। ज्ञान ही विषयोंसे रोकता है। विषयोंमें क्या रखा है आनन्द? इन विषयोंमे पड़ते आए हैं, लेकिन साथ कुछ नही रहा। इस ही भवमें २०-५० वर्ष भोग विषयोमे बिता दिए, पर आज कुछ भी तो पासमें नहीं है। बहुतसे भोग विषयोंके सुख भोग लिए, पर आज कुछ भी सुख नहीं दीखता। जब तक मोह था तब तक विषयोंमें हमारी वृत्ति थी, विषयोंमें उपयोग लग रहा था, विषयोंमें ही मौज माना जा रहा था। अब वे विषय विघट गए, वह समय तो अब गुजर गया। अब यह उपयोग बेकार रहकर पहिलेसे भी अधिक दुःखी बन गया। ज्ञानबल सभलता है कि इन विषयोंकी प्रीति करनेमें लाभ नहीं है। इन विषयोंसे उपेक्षा करें और आत्मीयस्वरूपके दर्शनमें अपना निरन्तर उपयोग दें इससे तो थकोगे नहीं और विषय भोगोंसे थक जावोगे। कुछ ही समय बाद उपभोग बेकार हो जाएगा, फिर आकुलता होगी और आत्मीय आनन्दके अनुभवनमें, आत्मीयस्वरूप के दर्शन करते रहनेमें ऊब न आएगी, आनन्दका भी अनुभव होगा, विपत्ति भी टली। तो ज्ञानबलसे अपने मनको समझा लेना और विषयभोगोमें न उलझने देना इसका नाम है मनोगुप्ति। इसी प्रकार वचन मौन रखना, बोलना ही पडे तो बड़ी सावधानीसे स्वपरहितके लिए कुछ थोड़ासा बोलना यह वचनगुप्ति है। कायाको निश्चल बनाए रहना यह कायगुप्ति है। ये तीनगुप्ति श्रावकोंको भी अपनी पदवीके अनुसार पालन करना चाहिए। इसके अभ्याससे आत्मबल बढ़ता है, फिर उसके अनुसार इन तीन गुप्तियोंका पालन भी विधिपूर्वक होता है। तो जो साधु करते हैं, इन्हें अपनी पदवीके अनुसार श्रावकोंको भी करना चाहिए।

सम्यग्गमनागमनं सम्यग्भाषा तथैषणा सम्यक्।
सम्यग्ग्रहनिक्षेपो व्युत्सर्गः सम्यगिति समितिः ॥२०३॥

समितिमे निवृत्तिपरक प्रवर्तन— ज्ञानी पुरुषका व्यावहारिक, सासारिक कार्योमें उत्साह नहीं रहता और उत्साह रहता है अपने अन्त प्रवर्तनमे। इसका कारण यह है कि ज्ञानीके यह सब निर्णय हो चुका है कि लोकमें मेरे लिए सारभूत वस्तु बाहर तो कहीं है ही नहीं और बाहरी पदार्थोंमें ममता रहे, राग रहे, उनमें झुकाव रहे ऐसा जो परिणाम है वह भी सारभूत नहीं है, प्रत्युत बरबादीके हेतुभूत है। यह निर्णय ज्ञानी दृढतापूर्वक करता है, इस कारण उसका प्रवर्तन, उसकी धुन बाह्यमें नहीं रहती। बाह्यकार्योंमें अनुत्साह रहता है। परिस्थितिवश करना पड़ता है, करता है, किंतु एक निवृत्त होता हुआसा करता है। जैसे किसी बालकका चाव खेल कूदमें है और माता उसका हाथ पकड़कर जबरदस्ती रोकें तो उसका रुकना रुकनेकी ओर नहीं है, रुकनेसे हटनेकी ओर है, रुका जरूर है। इसी प्रकार बाह्यकार्योंमें कुछ रुकना पड़ता है, रहना पड़ता है तो वहाँ रुका और रहा नहीं है, वह वहाँ निवृत्त होता हुआ ही रुक रहा है तो ज्ञानी

जीवकी अन्त वृत्तिमें तो उत्साह है, बाह्यवृत्तिमें अनुत्साह है ऐसा ज्ञानी पुरुष जब किसी भी प्रकारके असामर्थ्यसे मुनिव्रत धारण नहीं कर पाता तो श्रावक व्रत धारण करके अपनेको अनेक पापोंसे बचाता है। उस श्रावककी यहाँ चर्चा चल रही है कि उसे अपना जीवन किस प्रकार बिताना चाहिए। तो इससे पहिले बारह व्रतोंका वर्णन था। व्रत नियम जितने भी धारण किए जाते हैं उनका लक्ष्य अहिंसाकी सिद्धि है और अहिंसा नाम है उस परिणतिका जिस परिणतिमें ममताका परिहार हो और विशुद्ध ज्ञाताद्रष्टा रहने की स्थिति हो, इसे कहते हैं अहिंसाव्रत। समस्त व्रत नियमोंका प्रयोजन अहिंसाकी सिद्धि है। अहिंसाकी सिद्धिका जिनका लक्ष्य न बन सके, उनके व्रत नियम आदिक ये सब श्रम हैं, एक दिलव लावा है, कुछ मौज है, मोक्षमार्गमें जब तक मोक्षके स्वरूपका बोध न हो तो मोक्षमार्ग पर क्या चले ?

मुक्तिस्वरूपके ज्ञान होने पर ही मुक्तिमार्गमें प्रवृत्ति—मुक्तिस्वरूप क्या है ? यह भान होता है अपने सहजमुक्तस्वभावके दर्शनसे। मुक्तिमें और क्या मिलेगा ? मिलता नहीं है छूटता है। अपनेमें जो परभाव लगे हुए हैं वे छूटते हैं। फिर जो कुछ मिल गया अर्थात् प्रकट हो गया उसकी महिमा इसलिए गाते हैं कि अनादिसे अब तक मिला न था, तिरोहित था वह अब प्रकट हुआ है। वह अपने स्वरूपसे बाहर कुछ मिलता नहीं है अर्थात् कैवल्य अवस्थाका नाम मुक्ति है। केवल रह जाना, केवल एकत्वमात्र रह जाना इसका नाम मुक्ति है ऐसी मुक्ति हम चाहें और अभी हम अपनेको इस प्रकार निरख नहीं पाये कि मैं सचमुच केवल ही हूं, अपने एकत्वस्वरूप हूं, ऐसा अपने कैवल्यस्वरूपका बोध न हो सके तो कैवल्य का मार्ग कैसे पाया जाएगा ? अपना कैवल्यस्वरूप प्रसिद्ध हो यह लक्ष्य होता है समस्त व्रत नियमोंके पालनका। प्राप्त तो जो स्वरूपमें है वही होता है। जो स्वरूपमें नहीं है वह प्राप्त कैसे हो ? इस अहिंसा अहिंसाकी सिद्धिके परिणामनिमें आचार्यदेवने टंकोत्कीर्णवत निश्चल ज्ञानभावके रूपमें स्मरण किया है। टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अर्थात् टांकीसे उकेरी हुई प्रतिमाकी तरह निश्चल। जैसे टांकीसे पदार्थमें प्रतिमा उकेरी गई, प्रकट होनेके बाद उसके प्रत्येक अंग उपांग निश्चल ही तो बने हुए हैं। इस ही प्रकार जो प्रकट होता है तत्त्व ज्ञायक स्वरूप। रागभाव न रहनेके कारण जिस रूपमें जो बात प्रकट हुई वह निश्चल रहती है। उसे कौन हटाये ?

टङ्कोत्कीर्णवत् दृष्टान्तका अन्तर्मर्म—टङ्कोत्कीर्णवत्के विवरणके प्रसंगमें दूसरी बात यहाँ यह निरखें कि कारीगरने उस पत्थरमें मूर्ति बनाया नहीं, वह मूर्ति तो उसमें अन्दर पहिलेसे ही मौजूद थी। कारीगर ने उस बड़े पत्थरके भीतर विराजे हुए उन अंशोंको निरख लिया अपने बुद्धिबलसे और फिर छेनी हथौड़ी से उन अंशोंको ढकने वाले पत्थरोंको दूर करना शुरू किया। कारीगरने हटाने हटानेका ही काम किया, लेनेका काम कुछ नहीं किया, क्योंकि जो बात जिसमें है नहीं वह कभी लगायी नहीं जा सकती और जो बात जिसकी नहीं है वही हटाई जा सकती है। तो उस कुशल कारीगरने पहिले प्रयोगमें बड़े बड़े पत्थरों को हटाया बड़ी छैनी हथौड़ीसे, लेकिन सावधानी तब भी ऐसी रही कि मूल जो अंश हैं, जिन्हें प्रकट करना है वहां तक चोट न लगे। फिर दूसरी बारके प्रयोगमें कुछ और सावधानी करती। अब छोटे छोटे पत्थर हटे। तीसरी बारके प्रयोगमें ऐसी सावधानी वर्तनी पड़ी कि अत्यन्त पतली छैनी छोटे हथौड़ेसे अत्यन्त छोटे छोटे पाषाणांश हटाए गए। मूर्ति प्रकट हो गई। जो प्रकट हुई वह वहाँ [illegible] थी वह व्यक्त हो गई। आवरण हटाया गया। इसी प्रकार इस आत्माका जो परमात्मस्वरूप प्रकट होता है वह लगाया नहीं गया, बनाया नहीं गया, जोड़ा नहीं गया, किन्तु वह परमात्मस्वरूप विषयकषायके परिणामसे तिरोहित था तब प्रज्ञाकी छेनीसे, प्रज्ञाके हथौड़ेसे इस प्रज्ञावान जीवने उन आवरणोंको हटाया, उन विषयकषायके भावोंको दूर किया जो इस परमात्मस्वरूपकी आवृत्त किए हुए था। बस हटने हटानेका काम भली प्रकार समाप्त हुआ कि परमात्मस्वरूप अपने आप प्रकट हो गया। वह तो स्वयम्भू है,

स्वय ही होता है। एक आवरणोंके हटानेकी प्रक्रिया इन तत्त्वाभ्यास ज्ञान आदिक प्रयोगोंसे किया जाता है।

पाच समितियोंमे प्रथम ईर्या समिति— श्रावकके उन बारह व्रतोंका वर्णन करनेके बाद इस प्रसंगमें यह बात बताई जा रही है कि जो मुनियोंका व्रत बताया गया है, मुनियोंकी जो अहिंसावर्द्धक चर्या बतायी गई है, उसका अभ्यास श्रावकको भी रखना चाहिए। जैसे ५ समितियां मुनिधर्ममें बतायीं, उनका सेवन गृहस्थको भी अपने बलके अनुसार करना चाहिए। ५ समितियां हैं—ईर्या समिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान निक्षेपण समिति और कायोत्सर्ग समिति। समिति शब्दका अर्थ है भली प्रकारसे, इति मायने प्राप्त होना। अपने आपके निकट भली प्रकार पहुंच जाना इसका नाम है समिति। खाना, पीना, चलना, उठना, बैठना, धरना, उठाना—इन सारी क्रियाओंके करनेमे बड़ी सावधानी रखनी चाहिए, अहंकार ममता आदिक चीजोंका उत्सर्ग करना चाहिए। तो अपने आपमें अपना काम करनेको पड़ा हुआ है। चीज तो परमार्थमें लक्ष्यमें यह है, पर व्यवहारीजनोंको शारीरिक क्रियायें ये सब आवश्यक है तो इनमें भी भली प्रकार प्रवृत्ति करना सो समिति है। जाना है तो उस ओर देखकर जाए, अच्छे कामके लिए जाए, अच्छा परिणाम रखकर जाए—ऐसी चर्या श्रावककी बने अपनी पदवीके अनुसार तो बुद्धि व्यवस्थित रहेगी, व्यवहार कार्योंकी भी सिद्धि होगी, परमार्थकी सुध भी न भूलेगी, उसका भला ही है इसमें।

भाषा समिति— भाषा बोले, वचन बोले तो हित मित प्रिय वचन बोले। जिसमें अपना हित हो, दूसरेका हित हो ऐसे वचन बोले जायें। जिसमे अपनेको और दूसरोंको कष्ट पहुचें ऐसी वाणी न बोली जाए। जो विषयमुग्ध हों, पर्यायमुग्ध हों उनसे ही स्वपर अहितकर वाणी निकलती है। ज्ञानी जीव स्वपर हितकारी वचन बोलता है और वे वचन भी परिमित हो और प्रिय हों, आक्षेपपूर्ण न हों, खोटे लक्ष्यको लेकर न हों। आत्महितकी धुनि वाला श्रावक स्वयं ऐसी ही वाणी बोलता है कि जिसमें ये सब गुण होते हैं। दुर्वचन बोलनेसे प्रथम तो इसने संक्लेश बहुत किया तब दुर्वचन बोल सका। कोई पुरुष किसीकी निन्दा करे तो निन्दा करनेसे पहिले उसने अपनेमे कुछ क्लेश बनाना पड़ता है तब वह निन्दा कर सकता है। कोई किसीकी प्रशसा करना चाहे तो उसके अन्दर किसी भी प्रकारके क्लेश व भयकी बात नहीं होती। तो वचन ऐसे बोलने चाहिएँ जिससे खुदको और दूसरोंको भी विश्राम मिले। यह भाषा समिति है। अब बतलावो कि ऐसा वचन व्यवहार क्या गृहस्थोंको आवश्यक नहीं है?

एषणा समिति— साधुजनोंकी आहारचर्याविधि विशिष्ट है कि विधि? निर्दोषविधिसे समतापरिणाम रखकर आहार ग्रहण करें। ऐसा ही गृहस्थयोग्यविधिसे गृहस्थ करे निर्दोष आहार तो क्या इसमें कोई दूषण है? बल्कि इससे तो उसकी शोभा है। एक दो बार नियमितरूपसे आहार ग्रहण करना चाहिए। यदि आहारकी निरन्तर आकाँक्षा बनी रहा करती है तो वहा इतनी पात्रता नहीं रह सकती कि आत्मानुभूति या अन्य अन्य उत्सर्गकी पात्रता पा सके। आहार प्रथम तो नियमपूर्ण एक दो बार करना चाहिए और यथाशक्ति शुद्ध भोजन होना चाहिए। शुद्ध भोजनमें सात्विकता रहती है और परिणामोंमें बहुत उथल पुथल भी नहीं मचानी पड़ती। अब कोई शुद्ध भोजन भी चाहे और बहुत ही मजेदार सरस भोजन भी चाहे तो इन दो का मेल न बैठनेसे शुद्ध भोजन वाला सक्लेश परिणामका अनुभव किया करता है और शुद्धता न हो भोजनमें तो ऐसा भोजन तो बड़ी सुगमतासे प्राप्त होता है। तो भोजनका शुद्ध होना अभक्ष्यका परित्याग होना आवश्यक है। अभक्ष्योंमें मुख्य अभक्ष्य त्यागने योग्य वह है जिसमें मद्य मास मधुका दोष हो। जसे बाजारकी जलेबी, गोभीका फूल, पुराना अचार यों कुछ चीजें ऐसी हैं जो नियमतः त्यागना चाहिए। ऐसे अभक्ष्योंका परित्याग करें, रात्रिके भोजनका त्याग करें, गन्दे भोजन

का त्याग करें और अपनी वेला नियमित रखकर आहार करें। अनन्तकाय आदि अभक्ष्योंके त्यागका भी ध्यान रखें।"

जीवनमे अपना कर्तव्य— भैया! जीवनमें ऐसी धुन बनाये कि कर्तव्योंके बाद जो भी समय अपने पास शेष बचता है उसमें तत्त्वाभ्यास करें। ज्ञानार्जन, तत्त्वाभ्यास, स्वाध्याय—इनमें अपना समय बितायें। समय बड़ी तेजीसे बह रहा है, जो क्षण निकल गया वह पुन प्राप्त नहीं होता। यौवन चला गया वह वापिस लौटकर नहीं आता। तो अपने बलका सदुपयोग कर लें तो अब भी चेत गए ऐसा समझ लेना चाहिए। अन्यथा बची खुची आयु भी शीघ्र ही गुजर जाने वाली है। अपने जीवनमें यदि रागद्वेष न घटावे, अपने यथार्थ विचार न बना सके, अहिंसामयी धर्म न पाल सके तो समझ लीजिए कि हमने कितना अमूल्य अवसर हाथसे गँवा दिया? अनन्त काल व्यतीत हो गया, अनेक विषय सुख भोगे, पर आज उनमें से कुछ भी पास है क्या? वैसीकी वैसी ही आकुलता बनी हुई है, वैसे ही जन्ममरणके चक्करमें पडे हुए हैं। तो हमें अपने समयका सदुपयोग ज्ञानाभ्यासमें करना चाहिए। हमारा एक मुख्य लक्ष्य बने। बाह्य समागम जब आए तो आए, पुण्यानुसार जब आनेको है तो आएगा। हम बहुत बहुत धन प्राप्तिका चिंतन करें तो चिन्तन करने से कहीं आ न जाएगा। वह तो जितना आनेको है आएगा, उसीमें अपनी व्यवस्था बनाएँ। हम अपनी आवश्यकताएँ अधिक न बढ़ायें। यहाँ किसीको क्या दिखाना है, किसको राजी करना है? इन कार्योंसे कुछ लाभ भी नहीं है। लाभ तो है इसमें कि अपनी जैसी स्थिति हो वैसी ही व्यवस्था बनाकर ज्ञानाभ्यासमें अपनेको लगायें। बाहरी पदार्थोंका संग्रह विग्रह रक्षण करनेमें इस आत्माका कुछ भी लाभ नहीं है। एषणा समिति हुई यह कि शुद्ध निर्दोष विधिसे थोड़ी वेलाओंमें अपना आहार करना जीवन रक्षाके लिए और जीवनको ज्ञानाभ्यासमें बिताना।

आदाननिक्षेपण और प्रतिष्ठापना समिति— चौथी समिति है आदान निक्षेपण समिति। चीजको धरना है, तो उसे देखभाल कर धरना उठाना, जिससे किसी भी जीवकी हिंसा न हो, किसीका चित्त न दुखे। देखिये जीव हिंसासे नुकसान किसका हुआ? नुकसान हुआ इस प्रमादी जीवका। कोई कहे कि इसमें क्या नुकसान हो गया? वह तो कीड़ा मकोड़ा था, वे तो मरते ही रहते हैं, उनके मरनेसे क्या नुकसान? ऐसी बात नहीं है। जीवका नुकसान वास्तवमें यह कहलाता है कि जीव मोक्षमार्गसे दूर हो जाए। संसारकी बात तो मिलती रहती है। वास्तविक बरबादी तो यह है कि वह ऊँचे उन्नति कर रहा था और उसका घात करके उसे फिर नीचे गिरा दिया। कहा तो था वह चारेन्द्रियका जीव और उसका घात कर देनेसे वह फिर तीनेन्द्रिय जीव बना या द्वीन्द्रिय, एकेन्द्रिय बना तो यह उसकी बहुत बड़ी हिंसा है। हालाकी मोटेरूपसे देखो तो चारेन्द्रियसे तीनेन्द्रियमें पहुंच गया तो क्या होगया? थोड़ी हल्की दशामें पहुच गया। पर वह न जाने किस किस तरहसे ऊँचे बढ़ा था? उसका घात करके उसे निम्नगति का जीव बना देनेकी बात कर देना, यह कितनी बड़ी हिंसाकी बात हुई? तो परमार्थसे जीवोंकी इस प्रकार हिंसाका भी भाव रखकर कि यह हिंसा न बने। हमें चीजोंके धरने उठाने आदिकके प्रसंगमें बड़ी सावधानी बर्तनी चाहिए—ऐसी बात प्रतिष्ठापना समितिकी है। तो हम अपना यह सब व्यवहार सावधानी पूर्वक रखे, ऐसा समितिके वर्णनमें इस श्रावकको प्रेरणा दी है आचार्यदेवने कि समितियोंका पालन अपनी पदवीके अनुसार श्रावकको करना चाहिए।

धर्मः सेव्यः क्षान्तिर्मृदुत्वमृजुता च शौचमथ सत्यम्।
आकिञ्चन्यं ब्रह्म त्यागश्च तपश्च संयमश्चेति ॥२०४॥

दशलक्षण धर्मकी सेव्यता— मुमुक्षु पुरुषोंको पालन करने योग्य दश धर्मोंका इस गाथामें वर्णन किया जा रहा है। दश लक्षण धर्मके दश हैं लक्षण, जिसके ऐसा यह धर्म। धर्म कहीं १० प्रकारका नहीं है, किंतु

१० हैं लक्षण जहाँ अर्थात् हम १० तरहसे जिसकी परख कर रहे हैं वह है एक धर्म। उस धर्मकी सेवा करनी चाहिए। हम उस धर्मभावको कभी क्षमाके रूपमें देखते हैं। क्षमा धर्म है इसका अर्थ यह न होगा कि अन्य धर्मलाभ न रहे और एक क्षमाभाव आ जाए तो एक धर्म तो आ गया। धर्म होगा तो समग्र होगा। उसकी पहिचानके ये १० चिह्न बताये गए हैं और इसी कारण यह भी कह सकते कि भली प्रकारसे इन दश धर्मोंमें से एक भी धर्म आ जाये तो वहाँ दशों आ जाते हैं। ऐसा कहनेका ी अवसर इसलिये मिला कि धर्म एक ही प्रकारका है। मोह क्षोभरहित निर्विकार परिणाम धर्म है। इस बातको भिन्न भिन्न करके उसके करनेके लिए क्या कर्तव्य है। उस कर्तव्यको बतानेके लिये १० प्रकारके धर्मोंका प्रतिपादन हुआ है।

उत्तमक्षमाधर्म--- प्रथम तो क्षमा क्षमाभाव करना। सम्यक प्रकार अपने आपके क्षमास्वभावी स्वरूप का निर्णय करके और उस स्वरूपका आश्रय लें वहा उत्तमक्षमा प्रकट होती है। क्षमाभाव प्राणी अपने आप पर कर सकता है और गैर क्षमाका भाव भी यह प्राणी अपने आप पर करता। न तो किसी दूसरे पर यह क्रोध करता है और न क्षमा करता। जैसे कोई कहे कि हमारा तुममें बहुत ज्यादा राग है तो क्या बात उसकी यथार्थ है? क्या कभी भी किसी जीवका रागद्वेष किसी दूसरेमें हो सकता है? हमारा तुममें बड़ा प्रेम है यह बात सोलह आने गलत है। हमारा प्रेमपरिणमन, हमारा रागपरिणमन हमारे प्रदेशोंमें उत्पन्न होकर यहीं विलीन होगा, यहीं उत्पन्न होगा। हा इतनी विशेषता जरूर है कि जो भी परिणमन होते हैं, वे किसी न किसी परपदार्थका विषय करके अपना निर्णय कर पाते हैं। राग बनता है किसी परको विषय करके, परन्तु राग परमें है ऐसा कहना उपचार कथन है। विषयमें विषयीका उपचार है और यह व्यवहार चल उठा कि हमारा तुममें बड़ा प्रेम है। इसी प्रकार सभी कषायोंकी बात है। यह जीव इससे बड़ा क्रोध करता है, इस पर बड़ा क्रोध मानता तो क्रोध जो कर रहा है वह अपने ही क्षेत्रमें अपने ही निज जीवास्तिकायमें एक परिणमन कर रहा है क्रोधरूप। इस क्रोधका आधार भी खुद है। उस क्रोधका करने वाला भी खुद है और खुदको ही किया और सम्प्रदान भी खुद है और कारकोंकी बात तो है ही, मगर सम्प्रदान भी अपनी पर्यायका खुद हुआ करता है अर्थात् सम्प्रदानका भेद समझनेके लिए किसके लिए यह भेद करके पूछें? यह क्रोध किसके लिए हो रहा, इसका फल मिला किसको? खुदको। जिस समयमें जो परिणमन होता है उस समयमें उसका फल तुरन्त ही मिल जाता है। तो खुदकी अशान्तिके लिये, खुदके क्रोधके लिये वह क्रोध कर रहा है। क्षमा कर रहा है तब अपने आपको खुद क्षमा कर रहा है, अपने आपकी शान्तिके लिए क्षमापरिणमन कर रहा है। उसका फल क्या है? विश्राम आराम अनाकुलता। तो क्षमा भी यह जीव स्वय स्वय पर क्रिया करता है। ऐसा क्षमा भाव जिससे जीवमें अपने आत्माको क्षमा किया जा रहा हो, सम्यक्त्व उत्पन्न हुए बिना नहीं होता। जब अपने आपके स्वरूप का यथार्थ भान हो तब ही वास्तविक पद्धतिसे अपने आपको क्षमा किया सकता है। यह विधि अनोखी है और उसके बिना व्यवहारमें जो क्षमाके प्रदर्शन हैं वे सब नाटक और विडम्बना है और कहीं कहीं तो विडम्बना ही बनती है, क्षमा भीतरमें आ नहीं पाती। किसी परिस्थितिवश खुद निर्मल हो तो भले ही किसीका भी दबाव पडे तो क्षमाके वचन बोल दिये जाते हैं, किंतु उन वचनोंका असर भी नहीं हो पाता।

पवित्रताका प्रभाव-- कुछ ऐसी भी बात है कि दूसरा अगर साफ हृदयका है तो उसके वचन जल्दी घर कर जाते हैं। वचनोंकी पद्धतिसे मुखकी मुद्रासे या पूर्व पर घटनासे सब जान लिया जाता है। यह वास्तविक क्षमाकी बात नहीं कही जा रही है। एक बार गुरुजीने एक कथा सुनाई थी कि दो [illegible] परस्परमें अनबन हो गयी। करीब १ वर्ष हो गया एक दूसरेसे न बोले। एक दिन भादोंमें क्षमावे दिन क्षमा

का वर्णन चल रहा था। एक सेठ सुन रहा था सभामें। सुननेके बाद उसके मनमें विशुद्ध परिणामसे यह आया कि हम सेठके पास जाकर क्षमा मांगें और परस्परका मैल हटायें। जैसे ही उसके मनमें आया वह तुरन्त निष्कपट क्षमा याचनाके लिए अपनी बग्घीमें बैठकर चला। उसी समय दूसरे सेठके मनमें भी वैसा ही भाव आया। सो वह भी अपनी मोटरमें बैठकर चला। दोनों ही रास्तेमें एक दूसरेसे मिल गये, बात भी नहीं कर पाये। दोनों ही एक दूसरेके गलेसे लिपट गए। बादमें वचन निकलते हैं। तो कौन नहीं समझ पाता कि इसके ये वचन हमारे वात्सल्यमें हैं और शुद्ध हृदयसे हैं। बाहरकी जो क्षमा है उसमें कपट हो सकता है, विडम्बना हो सकती है, पर सम्यक्त्वसहित जो क्षमा है, अपने आप पर क्षमा करने की बात है, उसमें क्या विडम्बना और क्या कपट? वैसे यह विकल्प भी करनेकी जरूरत नहीं रहती कि मैंने अपने आपका घात किया, मैं अपने आपको क्षमा करूँ। यह तो प्रतिपक्षकी बात है, लेकिन इसने दृष्टि तुरन्त अविकारी स्वभाव पर पहुँचाई थी। अतएव निरन्तर अपने आपकी सुध रखता है और अपने आपको क्षमा करता रहता है। ऐसे पुरुषके द्वारा दूसरे पुरुषके प्रति भी अन्यायकी बात नहीं बनती है। क्षमाभावसे आत्मसम्पन्नताका विकास होने लगता है। अतः दशलक्षणमें सर्वप्रथम क्षमाकी बात कही जाती है।

क्षमाधर्मके अभावमे हानि— जीवनमे भी यदि क्रोधकी प्रकृति बनी है तो वह पद पद पर नुकसान उठायेगा। जिसकी प्रकृतिमें क्रोध बसा है, जरा जरासी घटनाओंमें क्रोध चलता रहता है, ऐसा कोई गृहस्थ हो तो वह अपना जीवन सुखिया नहीं व्यतीत कर सकता। क्रोधमें बुद्धि भी आधी रह जाती है, विवेक नहीं चलता। अपने आप खुद ऐसा काम कर डालता है और खुदके लिये घातक हुआ। सो अपना व्यवहारिक जीवन भी सुखिया बनानेके लिये यह आवश्यक है कि अपनेको क्षमाशील रखें। क्रोधकषायमें आनेका एक कारण बाहरमें यह भी बना रहता कि लोग मान अपमान पर बहुत ध्यान रखते हैं। इन लोगोंने मेरेको क्या समझा होगा? लोकका यह समागम यह भी एक ऐसा आश्रय होता है। क्रोध कषाय के प्रकट करनेको नोकर्म अन्य बन जाता है, लेकिन जिसको सब हाल मालूम हैं वे लोग हैं क्या? ये एक असमान जातीय द्रव्य पर्याय अनित्य मायामय विनष्ट हो जाने वाले हैं। जो यथार्थ बातको समझता है उसको अपमान महसूस नहीं होता। वह उस वातावरणके कारण अपनेको क्रोधमें नहीं पटकता, क्षमाशील रहता है। साधु संतजन बडे बडे शत्रुके द्वारा भी आखिर वन्दनीय होते हैं। जिन पर महान क्रोध उत्पन्न हुआ था, जिनका नाश करनेके लिए कमर कसकर वीर आ रहे हों और उन्हें क्षमाशील दिखें, शान्त दिखें तो वे उस पर हाथ नहीं उठा पाते। क्रोधकषायके कारण परिणामोंको कलुषित नहीं होने देनेकी बात क्षमामें है। क्रोधसे दूर रहना इसको क्षमा कहते हैं और सम्यक्त्वभावसहित क्षमाके परिणामको उत्तमक्षमा कहते हैं।

उत्तम मार्दवधर्म— दूसरा लक्षण है धर्मका नम्रता (मार्दव), मान न करना। जातिमद, कुलमद आदिक जो ८ प्रकारके मद हैं, उन मदोंसे रहित रहना इसको मार्दव कहते हैं। अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपको निरखकर जरा इन जाति कुल आदिककी असारताओंको तो देखिये। [illegible] अहंकार करके मद बनाये रहता है। किसी बड़ी जातिमें पैदा हो गया तो कोई बड़ी बात उसने कर ली क्या? आत्माका स्वभाव विशुद्ध ज्ञानानन्दमय निरन्तर वर्तते रहनेका था। वह आत्मा आज भी विकल्प कलङ्कमें पड़ा हुआ है और कहो उस जाति और कुलका अहंकार रखनेके कारण, उस पर्यायको अपनानेके कारण मिथ्यात्वरूपी महाकलङ्क बस रहा है। उस आत्माने क्या कोई बड़ा लाभ प्राप्त कर लिया एक किसी भी अच्छी जातिमें उत्पन्न होकर? जाति क्या है? यद्यपि उत्तम जातिमें उत्पन्न होनेसे यों समझिये कि अच्छे वातावरणमें आनेसे एक धर्मका प्रसंग मिल सका, एक साधन प्राप्त हो सका, मगर यह

बिरला हो पाता है अन्यथा तो प्रायः सभी मनुष्य एक जातिकी श्रेष्ठता सोच सोचकर अपनेमें मद उत्पन्न करते हैं और कोई अपनेको छोटा माननेको तैयार नहीं होता। एक बार शाहपुर से (सागर) सोनागिरि पैदल जा रहे थे। साथमें एक चर्मकार भी हो लिया। हमसे उससे घुल मिलकर बातें होने लगीं। हमने अपना समय काटनेके लिए उससे एक चर्चा छोड दी कि क्योंजी! सबसे अच्छी जाति कौनसी है? तो उसने सभी जातियोंके अवगुण बताये और अपनी जातिको सबसे ईमानदार और अच्छा बताया। तो प्रयोजन यह है कि यहाँ कोई भी अपनेको छोटा नहीं मानता। सभी अपनेको बडा मानते हैं। पर्यायमें ऐसी अटक है, ऐसी अपनायत है कि उसमें अहंकार बना हुआ है। आत्माकी ओर कैसे ढल सके? जिसमें नम्रता हो, अनात्मतत्त्वमें अटक न हो वह ही पुरुष मृदु बन सकता है, अपने आपके स्वरूपकी ओर ढल सकता है।

मार्दव धर्मका विराधक धनवैभवमद-- धनवैभवका मद तो प्रत्यक्ष विडम्बना है। वैभव अत्यन्त भिन्न है। उससे आत्माका कुछ सम्बन्ध नहीं है, मगर चित्तमें बसा हुआ है लाखोंका धन। जिसके पास वैभव है वह अपनेमें वैभवकी गरमी बनाये रहता है। दूसरेकी गल्ती तो यह बड़ी जल्दी समझ जाता है कि यह धनका बड़ा गर्व करता है, पर धनके मदमें खुदकी गल्ती यह खुद नहीं समझ पाता। ऐश्वर्यके मद वाला मानता है कि यह मेरी प्रजा है, ये मेरे आधीन हैं, मै राजा हू। ऐसा एक स्व स्वामीका सम्बन्ध जोड़ लेता कि मैं वह अपनी सब सुध बुध खो देता है ज्ञानका मद। बतावो जो ज्ञानमद टालनेके लिये हुआ करता है वही ज्ञान मद बढ़ानेके लिये हो जाये तो इससे और विशेष विस्मयकी बात क्या कही जाये? कोई लौकिक विद्या हो वह तो एक घमण्डके लिये हो जाती है। यह अमुक कलामें चतुर है, यह अमुक विद्याका विशेष जानकार है, पर धर्मकी बात जानकर भी मद उत्पन्न हो जाये— इतनी चीजें हमने सीखीं, इतने शास्त्रोंका अध्ययन है, इतनी बातें हम जानते हैं, इतना अच्छा पढ लेते हैं, लिख लेते हैं। यों धर्म सम्बन्धी वार्ताका कुछ ज्ञान हो जाये और उस ज्ञानसे मद उत्पन्न हो तो यों समझना चाहिये कि जैसे पानीमें आग लग जाये तो उस पर आश्चर्य हो, यों ही इस पर आश्चर्य होना चाहिये। अरे! जीव न्यारा है, पुद्गल न्यारा है, स्वरूप चतुष्टय न्यारा है। इसमें क्या गुण है, किस प्रकारका परिणमन है, किस विधिसे होता है, क्या ढङ्ग है? और और सूक्ष्म चर्चाएँ भी उठाये और उनको उठाकर अपने आपमें एक गौरवसा अनुभव करे। मैं कैसा ज्ञानी हू, किस ढङ्गसे बोलता हू, कुछ न कुछ तरंग आ जाये तो यह क्या खेल है? जो ज्ञान अभिमान मिटानेके लिये था वह ज्ञान अभिमानका कारण बन रहा है। तो किसी भी पर्यायमें, किसी भी परभावमें अभिमान जगे, आत्मीयता जगे तो वहाँ मार्दवगुण प्रकट नहीं हो सकता है। समयसारमें बताया गया कि मेरे कुछ भी परिग्रह नहीं है, ये पुद्गल परिग्रह नहीं, ये भाव भी परिग्रह नही, द्रव्य भी मेरे परिग्रह नहीं, धर्मद्रव्य भी मेरा परिग्रह नहीं।

धर्मादिक द्रव्योंकी परिग्रहरूपताकी पद्धति-- धर्मद्रव्य आदि पदार्थोंकी परिग्रहताके सम्बन्धमे यह शङ्का हो सकती कि भला धर्मद्रव्यमे कुछ परिग्रहपना अपना मान कहाँ रहे? फिर क्यों निषेध किया जा रहा है? धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य—इन्हें जोड़ा है क्या, रखा है क्या? इनको अपने वैभवमें शुमार किया है क्या? फिर इनका परिग्रह कैसे होता है? समाधान यह है कि इनका भी परिग्रह नहीं है और ये परिग्रह बनते है अच्छे अच्छे ज्ञानोंके माध्यमसे। धर्मद्रव्यके बारेमें जो हमने ज्ञान किया, षड्गुण हानि वृद्धि, अगुरुलघु, जो जो भी हमने धर्मके सम्बन्धमें जाना और जानकर चर्चा हम चर्चामें बैठे हों और चर्चा करते हुएमें कुछ हमें गुस्सा आ जाये, विवाद हो जाये तो हम यह पूछते है कि धर्मद्रव्य तो परिग्रह नहीं बनता है। लड़ाई किस बात पर? लड़ाई जितनी होती हैं वे परिग्रहमें होती हैं। तुमने धर्मद्रव्यको परिग्रह बना लिया। धर्मद्रव्यके सम्बन्धमें जो इसने विकल्प बनाया, उनको अपना

लिया, यही धर्मद्रव्य परिग्रह वन गया। इन द्रव्योंके सम्बन्धमें जो हम जानते हैं और उस जानकारी जो हम अहङ्कार बनाते हैं, उनको अपनाते हैं तो धर्मद्रव्य विषयक विकल्पोंको अपनानेका नाम है धर्मद्रव्य का परिग्रह। बाहरी परिग्रहोंमें भी हम क्या करते हैं? जैसे धर्मद्रव्य हमारा कभी परिग्रह नहीं बन सकत तो क्या सोना चाँदी आदि कभी हमारा परिग्रह बन सकते हैं? नहीं बन सकते, क्योंकि वे भी न्यारे पड़े हैं। सोना चाँदीके बारेमें जो भी हमारा विकल्प है वह परिग्रह है। तो धर्मादिक द्रव्योंके बारेमें जो हमारे विकल्प चलते हैं वे भी परिग्रह हैं। इस धन सम्पदासे हम अपनेमें एक महत्त्व अनुभव करते हैं। तो धर्मद्रव्य आदिक सूक्ष्मपदार्थोंके जाननेके कारण हम एक महत्त्व अनुभव करते हैं अर्थात परिग्रही ही तो बनते जा रहे हैं। आत्मतत्त्वके सिवाय अन्य किसी परभावमें आत्मीयता करनेको परिग्रह कहते हैं। तो परभावोंमें अहङ्कारभाव उत्पन्न हो, वहाँ मृदुता नहीं आ सकती।

अन्य कषायोंकी भी मन्दताका सूचक मार्दव भाव धर्मका एक चिन्ह—मृदुता भी धर्मका एक चिह्न (लक्षण) है। अब देखिये भली प्रकार क्षमा जिसमें आ गयी उसमें मृदुता भी आ गयी या जिसमें भली प्रकार मृदुता आ गयी, परभावसे हटकर जो निजस्वभाव अत्यन्त हितकर है ऐसा मानरहित विकाररहित स्वभावमें यह मैं हूँ ऐसा अनुभव करने वाले पुरुषके मानकषाय नहीं हैं। मृदुता है, मार्दव है तो उसके क्षमा भी है। जैसे कोई कहे कि मेरे सिर्फ एक कषाय है, मान मैं करता नहीं, मायाचार भी नहीं करता, लोभ भी नहीं करता, हाँ क्रोध जरूर कभी कभी उमड़ पड़ता है। तो उसका यह कहना ठीक नहीं। जहाँ एक कषाय है वहाँ सभी कषायें हैं। जब नष्ट होंगी तो सभी नष्ट होंगी। भली प्रकार, विधि विधान सहित कषायोंके अभावकी बात कही जा रही है। तो दशलक्षणमें दूसरा धर्म है मार्दव।

उत्तम आर्जवधर्म—तीसरा धर्म है आर्जव। सरलता, निष्कपटता, कोई गुत्थी नहीं, कोई कपट नहीं। कपट रखकर इस जीवको लाभ क्या होता? भावुकतामें निरन्तर अशान्ति रहती है। और वहां धर्मसूत्र का प्रवेश भी नहीं होता। किस लिये कपट करना? संसारमें कुछ भी बाह्य चीज, कोई पुद्गल आदिक कुछ भी तत्त्व इस आत्माके हितमें नहीं हैं। किस चीजके सपयके लिए किस दूसरेसे कपट किया जाये? कपटरहित भाव होना सो आर्जव भाव है। जहाँ स्वरूपका सम्यक् निर्णय है और प्रतीतिमें अपनी यथार्थता है ऐसा पुरुष कैसे कपटकी प्रवृत्ति करे? तो मन वचन काय सरल होना, मनमें कुछ और हो, वचन में कुछ और हो, करे कुछ और, ऐसी सक्लेशता न रहना इसका नाम है आर्जवधर्म। यह दशलक्षणका तीसरा धर्म है।

उत्तम शौच धर्म—लोभ कषायके त्यागका नाम शौचधर्म है। अपने आपको हैरान करने वाली ये कषाय ही तो हैं। बैठे बैठे ही अपने आप दुःखी हो रहे हैं। कोई कषाय उठी तो अपनेमें आकुलता मचा रहे हैं। कषायोंमें विषय भी आया, लेकिन विषयकषाय कहनेकी जो एक पद्धति है। आत्माके अहित करने वाले विषयकषाय हैं। केवल कषाय कह देनेसे क्या विषय छूट गया? विषय लोभकषायमें गर्भित हो गया, लेकिन विषय भी ऐसी तीव्र कषाय है कि इन कषायोंके स्वरूपसे कुछ अलगसा जँचने लगा। अलग कुछ नहीं है। लोभकषायका इतना बड़ा पेटा है कि वर्णन करनेमें, उसका आश्रय दतानेमें, इसके नाना भाव भगी दर्शानेमें जँचने लगता है कि लोभकषायसे भी विषय बहुत बड़ा है और वह इतना बड़ा हो गया कि प्रतिपादनमें भी विषयका नाम हम अलग लेते और क्रोध, मान, माया, लोभ कषायका नाम हम अलग लेते। किसी भी परपदार्थके प्रति आदेयताका भाव न बने और लोभकषाय तृष्णाकी बात न बने तो आप धर्ममार्गमें, तत्त्वाभ्यासमें अपना जीवन गुजरे ऐसी हमें शिक्षा और चर्याविधि रखनी चाहिये। इस क्षमामार्दवधर्मके व्याख्यानसे, इसकी चर्चासे, मननसे हम अपनेको निष्कषाय रखें। ऐसा हमारा जीवन बने तो धर्मविकासकी हमें बड़ी सुगमता मिलती है।

धर्मस्वरूप— धर्म उसे कहते हैं जो संसारके जीवोंको दुःखसे छुटाकर उत्तम सुखमें पहुंचा दे। ऐसा धर्मका लक्षण जीवको एक धर्मकी दिशा बतलाता है। पर वह धर्म क्या है जिसके प्रतापसे दुःखोंसे छूट कर सुखमें पहुच जाता है? उस धर्मकी व्याख्यामें बताया है—वत्थुसहावो धर्मं। जो वस्तुका स्वभाव है वह धर्म है। आत्माका स्वभाव चैतन्यभाव है, उसका आश्रय, अवलम्बन, अनुभव यह सब धर्मका पालन है। इतना कहने पर भी जब यथार्थ परिचय नहीं हो पाया धर्मका तो यह कह दीजिये— दशलक्षणोधर्मः। जिसमें दश लक्षण पाये जायें उसे धर्म कहते हैं। धर्मके १० भेद नहीं हैं, धर्म एक ही रूप है, पर उस धर्म के स्वभावके लक्षण दश हैं। दश चिह्नोंसे हम धर्मको बात कर लेंगे और वे दश लक्षण ऐसे हैं कि एक लक्षणमें ही दशोंके दशों पाये जाते हैं। देखनेके लिये जब हम वहाँ दृष्टि बनाते हैं तब तो एक एक लक्षण मिलता है, परन्तु जिस धर्मकी पहिचान हम करते जा रहे हैं वह धर्म दशलक्षणरूप है, धर्म दश नहीं हैं। वे दश उसकी परिचान हैं, इसी वजहसे तत्त्वार्थसूत्रमें उमास्वामी महाराजने जो सूत्र कहा है धर्मका—

उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः।

इसमे विशेषणोंको बहुवचनसे कहकर धर्मको एक वचनमें कहा है। इससे सिद्ध है कि धर्म १० नहीं हैं। धर्मके दश लक्षण हैं।

उत्तम सत्य धर्म—सर्वप्रथम बताया है क्षमा। क्रोधका अभाव सो क्षमा है। दूसरा लक्षण बताया है मार्दव। मान कषायका अभाव सो मार्दव। तीसरा कहा आर्जव। माया छल कपटका भाव न रहना आर्जव है। चौथा है शौच, पवित्रता। लोभकषायके अभावको शौच कहते हैं। आत्मामे चारों कषाय न रहें, चारों कषायोंकी प्रगटता नहीं है तब वहाँ सत्य प्रगट होता है। सत्य क्या है? तो उसे यों समझा दीजिये, बता दीजिये कि जिस भावमें क्रोध मान माया लोभ नहीं। अब जो कुछ है बस वही सत्य है। यहाँ सत्य वचन बोलनेका ही मुख्य मतलब न लगायें। वहाँ सच्चाई क्या प्रकट हुई है, यथार्थता क्या है? उसे निरखिये और जानिये। कषायोंके अभावसे जो आत्मामे स्वच्छता प्रकट हुई है वही सच्चाई है और वही याने सत्य है।

उत्तम सयम धर्म—जब कषायोंका अभाव होकर ऐसा सत्यधर्म प्रकट होता है तब आत्माका संयम पूर्णरूपसे बनता है। उपयोग अपने आधारभूत ज्ञाततत्त्वमे समाया रहे इसको संयम कहते हैं। देखिये आपका आत्मगुण है ज्ञान। ज्ञानका विकास करनेके लिये कोई बाहरमे बड़ा उद्यम नहीं करना है कि एक एक पदार्थका जानना शुरू कर दे। पहिलेके ज्ञानका सग्रह बनाया तो इस तरहसे सब नहीं जाना जा सकता, किन्तु बाह्यपदार्थोंके जाननेकी इच्छा ही छोड़ दे। मुझे क्या पड़ा है बाहरमे जाननेको? उससे मेरा हित क्या है? सर्वपदार्थ स्वतन्त्र हैं, पृथक् हैं। किन्हीं भी पदार्थोंसे मेरे इस अमूर्त जीवास्तिकाय का कुछ सुधार बिगाड़ नहीं है। यह मैं स्वय हू और अपने स्वरूपके कारण निरन्तर उत्पादव्ययरूप हुआ करता हू। यह मैं सबसे निराला हू। मुझे इन बाह्यवस्तुवोंके परिचयसे क्या पड़ा हुआ है? जान लिया कि वहाँ ये लोग बसते हैं, यहाँ इतने नगर हैं, इतने द्वीप देश हैं, सब कुछ समझ लिया तो उस समझसे आत्माको कौनसा लाभ हुआ? लाभ तो अनाकुलताको कहेंगे। जहाँ अनाकुलता हो उसे लाभ कहते हैं। तब मुझे बाहरकी वस्तुओंके जाननेका कुछ प्रयोजन नहीं। सबके जाननेकी वाञ्छाको छोड़ दें और सबके जाननेकी वाञ्छा छूटने पर खुद तो कभी छूट ही नहीं सकता है। खुद तो खुद ही है याने स्वय स्वयं ही है।

ज्ञानकी भी आकांक्षामे ज्ञानका अविकास— अगर बाह्यके सबको जाननेकी प्रक्रिया छोड दे तो खुदका जानना तो स्वयं हुआ ही करेगा। उसे छोड़कर जायेगा कहाँ? ज्ञान हमारा है तो वह परिणमन सदा

चलता रहेगा। तो इस विधिसे हम अपने आपमें अपना संयम प्राप्त कर लेते हैं। हमने बाहरमें कुछ भी नहीं जाना। जहाँ हमने सारे विकल्प तोड दिये, अन्य लोगोंकी दृष्टिमें लो हम बुद्धू बन गए, हमारा कहीं प्रयोजन नहीं अपने आपमें मग्न हो गये तो इस एकत्व मग्नताके प्रतापसे आत्मामें स्वयं ऐसा विकास बनता है कि वह समस्त विश्वको जान जाये। हम समस्त पदार्थोंको जाननेका लोभ बना बनाकर हम विश्वको कभी नहीं जान सकते, किंतु विश्वके जाननेकी आकाक्षा छोडकर अपने आपमें मग्न होनेके उपायसे हम चाहें नहीं कि विश्वज्ञानमें आये, मगर जो ज्ञान केन्द्रित हो जाये, अपने स्वरूपमें मग्न हो जाये तो स्वयं ही सर्वज्ञता प्रगट होती है, समस्त विश्वका ज्ञान बनता है। सो समस्त विश्वका ज्ञान बने चाहे न बने, उससे हमे क्या प्रयोजन ? मुझे तो अपने आपके यथार्थस्वरूपका ज्ञान बना रहे, एक यही रुचि है। ज्ञानी जीवकी अपने सहज ज्ञानभावकी ही रुचि हुआ करती है। मुझे विश्वके जाननेमें लाभ नहीं है और विश्वके जाननेका लक्ष्य करके धर्मपालन करें तो धर्मपालन बन भी नहीं सकता, क्योंकि जिसके उपयोगमें बाह्यपदार्थोंकी दृष्टि बसी है, बाह्यपदार्थोंमे कुछ आकाक्षा करता है उसके धर्मका आश्रय ही नहीं है, धर्मपालन ही नहीं है। धर्मपालन है अपने आपमें मात्र चित्प्रकाशका अनुभव करने में ही।

सम्यक्त्वके बिना व्रत तप आदिका मूल्य—देखिये जहाँ ये चर्चायें आती हैं ग्रन्थोंमें कि द्रव्यलिङ्गी साधु इतनी ऊँची तपस्या करते हैं कि कदाचित कोई शत्रु उस साधुको कोल्हूमें भी पेल दे तो वह उस शत्रु पर वैर नहीं करता। समतापरिणाम रखता है इतना उत्कृष्ट तपश्चरण करने पर भी क्या चीज ऐसी रह जाती है जिसके कारण उसके मिथ्यात्वका क्षय नहीं हो पाता और ससारसे तिर नहीं पाता ? अरे उस साधुने अपनेको पर्यायरूप अनुभव किया है। जो अपनेको पर्यायमात्र अनुभव करे, पर्यायको ही निज पर्याय समझे उसका ही तो नाम मिथ्यात्व है। अब और आगे चलिये। जो अपनेको केवल यह कह रहा हो कि मैं यह हू (देहको निरखकर) तो उसे आप पर्यायबुद्धि वाला कहेंगे ना ? कोई अपनेको मैं क्रोधी हू, मानी हू, उदार हू, परोपकारी हू आदिकल्पमें अनुभव करे तो उसे कहेंगे ना मिथ्यात्व ? कहेंगे। कोई यों सोचे कि मैं श्रावक हू, मुझे इस इस तरहसे खाना पीना चाहिये, मैंने श्रावकव्रत लिया है, मैं श्रावक हू। देखो जो अव्रती जीव हैं उनसे मैं कितना श्रेष्ठ हू, कितना भला हू ? तो उसने भी श्रावकपरिणतिको ही आत्मसर्वस्व माना कि नहीं ? इसी प्रकार कोई अपनेमें ऐसी बुद्धि बनाये कि मैं साधु हू, यह हू साधु (इस शरीरको निरखकर), मैंने समताका नियम लिया है अमुक आचार्यके सामने कि शत्रु पर द्वेष नहीं करना चाहिये। शत्रु पर द्वेष न करेंगे तो हमने यह साधु धर्म अच्छा निभाया, इसके प्रतापसे हम निर्वाण प्राप्त करेंगे। देखो बातें तो अच्छी सोच रहा, पर इस शरीरको ही यह मैं हू ऐसी प्रतीति रखकर आत्मसर्वस्व माननेकी जो भीतरमें एक धुनि है अथवा लगा है तो यह प्रतीतिमें आत्मसर्वस्व मान गया है, इसलिये यह मिथ्यात्वका अश हुआ या नहीं ? बस इस ही कारण वह रुक जाता है। जबकि चाहिये क्या था ? अपने को चित्प्रकाशमात्र हू ऐसा मानता, न कि मैं साधु हू। मैं श्रावक हू, मैं व्यापारी हू, मै अमुक हू, मैं तो सबसे निराला एक आत्मतत्त्वमात्र हू। जो सबमें समान है। सबसे फिर मुझमें विलक्षणता क्या है साधुपन आदिको। सब एक हैं। ऐसे चित्प्रकाशमात्र अनुभवमें आत्माका सयमन होता है और आत्म-संयमनके प्रतापसे आत्माके गुणोंका पूर्णविकास होता है।

सम्यक्त्वके प्रसङ्गमे देव शास्त्र गुरुका आलम्बन—देखिये हम आप सबको प्रथम अवस्थामें देव शास्त्र गुरुका आलम्बन ही तो सहाय है। हम कहाँसे सीखें, कैसे जाने अन्तस्तत्त्वकी बात, ७ तत्त्वोंकी बात ? तो यह हमें अरहन्तदेवके मुखप्रसादसे प्राप्त होता है। जिन्हें हमारे गुरुजनोंने जो निर्ग्रंथ दिगम्बर थे, कारण कि उन्हें अन्य किसी वस्तुसे प्रयोजन न था और देहको छोडते कैसे ? सो निर्ग्रंथचर्यामे रहकर

अपने मूलगुणोंका पालन करके, व्यवहार धर्मका पालन करके और निश्चय धर्मका लक्ष्य आश्रय बनाकर जो उन्होंने अनुभव प्राप्त किया वह सब अनुभव अपने ग्रन्थोंमें लिख गये, उनका हम कितना विशेष उपकार मानें उसके लिये न शब्द हैं न कोई प्रक्रिया है। हम उनके बडे आभारी हैं जिनके उपदेशको प्राप्त करके हमने समझा है कि यह मैं आत्मा सबसे निराला स्वतंत्र परिपूर्ण एक स्वयं प्रभु हूं। इस कारण समयसारका परिचय हमें जिनके चरणोंके प्रसादसे प्राप्त हुआ है उन गुरुवोंके हम आभारी हैं। तो देव शास्त्र गुरु इन तीनोंका हमको कितना बड़ा भारी अवलम्बन हुआ है और जितने रूपमें हमें इनकी सगति प्राप्त होती है, करें। जैसे आज हमें देवके प्रतिबिम्बके रूपमे देवोंकी सगति प्राप्त होती है। साक्षात् दर्शन इस समय अरिहंतके नहीं हैं, शास्त्रोंकी तो बहुलता है। गुरुवोंकी खोज करें तो वे अब भी हमको प्राप्त हो सकते हैं, उनकी सगति भी हमें मिल सकती है जो कि विषयोंकी आशासे रहित हैं, आरम्भ परिग्रहमें जिनकी धुनि नहीं है, ज्ञान ध्यान तपश्चरणमें रत रहते हैं ऐसे गुरुजन तो पञ्चमकालके अन्त तक मिलेंगे। खोज करने पर उनकी भी संगति प्राप्त होती है। तो जो कुछ भी हमे आज प्राप्त हुआ है उसका सदुपयोग करें, जीवनमें लायें और सदुपयोग यही है कि हम आत्मसंयम प्राप्त करें। तो यही है संयमधर्म।

उत्तम तप और त्याग—संयमधर्मके प्रतापसे एक ऐसा तप उत्पन्न होता है, चैतन्य प्रतपन होता है कि जिस चैतन्य प्रतपनमें यह कला है कि जो मुझमें नहीं है उसको यहाँ न रहने दे, जला दें, दूर कर दें अर्थात् आत्माका जो विभाव परिणमन है, हो रहे हैं ये विभाव, पर आत्माकी चीज नहीं है, स्वभाव नहीं है। परिणमन तो है, उस रूप ही आत्मा नहीं है, क्योंकि यह कर्मोदयका, परोपाधिका निमित्त पाकर हुआ है, क्षणिक है। देखिये रूप है, स्वभावके विरुद्ध है, जड़ता लिये हुए है। उस चैतन्य प्रतपनके प्रसादसे ये समस्त विभावमल दूर हो सकते हैं। तो इसीके मायने त्याग है।

धर्मके ये दशलक्षण जिस क्रमसे बताये गये हैं यह एक आत्मविज्ञानकी बातको भी सूचित करता है। आत्मार्थी पुरुष क्रोधको छोडे तो बुद्धि व्यवस्थित रहे, अपने आपको ठीक समझे फिर मान कषाय कहाँ रहेगी? क्रोध और मान ये दोनों ऐसे द्वेष कषाय हैं कि जिनमे रहकर बुद्धि कम हो जाती है, विवेक नहीं रहता। चारों कषायोंमें क्रोध मान तो द्वेषरूप है और माया लोभ रागरूप है। क्रोध मान हटने पर कुछ विवेक हमने किया तो हमारा लोभ और मायाकषाय भी दूर हो। क्या लोभ करना, किस पदार्थका संचय करना, किसके लिये मायाचार करना। यों चारों कषायें जब शान्त होती हैं तो आत्मामें सत्यधर्म प्रकट होता है और फिर आत्मसयम बनता है। जैसे एक आरसीका कांच होता है उसे पानी लग कर खूब साफ कर दिया जाये और सूर्यकी किरणोंके सामने रखा जाये तो किरणोंके केन्द्रित होनेसे उसके नीचे पड़ी हुई रूई अथवा कागज आदि जल जाते हैं और राख बनकर उड़ जाते हैं, वहाँ कुछ नहीं रह जाता। वह रह जाता है अकिञ्चन, निर्भार। इसी प्रकार आत्माके इस ज्ञानके फैलावको जो नाना वस्तुवोंको आत्मा जान रहा है, भटक रहा है, डोलता है उन ज्ञानकिरणोंको अगर हम अपनी इस आत्मभूमिमें संयमन कर ले, किरणे रोक लें तो उस सयमके प्रसादसे इसमें चैतन्य प्रतपन प्रकट होता है कि जिसके प्रसादसे रागद्वेष आदिक जितने भी अन्तर्मल है वे सब जल जाते है। बाह्यमल भी निर्जीर्ण हो जाते हैं, समस्त परतत्त्वोंका त्याग हो जाता है। वहाँ फिर कुछ भी बाहरी बात नहीं रहती। केवल अकिञ्चन निर्भार रहता है। पहिले बाहरी बातोंके रहते हुए हम सब कुछ समझते थे, आत्मा भरा पूरा है। कुछ वजनदारसा लगता था। अब मल दूर हो गये, रागद्वेषादि दूर हो गये, यहाँ देखनेको तो कुछ भी नहीं मिल रहा, लौकिक दृष्टिसे बात कही जा रही है। वहाँ आकिञ्चन्य धर्म प्रकट होता है। अब वर्णन कर रहे है।

उत्तम आकिञ्चन्य— आकिञ्चन्यकी बड़ी महिमा है। जो मनुष्य अपनेको आकिञ्चनरूप अनुभव करता है, मेरा बाहरमें कहीं कुछ नहीं है, मेरा कोई सुधार बिगाड़ करने वाला नहीं है, मेरा किसीसे सम्बन्ध ही नहीं है। मैं अपने सत्त्वमें परिपूर्ण हू। जगतके समस्त पदार्थ अपने अपने सत्त्वसे परिपूर्ण हैं। मैं स्वयंमें अधूरा नहीं हू। विकार रहा वहा भी परिपूर्ण है। अविकार रहा वहा भी परिपूर्ण है। पदार्थमें अपरिपूर्णता कभी नहीं रहती। पदार्थ चाहे सारा विगड़ जाये, पर वह है तो परिपूर्ण। सर्वअवस्थावोंमें प्रत्येक सत् परिपूर्ण रहा करते हैं। यह मैं परिपूर्ण हू और जो प्रभु है, विशुद्ध चित्प्रकाश है, सर्व मलोंसे दूर है, वह भी परिपूर्ण है। देखो उस मुक्त परिपूर्ण तत्त्वसे जो भी पर्याय प्रकट होती हैं वह भी परिपूर्ण है। परिपूर्ण ही प्रयोजन बनता है और परिपूर्ण ही एक साथ विलीन होता है। नवीन पर्याय बनती है तो पूर्ण बनती है। तो इस पूर्णसे पूर्ण उत्पन्न होता है और यह पूर्ण जो कि उत्पन्न हुआ यह पूर्ण भी पूर्णमें विलीन हो जाता है और वह सब पूर्ण विलीन होकर भी यहां यह पूर्णका पूर्ण ही शेष रहता है। ऐसा यह मैं परिपूर्ण जो सहज है ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हू, अकिञ्चन हू। मेरेमें बाहरका कहीं कुछ भी नहीं है, न है, न होगा। अज्ञानी जीव अपनेको सकिञ्चन मानकर अपनेको न कुछ बना रहे हैं। आकुलित रहते हैं, किंकर्तव्यविमूढ़ रहते हैं। अपनेको सकिञ्चन मानकर अन्तमें पछतावा ही वहा शेष रहता है।

कुछकी हठमें कोयला हाथ— कुछकी इच्छा करना अपनेको बरबाद करना है। एक नाईने सेठकी हजामत बनायी। तो सेठ था डरपोक। जब वह गले पर छुरा लाया तो सेठने सोचा कि इस समय तो प्राण इसीके हाथ हैं। जरासा छुरा चला दे तो क्या हो? देखिये कोई विरला ही ऐसा सोचता है अन्यथा तो सभी लोग निर्भय होकर नाईके आगे अपना शिर रख देते हैं। नाई पर लोग तो इतना विश्वास करते हैं कि जितना कोई अपने गुरु पर भी नहीं कर सकता। लेकिन जब मनमें एक ऐसी बात आ गई तो सेठ कहता है कि देखो खवासजी! अच्छी तरहसे हजामत बनाना, हम तुमको कुछ देंगे। जब वह हजामत बना चुका तो सेठजी उसे चवन्नी देने लगे। तो उसने कहा हम चवन्नी न लेंगे। सेठ १) देने लगा तो फिर नाई बोला कि हम १) न लेंगे, हम तो कुछ लेंगे। अशर्फी देने लगा तो उसे भी लेनेसे मना किया। वह तो कुछकी हठमें पड़ गया। नाई सोचता था कि सेठजी कुछ पुरस्कार देंगे। जब सेठ तग आ गया और भूख प्यास भी लगी तो नाईसे सेठने कहा कि अच्छा, उस आलेसे वह दूध भरा गिलास उठा देना। उसने ज्यों ही उस गिलासको उठाया और गिलासमें देखा तो उसमें पड़ा था कुछ। सो झट बोल उठा कि सेठजी इसमें तो कुछ पड़ा है। तो सेठ बोला कि कुछ पड़ा है तो तू उसे ले जा। तो उसके हाथ क्या लगा? कोयला। तो जैसे उस नाईको कुछकी हठमें कोयला मिला, इसी तरह जो लोग यहा पर पदार्थोंमें अपनी हठ बनाये हुए हैं। उन्हें कुछ हाथ नहीं लगता है, खाली हाथ ही रहना पड़ता है। अन्तमें मिलता है पछतावा।

श्रावकोंका दैनिक कर्तव्य— सीधीसी बात है श्रावकोंको जो बतायी गयी है कि अपने आत्माकी यथार्थ प्रतीति रखें और श्रावकोंके योग्य जो कुछ गुरुजनोंने बताया है, उस अपनी क्रिया प्रक्रियामें रहें। षट्कर्मोंका उपदेश है—देवपूजा, गुरूपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान। देखिये जिन व्यवहार धर्मोंका सम्बन्ध निश्चय धर्मका लक्ष्य करानेके लिये होता है वह व्यवहार धर्म धर्म है, पालन करने योग्य है। हम इन ६ कर्मोंका पालन करके अपने लक्ष्य पर ही तो रहते हैं। देवपूजामें भगवानके स्वरूपकी भक्ति करते, उनका पूजन करते। तो उनका स्वरूप मेरे स्वरूपके समान है, वह व्यक्त है, हममें शक्तिरूप है। स्वरूप एक है। जैसा स्वभावसे आत्मतत्त्वका निर्माण है, अनादिसे वही स्वभाव उनमें है और वही मुझमें है। उनके स्वरूपका चिंतन करनेसे अपने स्वरूपकी सुध होती है और सम्यग्दर्शन पुष्ट होता है। श्रावकों

के षटक्रियावोंकी बात कह रहे हैं गुरूपासनामे गुरुवोंकी ओर हमारी दृष्टि लगी है। गुरु कौन हैं? जो गुणी हैं, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे बढे हैं, जिनकी धुनि आत्मतत्त्वमें लगी है, जिनके कारण निर्ग्रंथस्वरूप बना है और जीवन चलानेके लिये प्रवृत्ति करनी पड़ती है तो समितिपूर्वक की जाती है। २८ मूल गुणोंके रूपमें उनका शील पुष्ट होता है। ऐसे गुरुजनोंकी उपासना करते हैं तो वहा उनके चारित्रका शिक्षण ही तो मिल रहा, हमारा परिणाम ज्ञान और वैराग्यकी ओर ही तो बढ रहा। स्वाध्याय मे तत्त्वाभ्यास ही बन रहा, यथार्थस्वरूपका चितन चल रहा है, वह सब तो हमारे गुणोंकी वृद्धिके लिये है। संयममें तो हम अपने आपके बहुत निकट आ जाते हैं। बाह्यविकल्पोंसे छूटकर थोडा उन विकल्पोंसे जो रहित प्रक्रिया है श्रावककी। वह इसलिये है कि हममे ऐसी पात्रता बनी रहे कि यह आत्मदर्शन बराबर कर सकें, अपनी शक्तिके अनुसार इच्छा निरोध तप करना चाहिये और प्रतिदिनका यह कर्तव्य है सो शक्ति अनुसार दान करना चाहिये, जिससे लोभ कषाय दूर हो और आत्मीय गुणोंमें प्रगति हो। दृष्टि हो, लगाव हो तो ये षट्कर्म श्रावकके कर्तव्य है, इनको करते रहें।

जीविकाव्यवहारमे औचित्य— भैया! अब रही आजीविकाकी बात। सो देखिये— जिसको जितना जो कुछ प्राप्त हुआ है उसे समझो कि जरूरतसे ज्यादा मिला है। हमको इतनेकी क्या जरूरत थी? हमें तो ये जो क्षुधा, तृषा, शीत और उष्ण आदिकी वेदनाएँ लगी हैं। इनको मिटानेके लिये सिर्फ रोटी कपडे की जरूरत है, हमे और कुछ न चाहिये। हमे जो कुछ प्राप्त हुआ है उसीमें सतोष करें और उसीमे अपने प्रयोज्य विभाजन करे। करनेका मुख्य काम तो तत्त्वाभ्यासका है, यह तत्त्वाभ्यास हमें कल्याणसे पहुचा देगी। तो इस तरहका जीवन बने। यहा प्रकरणमें दशलक्षणधर्म बताये जा रहे हैं। यद्यपि वे कर्तव्य मुख्यतया मुनियोके हैं, लेकिन श्रावकके प्रसगकी यह बात चल रही है कि श्रावकोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार इन दश धर्मोंका पालन करना चाहिये। यहां अकिञ्चन व्रतका वर्णन है। मेरा बाहरमे कहीं कुछ नहीं है। मेरा जो कुछ है वह कभी छूट नहीं सकता। मेरा जो कुछ नहीं है वह कभी मुझमें आ नहीं सकता। हा अज्ञान अवस्थामे, राग अवस्थामे निमित्त विभाव परिणमन आ रहे है सो उन्हें अपनाता नहीं है यह ज्ञानी। ये मेरे स्वरूप नहीं हैं। ऐसा निर्णय करके अपने आपमें अपने आपके विभावोंको ही अनुभवता है। जहां अकिञ्चन गुण प्रकट हो तब वहा आ गया ब्रह्मचर्य। अपने आपके स्वरूपमे लीन हो जाना इसका नाम है ब्रह्मचर्य।

श्रावको द्वारा दशलक्षण धर्मकी शक्त्यनुसार पालन— ये दश धर्म मुनिजन विशेषरूपसे करते हैं, पर श्रावकोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार इन दश धर्मोंमें धर्मरूप अपनी प्रगति बनानी चाहिये। हम क्रोध पर विजय करें। जरा जरासी अनुकूल प्रतिकूल बातोंमें रागद्वेषको बढ़ावा न दें। अपने आपमें अभिमान की चीज है ही क्या? ज्ञानमे बढना? गणधर आदिक देवोंको देखो कि उन्होंने कितना ज्ञान प्राप्त करा? धनमे बढे चक्रवर्ती आदिकको निरखो। अपने पास सम्पदा क्या है? अभिमानके लायक यहा क्या वस्तु है? मान न करें। ऐसा सरल रहें कि गरीबसे, बिना पढे लिखेसे लगें। सबके साथ ऐसा साधारण व्यवहार हो कि अपनी निगाहसें अन्य किसीको तुच्छ न गिनें। मायाचारसे कोई सिद्धि नहीं है। जो यथार्थ बात है उस ही रूप आचरण रहे। धर्मके प्रसगमे आयें तो उसमें अपनी उदारता बनी रहे। यों अपना जीवन मन्द कषायरूप रहे तो वहा पुण्य लाभ तो होता ही है। उसके अन्दर ज्ञान और वैराग्यकी जड़ होनेमे धर्मलाभ भी हो रहा है। तो यों श्रावक इन दश धर्मोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार पालन करे। ऐसा श्रावकाचारके प्रसंगमें आचार्यदेव उपदेश कर रहे है।

अध्रुवमशरणमेकत्वमन्यताऽशौचमास्रवो जन्म।
लोकवृषबोधिसंवरनिर्जराः सततमनुप्रेक्ष्याः ॥२०५॥

अनुप्रेक्ष्य अनित्य भावना— परिणामोंकी विशुद्धिके लिये जैनशासनमें बारह अनुप्रेक्षाओंका उपदेश है। इन बारह भावनाओंको महाव्रती मुनि अपनी समताकी वृद्धिके लिये चिन्तवन करना चाहिये। बारह भावनाओंमें पहिली भावना है अनित्य भावना। संसारमें जितने भी पदार्थ दिखते हैं, जो भी समागमोंमें में आये हैं वे सब विनाशक हैं अर्थात् पदार्थोंकी पर्याय अध्रुव है। जो चीज अध्रुव है, सदा नहीं रहती उस पदार्थसे प्रीति करके आत्माको लाभ कुछ नहीं है। यह देह भी अध्रुव है, धन वैभव भी अध्रुव है, गृहनिवास, और और भी ये प्रक्रिया, पोजीशन, ये सारी बातें अध्रुव हैं, किन्तु इन सब पदार्थोंका जो मूल कारण है, जैसे इन दिखने वाले पदार्थोंमें मूल कारण है परमाणु। परमाणु अध्रुव नहीं अर्थात् अणु द्रव्य सदा रहने वाला है। इसी प्रकार इस जीवमें जो ये पर्यायें दिख रही हैं पशु पक्षी मनुष्य आदिक, ये पर्यायें तो अध्रुव हैं, पर इनमें जो मूल आत्मा है वह जीव अध्रुव भी है। जीवत्व सदा रहता है। तो द्रव्यदृष्टिसे पदार्थ नित्य है, पर्यायदृष्टिसे अनित्य है। ऐसा जानकर समागमकी बात पर्यायमें आया करती है। तो समग्र पदार्थोंको अनित्य जानकर उनसे प्रीति हटाना और निज जो आत्मतत्त्व है, चैतन्य स्वभाव है ज्ञानानन्दस्वरूप, उसे नित्य जानकर, सदैव अपने आपमें रहता है ऐसा शाश्वत सनातन परम उपकारी जानकर उसका आलम्बन लेना चाहिये, अपने आत्मस्वरूप पर दृष्टि लेना चाहिये। अध्रुव भावनामें भावना यद्यपि भायी जा रही है कि ये सारे समागम, बड़े बड़े राजपाट, बड़े बड़े वैभव—ये सब विनाशक हैं। भावना अनित्यकी भायी गई, पर इसके अन्दरमें जो नित्यतत्त्व है अपना स्वरूप, इस की भी भावना भानी चाहिये, क्योंकि अगर अपनेमें बसे हुए नित्यस्वरूपकी भावना तो की नहीं और बाहरी पदार्थोंको ये अनित्य हैं, मरेंगे मरेंगे तो ऐसा सोचनेसे लाभ कुछ न मिलेगा। ये तो सब मरेंगे, विनाशक हैं, नष्ट होंगे, परन्तु यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप, यह मैं आत्मा, यह मैं कभी नष्ट नहीं होनेका। अन्तस्तत्त्वमें ध्रुव और पर्यायमें अध्रुव भावना करना।

अशरण भावना— दूसरी भावना है अशरण भावना। लोकमें मेरा कहीं कोई शरण नहीं है। इस बातको ज्यादा बतानेकी यों जरूरत नहीं कि सब पर बीत रही है। बचपनमें किन किनका सहारा लिया? वे कुछ हैं भी नहीं अथवा जब भी थे और उनका सहारा लेते थे, तब हम जो चाहते थे उसकी मनोकामना के अनुसार पूर्ति कर दें ऐसा कभी नहीं हुआ। जब बड़े हुए तो अनेक प्रसंग आये। आजीविका रिस्तेदार आदिकके प्रसंग चले, घर कुटुम्बका व्यवहार चला तो कषाय सबकी जुदी जुदी है। प्रत्येक पुरुष अपनी कषायको शान्त करना चाहता है। कोई किसीका प्रेमी नहीं है। कोई किसीका कल्याणकारी नहीं है। सभी जीव अपनी वेदनाकी शान्तिके प्रयत्नमें लगे हैं। तो जो भी समागम आये, लोग अपनी ही वेदना की शान्तिमें रहते थे। कोई किसीका सहाय नहीं होता। प्रश्न यह है कि इस लोकमें कोई किसीका शरण नहीं है क्या? तो समाधान यह है कि व्यवहारमें शरण पंचपरमेष्ठी हैं और परमार्थमें शरण अपने आत्मस्वभावका आलम्बन है। पञ्चपरमेष्ठी क्यों शरण है? कि परमेष्ठी वीतरागताका रूप है। सबसे प्रथम साधुपरमेष्ठी होते हैं। साधुपरमेष्ठी वीतरागताकी मूर्ति हैं। जिसके बाह्यमें आरम्भ परिग्रहका कोई प्रयोजन नहीं रहा और अन्तरमें अपने आपका एक चैतन्यमात्र अनुभव करनेकी धुनि लगी है ऐसा एक पवित्र आत्मा है, समताका पुञ्ज है। मित्र हो या शत्रु हो—दोनोंमें स्वभावका सम्बन्ध रहता है। उनके सर्वत्र समतापरिणाम रहता है। चाहे प्रशंसा कोई करे, चाहे निन्दा करो चाहे अर्घ चढ़ाये चाहे चाकूसे कोई देह छीले, उनके न किसीमें राग है और न किसीमें द्वेष है। ऐसे वीतराग साधुके गुणोंका स्मरण रखनेसे, उनका स्तवन करनेसे, उनकी संगति रखनेसे आत्मामें एक वीतरागताकी ओर मुड़ाव होता है और जब हम कुछ राग भावको कम करते हैं।

वीतरागताकी शरणतता—वीतराग भावोंकी ओर आते हैं तो हमें शान्ति मिलती है। वास्तवमें शरण

जीवका वीतरागता है, अन्य कुछ शरण नहीं। धन मिला और राग बढा तो उसमें आकुलता ही है। ज्ञान बढा और उसमे राग रहा। मैं पण्डित हू, इतना समझदार हू, मैं सबकी बातका उत्तर देता हू, मेरी बात कहीं रह न जाये—ऐसे अनेक विकल्प उठते है और उन विकल्पोंमें यह ज्ञानी भी जिसने लौकिक विद्या का सञ्चय किया है, घबडाहटमें रहता है, बेचैन रहता है। तो बाहरमे कहाँ क्या शरण है? शरण है तो अपने वीतराग भावका आलम्बन शरण है-। आचार्यपरमेष्ठी भी साधु है जो अनेक साधुजनोंका कल्याण करते हैं, उन्हें प्रायश्चित्त दें, दीक्षा शिक्षा दें तिस पर भी अपनी समतासे च्युत नहीं होते हैं। ऐसे वीतराग आचार्यपरमेष्ठी उनके गुण स्मरणसे आत्माको शान्ति मिलती है। उपाध्यायपरमेष्ठी तो ज्ञानके सागर हैं। ११ अंग १४ पूर्वका जिनके ज्ञान है, जो निरन्तर पठन पाठनमे ही अपना समय व्यतीत करते हैं ऐसे उपाध्यायपरमेष्ठीका समागम रहे, उनका स्मरण रहे तो आत्माको शान्ति प्राप्त होती है। देखिये जिनके राग है उन्हें बड़ी सुख सुविधा भी मिले तो भी उनके आत्माको शान्ति नहीं मिलती और जो वीतराग भावोंके प्रेमी है ऐसे साधु सतजनोंसे कुछ मिलता नहीं है, न भोजन मिले, न धन मिलता, फिर भी उनके चरणोंके निकट रहनेमें आत्माको शान्ति प्राप्त होती है। शान्ति वीतरागतामें है। वीतराग पुरुषोंके निकट बैठनेमें वीतरागताकी बात मिलती है जिसके कारण शान्ति होती है। तो तीन परमेष्ठी है गुरु— आचार्य, उपाध्याय और साधु। दो परमेष्ठी हैं देव—अरहत और सिद्ध। अरहंत पूर्ण वीतराग हैं, लोका लोकके जाननहार है, आत्माके गुणोंका वहां पूर्ण विकास हुआ है, उनके गुणोंका ख्याल करनेसे अपने स्वरूपका स्मरण होता है, राग द्वेष मोह कटता है अर्थात् वीतरागताका भी उदय होता है। यों अरहत परमेष्ठीके गुणस्मरणके प्रतापसे वीतरागताकी प्राप्ति होती है। अतएव अरहतपरमेष्ठी भी शरण है। अब दूसरे देव हैं सिद्धदेव। अरहंतदेवके तो चार अघातियाकर्म रहते हैं और सिद्धके वे चार अघातिया कर्म भी नहीं रहे, वे केवलज्ञानमें पूर्ण आनन्दमग्न हो गये। प्रभुका जब ध्यान होता है तो आत्माको अपूर्व शान्ति होती है। ये सिद्ध भगवान विकलपरमात्मा कहलाते हैं। तो हमारे लिये शरण व्यवहारमें तो हैं पञ्चपरमेष्ठी और परमार्थसे है अपने आत्मस्वभावका स्मरण। तो बाहरमे सर्वपदार्थोंके प्रति अशरण की भावना करना और अपने आपमे शुद्ध सनातन जो चैतन्यस्वभाव है उसके दर्शनमें शरणकी भावना करना यह अशरण भावनाका प्रयोजन है।

अनुप्रेक्ष्य एकत्वभावना— तीसरी भावना है इस गाथाके अनुसार एकत्व भावना। यह जीव अकेला ही कर्मबन्ध करता है, अकेला ही कर्मफल भोगता है और अकेला ही जन्म मरण करता है, यह आत्मा सर्वत्र अकेला है, सर्वपदार्थोंसे निराला है और केवल आत्माके स्वरूपरूप है। यह आत्मा एकत्वविशरूप है। आत्माके व्यवहारमें अकेला निरखना, परमार्थमें एकत्व निरखना सो एकत्व भावना है। इस एकत्वकी भावनासे आत्माका मोह गल जाता है, मेरा तो मैं ही अनुभव करने वाला हू, दूसरे लोग कैसा ही बोलें, कैसी ही प्रवृत्ति करें, उससे मेरे आत्माको कोई लाभकी बात नहीं होती। मैं अकेला ही हू, ऐसे अकेलेपन की भावना करना सो एकत्व भावना है और परमार्थमें यह एक अखण्ड चैतन्य प्रकाशमात्र है। यह अपने स्वरूपसे ऐसा एकत्वरूप है इस एकत्वस्वरूपका चिंतन करना सो एकत्व भावना है।

अनुप्रेक्ष्य अन्यत्वभावना— चौथी भावना है अन्यत्व भावना। समस्त पदार्थ जो मेरे समागममें आयें वे मुझसे भिन्न हैं। धन वैभव मकान महल आदि तो प्रकट भिन्न है, कुटुम्ब परिवार मित्रजन भी प्रकट भिन्न हैं, आपके साथ चिपके नहीं हैं, आप यहां अकेले है और लोग जहां है तहां ही हैं। तो प्रकट भिन्न कुटुम्ब आदिकसे भी यह आत्मा है और यह आत्मा देहसे भी भिन्न है। देहकी भिन्नता मोटेरूपसे लोगों के ध्यानमे नहीं आती, क्योंकि देखते हैं कि जब तक जीवन है तब तक देहसहित ही तो है। देहसे रहित तो लोग तब समझ पाते हैं जब आत्मा देहसे निकल जाता है। लेकिन ज्ञानी पुरुष तो इस जीवनके भी

इस देहसे निराले अपने आत्माके स्वरूपको परख लेते हैं। देह जड़ है मैं चेतन हू। देह रूप, रस, गध, स्पर्शका पिण्ड है। यह मैं आत्मा रूप, रस, गध, स्पर्श आदिकसे रहित हू ऐसा अपने आपके स्वरूपका स्मरण करके ज्ञानी पुरुष जीवन अवस्थामें भी देहसे अपनेको निराला निरख लेते है। निराला निरखनेमे निमित्त दृष्टि नहीं रहतीं, बाह्यका आलम्बन नहीं रहता। तो उसके रागद्वेष भाव भी नहीं होते, क्षीण हो जाते हैं, उसे मोक्षमार्ग प्राप्त होता है।

अनुप्रेक्ष्य अशुचि भावना-- ५ वीं भावना है अशुचि भावना। यह देह मल मूत्र हड्डी, रुधिर आदिक अपवित्र धातुवोंसे भरा हुआ है। इस देहमें कोई सारकी बात है ही नहीं। लोकव्यवहारकी दृष्टिसे पशुवों के देहमें फिर भी कुछ सारकी बात मिल जाती है। गाय बैल भैंस आदिके चमडेसे जूते बनते हैं जो कि पहिननेके काम आते हैं और हाथीके मस्तकसे गजमोती प्राप्त कर लेते हैं, हाथीके दान्तसे कई आभूषण या वस्तु बनती है, जिससे एक आजीविकाका काम बनता है। तो पशुवोंके देहमें तो कुछ सारभूत बात भी निकल आती है, पर यह मनुष्यका देह किसी भी काम नहीं आता। इस मनुष्यके मरने पर तो लोग जल्दी ही चाहते हैं कि इसको यहासे जल्दी बाहर किया जाये। यह सारा शरीर अपवित्र है। इसमे क्या ममता करना, इसमें क्या अनुराग करना ? किन्तु इस देहके अन्दर बसा हुआ एक आत्मा जो चैतन्य-मात्रस्वरूपको लिये हुए है वह शुचि है, पवित्र है, उसका आश्रय करनेसे आत्मामें शुद्ध पर्याय प्रकट होती है। तो अपने अन्त' बसे हुए चैतन्य तत्त्वको शुचि मानना और इस देहको जिसके प्रसगमें हम रहते हैं, उसे अशुचि सोचना, इस प्रकार बराबर देहमें अशुचिपनेकी भावना करना सो अशुचि भावना है। लोग तो नाली, मल, मूत्र, गदगी आदिकको देखकर घृणा करते हैं, लेकिन ये चीजें घृणा की जाने योग्य नहीं हैं। ये सब चीजें उत्पन्न होती है मोह परिणाम करके। तो यह मोह सबसे गदी चीज है, घृणा करने योग्य चीज है मोह। ममताको बसाकर अगर अपना जीवन व्यतीत किया तो ससारमें जन्ममरणकी पर-म्परा चलती रहेगी। तो ये जन्ममरण क्यों हो रहे ? ये हो रहे है मोह भावके कारण। तो देखिये कि अपनेमें मोह बसा है तो कर्मबन्ध हो । है और कर्मबन्धसे ही यह ससार चलता है। ज्ञानी जीव इस मोह से, इन रागादिक विभावपरिणामोंसे ग्लानि करता है। अपना जो शुचि पवित्र आत्मा है उसकी उपासना करना सो अशुचि भावनाका प्रयोजन है।

अनुप्रेक्ष्य आस्रव भावना-- छटी भावनाका नाम है आस्रव भावना। जब जीव मन वचन कायका प्रवर्तन करता है, कषाय जगती हैं तो कषाय और योग इन दोनोंके कारण जीवके आस्रव और बध होते हैं, कर्म आते हैं। रागादिक विभावका आना सो तो है अन्तरङ्ग आस्रव और पौदगलिक कर्मोंका आना सो है बहिरङ्ग आस्रव। यों दोनों प्रकारके कर्मोंका आस्रव होता है। यह आस्रव दु खदायी है। सो आस्रव रहित रागद्वेषरहित आत्माका जो स्वरूप है उस स्वरूपका आश्रय लेवे तो आस्रव नहीं होता। आस्रवको दु खदायी जानकर आस्रवमें प्रेम न रखे अर्थात् क्रोधादिक कषायोंके जगने पर अपने आपकी ऐसी सुध रखते कि ये क्रोधादिक कषायें विनाशीक है, ये मुझे बरबाद करनेके लिये तुली हुई हैं, इन रूप मैं नहीं हू। मैं इन आस्रव भावोंसे भी निराला केवल चिदानन्दस्वरूपमात्र हू—ऐसी भावना रखे तो उसे शुचि का दर्शन होगा।

अनुप्रेक्ष्य ससार भावना-- ७ वीं भावना है संसार भावना। यह जीव देहमें आत्मबुद्धि करके नाना योनियोंमे जन्ममरण लेते जा रहे हैं। यह जन्म है सो महान् दु खदायी है। जन्म है, जीवन है तो उस जीवनमे कष्ट जनित बुद्धि होती है। जीवन है सबका तो यह जीवन नाना विषमतावोंमे भरपूर है। इस जीवनमें कोई जीव धनी है तो कोई गरीब है, कोई मूर्ख है तो कोई ज्ञानी है। सर्वत्र दृष्टि पसारकर देखो तो ससारके समस्त जीव इन सबके होते हुए भी तृष्णा चूँकि उनके लगी है इस कारणसे वे दु खी हैं,

संसारमें जो हैं जीव वे सब दुःखी हैं। उस दुःखको मेटनेका उपाय है, दुःख रहित आत्माके चैतन्यस्वभाव की भावना करना। तो संसारको दुःखदायी जानकर संसारसे विरक्त होकर अपने आपके स्वरूपमें लीन होकर अपनी दृष्टि रखनी चाहिये।

अनुप्रेक्ष्य लोक भावना— ८ वीं भावना है लोक भावना। यह लोक बहुत बड़े विस्तारमें है। यहाँ यह अनादिकालसे अज्ञानके कारण भ्रमता चला आया है और सभी योनियोंमें, सभी कुलोंमें, सभी प्रदेशों पर इस जीवने अपनी उत्पत्ति की है। इस लोकमें शरणभूत चीजको अन्य कुछ नहीं है, केवल अपने आत्माका विशुद्ध चैतन्यस्वभाव, इसका अवलोकन ही शरण है, मंगलरूप है। लोकके स्थानोंका विचार करना ताकि राग हटे। जितना बड़ा भी क्षेत्र विचारा जायेगा यह रागभाव इतने बड़े और इतने विस्तृत क्षेत्रमें फँसा है तो फैलाकर पदार्थ अत्यन्त पतला हो जाता है और शीघ्र ही इन विभावोंसे छुटकारा मिल जाता है।

अनुप्रेक्ष्य धर्म भावना— ९ वीं भावना है धर्म भावना। धर्म ही जीवका शरण है और आत्माके चैतन्यस्वभावका दर्शन होना, श्रद्धान होना, ज्ञान होना, आचरण होना—ये सब धर्मके रूप हैं। मनुष्य जब कभी भी अवकाश मिले, अकेला बैठा हो, किसी जगह बैठा हो, थोड़ा भी अवकाश मिले तो आँखों को बन्द करके अपने आपके स्वरूपमें कुछ चिन्तन चलना चाहिये। धर्म भावना बतला रहे हैं। आत्मा का दर्शन ज्ञान, आत्माका ज्ञान और आत्माका आचार—ये ही धर्मके रूप हैं। धर्मके प्रतापसे जीवोंको अनायास बिना श्रमके भी फल मिल जाया करता है। ऐसा उत्कृष्ट तत्त्व जो मोक्ष तकको भी प्राप्त करा दे, सर्वसंकटोंसे इसका उपयोग छुटा दे ऐसी बात एक इस जैनधर्ममें है। उस आत्माकी भावना करना सो धर्म भावना है।

अनुप्रेक्ष्य बोधिदुर्लभ भावना— १० वीं भावना है बोधिदुर्लभ भावना। संसारमें सभी समागमोंका मिलना सुलभ है, धन कन कञ्चन राजसुख आदि ये सब पुण्यके उदयसे सभी समागम अनायास प्राप्त होते हैं, पर उनसे आत्माका हित कुछ नहीं है। आत्माका हित केवल आत्मस्वरूपके अवलम्बनमें है। निजकारण समयसारका आश्रय करनेमें आत्माका हित है और बाहरी जितनी धर्मक्रियायें की जा रही हैं वे तो आत्माके मानपूर्वक नहीं हैं। तो उनमें सुख देने और मोक्षमार्गमें लगानेका साधन नहीं बनता। धन कन कञ्चन राजसुख आदि तो सभी चीजें सुलभ हैं, पर एक यथार्थ ज्ञान दुर्लभ है। आत्मा क्या पदार्थ है? देहसे निराला केवल ज्ञानमात्र ऐसा जिसका स्वरूप है, परिपूर्ण हैं ऐसे आत्माकी प्राप्ति, ऐसी आत्माकी अनुभूति उपयोगमें आत्मतत्त्वका आना यह बड़ा दुर्लभ रहा, इसका नाम है बोधि दुर्लभ। बोधि नाम है रत्नत्रयका। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। अब सोचिये कि दुर्लभ तत्त्वोंमें से हमने कितने तत्त्व प्राप्त कर लिये? मनुष्य हुए, श्रेष्ठ मन वाले हुए, जैन कुलमें उत्पन्न हुए, योग्य माता पिता गुरुजनोंका समागम मिला ज्ञान बढ़ा और वीतराग आचार्य ऋषी सतोंके कहे हुए उपदेश पर हम चलते हैं, हमको चलनेकी प्रेरणा मिली तो यों आत्माका कितना अपूर्व स्थान मिला हुआ है। दुर्लभ स्थान पाकर भी हम अपने रत्नकी प्राप्तिमें प्रमादी रहें तो यह हमारे लिये बड़े अनर्थकी बात होगी। तो रत्नत्रयकी प्राप्ति दुर्लभ है। उसकी दुर्लभताका विचार करना और परम हितकर उपादेयरूपसे चिन्तन करना सो बोधिदुर्लभ भावना है।

अनुप्रेक्ष्य सवर भावना— यहा ११ वीं भावना बतायी है सम्वर भावना। आत्मामें रागद्वेषरहित शुद्ध ज्ञानरूप परिणाम होनेका नाम सम्वर है। इस सम्वर भावसे आत्माका कल्याण होता है। रागद्वेपादिक कलङ्क दूर होते हैं। सम्वर तत्त्व ही मेरा शरण है, मेरे लिये उपादेय है—ऐसा अपने आपके स्वरूपके लगावमें अपनी बुद्धि बढ़ाना, चिन्तन करना सो सम्वर भावना है।

अनुप्रेक्ष्य निर्जरा भावना— १२ वीं भावना है निर्जरा भावना। जब आत्मामें रागद्वेषके परिणाम नहीं होते। सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्रमें वुद्धि होती है। वहा उपयोग स्थिर होता है तो स्वयं ही पूर्व भवके बांध हुए कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है और ऐसी कर्मनिर्जराको प्राप्त होकर जब सभी कर्म दूर हो जायेंगे तो आत्माको मोक्ष प्राप्त होता है। मोक्षप्राप्तिके लिये अथवा समतापरिणामकी भावनाके लिये इन बारह प्रकारकी अनुप्रेक्षाओंका चिन्तन करना चाहिये। यह हुई निर्जरा भावना। ये बारह भावनाएँ मुख्यरूपसे तो साधुजनोंके होती हैं, पर श्रावकोंको भी इन बारह भावनावोंका अधिकसे अधिक विचार करना चाहिये, क्योंकि संसारमें सुख कहीं नहीं है। सुख मिलेगा तो अपने आपमें लीन होनेसे मिलेगा। तो इस ब्रह्मचर्यका उपाय ये बारह भावनायें हैं। इन भावनावोंको भाकर हम अपने आत्माका पोषण और रक्षण करते हैं।

क्षुत्तृष्णा हिममुष्ण नग्नत्व याचनारतिरलाभ' ।
दशो मशकादीनामाक्रोशो व्याधिदु'खमङ्गमलम ॥२०६॥

षोढव्य क्षुधापरीषह—जिस पुरुषको आत्मशान्ति चाहिये और संसारसे छुटकारा चाहिये उसे परीषहों का अभ्यास जरूर होना चाहिये। ये २२ परीषहें तो मुनियोंको बताया है, लेकिन श्रावकोंको भी अपनी शक्तिके अनुसार कुछ परीषहोंका विजय अवश्य करना चाहिये। कारण यह है कि पुण्यका उदय सदा एक सा नहीं रहता। बडे बडे महापुरुष हुए हैं, जिनको बडे बडे परीषह सहन करने पड़े, पर चूँकि उन्हें उन परीषहोंके सहन करनेका अभ्यास था सो वे उन परीषहोंसे गबड़ाये नहीं। इसलिये श्रावकोंका इन परीषहों के सहन करनेका अभ्यास अवश्य करना चाहिये। इन परीषहों पर विजय वही पुरुष कर सकता है जो सक्लेश चित्तमे नहीं रखता है। परीषहोमे प्रथम परीषह है क्षुधापरीषह। क्षुधा लगने पर मुनिजन चर्या के लिये उठते हैं। उनको उपवासके कई दिन हो गये हों, वे चर्याको जायें फिर भी उनको आहार न मिले और आहारके बिना ही चले जायें तो जरा सोचो तो सही कि उनको क्षुधाकी परीषह कितना अधिक सहन करना पड़ता है? लेकिन ज्ञानबल उनके इतना बढ़ा है कि उसके प्रतापसे उन्हें उस वेदनाका अनुभव नहीं होता है। वे तो आत्माके शुद्धस्वरूपका चिन्तवन करने लगते हैं। जब वे अपने ज्ञानस्वभावमें अपना उपयोग जमा लेते हैं तो उनको एक आनन्दका अनुभव होता है। किसी भी स्थितिमें ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष अपने ज्ञानस्वरूपको अपने उपयोगमें ले लेता है जिसके प्रतापसे बड़ी बड़ी कठिन स्थितियों में भी उनको आनन्दामृतका अनुभव होता है और उस आनन्दामृतका पान करनेसे उनकी भूख प्यास आदिकी सारी वेदनाएँ न कुछ जैसी प्रतीत होती हैं।

क्षुधापरीषहविजयके प्रसङ्गमें ज्ञानीका विचार— मुनिजन उन वेदनावोंके समयमें ऐसा विचार करते हैं कि मैंने नरकोंमें न जाने कितने कितने कठिन दुःख सहन किये? उन दुःखोंके आगे तो यह क्षुधाकी वेदना कुछ भी नहीं है। कितने ही मनुष्य दीन हैं, जिनको भरपेट भोजन नहीं मिलता है। उनकी क्या गति है? सो तो विचार करो अथवा जो मध्यम वर्गके लोग हैं उनके सामने ऐसी ऐसी समस्यायें हैं कि जिनके कारण वे भरपेट भोजन भी नहीं कर सकते और कह भी नहीं सकते। तिर्यञ्चोंमे देखो तो पशुपक्षी कितना पराधीन है? उनको जहा बाध दिया तहा ही बन्धे रहे। यदि बाधने वाला भूल जाये तो वह पशु भूखा प्यासा ही मर जाये। साधुजन विचार करते हैं कि अरे उन पशुवोंकी तरह तो तेरा भी जीव है, तू भी तो अनन्त बार ऐसा पशु बना, पराधीन बना, इससे भी कई गुना वेदनाएँ सहीं। हे आत्मन! अब तुम क्यों इन छोटीसी वेदनावोंको सहन करनेमे कायर बन रहे हो? मुनिजन ऐसा विचार करते हैं। यद्यपि अनेक लोगोंके अनुभवमें ऐसी बात है कि रोज ९ बजे खाना खाते थे और किसी कारण २ बजे तक कुछ भी न मिला तो बड़ी घबड़ाहट हो जाती है। वह घबड़ाहट इसलिये है कि परीषह सहनेका अभ्यास नहीं बनाया

है। जब दूसरोंको खाते पीते देखते हैं तो अपनी भूख पर दृष्टि होनेसे उसकी भूख और बढ जाती है। तो अपना परीषह सहन करनेका अभ्यास अवश्य होना चाहिये। मुनिजनोंको एक तो अभ्यासकी बात है और दूसरे उनका ज्ञानबल बढ़ा हुआ है, जिसके कारण उन्हें क्षुधाकी वेदना अधिक पीड़ित नहीं करती, बल्कि वे शान्तिका अनुभव करते हैं।

दुःखमें मात्र ज्ञानबलका सत्य सहाय-- मनुष्यका सहाय एक ज्ञान है। घर कुटुम्बमें किसी इष्टका वियोग हो गया तो अनेक लोग नाते रिस्तेदार पास पड़ोसके लोग उस दुःखी पुरुषको शान्तवना देनेके लिये आते हैं, बहुत बहुत समझाते हैं, पर वह ही यदि अपने ज्ञानबलका सहारा ले तो उसका दुःख मिट सकता है, नहीं तो उसके दुःखको मेटनेमे कोई समर्थ नहीं है। जब खुद ही अपना ऐसा ज्ञान बना ले कि अरे, इस देहसे, धन वैभवसे यह आत्मा न्यारा है, यहाकी सर्ववस्तुवोंसे यह आत्मा भिन्न है, यह देह भी अपना नहीं है। यहां कौन किसका क्या लगता है? किससे क्या सम्बन्ध है? अरे, यहां तो कोई भी परपदार्थ किसीका कुछ नहीं लगता। क्यों किसी परजीवको अपना मानकर उसके पीछे दुःख सहते हो? इस प्रकारका ज्ञान बनने पर उसकी सारी आकुलताएँ समाप्त हो जाती हैं। तो अपने दुःखको मेटनेमें समर्थ अपना ही ज्ञानबल है। वह ज्ञानबल इस चितनसे बढता है कि मैं आत्मा अमूर्त हू, रूप, रस, गन्ध व स्पर्शसे रहित केवल ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हू। जो दुनियाको दिख रहा है यह शरीर, वह मैं नहीं हूं। ये दुनियाके दृश्यमान पदार्थ सब मायारूप हैं। मैं तो देहसे भी निराला केवल ज्ञानप्रकाशमात्र आत्मा हू। इतनी दृष्टि बने तो ज्ञानबल बढ़े, आत्मबल बढे, परीषह जीतनेकी शक्ति बढे। फिर उसे कोई आकुलता नहीं है। इस कामके बराबर अन्य कोई काम नहीं है।

वर्तमान कल्पित सुखकी व्यर्थता— भैया! धन वैभव बढ गया कुछ आराम मिल गया तो उससे क्या हो गया? ये सब ठाठ कितने दिनोंके हैं? अभी तो बड़े मौजमें हैं और मरकर न जाने क्या हाल हो जाये? पता नहीं कैसी स्थिति मिले? अभी मनुष्य हैं। मरण करके तुरन्त ही इन्द्रादिकके सुख भोग सकते हैं और मरण करके खोटीसे खोटी गति प्राप्त करके असह्य दुःख भी सह सकते हैं। इस समय जैसे मनुष्य हैं तो मनुष्य आयुके साथ साथ अनेक प्रकृतियां उदयमे होती हैं। जब मनुष्यका उदय नहीं रहता, तिर्यंच आयुका उदय होता है तो जितनी भी और और प्रकृतियां थीं, यद्यपि उनकी सत्ता आगे भी रहेगी। बंधन लम्बा है, लेकिन वे सब प्रकृतिया उसी भवमें उदयकालमें बदल बदलकर उस स्थावर और तिर्यंचके माफिक उदयमें आया। जैसे इस समय हम आप सब मनुष्योंके नरकगतिकी सत्ता पड़ी हुई है, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवगतिकी भी सत्ता पड़ी हुई है अथवा पहिले नरकगति बाधी तो वह गति भी बराबर अब तक चली आ रही है और तिर्यंच भी, पर चूंकि मनुष्य हैं तो वे प्रकृतियां मनुष्यगतिरूप बन बनकर उदयमें आ रही हैं। ऐसे ही समझिये कि जब तिर्यंचायुका उदय आता है तो बची खुची जो भी गति वह सब तिर्यंचगति आदिरूप बन बनकर उदयमें आती है। ऐसा ही कर्मप्रकृतिका सिद्धान्त है। तो वहा लगता है ऐसा कि मनुष्य तक कदम बढ़ाकर अब गिरकर निगोदमे जन्म लिया है तो एकदम ऐसी अशान्त जैसी स्थिति आती है, लेकिन कुछ परिचय इन मनुष्योंके अन्तिम कालमें भी होने लगता है। जैसे धन वैभव होते हुए भी वैभवका बहुत बड़ा विषाद रहता किसी किसीका तो महीनों पहिलेसे दिमाग खराब हो जाता तो प्रयोजन कहनेका यह है कि हमें अपने जीवनमें शरीरको सुकुमार न बनाना चाहिये। खब धन बढे, सोनेके लिये गद्दा ही मिले, बहुत अच्छा अच्छा खाने पीनेको मिले, किसी प्रकारका श्रम न करना पडे—इस प्रकारकी सुकुमारताकी बात मनमें न आनी चाहिये। एकसी स्थिति सदा नहीं बनी रहती। कदाचित् कष्टमय समय आ जावे तो फिर क्या हाल होगा? जिस समय क्षुधाकी वेदना है उस समय मुनिजन ऐसा विचार करते है कि यह कोई नई चीज नही है। अनन्त भवोंमें बहुत बहुत दुःख सहे,

अब तू अपने ज्ञानस्वरूपको अपने उपयोगमें रख, ज्ञानामृतका पान कर, अपना उपयोग अपने आत्मस्वरूपमे स्थिर रहे ऐसी स्थितिका अनुभव कर तो पूर्व बाधे हुए कर्म खिर जायेंगे और यह क्षुधा वेदनीयका कर्म सदाको छूट जायेगा।

षोढव्य तृषापरीषहविजय— दूसरा है तृषापरीषहविजय। देखिये भूख और प्यासमें कितना अन्तर है। भूखके दो भेद हैं—तीव्र भूख और मन्द भूख। पर प्यासमें ४ भेद हैं—तीव्र, तीव्रतर, मन्द, मन्दतर। तो यह भूखकी वेदना प्यासके मुकाबले कम भयङ्कर होती है। बहुत हलकी भूखमें तो भूखका कुछ पता भी नहीं पड़ता। जब तक खूब भूख न लग जाये तब तक अधिक आकुलता नहीं होती। भूखकी वेदना एक आध बार सह भी सकते हैं, पर प्यासकी वेदना ऐसी है कि वह सहन नहीं की जा सकती। तो अपना ऐसा अभ्यास होना चाहिये कि अगर क्षुधा तृषा आदिककी वेदनाएँ सामने आ जायें तो बराबर उन पर विजय प्राप्त करें, उन परीषहोंको सह लें। एक दृष्टान्त द्वारा समझो—मान लो कोई मुनि १५ दिनके उपवासमे है। गर्मीके दिन हैं। आहारको भी निकलते, पर आहार जल पान भी नहीं हो पाता तो सोचिये कि उन मुनिराजको क्षुधा तृषाकी कितनी अधिक वेदना सहन करनी पड़ती है? पर इस वेदनाको भी वे ज्ञानी पुरुष प्रसन्नतापूर्वक सहन करते हैं। वह ज्ञानी पुरुष उस स्थितिमे भी आनन्दामृतका अनुभव करता है और कोई विकल्प उठे तो चिन्तन करता है कि तूने ससारमें अनेक भवोंमें अति दुःख धारण किये हैं तो इस थोड़ीसी वेदनामें क्यों कायर होता है? तूने व्रत लिया है तो आचरणमें सावधान रह। उससे डिगना तेरे लिये लज्जाकी बात है। वह ऐसा स्पष्ट ज्ञान करता है कि उसकी सारी वेदनाएँ एक साथ शान्त हो जाती हैं। एक तो जिसका यह लक्ष्य नहीं है कि हमें परीषहविजय भी करना चाहिये तो घर, दूकान, धर्मस्थान आदिक कहीं भी बैठ जायें, जरा भी प्यास हो तो तुरन्त ही पानी भरकर पी लेते हैं और जिनके परीषहविजय करनेका लक्ष्य है वे इतनी जल्दी जरासी प्यासके ही लग जाने पर इस तरहकी प्रक्रिया नहीं करते।

षोढव्य शीतपरीषह-- तीसरे परीषहका नाम है शीतपरीषह। इस परीषहको श्रावकजन भी कुछ कुछ सहन करते हैं। थोड़ी बहुत शीत श्रावकजन भी सहन कर लेते हैं। साधुजन तो इस शीतपरीषह पर पूर्ण रूपेण विजय प्राप्त कर लेते हैं। ऐसा सोचकर श्रावकजनोंको शीतपरीषह पर कुछ न कुछ विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। यदि ऐसी ठण्ड हो कि शीत हवा भी चले, शरीर थरथर कापने लगे, तालाबके पानीका बर्फ भी जम जाये, घरमें रखे हुए वर्तनका पानी ऐसा जम जाता है कि पानी निकलता ही नहीं, इतने कठिन परीषह भी जहां होते हैं ऐसे समयमें भी मुनिजन क्या करते हैं? जङ्गलमें नग्नरूपमे रहते हैं, वस्त्र धारण कर नहीं सकते--ऐसे मुनिजन वहा शीतपरीषह पर विजय प्राप्त कर लेते हैं और वहा भी शायद किसी किसी मुनिको निमोनिया हो जाता होगा। निमोनिया उस शीतकी वजहसे नहीं होता। हा अपने ही शरीरमें कुछ रोग हो तो उसे निमोनिया बहुत जल्दी हो सकता है। जैसे एक लकवेकी बीमारी है कि यह बाहर पड़ गया, सो इसके शरीरमें लकवा मार गया--ऐसी बात नहीं है। अगर शरीर में ही कोई कमी है, कोई बीमारी है, शरीर ही इस योग्य है तो लकवा लग सकता है। उन वनोंमे सैकड़ों मुनि रहते हैं, उनमें से किसी एक दोके लकवा मार गया अथवा निमोनिया हो गया अथवा हैजा आदिक हो गया तो यह भी उस मुनिके शरीरकी योग्यता पर निर्भर रखता है। वे मुनिजन इस शीतपरीषहपर विजय प्राप्त करते हैं। श्रावकोंको भी इस शीतपरीषह पर कुछ न कुछ विजय अवश्य प्राप्त करनी चाहिये। ज्ञानी साधु ऐसा चिंतन करता है कि तूने तो ऐसी ऐसी न जाने कितनी ही शीत सही हैं, ऐसी ऐसी शीत कि जिनमें लोहेका गोल भी गलकर पानी बन जाता है। इतनी ठण्ड छठे, सातवें गुणस्थानमें सहता है। अनन्तकाल व्यतीत हो गया, यदि तू इस मुनिव्रतमें रहकर इस शीतपरीषहका विजय कर चुका

तो तेरा सदाके लिये ससार छूठ जायेगा।

ससरणमुक्तिका उपाय परमात्मतत्त्वभक्ति— देखिये संसार छूटनेका मूलमन्त्र केवल यह है कि ऐसा अनुभव बनाये कि मैं देहसे भी निराला केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा हूं। जिसका किसीसे सम्बन्ध नहीं, स्त्री पुत्र घर धन वैभव किसीसे इस आत्माका सम्बंध ही नहीं है। यह तो सब मायाजाल है, मोहकी नींद है। सो कल्पना कर लेते हैं, मगर आत्माका किसी भी दूसरे आत्मासे रंचमात्र सम्बन्ध नहीं। अपने आपको इस अनुभवमें ज्यादासे ज्यादा लेवें। पूजन कर रहे हों, भगवानके गुणोंका स्मरण कर रहे हों तो ऐसा उपयोग बनाएँ कि मूर्ति पर ज्यादा दृष्टि न गड़ायें। एक बार देख लें और देख करके फिर मूर्तिके अंग अंग पर वहां अधिक दृष्टि न लगायें, किन्तु झट उपयोग बदलकर जिसकी मूर्ति हमने स्थापित की है—शान्तिनाथकी, महावीरकी, उनका जो हम चरित्र जानते हैं झट उनके चरित्र पर दृष्टि जाये, क्योंकि हम कभी मूर्तिकी पूजा नहीं करते, मूर्तिमानकी पूजा करते हैं। कोई ऐसा नहीं कहता कि हे जयपुरकी बनी पत्थरकी मूर्ति तुम बड़ी अच्छी हो, सफेद रङ्गकी हो, तुम्हारे अङ्ग बडे अच्छे बने हैं आदि। ऐसा कोई नहीं कहता। वहां तो जिन महावीर शान्तिनाथ आदिकी स्थापना की गई है, जिनका कि बहुत बहुत वर्णन सुननेको मिला है, उनके गुणों पर दृष्टि जाती है। ओह! ऐसे महावीर प्रभु हुए जिन्होंने इस इस तरहसे सर्व कुछ त्यागकर निर्वाण प्राप्त किया। इस प्रकारकी दृष्टि मूर्तिकी पूजा करने पर जाती है तथा मूर्तिपूजासे जो आत्मामें सनातन (नित्य) मौजूद है उस अपने आत्माके ज्ञानस्वभावका स्मरण होता है। आत्मा अपने ज्ञानस्वभावको स्मरणमें लेता हैं तब उसका ज्ञानबल बढ़ता है, आत्मबल बढ़ता है और ज्ञानशक्ति जगती हैं।

स्वाध्याय गुरूपास्ति आदि कर्तव्योंमें प्रवृत्तिका प्रताप और शीतपरीषहविजय— देखिये हम स्वाध्याय करते हैं। यदि किसी पुस्तकसे ३-४ लाइन पढ ली तो उन ३-४ लाइनोंमें जो कुछ भी लिखा हो उसे अपने ऊपर घटायें। जैसे पढ रहे हैं कि हे आत्मन्! तूने इन विषयोंमें आसक्ति करके अपने आत्माकी सुध खो दी तो इसको अपने आप पर घटायें कि मैंने देखो ऐसे जिन्दगी बिता दी, विषयोंमें ऐसा आसक्त रहा, मैंने आत्माकी सुधि भी खोयी थी ना? अपने गुण अवगुण लखता जाये—ऐसा कोई स्वाध्याय करे तो वास्तविक लाभ उसे मिलता है। कोई भी घटना आये उसको अपने आत्मा पर घटाया करें तो वह स्वाध्याय है। इसी प्रकार जब गुरूपासना करे, गुरुवों के सगमे बैठें तो गुरुवोंसे अन्य मित्रजनोंकी तरह निर्विवेक प्रेम भाव न रखें, किंतु इन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है, वैराग्य जगा है तो ज्ञान वैराग्य इनके हृदयमें है इसलिये ये शान्त हैं ज्ञानानुभव करते हैं और खोटे कर्मोंसे बचते हैं, यही स्वरूप मेरेको प्राप्त हो ऐसी साथमें वाञ्छा रखते हुए गुरुवोंकी सेवा है तो वह वास्तविक गुरूपासना है। इसी प्रकार सब कर्तव्यों में अपने आपको सुख आये तो यह कर्तव्य हमारा सही कर्तव्य है। तो शीतपरीषहमे मुनिजन ऐसा चिंतन कर रहे हैं कि मेरे ज्ञानानुभव जग रहा है उसीमे इतना प्रताप है कि बाहरमें ठण्ड भी है, पर इन्हें ठण्ड की वेदना नहीं सताती। श्रावकोंका भी कर्तव्य है कि वे भी अपने जीवनमें शीतपरीषह सहनेका अभ्यास बनायें, अपनेमे एक ज्ञानबल बनायें तो उन समस्त सकटोंको दूर कर सकते हैं। जीवनमें कष्टसहिष्णु बनना एक बहुत ऊँची चीज है याने कष्ट आयें और उन सबको सह सके ऐसी अपने आपमें शक्ति रखना और उत्साह रखनेका सकल्प होना, क्योंकि जीवोंके जिनके पुण्यका उदय भी चल रहा है उनके भी पुण्य पापके चक्र लगे रहा करते हैं। सो जब अभ्यास नहीं है कष्ट सहनेका तो वह विह्वल हो जायेगा और जो पहिले ज्ञान कमाया था, व्रत पालन किया था वह भी छूट जायेगा। इससे कष्ट सहनेका अभ्यास रखना जरूरी है। मुनिराज इस लक्ष्यसे २२ परीषहोंका विजय करके उसमें समता भाव बनायें। श्रावकोंको भी इन सब परीषहोके विजय करनेका यत्न रखना चाहिये।

षोढव्य उष्णपरीषह— चौथी परीषह है उष्णपरीषह। उस पर विजय करना सो उष्णपरीषहविजय है। ऐसी गर्मी पड़ रही हो कि जिसमें नगर, मकान, पृथ्वी सभी तपते तवेके समान सूख जाते हैं, तप जाते हैं, जहाँ जीव व्याकुल हो जाते हैं। बड़े बड़े जंगली जीव जिस गर्मीके कारण किसी वृक्षकी कुछ छाया पाकर भी व्याकुल और बेहातासे पड़े रहते हैं। इस व्याकुलताके कारण उन्हें दूसरोंसे वैरभाव करनेकी भी बात चित्तमें जम नहीं पाती। ऐसे बड़े विकट समयमें भी साधुजन उष्णताका संताप सहते हैं। ऐसे विकट समयमें सारे सरोवर सूख जाते हैं, बड़ी लू चल रही है, फिर भी मुनिराज पर्वतके शिखर पर विराजमान हैं। ज्ञानानुभूतिसे वे तृप्त रहा करते हैं और अन्तःशान्ति शीतानुभवके कारण उष्णता की कोई वेदना अनुभव नहीं करते हैं। ऐसी उष्णताका परीषह गृहस्थ भी सह तो लेते हैं, मगर उन्हें किसी प्रयोजनसे कहीं जाना पड़े तो उष्णतामें उष्णता सह रहे, उसे वे अपने में समताका परिणाम रख कर सहते हैं। इसके लिये ज्ञानीको चाहिये कि बड़े उष्णकालमें ज्ञानानुभवके अमृतके पानसे उष्ण वेदना का शमन करे और अपने आत्माका अनुभव करके संसारके दुःखोंसे छुटाये।

नग्नपरीषहविजय व याचनापरीषहविजय— ५ वां है नग्नपरीषहविजय। किसी प्रकारके वस्त्र धारण न करना, नग्न निर्ग्रंथ मुद्रामें रहना तिस पर भी शरीर सम्बन्धी कोई विकार न आ सकना उसे नग्नपरीषह विजय कहते हैं। इस नग्नपरीषहका पालन करनेसे उस कल्याणार्थीका शरीरसे ममत्व हट जाता है। उस को एक अपने आत्माकी सुध रहती है जो अपने आपको संसारके दुःखोंसे छुटा लेता है। श्रावकजन भी किसी एकाग्र स्थानमें या किसी योग्य स्थानमें नग्नपरीषहका अभ्यास करते हैं। सामायिक आदिकके समय नग्नरूपमें रहकर ध्यानस्थ रहा करते हैं। यह उनके नग्नपरीषहविजयका अभ्यास है। छठा है याचनापरीषहविजय। साधुजन किसी भी समय याचना नहीं करते। कोई मुनि कई दिनोंसे उपवास किये हुए हों, शरीरमें किसी प्रकारकी वेदना भी उत्पन्न हो गई हो, पर वे साधुजन औषधि तककी भी याचना नहीं करते। साधुजन किसी भी प्रकारका संकेत नहीं करते कि हम आजकल क्षुधासे इतने पीड़ित हैं। या किसी भी प्रकारका संकेत नहीं करते। ऐसी याचना परीषहका विजय भी साधुजन किया करते हैं। गृहस्थों को चाहिये कि अपने विषयोंकी पूर्तिके लिये अपने विषय साधनोंमें कई प्रकारकी कमी होने पर याचना न करे तो यह गृहस्थका याचनापरीषहविजयका अभ्यास हुआ।

षोढव्य अरतिपरीषह व अलाभपरीषह— ७ वां परीषह है अरतिपरीषह। संसारके कई जीव इष्ट लग रहे, कई अनिष्ट, पर यहां अनिष्ट संयोग मिले तो भी अपने मनमें विह्वलता न करें। संसारके पदार्थ तो माननेसे हैं। पदार्थ तो जहां हैं तहां पड़े हुए हैं। हम स्वयं विषयोंकी वासनामें रहते हैं तो उन विषय साधनोंमें जहां हमारी अनुकूलता पड़े तो हम उसे अनिष्ट मान लेते हैं। साधनोंके लोभको दूर करना चाहिये। हम कुछ भी न चाहें अपने आराम और विषयोंके लिये। ज्ञानीजन तो अपने स्वभावका दर दर अवलोकन करते हैं और ऐसा चिन्तन रखते हैं कि जगतमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, कोई मुझे सुख दे नहीं सकता है और न कोई मेरे सुखका साधन है। मेरा ही ज्ञानबल मेरे सुखका साधन है ऐसा जानते हैं और अपने आपमें रत रहते हैं। किसी भी समय अरतिपरिणाम नहीं करते। तो अरतिपरीषहका अभ्यास इस गृहस्थको भी करना चाहिये। उन सबमें अपने आपको सावधान बनायें, दुर्बलता न लाने दें। ८ वां परीषह है अलाभपरीषह। किसी साधुने अनेक उपवास किये और चर्याके लिये निकलें तो आहारका लाभ न होते हुए भी प्रसन्नता रखना, उसे भी अपना एक परीक्षण समझना, मोक्षमार्गमें चलनेके लिये उत्साह बनाए रहना और अलाभके परीषहसे खेद खिन्न न होना इसका नाम है अलाभपरीषह। ज्ञानीजन संसार के किसी बाह्यपदार्थसे अपना लाभ नहीं मान मानते, लेकिन जब शरीरके बन्धनमें पड़े हैं तो यहां कुछ ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि असाता वेदनीयका तीव्र उदय आये तो क्षुधाकी वेदना होती है।

उस समय क्षुधापरीषहको शान्त करनेके लिये कुछ उपाय जुड़ते हैं। उसका उपाय सीधेमें इतना ही है कि भोजन कर लिया, शान्ति मिल गयी, मगर भोजन करके क्षुधापरीषहको शान्त करते रहें तो फिर आगेका काम कैसे चलेगा ? शरीर मिलेंगे, उसमें फिर दु खी होना पड़ेगा।

दशमसकादिपरीषहविजय—— ६वां परीषहविजय है दशमसकादिपरीषहविजय। कोई भयङ्कर वन हो, जिसमें डांस मच्छर आदिक रहते हैं। डांस मच्छर भी एक उपचारसे कहा है। सर्प बिच्छू आदिक—ये सब लिपट जाते हैं तब बड़ी व्यथा होती है। तो ऐसी कठिन व्यथामें भी जहाँ मक्खी मच्छर आदिक खूब काट रहे हों, सर्प बिच्छू आदि डस रहे हों ऐसी स्थितिमें भी वे साधुजन नग्न शरीरमें रहकर जंगलमें तपश्चरण करते हैं, ध्यानमें बैठे हों तो भी उन वेदनावोंसे रंच भी नहीं चिगते हैं। ऐसे साधुजन इस प्रकारके परीषहोंको भी समतासे सहन करते हैं। गृहस्थोंको भी इस प्रकारके परीषहोंको सहन करनेका अभ्यास अवश्य बनाना चाहिये।

आक्रोशपरीषहविजय— १०वा है आक्रोशपरीषहविजय। कोई गाली देता हो उसे भी सुनकर मनमें खेद न लाना यह ज्ञानबलका ही काम है। यही आक्रोशपरीषहविजय है। प्रथम तो यह ज्ञानी सोचता है कि यह गाली देने वाला अज्ञानी है, इसे कोई खबर नहीं है। यह अपने ही मनमें अपनी कल्पनाएँ उठाता है और अपनी ही कषायोंको शान्त करनेके लिये गाली देता है। पर यह हमको क्या देता है। मैं आत्मा तो अलख हू, निरञ्जन हू, इसे तो कोई पहिचानता ही नहीं है, इसमें तो किसी पुद्गल तत्त्वका प्रवेश ही नहीं होता है। किसी परवस्तुसे आत्माको खेद नहीं होता ऐसी परिस्थितिमें अपने आपको उन गालियोंसे अपने मनमें खेद न मानना सो आक्रोशपरीषहविजय है। ज्ञानबल एक इतना उत्कृष्ट बल है कि जिस वजसे सम्मान अपमान प्रशंसा निन्दा सब एक समय नहीं आते हैं। किसीने सम्मान किया तो क्या है ? यदि सम्मानमे हर्ष माना तो कर्मबन्ध हो ही गया। इसी प्रकार किसीने अपमान कर दिया तो इसमें उस का कौनसा अनर्थ किया ? तो अपमानका प्रसंग आने पर भी मनमें खेद न लाना महानपरीषहविजय है। अनेक लोग निर्ग्रंथ साधुवोंको ये चोर हैं, ये ठग हैं, ये निर्लज्ज हैं आदिक कहते हैं। उनको सुनकर भी रंच क्रोध न आये तो उसे आक्रोशपरीषहविजय कहते हैं।

रोगपरीषहविजय——जन्म मरणके मोह रोगसे छुटकारा पानेके यत्नमें रहने वाले ज्ञानी संत कदाचित शरीरमें कोई रोग आ पडे तो उस समय रोग जनित पीड़ाको सहन करते हुए और स्वयं रोग शमनके उपायमें न लगते हुए समता भाव धारण करते हैं उस पुरुषार्थको रोगपरीषहविजय कहते हैं। यह शरीर क्षणभंगुर है। इसका ही नाम शरीर है। जो शीर्ण हो, जो गले उसे शरीर कहते हैं। शीर्यते इति शरीरम् याने जो गल जाये, नष्ट हो जाये उसका नाम है शरीर। इस विनाशीक शरीरमें, इस दुर्गन्धित, अपवित्र शरीरमें अनेक प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। छोटासा भी रोग हो, जरासा भी फोड़ा फुंसी हो उसे भी शरीरमें आसक्त पुरुष रंच भी बरदास्त नहीं कर पाते, अपनेको बड़ा दुःखी अनुभव करता है और फिर जो कठिन रोग हैं—जैसे पेटमें शूल होना या विशिष्ट बुखार होना, कोढ, रक्तविकार आदि नाना प्रकारके कठिन रोग होते हैं उन रोगोंके समयमें ज्ञानी जीव जब शरीरसे ही भिन्न अपने आपको निरखता है तो लोकमें क्या म्लान परिणाम करेगा ? नहीं। वह तो उस स्थितिका जाननहार रहता है। यह बात केवल कथनमात्रकी नहीं है। जिसकी दृष्टि भेदविज्ञानसे विशुद्ध हो गई है और स्पष्ट निरखता है कि यह ज्ञान मात्र मैं आत्मा हू। उसका अब रोगसे क्या लगाव रहा और इस भेदविज्ञानके प्रसादसे प्राप्त हुए आत्म-स्वरूपके दर्शनबलसे उन समस्त रोग वेदनावोंको समतापूर्वक सह लेता है अथवा सहते भी क्या हैं ? उन की वेदना ही उन्हें अनुभूत नहीं होती है।

धनधान्य परिग्रहोंका त्याग करना और अन्तरङ्गमें अहंकार ममकाररूप बुद्धिका त्याग करना इसका नाम है उत्सर्ग। यह उत्सर्ग भी अन्तरङ्ग भावसे सम्बन्ध रखता है, क्योंकि त्याग करना तो भावोंका त्याग करनेको कहते हैं। बाहरमें कोई चीज छोड़ दी, पर उसकी चाह बनी रहे तो वह त्याग न कहलायेगा। तो त्याग भी अन्तरङ्ग तप है। अन्तरंगमें ममता छूटी हो, उपेक्षा जगी हो वह तप कहलायेगा। एक तप बताया है स्वाध्याय। स्व मायने आत्मा और अध्याय मायने अध्ययन करना। आत्माका अध्ययन करना, ध्यान करना इसका नाम स्वाध्याय है। अपने आपके ज्ञानकी प्रभावना करनेके लिये आवरण रहित होकर श्रद्धानपूर्वक जैनशास्त्रोंका पढ़ना, अभ्यास करना, धर्मोपदेश देना, वाचना, सुनना—ये सब स्वाध्य हैं। जैसे किसीके स्वाध्यायका नियम है और आकर झट साढे तीन लाइन पढ़कर चले गये तो वह स्वाध्याय नहीं कहलाता। स्वाध्याय है आत्माका अध्ययन करना, खुदका अध्ययन करना। स्वाध्यायके ५ भेद बताये हैं। पहला वाचना। ग्रन्थ रखकर उसे पढ़ना और साधारण अर्थ भी जानते जाना इसका नाम है वाचना। इस बांचनेमें भी बराबर उसका अर्थ मनमें आते रहना चाहिये, समझ बनते रहना चाहिये। जो कुछ भी बुद्धि हो उसके अनुसार अर्थ भासता जाये तो वह वाँचनेका स्वाध्याय है और प्रत्येक स्वाध्याय इस पद्धति से करते रहना चाहिये कि जिससे अपने आत्महितपर दृष्टि पहुचे। जैसे वाचनेमें आया कि स्वयभू रमण समुद्र इतना बड़ा, जीवोंके शरीर इतने इतने बड़े हैं, इस इस तरहके विचित्र शरीर हैं, ७ वें नरकमें ऐसे ऐसे नारकी हैं, यों नाना प्रकारकी बातें पढ़कर चित्तमें यह आना चाहिये कि देखो इस सम्यक्त्वकी प्राप्तिके बिना जीवकी ऐसी हालत हो रही है। इस प्रकारसे जन्म मरण करना पड़ रहा है। एक आत्मज्ञानके बिना इस जीवकी कितनी विडम्बनाएँ रही हैं? इस प्रकारका चिन्तन करना स्वाध्याय है। दूसरा स्वाध्याय है प्रच्छना। अपनेको किसी तत्त्वमें शङ्का हो या जानकारी न हो अथवा कुछ समझ रखा हो, उसकी दृढ़ता करनी हो तो उसकी जानकारी करनेके लिये नम्रतापूर्वक गुरुजनोंसे अथवा किसी विद्वानसे पूछना, सो पूछना प्रच्छना नामक स्वाध्याय है। यदि कोई अहकारी बनकर कठोरतापूर्वक किसीसे पूछता है, या उन गुरुजनों अथवा विद्वानोंकी परीक्षा करनेके लिये कोई पूछता है तो वह प्रच्छना नामका स्वाध्याय नहीं है।

तीसरा स्वाध्याय है स्वाध्याय है अनुप्रेच्छा। कोई जानकारी कर ली तो उसका बार बार चिन्तवन करना सो अनुप्रेच्छा नामक स्वाध्याय है। जैसे बारह भावनाओंका ज्ञान किया तो बराबर उनका चिन्तन करना, अपने आत्मस्वरूपका कुछ ज्ञान किया तो बार बार उसका चिन्तवन करना सो अनुप्रेच्छा नामक स्वाध्याय है। चौथे स्वाध्यायका नाम है आम्नाय। विद्यार्थीकी भांति किसी गुरुके पास पढ़ना सो आम्नाय नामक स्वाध्याय है। ५ वें स्वाध्यायका नाम है धर्मोपदेश। धर्मकी बातोंका उपदेश करना, जैसे शास्त्र सभायें होती हैं, प्रवचन किये जाते हैं तो वह धर्मोपदेश नामका स्वाध्याय है। इसे स्वाध्यायमें भी स्वका अध्ययन होना चाहिये। धर्मोपदेश सुनने वाला और सुनाने वाला—ये दोनों स्वाध्याय कर रहे हैं। इस प्रकार ५ प्रकारके स्वाध्याय हैं। छठा तप है ध्यान। चित्तको विशुद्ध तत्त्वकी ओर लगाना सो ध्यान है। ये ६ अन्तरग तप कहे जाते हैं।

अन्तरङ्ग तपश्चरणसे लाभ— अन्तरग तप करनेसे आत्माको क्या क्या लाभ प्राप्त होते हैं? विनयादिक अन्तरग तप करनेसे पहिला लाभ तो यह है कि अन्तरंग तप करनेसे मान कषाय नष्ट हो जाती है। जिसके मान कषाय है वह न चिन्तन कर सकता, न वैयावृत्ति कर सकता, न प्रायश्चित्त कर सकता। तो अन्तरग तप करनेसे मान कषाय दूर हो जाती है। दूसरा लाभ यह है कि ज्ञानादिक गुणोंकी वृद्धि हो जाती है। व्यवहारकी शिक्षाको भी विनयपूर्वक कोई ग्रहण करता है तो उसको जल्दी वह विद्या याद हो जाती है। फिर मोक्षके सम्बन्धकी जो विद्या है, ज्ञानादिक गुण हैं उनका विकास तो विनयके बिना अस-

म्भव है। आत्म विनय करे, धर्मात्मावोंका विनय करे, तब मोक्ष सम्बन्धी विद्याकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार वैयावृत्ति, प्रायश्चित्त, त्याग—ये सब ज्ञानादिक गुणोंकी वृद्धिमे सहायक हैं। तीसरी बात यह है कि अन्तरग तपके करनेसे गुणोंमे बड़ा अनुराग प्रकट होता है। चौथा लाभ यह है कि इस अन्तरंग तप के करनेसे व्रतसिद्धि होती है। जो चारित्र धारण किया है उसमें बड़ी विशुद्धि बढ़ती है। कोई पुरुष अन्तरंग भावसे तो चारित्र ग्रहण न करे, अन्तरंग विनय आदिक न रखे, बाहरमें भी कठोर है, वह चारित्र ग्रहण किये है तो उसका वह चारित्र नहीं है। जिसके अन्तरंग तप नहीं है, अन्तरंग विनय नहीं है, अपने आत्माके अन्त स्वरूपकी दृष्टि नहीं है उसका चारित्र चारित्र ही नहीं है। वह तो एक भूल है। तो अन्तरंग तपश्चरणके करनेसे व्रत आदिककी सिद्धि हो जाती है। ५ वां लाभ है कि इस अन्तरंग तपके प्रतापसे आत्मा निःशल्य हो जाता है। छठा लाभ यह है कि अन्तरंग तपके प्रतापसे निरन्तर परिणामोंमे उज्ज्वलता रहती है। परिणामोंकी गन्दगी उसके आती है जो स्वच्छन्द होकर अपराधों पर अपराध करता रहता है। त्यागका जहाँ नाम नहीं है और स्वाध्यायसे दूर बना रहता है—ऐसे पुरुषका परिणाम उज्ज्वल कहाँसे रहे ? जो इस प्रकारके अन्तरंग, ५ प्रकारके तपश्चरण करता है उसका परिणाम भी उज्ज्वल होता है। इसके बाद लाभ यह है कि सम्वेग परिणाम बढ़ता रहता है। सम्वेगका अर्थ है धर्ममें अनुराग होना या संसार शरीर और भोग—इन तीनोंसे वैराग्य होना और आखिरी लाभ यह भी समझिए कि बाह्य अन्तरग तपश्चरणके प्रतापसे मन वश हो जाता है, अनाकुलताकी प्राप्ति हो जाती है। जिसके प्रतापसे आत्माका जो परम सहज स्वभाव है, आनन्द है उसमें मग्न हो जाता है। तो इन विनय आदिक अन्तरंग तपश्चरणके प्रतापसे यह जीव संसारके दुःखोंसे हटकर मोक्षके सुखको प्राप्त होता है।

तपश्चरणके वर्णनसे अपने लिए शिक्षाका ग्रहण— इस तपश्चरणके कथनोंको सुनकर हमें अपने आपके हितके लिए कुछ शिक्षा ग्रहण करना चाहिए। प्रथम तो यह कि हम अपना परिणाम विनयपूर्ण रखें। विनयमें बहिरंग विनय और अन्तरग विनय—ये दोनों बातें आती हैं, जिनमे मुख्य अन्तरंग विनय है। अपना परिणाम अपने हितके लिये बनाये रहें, अपने हितकी दृष्टिसे निर्णय बनाया करें तो यह अन्तरंग विनय है। विनयका अर्थ ही यह है कि जो विशिष्ट पदमें ले जाये। विनयके प्रतापसे यह जीव नियमसे ऊपरकी स्थितिको प्राप्त होता है। विशेष ज्ञानी बने, चारित्रवान बने वैभववान बने। यों विनयके प्रताप जीव उत्कृष्ट स्थितिको प्राप्त होता है। चाहे कोई गृहस्थ विनय करके भी धनी न बन सके, पर वह विनय करके जनताका प्यारा तो हो गया। कदाचित् उसके ऊपर कोई कष्ट आये तो बीसों लोग उसकी सहायता करनेको तैयार हो जाते हैं। तो यह भी एक उत्कृष्टता उसने पायी। विनयके अभावमें होगा अहंकार। अहंकारी पुरुष अहंकार करके लाभ क्या पाता है ? डण्डे भी खायेगा, लोगोंकी निगाहसे भी गिर जावेगा। व्यवहारमें भी हम देखते हैं कि विनयगुणके कारण अपने साथी सैकड़ो बन जाते हैं। तो हम अपने जीवनमे विनयका परिणाम बनाये रखें—ऐसी कोशिश करनी चाहिए, ऐसा अपना ज्ञान बनाना चाहिये। बड़ा पुरुष तो वह है कि प्रतिकूल अवसर आने पर भी अपनेको शान्त और क्षोभरहित बनाये रखूँ—ऐसी उसकी दृष्टि रहती है और योग्य अयोग्य काम करनेका विवेक भी रहता है। तो हम अपना जीवन विनयसहित वितायें।

एक लाभ तो हम अपने मनुष्य जीवनका विनयसे उठायें। दूसरी शिक्षा यह मिलती है कि हम दूसरोंका उपकार करें, शरीरसे दूसरोंकी सेवा करें, और और प्रकारसे दूसरोंकी सहायता करें, दीन दुखियोंकी मदद करें। दीन दुखियोंकी मदद करनेसे अपने आपके कर्मफलके चिंतनकी बात बनती है। अपनेमे यह भाव बनता है कि यदि हम भी धर्मबुद्धिसे न रहें तो हमको भी यही दशा प्राप्त होगी। सबसे बड़ा लक्ष्य यह है कि दूसरोंका उपकार करते समय विषयोंकी ओर अथवा गन्दे परिणाम नहीं रहते।

मोक्षमार्गमें यदि विनयकी प्रवृत्ति है तब तो वह सर्वत्र शान्तिका अनुभव होता रहेगा। देव, शास्त्र, गुरुके प्रति विनयभाव रखना श्रावकोंको अत्यन्त आवश्यक है। वैयावृत्ति सेवा यह तो गृहस्थ किया ही करते हैं। चार प्रकारका दान भक्तिपूर्वक देना यह भी उनकी सेवा है। भावपूर्वक उनसे नम्रतासे बोलना चाहिए। इस वचनव्यवहारसे उनका क्लेश मिट जाता है। तो गृहस्थ तन, मन, धनसे सेवा किया ही करते हैं। वैयावृत्ति मेरी सहीरूपसे बनी रहे, इसका भी कर्तव्य होना चाहिए। स्वाध्याय एक खास तप है। ज्ञानप्रकाश हुए बिना तो जीवन बेकार है। पशु पक्षियोंका जो जीवन है, सो ही उस मनुष्य का जीवन है। जिसके उपयोगमें ज्ञानप्रकाश नहीं है उस मनुष्यका जीवन क्या है? क्योंकि भेदविज्ञान बिना, सम्यग्ज्ञान पाये बिना जीवनमें बड़ा आराम भी भोग ले तो इतना ही फर्क रहा कि उन पशु पक्षियों से कुछ अधिक भोग भोग लिया। मगर जो काम पशु पक्षियोंने किया सो ही काम इस मनुष्यने किया। जैसे स्वाध्याय साधुवोंका परम तप है ऐसे ही गृहस्थोंको भी यथाशक्ति यह तप करना चाहिए। इसी प्रकार कायोत्सर्ग तप है। उत्सर्ग तप क्या है? बाह्यपदार्थोंका त्याग करना, उनसे ममताका परित्याग करना और जो अपनेको मिला हुआ शरीर है, उसकी ममताका त्याग करना, रागादिक विभावोंकी अपनायतका त्याग करना, ये सब उत्सर्ग तप कहलाते हैं। यह तप साधुवोंको बताया गया, उनके लाभके लिए है। यह तप गृहस्थ भी करें तो उनके लाभके लिए है।

समता व स्तवन नामक आवश्यक-- रागद्वेषका परिणाम न होकर समता भाव रहना। समता ही सुख है, समता ही शान्ति है, समता ही मोक्ष है, समता ही मोक्षमार्ग है, धर्मपालन समता ही है। जो पुरुष रागद्वेष कर समतापरिणाममें रह सकता है, उस पुरुषने धर्मपालन किया है। समता आवश्यक कर्तव्य है, पर गृहस्थोंमे समता साधुवोंके समान भी बन सकती, फिर भी जितना हो सकता है उतना समता पालें। समतापरिणाम धारण करनेकी इच्छा हो तो यह निर्णय बना सकते हैं कि हमें ऐसे ऐसी स्थितिमें समता तो रखना ही आवश्यक है। बहुतसी घटनाएँ ऐसी आती हैं कि हम थोड़ासा गम खायें, ५ मिनट और घटना देख लें तो इसके बाद ऐसी स्थिति बदल जाएगी कि मुझे समताका पूरा मौका मिल जाता है। पर पर आदत तो कुछ ऐसी बनी है कि बीच बीचमें दूसरेकी बात काट काट अपनी बात रखते जाते हैं। कितनी ही घटनायें ऐसी हैं कि जिनमें समता रखना हमें आवश्यक हो जाता है और उसके अभ्याससे हम शान्ति पा सकते हैं। हमारी दैनिक चर्यावोंमें और जैसे यात्रा प्रसंग चल रहा है, इसमें अव्यवस्था होने का कारण जरूर हो सकता है इसके ही कारण अधीरता भी है। हर बातमें अधीरता है। समता परिणाम अभी भी शान्तिका कारण है और भावी कालमें भी शान्ति बरतेगी। समतापरिणाम गृहस्थोंको भी अपनी पदवीके अनुसार धारण करना चाहिए। दूसरा कर्तव्य बताया है स्तवन। जिनेन्द्रप्रभुके गुणोंका कीर्तन करना यह स्तवन कहलाता है। उन वचनोंसे खुदको भी शान्ति मिलती है। तो जिनेन्द्र भगवानके वचनोंके मन, वचन, काय इन सबकी सावधानी है। तो उपयोग विशुद्ध बननेसे पुण्यलाभ भी है और धर्मलाभ भी है। यह कर्तव्य साधुवोंके लिए क्यों रखा? चूंकि उनके आरम्भ परिग्रह नहीं लगा है, आजीविकाकी भी कोई चिंता नहीं इसलिए रख लिया। वैसे गृहस्थोंके लिए भी यह लाभ है। इस कर्तव्य को करके पुण्यलाभ व धर्मलाभ दोनों ही मिलते हैं।

यथाशक्ति आवश्यकोंकी करणीयता— अब ६ आवश्यक कर्तव्य हैं—समता परिणाम रखना, जिनेन्द्र देवका स्तवन करना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। ये ६ साधुवोंके आवश्यक कर्तव्य हैं और यही गृहस्थोंके कर्तव्य हैं। गृहस्थ अपनी सीमामें करते हैं, साधु अपनी पदवीके अनुसार करते हैं। ये आवश्यक कर्तव्य ६ माने गए हैं जीवमें। यों तो आवश्यक शब्दका अर्थ रूढ़िके अनुसार जरूरीसे लिया जाता है। यह आवश्यकका फलित अर्थ है। शब्दका फलित अर्थ है। शब्दार्थके अनुसार आवश्यकमे तीन

शब्द हैं—अ, वश और क अर्थात् जो काम आदिकके वश न हो उसे अवश कहते हैं। जो पुरुष ममताके आधीन न हों, जो पुरुप इन्द्रियके आधिन न हों, वे पुरुष धन्य हैं। जो परेन्द्रिय विषयोंके आधीन नहीं हैं, जो रागस्नेहके बन्धनमें नहीं हैं– ऐसे पुरुष होते हैं साधु, आत्मसाधना करने वाले महापुरुष। वे साधु पुरुष अत्यन्त स्वतन्त्र हैं। उन साधु पुरुषोंके करनेका जो काम है वही आवश्यक काम है। अब चूंकि मुमुक्षु जिज्ञासु आत्महिताभिलाषी पुरुषोंके करनेका जो काम है वह है जरूरी काम। बाकी काम जरूरी नहीं हैं ऐसा जानकर आवश्यक शब्दका अर्थ जरूरी प्रचलित हो गया है। तो आत्महितके लिए ये सब जरूरी काम हैं। इन ६ आवश्यकोंको अपनी पदवीके अनुसार गृहस्थोंको भी पालन करना चाहिये और साधुवोंको भी।

प्रतिक्रमण व वदनावश्यक— तीसरा आवश्यक है वंदना। वीतराग अनन्त सर्वज्ञदेवके गुणोंका स्मरण रखते हुए सिर हाथ आदिक जो नम्र हो जाते हैं ऐसी नम्रताका नाम है वंदना। यह वंदना भी श्रावकके लिए प्रतिदिन किया जाना आवश्यक है। चौथा आवश्यक है प्रतिक्रमण। लगे हुए दोषोंकी शुद्धि करना इसका नाम है प्रतिक्रमण। व्यवहारदृष्टिसे तो सावधान होकर निष्कपट होकर गुरुजनोंके समक्ष अपने दोषोंको प्रकट करना और गुरुजन जो भी आज्ञा दें उस पर संदेह न करते हुए आज्ञाका पालन करना यह है प्रतिक्रमण। मगर व्यवहारप्रतिक्रमणमें यह गारंटी नहीं है कि लगे हुए अपराध दूर हो जायें। लेकिन जिनकी केवल एक बाह्यदृष्टि है—जब कोई दोष लगे तो गुरुवोंसे कहना चाहिए और जो गुरुजन कहें उसे पालना चाहिए ऐसा जो करते हैं, पर मनमें श्रद्धा नहीं, उस प्रकारका भाव नहीं तो उस से शुद्धि नहीं है। प्रतिक्रमणमें गुरुजन जो कुछ कह दें, उसमें सन्देह न करके पालन करनेकी बात करनी चाहिए। अब परमार्थदृष्टिसे प्रतिक्रमण सुनें। जिसके दोप लगे हैं ऐसा वह ज्ञानी पुरुष अपने आपमें चिन्तन करता है कि मैं क्या हू और ये निमित्त भी जो हो गए ये क्या हैं? इन रागादिक भावोंसे निराला केवल विशुद्ध चैतन्यमात्र हू मैं और यह स्वभाव उपकारी है, शाश्वत है, निष्कलंक है, परपदार्थ और औपाधिकतासे रहित है। इस स्वभावमात्र निज अन्तस्तत्त्वमें अपराध होते कहाँ हैं? उसमें रागादिक ही कहा है? ऐसा उसे परमार्थदृष्टिसे नजर आ रहा है। अब इस परमार्थदृष्टिको कर लेने वाले पुरुषका बाह्यप्रतिक्रमण उसका निमित्त है।

मेरे ये पाप मिथ्या होवें, ऐसा सुन करके कुछ ऐसा अवधारण कर सकते हैं कि यह तो एक खाना पूर्ति करनेकी बात है। कोई अपराध कर ले तो उस समय यह बोलना चाहिए कि मेरे अपराध मिथ्या होवें। तो उसका प्रतिक्रमण पूरा हो गया, मोक्षमार्गमें बढ गया। जिसकी दृष्टि निर्विकार सनातन चैतन्य वभावके उपयोगमें लग गयी है और अनुभव यथार्थ बना उसके यह सावधानी बनती है कि यह मेरा अपराध तो मिथ्या था, ये अपराध करना मेरा स्वरूप नहीं। ऐसा जब अपने आपके विशुद्ध स्वरूपका ज्ञान बनता है तो उसका यह परमार्थदृष्टिका प्रतिक्रमण बना और निष्कलक विशुद्ध चैतन्यस्वभावके दर्शनसे प्रतापसे अपराध कर्म ये सब खिर जाते हैं। ऐसा प्रतिक्रमण साधुजन तो करते ही हैं और गृहस्थजनोंको भी करना चाहिए। इसका अन्तर्दृष्टिसे सम्बन्ध है और ऐसी अन्तर्दृष्टि गृहस्थ भी कर सकते हैं।

प्रत्याख्यान व आवश्यकसे व्युत्सर्ग — पाचवा आवश्यक कर्म है प्रत्याख्यान। आगामी काल ही से आश्रवके रोकनेका नाम है प्रत्याख्यान। जैसे जब कभी दोष लगते है और इतने बडे दोष लग गए कि आपत्ति भी आ पडे तो ऐसी आपत्ति पड़ने पर मनुष्य कह भी देते कि यह काम मुझे न करना था यह तो है प्रतिक्रमणका रूप। अब मै आगे न करूँगा यह तो प्रत्याख्यानका रूप है। ६ ठा आवश्यक है कायोत्सर्ग। शरीरका त्याग करनेका नाम कायोत्सर्ग है। काय मायने शरीर, उत्सर्ग मायने त्याग।

रोगपरीषहविजयका एक दृष्टान्त— रोगपरीषहविजयमें एक दृष्टान्त आया है सनतकुमार चक्रवर्ती का। जिनके रूपकी परीक्षाके लिये देव आये। जिनके रूपकी प्रशंसा सौधर्म इन्द्र द्वारा स्वर्गमें की जाती है। जब देव रूप देखने आये उस समय सनतकुमार अखाडेसे धूलधूसरित निकले थे और नहानेके लिये बैठे थे। धूलधूसरित शरीरको देखकर देवोंने उनके रूपकी बडी प्रशंसा की। कुछ लोगोंने कहा कि अभी क्या है? जब सिंहासन पर सजधजकर बैठे हों उस समय इनके रूपको देखो। दूसरे दिन दिनके दो वजे वे देव आये जब कि सनतकुमार सजधजकर सिंहासन पर बैठा हुआ था। उसे देखकर देवोंने माथा धुना कि ओह! अब वह रूप नहीं रहा जो पहिले था। उसका कारण क्या है कि सजधजकर जानबूझकर कोई अपनी सुन्दरता बनाये तो रूपमें फर्क हो जाता है। दूसरे ज्यों ज्यों समय गुजरता जाता है त्यों त्यों रूप फीका होता जाता है। जैसे जलपूर्ण घटमें से सींक द्वारा एक बूँद भी जल बाहर निकाल दो तो जलमें कमी मालूम तो न पडेगी, पर जल कम तो हो ही गया। ऐसे ये सनतकुमार चक्रवर्ती जो रूपमें बडे प्रशंसनीय थे विरक्त हुए, मुनि बने। कोई असाताका ऐसा उदय आया कि कोढ हो गया। एक देव वैद्यका रूप धरकर सनतकुमार मुनिकी परीक्षाके लिये आया। उनके पास कई बार आ आकर यह आवाज लगाई कि हमारे पास चर्मरोगकी पेटेन्ट औषधि है, औषधि बेकार न जाएगी, मुफ्त इलाज होगा। तब सनतकुमार मुनिने उसे बुलाकर कहा कि तुम क्यों बार बार यहाँ आकर पुकारते हो? तो वह देव वैद्य बोला कि आप हमसे चिकित्सा कराये। तो सनतकुमार मुनि बोले कि हमारे जो जन्ममरणका एक महारोग लगा है उसे आप मिटा दें। तब देव चरणोंमे झुककर उनके ज्ञानकी प्रशंसा करने लगा। प्रत्येक परिस्थितियोंमें जब यह जीव सबसे निराला अपने ज्ञानस्वरूपको देखता है तो सारी विपदायें शान्त हो जाती हैं। ज्ञान बलसे शारीरिक वेदनाओंको समतापूर्वक सहन करनेको रोगपरीषहविजय कहते हैं।

मलपरीषहविजय-- अब मलपरीषहविजयको सुनिये। शरीरमें मल जम जाया करता है। उसका भी ज्ञानी जीव रंच खेद नहीं मानते। शरीर पर लगे हुए मलको निरखकर उसके धोने स्नान करनेकी वाञ्छा नहीं करते। गृहस्थ लोग तो शरीरके मलको साफ करनेके लिये बहुत बहुत तैल साबुन आदि लगाकर कई बार स्नान किया करते हैं, पर ज्ञानी संत पुरुष शरीरको महामलिन हो जाने पर भी स्नान नहीं करते। ऐसे मलपरीषहके पालनहार ज्ञानी संत अपने आपको निराले रागद्वेषरहित ज्ञानानन्दस्वरूपको निरखकर तृप्त रहा करते हैं। कोई विशेष बाधा जैसी बात आए तो वह ज्ञानी चिंतन करता है कि हे शरीर तू तो इतना मलिन बन गया है कि सारे समुद्रके जलसे भी धोया जाए तो भी तेरी मलिनता नहीं मिटती। जैसे कोयला अन्दरसे कालिमा रखता है, उसे कितना ही धोया जाए पर उसमें सफेदी नहीं आती—ऐसे ही हे जीव! तू अन्तरङ्गसे मलिन बन रहा है। तेरे इस शरीरके बाह्यमलको कितना ही धोया जाए तो भी तेरी वास्तविक मलिनता मिट नहीं सकती। अरे तू तो अपने आन्तरिक औपाधिक मलिनतासे भी रहित शुद्ध ज्ञानप्रकाशमात्र है, यह शरीरगत मलिनता तो एक ऊपरी चीज है। इस शरीरगत मलिनतासे इस आत्माका कुछ भी सम्बन्ध नहीं। यों ज्ञानी पुरुष इस देहसे स्नेह छोड़कर अपने आपके शरीरमें स्थिर होता है। अज्ञानीजन निरन्तर कुछ न कुछ बाह्यतत्त्वोंको उपयोगमे अपनाकर विह्वल रहा करते हैं। कितने ही सुखके साधन हों तो भी तृप्त नहीं होते। क्योंकि उन्हें तृप्तिका साधनभूत जो तत्त्व है वह मिला ही नहीं। तृप्ति कहाँ से हो? किस जगह उपयोग लगायें कि तृप्ति हो? कहीं बाहरी पदार्थोंमें उपयोग लगानेसे तृप्ति नहीं होती। तृप्ति तो अपने आपके अन्तःस्वरूपके अवलोकनसे ही प्राप्त होगी, सर्व परका विकल्प हटानेसे ही प्राप्त होगी। रागद्वेष मोहका आश्रय करके तो विह्वलताएँ ही बनेगी। बाहरमें ये धन वैभव मकान महल परिजन मित्रजन कोई भी ऐसे नहीं हैं जिनमे उपयोग लगानेसे शान्ति प्राप्त हो सके। इन सर्व परपदार्थोंकी रक्षा करते करते तो रात दिन बेचैन रहा करते हैं। जब कोई परपदार्थ बिछुड

जाता है तो उसके पीछे खेद करते हैं। कोई भी परतत्त्व यहाँ ऐसा नहीं है कि जिसका आश्रय करके, जिसका सहारा लेकर दुःखोंसे छुटकारा प्राप्त किया जा सके। कोई बड़ी बड़ी प्रशंसाएँ ही कर दे तो उस से भी इस आत्माको कुछ भी सिद्धि नहीं प्राप्त होती। वैसे तो यहां कोई लोग ऐसे निःस्वार्थ नहीं हैं जो अपने आपका कुछ उपकार हुए बिना दो बातें भली बोल सकें। सभी अपने अपने स्वार्थसाधनाके वश बोला करते हैं। तो यहाँ किसकी आशा करें, किससे प्रशंसाकी भीख माँगें ? ये सभी जीव स्वयं कर्मोंके प्रेरे हैं, मलिन हैं, स्वयं दुःखी हैं। इनकी दो प्रशंसात्मक वार्ताको सुनकर कौनसा लाभ लूट लिया जावेगा ? ससारमें बाह्यमें कुछ भी तत्त्व ऐसा नहीं है जिसकी शरण गहें तो आत्माको शान्ति हो जाए, तृप्ति हो जाए। तब सर्वत्र बाहरसे अपने उपयोगको निवृत्त कर और निर्मल जो अपना ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि करें, उसीका सहारा लें, उसीमें रमण करें तो संसारके समस्त संकट छूट जानेकी बात बन सकेगी। ये साधुजन मल वगैरहसे विक्षिप्त नहीं होते, अपने निर्मलस्वभावको देखकर कर्मोंका निर्जरण करते रहते हैं।

तृणस्पर्शपरीषहविजय— अब तृणस्पर्शपरीषहका वर्णन करते हैं। लोकके जीव तो जरासी भी फांस लग जाए काटेकी ही नहीं वरन् घासका लम्पा भी अगमें लग जाए तो दुःखी होते हैं और उसके निकालने का प्रयत्न किया करते हैं। लेकिन ज्ञानी साधु सत जन अपने आपके स्वरूपके दर्शनमें इतनी सच्ची धुनि बनाए हुए हैं कि कदाचित् तृण काटे फांस आदिक शरीरमें चुभ जाए तो भी वे संतजन खेद खिन्न नहीं होते और न उसके निकालनेका उपाय बनाते हैं तो यह है उनका तृणस्पर्शविजय। गृहस्थजनोंको भी तृण-स्पर्शविजयका अभ्यास अवश्य करना चाहिए। अज्ञानी गृहस्थ तो थोड़ीसी भी तृण वेदना होने पर चिल्लाहट मचाते हैं, पर कोई ज्ञानी गृहस्थ हो तो वह तृणवेदनाके समय भी संक्लिष्ट नहीं होता। कभी कुछ पसीना आदिकका मल गृहस्थके शरीरमें भी लग रहता है तो उसमें भी यदि वह घृणा नहीं करता तो यह उसके लिए एक शोभाकी बात है। ज्ञानी पुरुष घृणाकी प्रकृति नहीं करते, अपनेको खेद खिन्न नहीं करते, जरा जरासी बात पर ग्लानि नहीं करते, जरा जरासी घटनावोंमें खेद खिन्न नहीं होते, कभी जमीन पर भी सोना पडे तो उसमें भी कष्टका अनुभव नहीं करते। ज्ञानी गृहस्थोंको चाहिए कि वे सभी परीषहोंको सहन करनेका अभ्यास रखें। शरीरके आराममें, बड़ी सुकुमारतामें न रहें। जो सुकुमार बनते हैं वे उस सुकुमारतासे कुछ लाभ नहीं लूट लेते। इस शरीरको रात दिन खिलाते खिलाते, उसकी चिंता रखते रखते कितना काल व्यतीत कर दिया फिर भी शरीरके ही निरन्तर दास बने रहा करते हैं। यद्यपि खाए पिए बिना गुजारा नहीं चलता पर उसीको ही महत्त्व नहीं देना है। खाने पीनेकी धुनि बनाना, उसके पीछे खेद खिन्न होना, बहुत बहुत व्यवस्थाएँ करना यह तो अज्ञान दशाकी बात है।

अज्ञानपरीषहजय— अब अज्ञानपरीषहजयकी बात कह रहे हैं। ज्ञानावरण कर्मके उदयसे अज्ञान भाव होता है तो ज्ञानका विकास नहीं होता। साधु सतजन धर्मबुद्धिसे बहुत तपश्चरण करते हैं। किसी साधुको अधिक तपश्चरण करने पर भी अवधिज्ञान आदिकका विकास नहीं हुआ अथवा श्रुतज्ञान भी पूर्ण नहीं हुआ तो ऐसी स्थितिमें वे साधुजन विचार करते हैं कि आत्माका हित वीतरागतामें है। ज्ञान विकास होगा यह तो आत्माके स्वभावकी बात है। जब आत्मा अत्यन्त विशुद्ध होगा तो ज्ञानविकास होना ही पड़ता है और हितकी बात देखो तो तीन लोक और अलोकको जान लेनेसे आत्माका हित नहीं है, किंतु रागद्वेष भाव रच भी न रहे उस वीतरागतासे आत्माका हित है। हम वीतरागताके मार्गमें चल रहे हैं। ज्ञानविकास न हो सके, ऐसे ही ज्ञानावरण कर्मका उदय है तो इससे आत्माका कुछ हित नहीं है। आत्माका हित तो भेदविज्ञान करनेमें है। भेदविज्ञानी मुनि किसी भी स्थितिमें खेद खिन्न नहीं होते। कोई दूसरे पुरुष उस मुनिको गाली भी बक, निन्दा भी करें कि जिन्दगी गुजर गई इस मुनिकी, वृद्ध भी हो

गया, तपश्चरण भी खूब किया, पर फल क्या मिला ? ज्योंका त्यों है, कुछ भी तो ज्ञान नहीं बढ़ा। ऐसी बातें लोगोंसे सुनते हैं तिसपर भी ये ज्ञानी साधुजन मनमें खेद नहीं लाते। वीतरागताका महत्त्व दिया है उन ज्ञानी संतोंने, इस कारण अज्ञानपरीषहको वे जीत लेते हैं। श्रावक जनोंको भी चाहिये कि वे कोई लाभकी बात न पायें तो भी धर्मभावनाको न छोड़ दें। जैसे पूजा करते, श्रावकाचार पालते, सामायिक ध्यान आदि करते हुए बहुत दिन हो गये फिर भी कोई विशिष्ट ज्ञान अथवा कोई सासारिक चमत्कारकी बात नहीं मिल पाई तो भी अपने चित्तको डावाडोल नहीं करना चाहिए। धनिक भी नहीं बन पाये तो क्या है ? जो धन त्यागने योग्य है वह पहिलेसे ही न हुआ पासमे तो यह तो एक अच्छी ही बात है। तीर्थंकरोंका भी बिना उस धन वैभवके त्याग किए गुजारा न चल सका, वे भी बिना इनके त्यागे निर्वाण न प्राप्त कर सके। तो किसी भी परिस्थितिमें अपने आपको धर्मपथसे विचलित न कर दें, मनको हटा न लेवें।

अदर्शनपरीषहजय— अदर्शनपरीषहजयका वर्णन कर रहे हैं। संसारी जीव जितने काम करते हैं, वे किसी न किसी प्रयोजनको लेकर करते हैं। उस प्रयोजनकी सिद्धि न हो तो वे खेद करने लगते हैं और कभी कभी तो धर्मकी श्रद्धा भी खो बैठते हैं। बहुत दिन हो गए तपश्चरण करते करते, शास्त्रोंमें लिखा है कि तपश्चरणके प्रसादसे अवधिज्ञान और मन पर्ययज्ञान हो जाता है, श्रुतज्ञान पूर्ण हो जाता है। ये कुछ न हुए तो यह सब गप्प है, ऐसी बात चित्तमे नहीं लाते, अश्रद्धाकी बात अपने उपयोगमें नहीं लाते यही अदर्शनपरीषहविजय है। धर्ममार्गमें चलते हुए भी यश वैभव ज्ञान आदिकका लाभ न हो तो गृहस्थ जन भी उसमें खेद नहीं लाते और अपनी श्रद्धाको नहीं बिगाड़ते, बल्कि वे और अधिक सावधान होते हैं, धर्ममें विशेषवृत्ति करते हैं।

किसी राजाने अपनी सेनाका बड़ा खर्च उठाया और इस आशासे कि मेरे राज्य पर कोई शत्रु आक्रमण न कर सके और किसी समय कोई शत्रु उस पर आक्रमण कर दे तो क्या राजाको यह विचारना चाहिए कि हटावो इस सेनाको, सबको इन पदोंसे हटा दो ? देखो बीसों वर्षसे इस सेना पर खर्च करता चला आया हू और देखो शत्रुने आक्रमण कर ही दिया तो क्या राजाको ऐसा सोचना चाहिए ? अगर ऐसा सोचता है तो उसका राज्य खत्म। उस समय तो राजाको यही ध्यान करना चाहिए कि किसी शत्रुने आक्रमण किया तो सेनाको पुरस्कार वगैरह देकर उसका उत्साह और बढ़ावे, सेना पर और अधिक खर्च करे। ऐसा यदि वह करता है तो उसे सिद्धि मिलती है, जो कुछ वह चाहता है। इसी प्रकार यहाँ भी देखिए कि धर्म करते करते भी यदि कोई रोग आ जाए, विपत्ति आ जाए, इष्टवियोग हो जाए, अनिष्ट सयोग हो जाए तो ऐसे उपसर्गोंके आने पर श्रावक हो अथवा मुनि, उसे क्या यह सोचना चाहिए कि हम तो धर्म इसलिए कर रहे थे कि हम पर सकट न आये, पर संकट आ ही गया तो ऐसे धर्मको त्याग दे ? यदि वह ऐसा करता है तो उसके समान अज्ञानी और किसे कहा जाये ? उस समय तो यह ध्यानमें लाना चाहिये कि अब आया है समय परीक्षणका, जिसमें यदि हम पास हुए तो हमें आगे सब आसान है। यदि सकट आए हैं, उपसर्ग आए हैं, विपत्तिया विडम्बनाएँ सामने खड़ी हैं तो हम इस धर्ममें अपना और उत्साह बढ़ाएँ। परवाह न करके बाह्यमें दृष्टि न पसारकर हम अपने विशुद्ध ज्ञानानन्दस्वरूपके दर्शनमें चलें, वहीं बैठें, धर्मपालन करें। यदि वह इस प्रकार धर्मपालनमें अपना चित्त देता है, सावधान वर्तता है तो नियमसे उसके सब संकट, उसकी सब विडम्बनाएं दूर होंगी, आत्मसतोष होगा, कर्मोंकी निर्जरा होगी। ज्ञानी पुरुष तपश्चरण करने पर भी यदि सिद्धि नहीं प्राप्त करते तो वे अपने कर्तव्यमें रच भी शका नहीं करते, अपने सयमके पालनमें रचमात्र भी सदेह नहीं करते, रच भी खेद खिन्न नहीं होते, सम्यक्त्वको दूषित नहीं करते। इसीको अदर्शनपरीषहजय कहते हैं।

प्रज्ञापरीषहजय-- धर्ममार्गमें चलनेके प्रसादसे कभी ज्ञान बढ़ जाए, अवधिज्ञान प्रकट हो, श्रुतज्ञान भी विशिष्ट बढ़ जाए, वहाँ बुद्धिका विकास हो जाए तो उस पर मान न करना सो प्रज्ञापरीषहजय है। ज्ञान प्राप्त कर लिया और अभिमान बना लिया तो वह ज्ञानलाभ बेकार रहा। जैसे यहाँके लोकव्यवहार में कोई पुरुष ज्ञानी हो और वह अपने ज्ञानकी स्वयं तारीफ करके लोगोंमें अपना अभिमान बगराथे तो उसका ज्ञान बेकार ही रहा, खुदको भी शान्त न बना सका और लोगोंकी निगाहसे भी भी गिर गया यह तो दुनियाकी बात है। यहाँ मोक्षमार्गकी बात कह रहे हैं कि संयम और तपश्चरणके प्रसादसे बुद्धिका विकास हो जाए, उस पर अभिमान करे तो वह ज्ञानसे नष्ट हो जाएगा, धर्मसे च्युत हो जाएगा। ज्ञानी पुरुष प्रकृत्या ज्ञानबलके कारण ज्ञान प्राप्त होने पर भी रंच अभिमान नहीं करते। श्रावकोंका भी यह कर्तव्य है कि थोड़ासा तत्त्वका शास्त्रका बोध पा लें तो रचमात्र भी अभिमान न करना चाहिए। जरा चिंतन कीजिए कि गणधरदेवका जो ज्ञान है सम्पूर्ण अङ्ग पूर्वज्ञानरूप श्रुतज्ञान, मनःपर्ययज्ञान—उसके सामने हमारा ज्ञान क्या है ? अभिमान न करना, अपने लक्ष्यको संभालना, अपने धर्मपथमें विहार करना यह कर्तव्य गृहस्थजनोंका भी है।

सत्कारपुरस्कारपरीषहजय व शय्यापरीषहजय— अब वर्णन है सत्कारपुरस्कारपरीषहजयका। देखिये संसारके ये मन वाले जीव सब अपना आदर सत्कार चाहते हैं ऐसा उनके अज्ञान अथवा लोभ लगा है और आदर करने वालेको मित्र और आदर न करने वालेको शत्रु समझ लेते हैं। ज्ञानी पुरुषकी प्रवृत्ति तो देखिये—कभी देवेन्द्र, धरणेन्द्र आदि ऊँचे ऊँचे विवेकी पुरुष भी सत्कार करते हैं, अर्घ देते हैं, पूजा करते हैं, इतने पर भी ज्ञानी पुरुष उसमे बह नहीं जाते, उसमें अपना लाभ नहीं समझते और कदाचित् कोई अपमान करे तो उसमें वे विषाद नहीं करते। सम्मान तथा अपमानमें ज्ञानी पुरुष समताका भाव रखते हैं। शय्यापरीषहजय—कङ्करीली, पथरीली जमीनमें शयन करनेमें दुःखी न होकर समताभाव धारण करनेको शय्यापरीषहजय कहते हैं। गृहस्थोंको भी इस ओर धुन न रखना चाहिए कि मेरी शय्या बहुत कोमल हो। अभ्यास ऐसा करें कि चाहे चटाई पर अथवा यों ही जमीन पर सोना पडे तो भी कष्ट न मानें। तो कङ्करीली पथरीली जमीन पर सोते हुए भी खेद न मानना— इसको शय्यापरीषहजय कहते हैं।

चर्यापरीषहजय व बधबन्धनपरीषहजय-- अब है चर्यापरीषहजय। ज्ञानी पुरुष किसी प्रकारकी सवारी की चाह नहीं करते। हाथी घोड़ा रथ आदिक सवारिया चला करती हैं, उनका ध्यान भी न लाएँ, चलते समय पैरमे काटे भी लग रहे, अनेक बाधाये भी आ रही तो भी खेद न लाना, इसका नाम है चर्यापरीषह। गृहस्थोंको भी चाहिए कि अपना कोई काम नहीं बिगड़ रहा, समय भी पड़ा हुआ है, दो चार फर्लांग ही जाना है तो पैदल ही चले जानेका उत्साह भग न करें। शरीरको सुकुमारतामें रखनेके लिए, देहका आराम बनानेके लिए सवारी बिना चल ही न सकें—ऐसी सुकुमारताकी प्रकृति न रखनी चाहिए। बधबन्धन परीषहजय—कोई बधबन्धन आदिका प्रसग आ जाये तो भी ज्ञानी पुरुष समतापरिणाम बनाते हैं। गृहस्थावस्थामें तो बधबन्धनकी बहुतसी घटनाएँ आती हैं। यदि गृहस्थ पर कोई गृहस्थीके कार्यमे बाधा डालता है तो गृहस्थ उसका बदला चुकाता है। यदि वह ऐसा न करे तो उसका जीवन दूभर हो जाता है। साधुसंतजनोंके तो बधबन्धन आदिकके समयमें भी उस प्रकारका कुछ भी विकल्प नहीं है। यही उनका बधबन्धनपरीषहविजय है।

परीषहविजयाभ्यासकी आवश्यकता – गृहस्थाचारका वर्णन करते हुए आचार्यदेव इस प्रसगमें यह समझा रहे हैं कि गृहस्थोंको भी कष्टसहिष्णु होना चाहिए। जब यह जीव सबसे निराले अपने ज्ञानस्वरूप को निहारता है और जानता है कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हू, इससे आगे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है तो उस

समय उसमें समस्त कष्ट सहनेकी क्षमता हो जाती है और जब अपने स्वरूपकी सुधि छोड़कर बाहरी पदार्थोंसे हितकी आशा इच्छा रखता है तो उसमें कायरता जगती है और कष्ट सहनेकी क्षमता फिर नहीं रहती। तो कष्ट सहनेकी क्षमता जीवमें तब आती है जब यह अपने स्वरूपकी सुधि रखता है। अहो! मेरे स्वरूपमें कष्ट है ही कहाँ? जब अपनेको कष्टरहित स्वभाव वाला देखता है तो कर्मोदयसे उत्पन्न हुए कष्टमें थोडा बहुत वियोग भी आ जाए तो भी थोड़ा बहुत वियोग सहनेकी क्षमता हो जाती है। जीवमें दो उन्मुखतायें हैं—स्वोन्मुखता व परोन्मुखता। अपने आपकी ओर उन्मुख हो, अपने स्वरूपका ग्रहण करें तो उसके कोई संकट नहीं हैं, पर इसके लिए चाहिए ज्ञानबल। जैसे जगत्के और अनन्त जीव हैं, मुझसे निराले हैं ठीक उसी तरह अत्यन्त भिन्न निराले घरमें उत्पन्न हुए ये पुत्रादिक भी हैं। इसमें कोई सदेहकी बात नहीं है। तो जब यथार्थताकी ओर दृष्टि देते हैं तब आत्माको अशान्ति नहीं रहती और जब यथार्थताके स्वरूपसे चिगकर बाहरी मायाजालोंको अपनाते हैं, लोगोंको निरखते हैं, अपनी शान पोजीशनकी बात निरखते हैं तो वहाँ अशान्ति उत्पन्न होती है। कष्टसहिष्णु बननेके लिए श्रावकोंको चाहिए कि अपने आत्मस्वरूपकी भावना अधिकाधिक किया करें, इन परीषहोंका मुख्यतया तो मुनिजन विजय करते हैं, पर श्रावकोंको भी अपनी शक्ति माफिक परीषहोंका विजय करना चाहिए। कोई पुरुष कैसा ही कष्ट दे पर अपने कष्टरहित स्वभावको निरखकर उस बाह्य कष्टको समतापूर्वक सहन कर लेना यही है वधबन्धनपरीषहजय। इस समय शरीरमें आत्मा बधा हुआ है और इतना परतन्त्र है निमित्त-नैमित्तिकभाववश कि शरीरको छोड़कर आत्मा दूसरी जगह जरा भी बैठ नहीं सकता। जहाँ शरीर जाता है वहाँ आत्मा जा रहा है। जहाँ आत्माकी गति है वहाँ शरीरकी भी गति है। शरीरमें कुछ भी पीड़ा हो तो उसका अनुभव यह आत्मा अपनी कल्पनासे दु:खरूपमें करता है। ऐसा परस्परमें आत्माका भिडाव है। लेकिन इतने पर भी जब यह आत्मा अपने उस अमूर्त एकाकी ज्ञानानन्द स्वरूप जो सबसे अलिप्त है वह अपने आपमें ही है ऐसे उस स्वरूपको निरखता है तो फिर इस आत्मामें कष्ट सहनेकी क्षमता आती है।

निषद्यापरिषहजय व स्त्रीपरीषहजय— निषद्यापरीषहजय—निषद्या नाम बैठनेका है। जहां हिंसक जीव रहते हों, जहाँ व्यन्तर देवोंका वास हो, अंधेरी गुफायें, श्मशान आदिक स्थानमें निर्भय होकर बैठे रहना व धर्मध्यान करना, किसी भी प्रकारका कष्ट न मानना और कष्ट भी हो तो समतासे सह लेना सो निषद्यपरीषहजय है। जब अपना मन अपने वशमें रहता है तब आत्मज्ञान इतना बढ़ जाता है कि मन वशमें रहने लगेगा। यह ज्ञान मनको जिस प्रकार चलाये सो चले, जहाँ रमाये सो रमे, जहाँसे हटाना चाहे तुरन्त हटाये, अपने आपके स्वरूपमें मनको लगाना चाहे तुरन्त लगाये, तब इस प्रकार आत्मज्ञान सबल होता है। मनको वशमें कर लिया जाता है तो उस समय यह जीव फिर कष्टका पात्र नहीं रहता। मन वशमें नहीं है, बाह्यकी ओर लगता है, बाह्यपदार्थोंमें दुराग्रह करता है। जैसा सोचे, जैसी बात मनम आए, उनकी प्राप्तिके लिए दुराग्रह बन जाता है तब यह जीव कष्टमें होता है। जीवका स्वरूप तो कष्टरहित आनन्दमय ज्ञानमात्र है। उसके सत्त्वमें देखो तो किसी प्रकारकी बधा नहीं है और जब अपने स्वरूपसे चिगकर बाह्यविषयोंमें लग गए, इन्द्रिय विषयोंकी पूर्तिमें ही हित मानने लगे तो उस समय यह मन उद्दण्ड हो जाता है और आत्मा दु:खी हो जाता है। जहाँ मन वशमें है वह किसी भी जगह हो, दृढतासे बैठकर ध्यान करता रहता है। अन्तिम परीषहविजय बताया है स्त्रीपरीषह विजय। संसारका जन्ममरण इतना परिभ्रमण जो कुछ हो रहा है, उसका मूल कारण तो अज्ञान है, पर साथ ही साथ सब वेदनाओंमें, सब पीड़ाओंमें काम वेदना बहुत निकृष्ट और अहित करने वाली है। साधुजन स्त्रीपरीषहका विजय करते हैं। रूपवती नाना हावभाव दिखाने वालों जो कायर पुरुषोंको अपने

नेत्र कटाक्षोंसे विवश कर दे, ऐसी स्त्रीके समक्ष भी अपने चित्तको न डिगाना, अपने आपमें दृढ़ रहना सो स्त्रीपरीषहजय है। यों गृहस्थोंको भी यथाशक्ति परीषहजयका अभ्यास करना चाहिए। यदि गृहस्थ ऐसा कर सके तो समझो कि वे भी मोक्षमार्गमें हैं।

द्वात्रिंशतिरप्येते परिषोढव्याः परीषहाः सततम्।
संक्लेशमुक्तमनसा संक्लेशनिमित्त भीतेन ॥२०८॥

उक्त प्रकार बताई गई बाईस परीषहोंको समतापूर्वक सहना चाहिये। ऐसे विशुद्ध मनसे इन परीषहोंको सहना चाहिये कि मन संक्लेश परिणामोंसे मुक्त रहे। साधकको संक्लेशके निमित्तोंसे भीत रहना चाहिये। साधक ऐसे निमित्त तो न मिलावे जिसमें संक्लेश परिणाम हो सकनेकी सभावना हो, किन्तु कोई उपसर्ग आ जावे तो उसे समतापूर्वक सहे। हितमार्गका सिद्धान्त है कि बिना कष्टके, आराममे ही रहकर जो ज्ञान और आत्मनियन्त्रण साधा जाता है वह कभी परीषह उपसर्ग आने पर स्खलित हो सकता है, अतः जान समझ कर भी कष्टोंको सहनेका अभ्यास बनाना चाहिये। कष्टसहिष्णुता होने पर कभी उपसर्ग आये तो उस समय साधित ज्ञान ध्यान विचलित न हो सकेगा, साधुजन तो २२ परीषहों पर भली प्रकार विजय करते ही हैं, गृहस्थजन भी अपनी शक्ति अनुसार परीषहों पर विजय प्राप्त करते रहें। परीषहविजय कर्मनिर्जरा विशेषतया होती है।

इति रत्नत्रयमेतत्प्रतिसमय विकलमपि गृहस्थेन।
परिपालनीयमनिशं निरत्ययां मुक्तिमभिलषता ॥२०९॥

मुक्त्यभिलाषी गृहस्थ द्वारा विकलरत्नत्रयका पालन—प्रति समय गृहस्थोंको विकलरत्नत्रयका पालन करना चाहिये। मुक्तिकी इच्छा रखने वाले ये गृहस्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको एकदेश रूपसे पालन करते हैं अर्थात् रत्नत्रयकी पूर्णता तो इसमें है कि अपने आत्माके यथार्थस्वरूपका श्रद्धान करें, उसका उपयोग रखें, और उस ही आत्मस्वरूपमें मग्न होवें, इसे कहते हैं रत्नत्रय, पर ऐसा रमण साधुजनोंके तो सर्वदेश रूपसे हो सकता है, चूंकि गृहस्थोंके आरम्भ और परिग्रह लगा है, कुटुम्ब परिवार मेल मिलाप आदि सभी तरहके प्रसंग लगे हैं, उनका उपयोग आत्मरत्नत्रयमें लग कैसे सकता है? इसलिए उनके विकलरत्नत्रय कहा गया है। सकलरत्नत्रय धर्म तो मुनियोंका है और विकलरत्नत्रय धर्म गृहस्थोंका है। सकलरत्नत्रय धर्म तो साक्षात् मोक्षका मार्ग है और वह परम्परा मोक्षका कारण है। इसलिए यदि समग्र रत्नत्रय सिद्ध करनेकी शक्ति नहीं है तो विकलरत्नत्रयको तो धारण करना ही चाहिए अर्थात् गृहस्थोंको देवपूजा, गुरूपासित, स्वाध्याय, संयम, तप और दान—इन ६ कर्तव्योंमें लगना चाहिए और अपने आत्माके स्वरूपकी स्मृति बराबर रखनी चाहिए। यह मैं आत्मा सबसे निराला केवल ज्ञानानन्दस्वरूप हू, ऐसी आत्मस्वरूपकी दृष्टि यदि रही आयेगी तो आत्मा आकुलित न होगा।

कल्पनाओंसे आकुलताओंका आविर्भाव—आकुलताएँ हैं क्या? किन्हीं आकुलताओंको ले लो, कोई कहे कि मेरा यश नहीं फैलता, लोग सम्मान नहीं करते, मुझे तो बड़ा क्लेश है। अरे क्लेश रंचमात्र भी नहीं है, लोग लोगकी जगह हैं, तुम तुम्हारी जगह हो, ये लोग कोई प्रभु नहीं हैं जो कुछ इसको अच्छा कह दें तो अच्छा ही बन जाय। अरे लोग भी संसारी प्राणी हैं, कर्मोंके प्रेरे हैं। क्या दुःख है तुम्हें? अपने आपके स्वरूपको देखो वहाँ कोई कष्ट नहीं है। कोई कहे कि हमें अधिक धन नहीं प्राप्त हो रहा है, लोग कैसे कैसे धनी हैं, हम दरिद्र हैं। उनके भी धन क्या है, बल्कि धनके कारण परेशानियां उन्हें अधिक हैं। उन परेशानियोंको चाहे वे न मानें लेकिन दिन रात बेचैन रहते हैं, उनके धनी होने से आत्माका सुधार क्या है और दरिद्र रहने से आत्माका बिगाड़ क्या है? आत्मामें शान्तिका उदय धन के कारण नहीं होता, अपने ज्ञानके कारण होता है। धन भी है किन्तु ज्ञान यदि मलिन है तो शान्ति

प्राप्त नहीं हो सकती और कोई दरिद्र भी है किन्तु ज्ञान उज्ज्वल है, भेदविज्ञान आत्माज्ञान सब उसके स्पष्ट हैं तो उसे शान्ति रह सकती है। तो शान्ति सतोष नामकी चीज ज्ञानकी स्वच्छता पर निर्भर है बाह्य पदार्थोंके मिलने पर नहीं। कोई कहे कि बड़ा कष्ट है—परिवारमें बहुत लोग नहीं हैं, सतान नहीं है आदिक कुछ भी बात कहे, भला बतलावो उसे क्या दु ख है? अरे संतान तो ज्ञानका नाम है जो कि आत्मामें संततिरूपसे चलता रहता है, पुत्र वह कहलाता है, जो वशको पवित्र करे। वश है आत्माका चैतन्यस्वरूप। ये पशु पक्षी मनुष्यादि कोई वश नहीं। अपने ज्ञानको पवित्र करें, अपने आपको ही अपना पिता, अपना रक्षक बनावें, यह जीव स्वय है तो स्वयं स्वयकी रक्षा करे। स्वय स्वयके वंशको पवित्र करे। बाहरमें क्या है, कौन किसका रक्षक है, क्या दु ख है। संतान हुआ यो क्या, न हुआ तो क्या?

अपने आपके स्वरूपकी सभालसे कष्टोका प्रक्षय—अपने आपके स्वरूपको सभालें वहाँ किसी प्रकारका कष्ट ही नहीं है, स्वभावको तो निरखिये, किम स्वभावसे आत्मा चलता है? एक ज्ञानस्वभावसे जाननमात्र प्रतिभास करना यही है आत्माका स्वभाव। यह स्वभाव दृष्टिमें आये तो फिर आपको कोई भी कष्ट नहीं है। कोई कहे कि मेरा शरीर दुर्बल है, मेरेमें रोग है, मुझे बड़ा कष्ट है। अरे जब तक शरीर मैं हू, यह शरीर मेरा है, इस प्रकारका अनुभव रहेगा तब तक कष्ट होगा ही और जब भेदविज्ञानके बलसे यह स्पष्ट बोध हो जायेगा कि शरीरसे निराला केवल ज्ञानमात्र मैं हू, जो आकाशकी तरह अमूर्त हू, निर्लेप हू, जिसमें किसी दूसरे भावका प्रवेश नहीं है, ऐसा यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा हू। यों अपनी सुध लेगा उसे शरीरवेदना रोगका कष्ट ही न रहेगा। अपने स्वरूपको सभाले वहा कष्ट दूर होता है और जब परकी ओर दृष्टि लगाते हैं तो वहां कष्टकी उत्पत्ति होती है, बात तो यों है लेकिन मोही पुरुष जिन बातोंसे कष्ट पाते हैं उन ही बातोंसे कष्ट मेटनेका उपाय सोचते हैं। मोहसे, परदृष्टिसे, परके स्नेहसे कष्ट होता है लेकिन इस कष्टको जब सह नहीं पाते तो उपाय यह करते हैं कि हम परसे स्नेह करें, परको मनावें, परसे प्रीति करें। इस उपायसे कष्ट मिटता नहीं बल्कि कष्ट और बढ़ता है। एक अपने ज्ञानका सहारा लें तो कष्ट दूर हो सकता है, इसी उपायका नाम है रत्नत्रय। इसही में आत्माके प्रभोजनकी सिद्धि है।

बद्धोद्यमेन नित्य लब्ध्वा समयं च बोधिलाभस्य।
पदमवलम्ब्य मुनीनां कर्तव्य सपदि परिपूर्णम् ॥२१०॥

बद्धोद्यम होकर मुनिकर्तव्यकी परिपालनीयताका ध्यान— गृहस्थोंको भी बड़ा उद्यम बनाकर निरन्तर इस विकलरत्नत्रयकी उपासना करनी चाहिए और रत्नत्रयका लाभ प्राप्त करके फिर निकट भविष्यमें मुनिपद का आलम्बन लेकर परिपूर्ण रूपसे रत्नत्रयकी साधना करनी चाहिए। विवेकी जीव गृहस्थीमें रहकर भी सासारिक भोगविलाससे विरक्त रह सकते हैं। एक ज्ञान हमारा किस ओर लग रहा है बस यही हमारी जीवनयात्राकी एक निर्णय करने की बात है। हमारा ज्ञान यदि विषयकषायोंकी ओर लग रहा है तो हमारी यात्रा खराब है, हम भविष्यमें शान्ति नहीं प्राप्त कर सकते, वर्तमानमें भी अशान्त हो रहे हैं। यदि हमारा ज्ञान ज्ञानस्वरूपके ज्ञानमें लग रहा है, सर्वसे निराले एक शून्यवत् अर्थात रागादिक परभावों से विकल्पोंसे निराले अपने चैतन्यस्वरूपमें अपना उपयोग लग रहा है तो फिर वहा कोई कष्टकी बात नहीं आती है। कोई कहे कि यह बात गृहस्थीमे बहुत कठिन है कि हम सबको एक समान मान लें। ये हमारे हैं, ये पराये हैं यह दृष्टिमे न रहे तो गृहस्थाचार कैसे निभेगा? तो यह बात उनकी ठीक है व्यवस्थाके नाते तो कठिन है किन्तु एक अपनी सही समझ तो बना सकते हैं। सभी भिन्न हैं लेकि इनलोंको जिम्मेदारी हम पर है, कब तक? जब तक कि हम गृहस्थीमें रहते हैं। गृहस्थीका त्याग हो जाय, निर्ग्रन्थ हो जाय, अपने आपके आत्मभावसे अपनी धुनि जुड़ जाय तो फिर किसी भी प्रकारका कोई कष्ट नहीं आने पाता। घरमें रहें और अपनी जिम्मेदारी कुछ न समझें तो गृहस्थीका काम नहीं निभ

सकता, लेकिन जहां तक समझने की ज्ञान करने की बात है, सही ज्ञान बनानेमें कोई आपत्ति नहीं है। अथवा ज्ञानका स्वरूप ही ऐसा है कि वह सही सही जाना करे। और सही जब जानते हैं तो उसमें कारण मोह है। मोह साथ लगा है तो पदार्थको विपरीत जानते हैं, पर ज्ञान मोहके साथ हो तब वह एक जानन का काम करता है। मोह मेरी दिशा बदल देता है। तो ज्ञानका काम यथार्थ जाननका है। यथार्थ जानकारी रहे तो इससे भी गृहस्थको बहुत शान्ति होती है। यहां भी अनेक गृहस्थ देखे जाते हैं। कोई विशेष शान्त हैं, कोई अशान्त है, कोई अधिक दुःखी है, कोई कम दुःखी है, तो यहां भी तो ज्ञानबलमें फर्क देखा जाता है। जिस मनुष्यके ज्ञानबल विशेष है वह शान्तिमें रहता है, जिस मनुष्यके ज्ञानबल नहीं है, परपदार्थोंकी दृष्टिमें फंसा है उसके अशान्ति देखी जाती है। शान्ति और अशान्ति तो ज्ञान व अज्ञानपर निर्भर हैं। यहा किसी भी परपदार्थके साथ अपना लगाव करने से, परसे स्नेह बनानेसे कुछ भी लाभ न होगा प्रत्युत हानि ही होगी। यहां कोई भी परपदार्थ शान्ति देने वाला नहीं है। हमारा ही ज्ञान अगर संभाला हुआ है तो हम शान्त हैं और यदि हमारा ही ज्ञान डिग गया तो हम अशान्त हो जाते हैं। अपने ज्ञानको विशुद्ध बनानेका अपना अधिकाधिक यत्न होना चाहिए। धन संचय, परिवार स्नेह, गप्प सप्प नामवरी आदिक ये तो सब व्यर्थकी बातें है। इनमें अपना जो भी समय लगाते हैं वह व्यर्थ जाता है जिन्हें भी शान्ति चाहिए हो उन्हें अपना ज्ञान विशुद्ध बनाना होगा जिसके प्रतापसे वैराग्य भाव रहेगा। वैराग्य है तो वहां शान्ति है और जहा परका स्नेह है, परका लगाव है वहां अशान्ति है।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

विकलरत्नत्रयकी भावनामे भी मोक्षोपायताका दिग्दर्शन—यह गृहस्थ विकलरत्नत्रयका पालन करता है अर्थात् एक देश सयमका पालन करता है। देवपूजा, भक्ति, दया, दान ये सभी प्रकारके पुण्यकर्म भी करता है, तो इस पवित्र पुण्यकार्यके करनेमें जो कर्मका बन्ध होता है वह कर्मबन्ध इसके स्वभावके कारण नहीं हो रहा, किन्तु राग लगा हुआ है उससे हो रहा है। जैसे भगवानकी भक्ति कर रहे हैं मंदिरमें तो उस समय पुण्यकर्मका बन्ध होता है, लेकिन यह भी ध्यानमें लायें कि जिसको आत्माका परिचय है, परमात्माके स्वरूपका ज्ञान है वही परमात्माकी सच्ची भक्ति कर सकता है। तो भक्ति करनेके समयमें इस जीवको राग भी लग रहा है और वैराग्य भी चल रहा है। ज्ञान और वैराग्य जिसके है वही पुरुष परमात्माके स्वरूपकी भक्ति कर सकता है। जो पुरुष विषयान्ध हैं, रागी हैं मोही हैं वे परमार्थ भक्ति नहीं कर सकते और कभी परमात्माका नाम भी लें तो उन्हें स्वरूपका बोध नहीं है, केवल यही समझते हैं कि परमात्मा, प्रभु, ईश्वर हमें सुख देगा, हमारी इच्छाकी पूर्ति करेगा इसलिए नाम लेते है, पर परमात्माका यथार्थस्वरूप जाने बिना, आत्माका अनुभव किए बिना इस जीवको परमात्मामें भक्ति भी नहीं उमड़ सकती। तो परमात्मामें जो भक्ति उमड़ती है वह केवल रागका काम नहीं है, ज्ञान वैराग्य और राग होता है ये तीनों साथ-साथ भक्तिके समय चल रहे हैं, इनमें से किसी एकको हटा दें तो भक्तिका रूप ही न बनेगा। जैसे किसी पुरुषको ज्ञान नहीं है कि परमात्मा क्या कहलाता, आत्माका क्या स्वरूप है तो उसको वैराग्य भी कहासे आयेगा और राग तो रहेगा, पर परमात्माके स्वरूपमें अनुरागरूप राग न रहेगा। मान लो ज्ञान भी है और परमात्मामें राग भी है पर वैराग्य नहीं है तो वैराग्य हुए बिना स्वरूपमे अनुराग नहीं जग सकता। मान लो ज्ञान भी है, वैराग्य भी है और राग बिलकुल नहीं है तो वह तो ध्यानस्थ बन जायेगा। निर्विकल्प आत्मस्वरूपके अनुभवमें ही बसेगा, उसके भक्ति कहां बनेगी? प्रभुकी भक्ति तो बनती है इन तीन तत्त्वोंसे। ज्ञान हो, वैराग्य हो और साथ ही राग भी हो। भगवानकी भक्तिके समय जो पुण्यका बंध होता है वह पुण्यबंध संसारका कारण है या मोक्षका कारण है? एक यह समस्या सामने

रखी गई है ? उसे लाभकी दृष्टिसे मोक्षका उपाय तो कह सकेंगे, पर संसारका उपाय नहीं कह सकते। ज्ञान वैराग्य और अनुरागकी भावनासे जो पुण्यका बंध होगा वह तो मोक्षमार्गमें सहायक होगा, उसके योगमें ससारका बन्धन कटेगा।

मुक्तिका साधन वीतरागभाव—मुक्ति तो प्राप्त होगी रत्नत्रय की उपासनासे, परमात्मस्वरूपकी उपासनासे। तो वहां दो भाग कर लीजिए। जितनी दृष्टि आत्मस्वरूपकी बनी हुई है, जितना आश्रय आत्मस्वरूपका लिया जा रहा है उतना तो है मोक्षका उपाय और जितना आश्रय राग भावका लिया जा रहा है, राग चल रहा है उतना है बन्धनका उपाय। तो विवेक करना चाहिए गृहस्थके एक ही समय एक ही परिणाममें जो आश्रव, बध, संवर, निर्जरा चारों चलते हैं अर्थात् गृहस्थ ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है, अपने ज्ञानकी प्रतीति रखता है उसके सवर भी तो चल रहा है, पर क्या कोई ऐसा समय है जिस समय सवर ही सवर चल रहा हो, कर्मबध बिलकुल न होता हो, ऐसा कोई अवसर नहीं है। ज्ञानी गृहस्थके प्रति समय आश्रव, बंध, सवर और निर्जरा ये चारों चलते रहते हैं और परिणाम होता है एक समयमें एक पर्याय परिणमन, जो कुछ भी परिणति हो रही है वह एक समयमें एक हो रही है। अब उस एक परिणति का निमित्त पाकर आश्रव, बध, संवर, निर्जरा ये चार बातें हो रही हैं, तो उसमें यह विवेक करना होगा कि जो एक परिणति बनती है, वह केवल राग रागसे अथवा वैराग्य वैराग्यसे नहीं बनती, किन्तु कुछ राग है, कुछ वैराग्य है, उस ज्ञानी गृहस्थके इस कारण संवर भी चल रहा है और बध भी। संवर तो उसशक्तिके कारण चलता है जिस शक्तिसे वैराग्य है, ज्ञानका आलम्बन है और बध उसशक्तिसे चल रहा है जिस रागका आलम्बन है तो हम गृहस्थजन धर्मपालनके प्रसगमें देवभक्तिमें लगते हैं तो उस देवभक्तिके समय जो अपने आपमें गल्ती समझ रहे हैं और भगवान्की वीतरागता और सर्वज्ञता समझ रहे हैं और उस वीतरागसर्वज्ञका अपने आपकी शक्तिमें जोड़ किया जा रहा है तो ऐसे इस संगममें अर्थात् भगवानके गुणोंका स्मरण, भगवानके गुणोंकी तरह आत्माके गुणोंका स्मरण और अपने आपकी वर्तमान हीन दशा—ये तीन बातें उस ज्ञानीके भक्तिके समयमें जब उपयोगमें आती हैं तो उस समय इसके ऐसी विशुद्ध भक्ति होती है कि जिसमें हर्ष और विषाद दोनों बढ़ जाते हैं, उस समय इस ज्ञानी गृहस्थके पुण्यका बध भी होता है और सवर निर्जरा भी चलती है। संवर निर्जराका कारण तो है ज्ञान और वैराग्य और बन्धनका कारण है रागभाव। तो गृहस्थीका ऐसा एक मिश्रमार्ग है जहा राग भी चलता है और वैराग्य भी चलता है। उसमें यह निर्णय रखना चाहिए कि जितने अंशमें रागका भाव है उतने अंशमें तो सवर हो रहा है और जितने अशमें राग चल रहा है उतने अशमें बन्धन हो रहा है। गृहस्थ अपने ज्ञानस्वभावकी प्रतीति रखता है और जो विशुद्ध ज्ञानी हो गये, ऐसे परमात्म-स्वरूपकी भक्ति करता है और यों यह गृहस्थ अपने कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ मोक्ष मार्गमें बढ़ता चला जाता है।

रत्नत्रयकी समग्र व असमग्र साधनाके अधिकारी—मुक्तिका मार्ग रत्नत्रय है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यही ससारसे छूटनेका उपाय है। सो इस रत्नत्रयकी साधना पूर्णरूपसे तो साधु करते हैं और आशिक रूपसे गृहस्थ भी करते हैं। तो गृहस्थ जो कुछ सम्यक्चारित्रका धारण करते हैं अपूर्ण रत्नत्रयका पालन करते हैं ऐसे उस अपूर्ण रत्नत्रयके पालनमे या व्यवहार रत्नत्रय पालनमें जैसे कि कुछ लोग एकान्तसे ऐसा मानते हैं कि वहाँ कर्मोंका बध होता है और निश्चयरत्नत्रय पालनमें अथवा पूर्ण रत्नत्रयके पालनमे मोक्षका मार्ग बनता है। इस सम्बन्धमें कुछ स्पष्टीकरण है कि अपूर्ण रत्नत्रयके पालनके समयमें भी जितने अशमे सम्यक्त्व ज्ञान चारित्रकी वर्तना है उतने अशमें तो इस जीवके बन्धन नहीं होता और जितने अशमें राग है उतने अशमें बन्धन होता है, इसही बातको स्पष्ट कर रहे हैं।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१२॥

सम्यक्त्वमें बन्धनकी अहेतुता व रागांशमें बन्धनहेतुता—जितने अंशमें सम्यग्दर्शन है या जिस अंशसे सम्यग्दर्शन है उस अंशमें बन्धन नहीं है और जिस अंशसे इसके राग है उस अंशसे बन्धन होता है। यहाँ एक प्रश्न और किया जा सकता है कि क्या सम्यग्दर्शनके भी अंश होते हैं? जैसे रागके अंश होते हैं इसमें कम राग है इसमें ज्यादा राग है तो क्या ऐसे ही अंश सम्यग्दर्शनमें भी होते हैं? तो सम्यक्त्व में अंश तो नहीं होते। जब सम्यक्त्व होता है तो पूर्ण होता है, जब सम्यक्त्व नहीं है तो नहीं है। लेकिन यहां यह बात कही जा रही है कि जो भी रत्नत्रयकी प्रवृत्ति चल रही है गृहस्थकी उस प्रवृत्तिके समय सम्यक्त्वकी धारा भी चल रही है और रागभाव भी चल रहा है, क्योंकि गृहस्थकी पदवी एक छोटी पदवी है। तो उस परिस्थितिके समय यह विवेक बताया है कि जो सम्यक्त्वकी धारा चल रही है उसके कारण बंध नहीं है। जो रागकी बात चल रही है उसके कारण बंध है। इसीसे सम्बन्धित और भी बातें सुलझा लीजिए। जिनेन्द्र भगवानकी भक्ति करते हैं उस भक्तिको कोई लोग केवल कर्मबंधका कारण कहते हैं और कर्मबन्धका कारण है इसलिए त्याज्य है, हेय है, ऐसा भी उपदेश करते हैं, लेकिन भक्तिमें यह मर्म समझना चाहिए कि जिनेन्द्रदेवकी भक्तिका परिणाम केवल राग करनेसे नहीं बना किन्तु उस भक्तिमें ज्ञान भी है, वैराग्य भी है और साथ ही अनुराग भी है तो इन तीनोंके मेलसे भक्तिका परिणाम बना। तो वह भक्तिका-परिणाम केवल बंधका कारण कैसे हुआ? भक्तकी परिणति जब ज्ञानसाध्य वैराग्य-साध्य और अनुरागसाध्य है तो जितने अंशमें ज्ञान और वैराग्यकी धारा चल रही है उतने अंशमें मोक्ष का मार्ग है और जितने अंशमें रागभाव चल रहा है उतने अंशमें बन्धन है। सो यह रागभाव सांसारिक बन्धन जैसा नहीं है, तो गृहस्थकी एक परिणतिके समय आस्रव भी हो रहा, बंध भी हो रहा, संवर भी हो रहा और निर्जरा भी हो रही। इसमें जितने अंशमें वैराग्यकी बात है उतनेमें संवर और निर्जरा है और जितने अंशमें रागादिक विकार हैं उतनेमें बन्धन है, आस्रव बंध चल रहा है।

सम्यग्ज्ञान होने पर भी सरागता व वीतरागताके भेदसे प्रभावमें भेदकी झलक—उक्त बात इसलिए बताई गयी कि कोई यह न समझे कि गृहस्थाचार केवल बन्धनका कारण है, श्रावकका आचार केवल बन्धनका कारण है अतएव उसे छोड़ें ऐसी बात चित्तमें न लायें। इन स्पष्ट कारणोंसे यह बात बतायी गई है। हां संयम धारण करे, महाव्रत धारण करे यह ठीक है। अब इतनी शक्ति किसीमें न हो तो श्रावकधर्ममें रहकर अपनी धर्मसाधना करें। श्रावकधर्म भी बहुत पवित्र जीवन है, कोई नियमपूर्वक धर्मानुराग सहित करे तो। श्रावक भी ज्ञानी होता है, उसके चित्तमें भेदविज्ञान बना होता है। समस्त जीव न्यारे हैं। ये धन वैभव आदिक पौद्गलिक ठाठ न्यारे हैं। इन सब चेतन अचेतन वैभवोंसे मैं निराला केवलज्ञानज्योति स्वरूप हू—ऐसा उसके भेद विज्ञान बसा है, ज्ञानी है, किन्तु कर्मोंका ऐसा ही विलक्षण उदय है कि वह सर्वपरिग्रहोंको त्यागकर अति विरक्त नहीं बन सकता। ऐसी स्थितिमें उसने जो घर बसाया है वह एक सन्तोषके लिए बसाया है कि इतने मात्रसे मैं सन्तुष्ट रहूंगा और बाकी समय हमारा धर्मध्यानमें व्यतीत होगा। ऐसा एक अपना मार्ग निकालनेके लिए श्रावकाचारको अंगीकार किया है। उसमें यदि अपनी सही चर्यासे रहा जाय, देवपूजा आदिक जो ६ कर्तव्य बताये गए हैं—भगवत जिनेन्द्रदेवकी पूजा करना, गुरुजनोंकी सेवा करना, स्वाध्याय करना, संयमसे रहना, इच्छावों पर विजय करना और योग्य पात्रोंमें योग्य धर्मस्थानोंमें धर्मका साधन करना आदि ये ६ कर्तव्य निभाते रहें और अपने लक्ष्यको न भूलें तो श्रावकाचार भी एक बहुत बड़ी पवित्रता लाता है।

येनांशेन तु ज्ञानं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१३॥

ज्ञानांशमें बन्धनकी अहेतुता व रागांशमें बन्धहेतुता--इस श्रावकाचारके पालनके समय अपूर्ण रत्नत्रयके धारणके समय जितने अंशमें ज्ञानधारा चल रही है उतने अंशमें बन्ध नहीं है और जिस अंशसे राग चल रहा है उस अंशसे इसका बन्धन है। ज्ञानी पुरुषको यह पूर्ण निर्णय है कि रागभाव बंधका ही कारण होता है और रागभाव ही विडम्बना है, संसारके उलझनोंमें फंसाने वाली परिणति रागपरिणति है और रागपरिणाम भी एक अपूर्णतामें अशक्तिमें होने वाला परिणाम है। तब प्रत्येक पदार्थ न्यारे न्यारे केवल अपने-अपने स्वरूपको रखने वाले हैं। मेरे आत्माका भी यह एकत्व स्वरूप है, किसी भी पर से इसका सम्बन्ध नहीं है, न कोई हुआ है अब तक मेरा न कोई है और न कोई हो सकेगा, लेकिन जैसे स्वप्न देखनेके समय झूठ भी बात हो, सामने कुछ चीज भी नहीं है लेकिन एक मनकी कल्पनासे सब कुछ अपना मान लिया जाता है, इसी प्रकार मोहकी नींदमें सामने सामने नहीं है कुछ अपना, न कुछ है, न होगा, न हो सकता है, कुछ सम्बन्ध भी नहीं है लेकिन कल्पनासे अपना मान लिया जाता है यह व्यर्थकी मान्यता है, केवल एक निज गुण पर्याय वाला यह आत्मद्रव्य है, इसमें अन्य कुछ नहीं है, यह केवल अपने स्वरूपमें है, ऐसा ज्ञान जिनके है उनके मोह नहीं बस सकता है, ममताका वहाँ प्रवेश नहीं है फिर भी जो रागभाव चल रहा है, जिसके कारण वह गृहस्थाचारमें रह रहा है उस रागभावकी बात कह रहे हैं कि रत्नत्रयके पालनके समय, भगवत्भक्तिके समय, धर्मसाधनाके समय जो रागभाव रहता है सो वहां जितने अंशमें राग है उतने अंशमें तो बन्धन है पर जितने अंशमें ज्ञानका समन्वय है उतने अंशमें बन्धन नहीं है।

येनांशेन चरित्रं तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनं भवति ॥२१४॥

चारित्रांशमें बन्धनकी अहेतुता व रागांशमें बन्धनहेतुता--श्रावक अपनी शक्तिके माफिक चारित्रको भी धारण करते हैं। श्रावकके आचरणके पालनमें प्रवृत्तिमें रागभाव भी रहता है। श्रावकोंके शुभराग शुभोपयोग की अधिकता चला करती है, लेकिन उस राग परिणतिके समय भी दया, दान, भक्ति, परोपकार, ध्यान, जाप, चिन्तन आदिक जो कुछ भी श्रावक करते हैं उस परिणतिके समय भी यह विवेक रखना कि जितने अंशमें चारित्र चल रहा है कषायोंका अभाव होने से जो आत्मस्वरूपमें प्रतीतिरूप जो कुछ भी स्वरूपका आचरण हो रहा है, चारित्रकी दृष्टिसे बंध नहीं है और जितने अंशमें राग चल रहा है उतने अंशमें बन्धन है। मुनियोंको दान देना, शुद्ध भोजन बनाना, भगवत पूजन करना, मंदिर निर्माण करना अनेक कार्य श्रावकोंके हुआ करते हैं, और वे सब कार्य केवल वैराग्यसे नहीं बनते और केवल रागसे नहीं बनते। मात्र रागसे तो विषयपोषणके कार्य बनते हैं और मात्र वैराग्यसे निर्विकल्प ध्यानके कार्य बनते हैं, पर ये बीचके जो कार्य हैं धर्मकार्य वहां कुछ वैराग्य है, उपेक्षा है और कुछ अनुराग है तो वैराग्य और अन्तरङ्ग इन दोनोंके रहनेसे ये श्रावकोंके कर्तव्य बना करते हैं। उन कर्तव्योंमें जितने अंशमें उसके कषायोंका अभाव है, चारित्र है, उतने अंशमें से तो बन्धन नहीं और जितने अंशमें उसके राग है उतने अंशमें उसके बन्धन है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति तु कषायात्।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं न कषायरूपं च ॥२१५॥

रत्नत्रयमें योगरूपताका व कषायरूपताका अभाव होनेसे बन्धनकी अहेतुता--कर्मोंका बन्धन होता है- ये कर्म दिखते तो नहीं हैं, न कोई किसी दूसरे को बता सकता है कि देखो ये कर्म पड़े हुए हैं, लेकिन यह संसारकी जो विचित्रता नजर आ रही है—कोई श्रीमान् है, कोई गरीब है, कोई आराममें है, कोई दुःखी

है, ऐसी जो विचित्रताएँ हैं ये विचित्रताएँ भी अनुमान कराती हैं कि इस आत्माके साथ कोई ऐसा बाह्य कारण लगा हुआ है जिसके निमित्तसे ये विचित्रताएँ हैं, उस बाह्य कारणका नाम कर्म है। जीव तो केवल अकेला ही होता, इसके साथ कर्म नहीं लगे होते, उपाधि नहीं होती तो यह आत्मा स्वयं संवररूप है, अपने ही भावसे अपने आपमें ही आनन्दका अनुभवन करने वाला होता है, लेकिन जो विषम परिस्थितियां वनीं, आकुलताएँ होतीं, क्षोभ बना करते, ये सब कर्मके सम्बन्धसे बनते हैं, तो उन कर्मोंका बंध ४ प्रकारसे होता है—प्रकृतिबंध, प्रदेशबंध, स्थितिबंध और अनुभाग बंध। उन कर्मोंमें ऐसी प्रकृति पड़ जाय कि यह कर्म अमुक प्रकारका फल देगा, यह कर्म अमुक प्रकारका फल देगा, ऐसी प्रकृति पड़ जानेका नाम प्रकृतिबन्ध है। कर्मोंके प्रदेशका आत्माके साथ एकक्षेत्रावगाह बंध हो जाना प्रदेशबन्ध है। उन कर्मोंमें स्थिति पड़ जाना कि ये कर्म इतने दिन तक जीवके साथ रहेंगे उसका नाम स्थिति बंध है और उन कर्मोंमें फलदान शक्ति आ जाना यह अमुक फल देगा इसका नाम है अनुभाग बंध। उन चारोंमें प्रकृतिबंध और प्रदेशबंध होता है योगसे। और कषायभावसे स्थितिबंध और अनुभागबंध होता है। जिस जीवमे जिस प्रकारकी कषाय है उसके अनुसार स्थिति बनती है और फलदान शक्ति पड़ती है लेकिन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र न तो योगरूप हैं और न कषायरूप है फिर रत्नत्रय बंधका कारण कैसे हो सकता है, वह तो मोक्षका ही उपाय है।

जीव और कर्मके विवेचनकी मोक्षमार्गमे गतिके लिए आवश्यकता—जैन सिद्धान्तमें जीव और कर्म, इन दोनोंका विवेचन है और जीव और कर्म सम्बन्धी मर्मको जानना एक मोक्षमार्गमें अति आवश्यक है, जीव अपने गुणपर्याय वाला है। जीवमें गुण है ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक और उन ही गुणोंका परिणमन प्रति समय चलता रहता है। जब अशुद्ध दशा होती है तो अशुद्ध परिणमन चलता है और जब इसकी पवित्रता चलती है तब पवित्र परिणमन चलता है। अब जीवके साथ जो कर्म लगते हैं उन कर्मोंका भी बहुत बड़ा विस्तार है। यह कर्म सामान्यतया एक ही तरहका है, क्योंकि कर्मका काम है बन्धन, संसारमें रोके रखना, जीवको कष्टका कारण बनना, इसलिए कर्म सब एक समान है पर इनमे जो प्रकृति पड़ी हुई है उसके भेदसे ये कर्म ८ तरहके होते हैं। ज्ञानावरण—जो कर्म ज्ञानको उत्पन्न न होने दें, विकसित न होने दें, उनका नाम है ज्ञानावरण। ये ज्ञानावरण कर्म बनते कैसे हैं? किसी ज्ञानीसे ईर्ष्या करे, किसी ज्ञानीका ज्ञान न सुहाये, उसकी प्रशंसा न सुहाये, ज्ञानीमे कोई दोष लगाये, अपने गुरुका नाम छिपाये, दूसरेके ज्ञानमें बाधा डाले, ऐसे कार्मोंसे ज्ञानावरण कर्म बनता है अर्थात् हमें ज्ञान न मिल पायेगा ऐसा उसका निर्णय बन जाता है। दूसरा कर्म है दर्शनावरण। जिस कर्मके उदयसे आत्मामें दर्शन गुण प्रकट न हो सके उसे दर्शनावरण कहते हैं। दर्शनका काम है आत्माका स्पर्श करा देना, आत्माका सामान्य प्रतिभास करा देना, उस दर्शनको जो न होने दे उसे दर्शनावरण कहते हैं। यह दर्शनावरण कर्म भी दूसरेके दर्शनमें बाधा डालने आदिक कार्योंसे होता है। तीसरा कर्म है वेदनीय कर्म। इसके दो भेद हैं सातावेदनीय और असातावेदनीय। सातावेदनीयसे सुख साधन मिलता है और असातावेदनीयके उदयसे यह जीव दुःख अनुभव करता है। जीवमें सातावेदनीयका बंध कैसे होता है? प्राणियोंमें दया करना व्रतियोंको दान करना, संयमासयम धारण करना, क्षमापरिणाम रखना, कष्टसहिष्णु बनना, ऐसे शुभभावसे सातावेदनीय कर्म बनते हैं, और स्वयं दुःखी होना, दूसरे को दुःखी करना, स्वयं रंजमें रहना, दूसरेको रंजमें डालना, रोना आदिक अशुभ सक्लेश दुःखके परिणामोंसे असातावेदनीयका बंध होता है।

देखिये हम आपके पास सिवाय भाव करनेके और कुछ नहीं रखा है। प्रत्येक परिस्थितिमें हम अपने भाव ही बना पाते हैं, भावोंके सिवाय अन्यमे न कुछ करते हैं, न भोगते हैं। अज्ञानी जीव परको

कर्ता मानते हैं, अपने को परका भोक्ता मानते हैं, वह उनकी एक मान्यता भर है, वहां पर भी वह परकी दृष्टि रखकर किसी अपने भावको ही करता है और अपने भावोंको ही भोगता है। जीव भावोंके सिवाय अन्य कुछ नहीं कर सकता है और न भोग सकता है, तो जब केवल हमारा भावोंसे ही सम्बन्ध है, हर जगह केवल हम भाव ही कर पाते हैं तो अन्य पदार्थोंके सम्बन्धमें ममता करना, चिन्तन करना, विकल्प बनाना, ये सब व्यर्थ हैं। कुछ अपने भावोंको सुधारनेकी बात किया करें। मेरा सुधार है सम्यग्ज्ञानमें। हमारा उपयोग पदार्थोंके यथार्थ विज्ञानमें रहे तो हमारा भाव उत्तम रहेगा। जहाँ हम पदार्थोंकी यथार्थता से चिगकर बाह्य दृष्टिमें लग जाते हैं वहा हमारे भाव खोटे होने लगते हैं।

शास्त्राभ्यास और जिनपदभक्तिकी भावना—भैया! हितार्थ प्रयत्न ऐसा करें जैसा कि पूजाके अन्त में बताया है पूजक चाहता है। हे प्रभो! मेरे जीवनमें ये ७ बातें बनें, और मैं कुछ नहीं चाहता। भगवान के गुणोंकी उपासना घटा आध घंटा कर चुकनेके बाद पूजा करने वाला अन्तमें इन ७ चीजोंको चाहता है। यह बहुत मर्मकी बात है अपने जोवनको सुधारने वाली और उन्नति करने वाली है। वे ७ बातें क्या है? हे प्रभो! एक तो मेरे शास्त्राभ्याम बना रहे, घटा दो घटा एक समय, दो समय, तीन समय शास्त्र का स्वाध्याय करते रहें, उसमें मेरेको प्रमाद न आये और उस शास्त्रके स्वाध्यायमें ऐसी धीरतासे स्वाध्याय करे, जो कुछ पढें उसे अपने आप पर घटित करते चले जायें। यदि किसी दूसरे जीव की कथा आयी है तो उसे भी मैं अपने पर घटित कर सकता हू और कोई उपदेश आया है तो उसे भी मैं अपने पर घटा सकता हू। शास्त्रस्वाध्याय करें पर उसे अपने आप पर घटाकर करें। जहा पापोंके फलका, पापोंके स्वरूप का वर्णन हो तो अपने आपमें निरीक्षण करें कि मेरेमें ये पाप कितने हैं, कैसे हैं और इनका यह फल बताया तो हमने भी यदि वैसे पाप किये तो वैसा ही फल हमें भी भोगना पडेगा। जहा जीवोंकी अवगाहनाकी चर्चा हो, लोकमें ऐसी ऐसी विशाल अवगाहनाके जीव हैं वहा अपने आपपर ऐसी दृष्टि दें कि एक आत्मतत्त्वके ज्ञानके बिना, एक रत्नत्रयकी साधनाके बिना यह जीव ऐसी ऐसी अवगाहनाके देह पाता है, मैंने भी यदि आत्मज्ञानमें अपना उपयोग न रखा तो मैं भी यों ही भ्रमण करता रहूगा। शास्त्र-स्वाध्याय करें तो सारी बातोंको अपने आपपर घटाते हुए करें। दूसरी बात चाही है पूजक ने कि हे भगवन! आपके चरणोंका स्मरण बना रहे, आपके गुणोंका स्मरण बना रहे। समवशरणमें विराजमान सर्वज्ञदेवकी मुद्रा मेरे चित्तमें बनी रहे, मैं कहीं भी होऊँ, दुकानमें, घरमें, पर मेरे उपयोगमें वह जिनमुद्रा न टले, जो जिस धुन वाला पुरुष होता है उसको वही चीज समाई रहती है। कोई कामी पुरुष है, स्त्रीकी धुनि वाला है तो उसके उपयोगमें स्त्री ही समाई रहती है, कोई परिग्रही पुरुष है तो उसके चित्तमें परिग्रह ही समाया रहता है। नाथ! मेरे उपयोगमें एक वह जिनकथा ही समाई रहे, क्योंकि संसारमें मेरेको और कोई शरण नहीं है। किससे राग करूँ, कौन मेरा प्रभु है, कहीं मेरा राग न हो। मेरा केवल अनुराग हो तो जिनेन्द्रभक्तिमें। वीतराग प्रभुकी वह वीतरागता वह सर्वज्ञता हमारे उपयोगमें बसो। यों जिनेन्द्र भगवानके गुणोंका स्मरण बना रहे, यह दूसरी बात वह पूजक चाहता है।

सत्सगति, सद्वृत्त, गुणकथा, दोषवादमौन व प्रियहितवचनकी भावना—पूजक तीसरी बात चाहता है कि हे नाथ! मेरा आर्यपुरुषोंके साथ समागम रहे। श्रेष्ठ पुरुष संसार, शरीर भोगोंसे विरक्त एक आत्माके स्वरूपके अवलोकनकी धुनि वाले ज्ञानीपुरुषोंकी संगति रहे, उस संगतिमें रहकर मेरा भी उपयोग सही रहेगा। विषयकषायोंमें मेरा उपयोग न फसेगा, मैं सदा श्रेष्ठ पुरुषोंकी संगतिमें रहू यही चाहता हू। चौथी बात वह पूजक चाहता है कि मैं सज्जनोंके गुणोंकी कथा करता रहू, जो सच्चरित्र पुरुष हैं, ज्ञानी पुरुष हैं उनके गुणोंको मैं बोलता रहू, उनके गुणोंकी कथा करनेसे हमारेमे एक तो अहकार दूर होगा, अपने आपके बड़प्पनकी बुद्धि न होगी। जो लौकिक इज्जत पोजीशनसे अपने को

बड़ा मानकर अहंकार भाव किया करते हैं वे पुरुष यदि सच्चरित्र पुरुषोंके गुणोंकी कथा करते हैं तो उससे उपयोग विशुद्ध होता है। तो हे नाथ! हम सत्पुरुषोंके गुणोंका गान करते रहें, ऐसी मेरी बुद्धि रहे ५ वीं बात चाहता है पूजक कि मै दोषवादमें मौन रखूँ। किसी के दोषों को यदि हम यहां वहां बखानते रहते हैं तो उससे हमने अपने आपको तो हीन बना लिया, अगर उन दोषोमे हमने अपना उपयोग रखा तो समझो व्यर्थ ही विवादोंमे हमने अपना समय गँवा दिया। तो नाथ! मेरेमें ऐसी सद्बुद्धि जगे कि मैं दूसरोंके दोषोंको न बोलूँ और छठी बात चाहता है वह पूजक कि मैं सब जीवोंसे प्रिय हित वचनालाप करूँ। सभी जीव यात्री हैं। न जाने किस किस गतिसे आकर आज यहां इकट्ठे हुए हैं। कुछ समय रहकर वे यहांसे चल देंगे। इन जीवोंमें न कोई मेरा मित्र है और न कोई मेरा शत्रु है अर्थात् न कोई मेरा सुधार कर सकने वाला है और न कोई बिगाड़ कर सकने वाला है। सो इस समागममे हम किसी से वचनव्यवहार करें तो प्रिय और हित बोलें। अप्रिय और अहितकर वचन बोलने से न मुझे कुछ लाभ है, न दूसरेको लाभ है बल्कि मुझे विपत्ति आ सकती है। तो हे नाथ! मैं सबसे प्रिय हित वचन बोलूँ ऐसी मुझमें बुद्धि जगे और ऐसा ही मेरा प्रयत्न हो।

आत्मतत्त्वभावना व उद्देश्यपूरक जीवकर्मविवेचनका अवशेष निर्देश—७ वीं बात चाहता है यह ज्ञानी पूजक कि मेरे आत्मतत्त्वकी भावना जगे, मेरा आत्मस्वरूप केवल ज्ञानज्योतिमात्र सबसे अपरिचित किन्तु अपने आपकी दृष्टिमें आ जाय तो अपने लिए परिचित, ऐसा जो निज आत्म ब्रह्मस्वरूप है उसमे मेरी भावना रहे उसकी दृष्टि बनी रहे। जैसे कोई कार्यवश यहां वहां घूम करके भी आखिर आता है अपने घरमें ही, ऐसे ही यह मेरा उपयोग कार्यवश यहां वहां जाता है तो ठीक है चला गया, मगर यहां वहां जानेके बाद मेरा यह उपयोग मेरे इस आत्मतत्त्वमें ही आये, क्योंकि शरण मेरा यह आत्मस्वरूप ही है। उसमे मेरी भावना रहे कि हे नाथ! जब तक मेरा मोक्ष न हो तब तक ये बातें मुझमें रहें। ये सब हमारे शुभ और विशुद्ध परिणाम हैं। ऐसे परिणामोंसे यदि बंध हो रहा हो तो शुभ सातावेदनीयका बंध होता है। मोहनीय कर्म श्रद्धानसे विचलित करनेका कारण है, आयुकर्म शरीरको रोके रहता है, नामकर्मके उदयसे नाना रचनाएँ होती हैं, गोत्रके उदयसे ऊँच नीच कुलमे उत्पन्न होता है, अन्तरायके उदयमें दान आदिकमें बाधा होती है—ऐसा कर्मोंका बन्धन है। रत्नत्रयसे यहा बन्धन नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष का कारण है। तो जिस प्रकार जितनी शक्ति हो उसके माफिक सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्रके पालनमें हमें अपना उद्यम करना चाहिए।

दर्शनमात्मविनिश्चितिरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बन्धः ॥२१६॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इसे रत्नत्रय कहते हैं। अपने आत्माके सहजस्वरूपका निश्चय होना सम्यग्दर्शन है और श्रद्धानमें आया हुआ सहज ज्ञानस्वभावी आत्माका उपयोग होना सम्यग्ज्ञान है और इस ही सहजस्वरूपमें उपयोगका स्थिर होना सो सम्यक्चारित्र है। यह रत्नत्रय यथाशक्ति श्रावकोंके भी होता है और प्रमत्त अवस्थाके मुनियोंके भी होता है। ऊपर तो होता ही है, तो जो व्यवहाररत्नत्रयमें रहने वाले साधु हैं अथवा श्रावकाचारी हैं उनके जो बंध होता है। वह बंध रत्नत्रयके कारण नहीं है किन्तु रत्नत्रयके होते हुए भी जो रागभाव चल रहा है उस रागके कारण बंध है। ऐसी बहुतसी प्रवृत्तियां हैं जिनमें राग भी है और वैराग्य भी है। जैसे अरहद्भक्ति, भक्त पुरुष केवल रागके कारण अरहद्भक्ति न कर सकेगा, अथवा केवल वैराग्य ही हो तो भी अरहदभक्ति न बनेगी, मात्र वैराग्य ही हो तो निर्विकल्प ध्यान बनेगा और केवल राग ही हो तो भी साधना न बनेगी। जिस जीवके वैराग्य भी है और प्रभुगुणोंमे अनुराग भी है उसके भक्ति होती है। तो वहां यह विवेक करना होगा कि

भक्तिरूप परिणामके होनेके समय कर्मोंकी निर्जरा भी है और कर्मोंका बन्ध भी है। जो कर्मबन्ध है वह तो अनुरागके कारण है और जो निर्जरा है वह वैराग्यके कारण है। तो रत्नत्रय चूँकि आत्मस्वभावसे ही सम्बन्ध रखता है तो जो आत्मस्वभावसे सम्बन्ध रखे ऐसी वृत्तिसे बंध कैसे हो सकता है ? बंध होता है परकी दृष्टिमें, परके आलम्बनमें, परके आश्रयमें। सो स्वके आश्रयमें बंध नहीं होता। यदि स्वके आश्रय भी बंध होने लगे तो बंध फिर आत्माका स्वभाव बन जायेगा। इससे इस प्रसंगमें यह प्रश्न हुआ था कि श्रावकोंके आचरणमें जो भक्ति, दया, दान, शुभोपयोग, परोपकार आदिक प्रवृत्तियां जगती हैं उनसे बंध होता है और वे संसारके मार्ग हैं, हेय हैं, ऐसा एक प्रश्न उठा था। विवेक सहित समाधान कर रहे हैं कि भाई जो रागभरी प्रवृत्तियां हैं वे तो बंधका कारण हैं, पर जो ज्ञानधारी चल रही है, जितने अंशमें वैराग्य है उस अंशमें तो बंध नहीं है। बंध एक बहुत बड़ी विडम्बना है। बंधन कोई जीव नहीं चाहता, पर ये मोही जीव खुशी खुशीसे शुभभाव अशुभभावके बन्धनमें बस रहे हैं, नानापरिग्रहोंके कहके बन्धन लगाये हैं। अपने उपयोगमें बहुत परिग्रहोंका भार लादे हैं, कितनी ही वस्तुवोंका विकल्प बनाये हुए हैं ? रागका बन्धन इतना जबरदस्त है कि जिसमें चैन नहीं, आत्माकी सुधि नहीं, ऐसे उस बन्धनको वे पसंद कर रहे हैं, बन्धनको पसंद करना यह जबरदस्त बन्धनका कारण बनता है, इस ही को मिथ्यात्व कहते हैं। बन्धन अथवा राग यह मिथ्यात्व नहीं है किन्तु बन्धन सुहाना, राग सुहाना, उसे ही अपना सर्वस्व समझना यही है मिथ्यात्व। यों कह लीजिए कि रागमें राग होना मिथ्यात्व है। जैसे कोई रईस आदमी बीमार पड़ा है तो उसके आरामके साधन जुटाये जाते हैं, साफ कमरा, कोमल पलंग, दो एक नौकर और बढ़ा दिये जाते हैं, चापलूसी करने वाले मित्र वहां बैठे रहते हैं, उसका मन बहलाने के लिए अनुकूल बातें करते हैं, रिश्तेदार लोग भी क्षण-क्षणमें कुशलता पूछने के लिए आते रहते हैं, डाक्टर भी बहुत-बहुत आता है। कितना आराम दिखता है ? ऊपरसे ऐसा दिखता है कि यह बड़े सुखमें है, बड़े आराममें रह रहा है, लेकिन उस रोगीका अन्तःकरण यह कह रहा है कि कब मुझे इससे छुट्टी मिले और मैं चार मील दौड़कर अपना दिल बहलाऊँ। वह इस आरामको नहीं चाहता, वह तो भागना चाहता है और भी देखिये कि वह रोगी पुरुष दवासे भी राग कर रहा है, अगर समय पर दवा न मिले तो वह लड़ता है, समय पर दवा क्यों नहीं आयी ? दवासे उसे कितना राग बना, लेकिन ऐसी औषधि मुझे जन्मभर मिलती रहे ऐसा राग नहीं है, रागसे राग नहीं है, औषधि पीता है औषधि छुटानेके लिए। मेरा यह औषधि पीना छूट जाये इसके लिए औषधि पीता है। तो जैसे रोगी पुरुष उस आराम और दवाको चित्तसे नहीं चाहता फिर भी राग तो करता है तो रोगीको आरामसे राग है, औषधिसे राग है पर आरामके रागसे राग नहीं है, औषधिके रागसे राग नहीं, अर्थात् इस तरहका आराम मुझे जिन्दगी भर मिले, ऐसी औषधि मुझे जिन्दगी भर मिलती रहे इस प्रकार उसके परिणाम नहीं है। इसी प्रकार ज्ञानी जीव कर्मविपाकवश सम्पदाके बीच आता है, उससे राग भी करता है, उस प्रसंगमें द्वेष भी करता है, पर मैं ऐसी सम्पदाके बीच सदा काल ऐसा ही बना रहूं ऐसी ही मौज बनी रहे, ऐसी भावना इस ज्ञानीकी नहीं बनती है। ज्ञानीकी भावनामें तो यह बात समाई हुई है कि मेरा जो सहज ज्ञानस्वरूप एक चैतन्य प्रतिभासमात्र है, जिसमें विकार नहीं, जिसके स्वभावमें कोई तरंग नहीं केवल एक चिदविलास ही जिसका शुद्ध झलक है ऐसा ही मैं रहूं, यही हितरूप मेरे स्वरूपकी दशा है, उसे ही अपनाना है। तो जिस ज्ञानीके ऐसा पवित्र लक्ष्य बनता है उसके भी जो राग शेष है, उस रागपरिणतिमें बन्ध होता है। तो उस परिणति में बन्ध होता है उसका अर्थ यह न मानें कि सभी प्रमत्त जीवोंमें चतुर्थ, पंचम और छठे गुणस्थानवर्ती जीवोंके बन्ध होता है, उनकी प्रत्येक प्रवृत्तिमें आस्रव है ऐसा निर्णय नहीं करना किन्तु जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्धन है और जितने अंशमें सम्यक्त्व, ज्ञान, चारित्र है इतने अंशमें बन्धन नहीं है। इस

सम्बन्धमें और भी देखिये ।

सम्यक्चारित्राभ्यां तीर्थंकराहारकर्मणो बन्धः ।
योऽप्युपदिष्टः समये स नयविदां सोऽपि दोषाय ।।२१७।।

सम्यक्त्व व चारित्र होनेपर विशिष्ट रागभावसे तीर्थंकर व आहारकद्विकका बन्ध--तीर्थंकर प्रकृति तथा आहारक शरीर, आहारक अंगोपाङ्ग—इन तीन प्रकृतियोंका बंध सम्यग्दृष्टिके होता है। सम्यक्त्व और चारित्रके होने पर तीर्थंकर प्रकृति और आहारक द्विककी सिद्धि बताई गई है। सम्यक्त्व न हो तो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बध नहीं होता, चारित्र न हो तो आहारक शरीरका बध नहीं होता, आहारक शरीर आहारक अङ्गोपाङ्गका बंध ७वे गुणस्थानमें होता है और उदय आता है छठे गुणस्थानमें, पर जो नयके जानकार हैं वे सब इस समस्याका समाधान कर देते है। वहाँ जो तीर्थङ्कर प्रकृतिका बध हो वह सम्यक्त्वके कारण नहीं होता। दर्शनविशुद्धि भावनामें यह भाव भरा हुआ है कि ये जगतके जीव एक जरासी अपनी दृष्टि न पाने से अपने आपकी ओर उन्मुख नहीं हुए, जिसके फलमें इस ससारमें जन्म मरणकी बड़ी विकट बाधामें इन्हें जुतना पड़ रहा है, ये उस दृष्टिको प्राप्त करें और अपना कल्याण पाये, ऐसी परम करुणा की भावना होती है उससे तीर्थंकरप्रकृतिका बध है। निर्दोष सम्यग्दर्शन होने से तीर्थंकरप्रकृतिका बंध नहीं होता, सम्यक्त्व क्षायक सम्यक्त्व निर्दोष है तो उनके तीर्थंकरप्रकृति हो जाना चाहिए। तो तीर्थंकरप्रकृतिका बध किसी शुभ रागके कारण होता है सम्यक्त्वके कारण नहीं, इस प्रकार चारित्रधारी सयमी साधुवोंके आहारक अंगोपाग होते हैं, वे भी किसी रागभावके कारण होते हैं। बन्धन रागभावके कारण है, सम्यक्त्व और चारित्रके कारण बंधन नहीं है। यों समझो कि सम्यक्त्व दो प्रकारका है—एक सराग सम्यक्त्व और दूसरा वीतराग सम्यक्त्व। जो जीव रागसहित है और उन्हें सम्यक्त्व हो गया है तो उनका सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है और जो जीव रागसे परे है, वीतराग है उनके सम्यक्त्व को कहते है वीतराग सम्यक्त्व। सम्यक्त्वके दो भेद नहीं, सम्यक्त्व तो एक ही प्रकारका है। परमार्थ शुद्ध सहज स्वभावमे प्रतीति रखना, श्रद्धान रखना सो सम्यक्त्व है, यह एक ही ढगसे होता है, चाहे साधु हो अथवा श्रावक हो, पर सम्यक्त्व एक ही ढगका होता है, पर समयके भेदसे ये दो भेद किए गए—सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व, सो सराग सम्यक्त्वमें तीर्थङ्करप्रकृतिका बध होता है अथवा आहारक प्रकृतिका भी बध किसी रागके सम्बन्ध से होता है। वीतरागतासे बन्धन नहीं है।

रत्नत्रयमे बन्धनकी अहेतुताका समर्थन--अब सोचियेगा, साधारणरूपसे यह कहा जाता है कि तीर्थंकर प्रकृति बहुत उत्तम प्रकृति है, आहारक अङ्गोपाङ्ग बहुत ऊँची प्रकृति है, पर बन्धनकी दृष्टिसे बन्धनके कारणको लेकर देखो तो प्रकृति मात्र आत्मासे विपरीत स्वभाव रखती है, कर्म ही तो है, कर्म तो कर्मकी जातिमें ही काम करेगा और आत्मा आत्माके उदयका ही काम करेगा। लेकिन प्रशंसनीय यों है तीर्थङ्कर प्रकृति कि जिसने तीर्थंकरप्रकृतिका बन्ध किया है वह नियमसे मोक्ष जायेगा और भव्य जीवोंके कल्याण का भी बहुत विशिष्ट कारण बनेगा, इसलिए उसकी महिमा गायी जाती है। महिमा तो रत्नत्रयकी है। कोई भी पुरुष तीर्थंकर हुए विना अथवा मुनि होकर भी जिनको उस भवमें किसी ने जाना भी न था, जिन्हें कोई सम्मान भी नहीं मिला, जिनकी कोई कीर्ति भी नहीं फैली, एकदम गुप्त रहे, ऐसे साधुजनोंने शुक्लध्यानके बलसे कर्मोंका क्षय किया और कर्मोंसे मुक्त हुए। फिर आनन्द आनन्दमें विराजमान है और ऐसे तीर्थंकर जिनका तीर्थंकरोंमें भी बड़ा विशिष्ट नाम लिया जाता है, जिनकी महिमा अब तक भी गायी जाती है वे आत्मा भी इस समय निर्वाणमें है और अनन्त आनन्दका अनुभव करते हैं, पर निर्वाण होने के बाद चाहे तीर्थंकरका आत्मा हो, चाहे एक साधारण मुनिका आत्मा हो वहा तो एकसी ही बात है। सभीके अनन्त ज्ञान है, अनन्त दर्शन है, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति है, वहा किसी भी प्रकारकी एक

दूसरेमें कमीवेसी नहीं है। तो बन्धन जितना भी है वह रत्नत्रयसे नहीं होता, किन्तु रागभावसे होता है, होता क्या है उस समय अब सम्यक्त्व और चारित्रके होने पर तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बन्ध होता है, उस बातको बतलाते हैं।

सति सम्यक्त्वचरित्रे तीर्थंकराहारबन्धकौ भवत.।
योगकषायौ नासति तत्पुनरपुस्मिन्नुदासोनाम् ॥२१८॥

सम्यक्त्वचारित्र होनेपर योग व कषायसे ही तीर्थंकर व आहारकद्विकका बन्धन—सम्यक्त्व और चारित्रके होते हुए जो तीर्थंकर आहारक प्रकृतिका बध कराने वाली चीज तो योग व कषाय है, वह है तब बंध होता है, सम्यक्त्व है, चारित्र है, योग कषाय न हो तो तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बध नहीं हो सकता। तो इसके बंधका कारण तो योग कषाय है। योग कषाय बिना बंध नहीं है, किन्तु इस समय सम्यक्त्व और चारित्र एक उदासीन है अर्थात् योगसे भी तीर्थंकरप्रकृतिका बंध नहीं होता। ऐसा कोई नियम नहीं है कि जहा-जहां योग हो वहा तीर्थंकरप्रकृति बँधे ही। सम्यक्त्वके होते सन्ते अनुकूल योग हो तो तीर्थंकरप्रकृतिका बध होता है। सम्यक्त्व और चारित्रके होते सन्ते योग कषाय हो तो आहारक शरीर आहारक प्रकृति बंध होता है, वेधक रत्नत्रय नहीं होता, किन्तु रागभाव वेधक होता है। जैसे बड़े बडे मुनियोंके समीप जातिविरोधी जीव भी अपना बैरभाव छोड़ देते हैं और बडे वात्सल्यसे परस्परमें क्रीडा करते हुए शान्तचित्त होकर बैटते हैं, उस समय वे मुनिराज उन जातिविरोधी जीवोंके वैरको नहीं छुड़ा रहे हैं, वे तो अपने ध्यानमें अपनी जगह मौजूद हैं पर वह उदासीन कारण है, उनकी मुद्रा निरखकर उनके समीपका शान्त वातावरण पाकर वे विरोधी जीव भी अपना बैरभाव छोड़ देते हैं। इतने पर भी व्यवहारसे हम उन मुनिराजोंसे विशिष्ट कारण मानते हैं और उनके विरोधके त्यागके कर्ता मानते है। न होते वे मुनि तो वे जातिविरोधी जीव वहा वैर नहीं छोड़ते, ऐसा सम्बन्ध देखकर कहते हैं, पर वहाँ मुनिराज तो एक उदासोन भावसे मौजूद हैं, विरोधी जीव अपने ही विचारसे उस वातावरणमें आकर अपना विरोध छोड़ देते हैं ऐसे ही समझिये कि सम्यक्त्व और चारित्र न होते तो तीर्थंकर और आहारक प्रकृतिका बन्ध न होता, लेकिन सम्यक्त्व चारित्र तो उदासीनरूपसे है। उस प्रकारका विशिष्ट राग हुआ तो उनका बन्धन हो गया, इससे भी यह निर्णय निकालें कि रत्नत्रयसे बन्धन नहीं होता स्वभावदृष्टिमें बन्धन नहीं। अनुभव करके भी देख लो कितने भी क्लेश हों, कितने भी विकल्प होंवे तभी तक हैं जब तक हम अपने स्वरूपकी सुध नहीं करते और बाहर ही बाहर दृष्टि बनाये हुए हैं तो हमें विकल्प और कष्ट होते हैं। जब कभी हम बाहरके विकल्पोंको छोड़कर अपने सहजस्वरूपकी सुधि लेते हैं और उस सहजस्वरूपमें मग्न होते हैं तो समस्त कष्ट शान्त हो जाते हैं। क्षण तो वे धन्य हैं, पुरुषार्थ तो वह धन्य है जिस पुरुषार्थमें आत्मा अपने सहज स्वरूपमें रम जाय।

सहजस्वरूपके बोध बिना कष्टोंकी भरमारी—भैया ! सहज स्वरूपमें रमे बिना कितना बड़ा कष्ट है ? कोई पुरुष अपने पर बच्चोंका भार माने, धन कम हो उसका विकल्प करता है, धन ज्यादा हो उसका विकल्प करता है, अपनी पोजीशनकी सभाल करता है, लोकमें मेरी क्या प्रतिष्ठा रहेगी, मेरा बडा यश रहेगा ? लोग मुझे क्या कहेंगे, कितनी तरहके विकल्पोंका भार लादे हुए हैं ? और इन विकल्पोंके समय मेरी दृष्टि परकी ओर लगी है। ये मनुष्य जो कर्मोंके प्रेरे चतुर्गतिमें भटकते हुए एक मनुष्यलोकमें आये हैं, कोई किसी प्रकारका दुखी है, कोई किसी प्रकारका क्लेश मान रहा है, वे जीव मुझे कुछ अच्छा समझलें इस प्रकारका जो विकल्प भाव है वह विकल्प ही सब अनर्थोंका कारण बन रहा है। लोग विशिष्ट परिग्रहवान् क्यों बनना चाहते ? मैं लखपति-हो जाऊँ, करोडपति हो जाऊँ, ऐसी इनकी भावना क्यों हो रही है ? क्या इसलिए कि उनको खाने पीनेकी या आराम करने की सुविधा नहीं है ? अरे ऐसी

बात नहीं है। बात तो वहां यह है कि लोग मुझे विशिष्ट धनी कहने लगें, इस बातकी वाञ्छा अन्दरमें पड़ी हुई है जिसके कारण लोग धनी बननेकी होडमें हैं। एक थोडासा इस माया वासना पर विजय हो तो इस मनुष्यका जीवन सुख शान्तिमें व्यतीत हो सकता है। मनुष्य हुए तो किसलिए हुए ? निर्णय करिये और प्रश्नोत्तर उठायें अपने मे। मैं लोगोंमे अच्छा कहलवानेके लिए हू, ये लोग क्या हैं ? स्वयं मर मिटने वाले हैं जिनसे अच्छा कहलवाना चाहते हैं। न वे पर्यायें रहेंगी और न यह मेरी पर्याय रहेगी। यह भी विकल्प बनानेसे इस आत्माका क्या लाभ ? कर्म बंधते हैं, जन्ममरणकी परम्परा बढती है।

वर्तमान जीवनके प्रयोजनका निर्णय—भैया ! अब जरा मैं किस लिए जीवित हू, इसका समाधान लेते जाइये। क्या भोजन करने के लिए जीवित हुए ? अरे हाथी, घोड़ा, भैंसा, बनकर तो इससे पचासों गुना भोजन किया, बडे महाराजा भी बनकर मूल्यवान द्रव्योंकी अपेक्षा इससे पचासों गुना भोजन किया पर तृप्ति नहीं हुई। भोजन क्षुधा तृषा ये समस्यायें रोग हैं, भूख मिटा लिया तो कौनसा बड़ा काम कर लिया ? क्या फिर भूख नहीं लगती ? इस जीवन भरकी भूख मिटा ली तो इस जीवनके गुजरनेके बाद जो शरीर मिलेगा क्या वहाँ भूख प्यासकी वेदना न होगी ? अरे इसके लिए यह जीवन नहीं पाया, भावना तो यह होनी चाहिए कि मेरे क्षुधा रोगका ही विनाश हो। यह भोजनकी विडम्बना ही न रहे। भोजनके लिए यह जीवन नहीं है। तो क्या पञ्चेन्द्रियके विषयोंके लिए यह जीवन है ? अरे पशुपक्षियोंकी भांति ही यदि यह जीवन व्यतीत किया तो इस मनुष्यभवको पाकर लाभ क्या पाया ? जीवन तो पाया है अपने आत्माके उस सही स्वरूपको समझनेके लिए। मैं क्या हू ? इसका सही उत्तर प्रतीति रखने के लिए जीवन है। जो काम अब तक नहीं किया जा सका और जो बड़ी शान्तिका कारणभूत है ऐसा काम करने के लिए यह जिन्दगी है। मोह ममताके लिए यह जिन्दगी नहीं है। जिनसे मोह ममता बनाया है उनसे लाभ क्या होगा ? जब वियोग होगा, तो कष्ट होगा। जीवनभर जितना मौज माना है उससे कई गुना अधिक कष्ट होगा, सब कसर निकल जायगी। मोह ममताके लिए यह जीवन नहीं है। यद्यपि गृहस्थीमें रहते हुए राग बिना कार्य नहीं चलता, एक दूसरेकी पूछ रखनी पड़ती है, प्रिय वचनोंका व्यवहार करना पड़ता है। कुछ थोड़ी बहुत जिम्मेदारी सी मान ली जाती है, लेकिन ज्ञान सही बनाये रहे तो उसमें कौनसी विडम्बना आती है ? सर्व जीव मुझसे भिन्न हैं, चाहे मेरे ही घरमें उत्पन्न हुए जीव हों, चाहे अन्य जीव हों, चाहे अन्य जगह उत्पन्न हुए जीव हों, सभी मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। यह बात क्या असत्य है ? असत्य हो तो पहिले इसका ही निर्णय कर लीजिए। यहाँ कोई किसीका बन सका क्या ?

पुराण पुरुषोंके जीवनसे ज्ञातव्य जीवन प्रयोजन—पुराणोंमें हम पढ़ते हैं बड़े-बडे घराने, ऊँचे राजा महाराजा अपने कुटुम्बके बीच खूब रहे, लेकिन अन्तमें उन्हें हुआ क्या ? श्रीराम भगवानका ही चरित्र देख लो, उनके जीवनमें उन्हें कैसे सुख कैसे दुःख कैसे विकल्प बनाने पडे, कैसे-कैसे उनके चरित्र हुए, आखिर हुआ क्या—सीता अलग अर्जिका हो गई, लक्ष्मण जुदे मर गए, रामचन्द्र जी भी कुछ समय बाद निर्ग्रन्थ अवस्थामें आये, सबका विघटन हुआ। जितने भी समागम हुए उनसे लाभ क्या उठाया, जब बड़े-बड़े राजा महाराजावों की यह स्थिति हुई तो फिर यहाके छोटे छोटे पुरुष अपने इस छोटेसे कुटुम्बमें रहकर मोह ममतावो बढ़ाया और यही माना कि ये मेरे सर्वस्व हैं, इनसे ही मेरा बड़प्पन है, ये ही मेरा हित करने वाले हैं, यह कितनी बड़ी भारी भूलकी बात है, सच्चा ज्ञान तो रखिये—देव, शास्त्र, गुरुकी पूजामें। अन्तमें लिखा ना— कीजे शक्ति प्रमाण शक्ति बिना सरधा धरै, द्यानत सरधावान, अजर अमर पद भोगे रे। शक्ति अनुसार अपनी शक्ति न छिपाकर अपने कर्तव्य को कीजिए। प्रथम तो योग्यता इतनी हो कि श्रद्धा तो रखिये। श्रद्धावान् पुरुष अजर अमर पदको प्राप्त कर लेगा। श्रद्धासे जहां च्युत हुए, फिर मार्ग न मिलेगा।

स्वरूपश्रद्धान, विवेक और स्वरूपरमणकी वृत्तिका लक्ष्य—हे आत्महितैषी आत्मन्! अपने स्वभावकी श्रद्धा कीजिए। मै स्वरूपमें आनन्दरूप हूं, मुझमें किसी प्रकारका कष्ट नहीं है, किसी प्रकारका विकार मेरे स्वरूपमे नहीं है। परिणमन तो हो रहा है लेकिन मेरे स्वभावसे उठकर नहीं होता। वह किसी उपाधिको पाकर विकारभाव होता है। अपनी सही सही श्रद्धा रखें, मैं वास्तवमें क्या हू? इसका सही निर्णय अवश्य कर लेना चाहिए। उसका ही निर्णय न किया तो धर्म कहा करना और क्या करना? उस ही का पता न हो तो धर्मकार्य क्या होता? मैं एक स्वभावी ज्ञानदर्शन मात्र चैतन्यतत्त्व हू, इस मेरेके साथ किसी भी परभावका, किसी भी परतत्त्वका, परद्रव्यका सम्बन्ध नहीं है। मैं बिगड़ता हू तो अपने आपमें भावों द्वारा, सुधरता हूं तो अपने आपमें भावों द्वारा, संसार परम्परा बढ़ाता हू तो मैं अपने भावों द्वारा, संसारसे मुक्त होता हू तो मैं अपने भावों द्वारा। मेरा कोई रक्षक नहीं। पचपरमेष्ठी मेरेको शरण हैं, पर वे व्यवहारमें शरण हैं, याने उनका आश्रय पाकर उनकी सगति पाकर अपने आपमें एक ज्ञान परिणाम करते है, भाव विशुद्ध बनाते है तो हमारे लिए हम ही शरण होते हैं। मैं ही अपनी परिणति न सुधारूँ तो पंचपरमेष्ठी भी मेरा हाथ पकड़कर यों तार न देंगे। हम ही उलटे चलेंगे तो व्यवहारमें वे भी शरणभूत् नहीं हो सकते, इससे अपनी प्रकृति अपनी शान्तिकी जिम्मेदारी अपने आप पर समझकर जिस प्रकार शान्तिका मार्ग मिले वह विधि बनाना चाहिए। वह विधि है रत्नत्रयकी। जिनेन्द्र ने स्पष्ट बता दिया है करके और दिव्यध्वनिसे भी कि भाई सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्षका मार्ग है अर्थात् अपने सहजस्वरूपका विश्वास करें, अपने आपका ज्ञान करें और आपने आपमें अपना उपयोग बसाये तो इस विधिसे ससारके सारे सकट छूटेंगे। अन्य विधिसे ससारके संकट न छूटेंगे। शुद्धोपयोग, निर्मल परिणाम, अविकारीभाव यही परिणाम हमारे लिए शरण है, और बाहरी बाहरी रागद्वेष मोह स्नेह आदिकके परिणाम हमारी बरबादीके ही कारण हैं, शरणभूत नहीं हैं।

नतु कथमेव सिद्धयति देवायु प्रभृतिसत्प्रकृतिबन्ध।
सकलजनसुप्रसिद्धो रत्नत्रयधारिणा मुनिवराणाम् ॥२१९॥

रत्नत्रयधारी मुनिवरोंके भी रागमें शुभप्रकृतिबधका कारणपना—यहा श्रावकोंके आचरणके प्रसगमे यह प्रकरण चल रहा है कि श्रावक जन जो व्यवहार रत्नत्रय पालता है, भक्ति व्रत सयम नियमका पालन करता है तो उस समय क्या उनको उससे पुण्यका ही बध होता है? समाधानमें यह बताया है कि भक्ति आदिक रूप परिणाम केवल रागसे नहीं होता। वैराग्य भी हो और राग भी हो तो अरहंत भगवानकी भक्ति नहीं है, सिर्फ रागसे तो विषयपोषण होता है और सिर्फ वैराग्यसे निर्विकल्प ध्यान होता है और भगवानकी भक्ति तब बन सकती है जब वैराग्य भी हो और अनुराग भी हो। तो इसमें जो अनुराग है वह तो बधका कारण है और जो वैराग्य है वह निर्जराका कारण है। यहा शिष्यका फिर यह प्रश्न है कि रत्नत्रयधारी मुनियोंके देव आदिक बहुतसी पुण्यप्रकृतियोंका बध होता है। करणानुयोगमें भी बताया है। यहा कह रहे कि रत्नत्रय बधका कारण नहीं है, मोक्षका हेतु है। रत्नत्रयधारी मुनि देव आयुमे जाता है तो यह बात कैसे सिद्ध होगी? शकाकार यह चाह रहा है कि रत्नत्रय भी बधका कारण होगा। अपूर्व रत्नत्रय कर्मका बध कराता है ऐसा उसका प्रश्न है अथवा बधका कारण और कुछ हो तो बतलावो। यदि और कुछ नहीं मालूम होता तो रत्नत्रय बधका हेतु बना, उसके समाधानमें कहते हैं कि—

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगोऽयमपराध ॥२२०॥

रत्नत्रय तो निर्वाणका ही कारण है, पर रत्नत्रयके होते सते भी जो देव आदिक पुण्य प्रकृतियोंका बध होता है उसमें शुभोपयोग कारण है, शुभ अनुराग कारण है, अनुभवसे ही विचारो, रत्नत्रय नाम है

आत्माके सहज स्वभावका निश्चय होना, आत्माके सहज स्वरूपका ज्ञान बना रहना और उस सहज चैतन्य मात्र आत्मामें रमना—ये तीन बातें चाहे अपूर्णरूपमें मिलें किसी को, पर ये तीन बातें आत्माके स्वभाव से सम्बन्ध रखती हैं। तो आत्मस्वभावसे सम्बन्ध रखने वाला यह तत्त्व किस बंधके कारण बन सकता है? हाँ इस रत्नत्रयके पालते हुए भी जो राग शेष रहा है, जिसके निमित्तसे आत्मामें रागभाव बन रहा है, भक्ति, दया, दान, व्रत नियम परिणाम बन रहा है वह शुभोपयोग है और यह शुभोपयोग बंधका कारण है। मुनीश्वरोंके जो देव आयुका बध होता है वह रत्नत्रयके कारणसे नहीं होता, किन्तु जो अनुराग है, शुभोपयोग है, विकल्प है, भगवद्भक्ति है, व्रत नियम पालन है, समिति आदिषका पालन है इसमें जो अनुराग बना है वह बंधका कारण है, न कि रत्नत्रय बधका कारण है।

आत्माको निर्वन्ध करनेका उपाय—भैया! आत्माको निर्वन्ध करने का उपाय केवल आत्मामें लगना है। आत्माका परिचय और आत्माके निकट ही अपने ज्ञानको बैठाले रहना यही निर्वन्ध होनेका उपाय है। संसारके दुःखसे छूट जावे, कर्मोंका बन्धन छूट जावे, आत्मा आत्माके असली स्वरूपको जाने। जो बात शाश्वत है तन्मात्र मैं हू ऐसा अनुभव बनाये इसके विपरीत जब ऐसा अनुभव बन जाता, ज्ञान किया जाता कि मैं अमुक नगरका हू, अमुक मोहल्लेका हू, अमुक घरका हूं, इतनी प्रोजीशनका हूं अथवा अमुक परिवारका हू, अमुक कुलका हू यह देहको भी देखकर ऐसा आकार वाला हो इस प्रकारका जब भाव रहता है तो वहाँ बन्धन ही बन्धन है। कर्मोंका बन्धन है और विवशताका भी बन्धन है और जब सर्वविकल्पोंको शान्त करके मात्र यह भाव रहता है कि मैं तो चैतन्यमात्र हू, मेरा कहीं कुछ नहीं है, मेरे न घर है, न देह है, न पोजीशन है मैं तो एक चैतन्यमात्र हू, दुनियासे अपरिचित, ऐसा अपने को प्रतिभासमात्र प्रतीतिमें लें तो यह ही बन्धनसे छूटनेका उपाय है और यह बात बने तो सही, फिर सारे दुःख दूर होंगे। ये भूख प्यास सर्दी गर्मी आदिककी वेदनाएँ, जन्म मरणके क्लेश, ये सब शान्त होंगे एक अपने आत्मस्वरूपकी लगन रखने से। जब भी हम सुखी होंगे, शान्त होंगे तो इसी उपायसे। हम इस ही उपाय को करने मे जितना विलम्ब लगायेंगे उतना ससारमें भटकेंगे। करना होगा अन्तमें यही। अगर शान्त होना है, सुखी होना है, पवित्र बनना है, निर्वन्ध होना है तो करना यही होगा अपने आत्माका लगाव। ये सारा समागम जो प्राप्त हुआ है चेतन अचेतन वैभव कुटुम्ब परिवार आदिक यह सब वैभव कबसे मिला है, कब तक रहने का है और इसमें मेरा तात्विक क्या सम्बन्ध है, क्या यह परिवार मेरे साथ सदा से चला आया, ये जीष क्या मेरे बनकर रहेंगे? उनसे मेरा कोई रिश्ता नहीं है। जगत्में अनन्त जीव हैं, अटपट आ गए, उन्हींमें मोह करने लगे, पर सम्बन्ध नहीं है किसी जीवसे कि ये मेरे कुछ लगते हैं। तो इन समागमोंमें मौज मानने से तो अपने जीवनके क्षण ही गुजारे जा रहे हैं, जब तक अपने आपमें बसा हुआ दिव्य प्रकाश जिसकी दृष्टि करने मात्रसे अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, उस स्वभावको उपयोग में नहीं लेते हैं तो वहा अशान्ति ही अशान्ति है।

उपेयको उपयोगमे लेनेका उपाय—अब स्वभावको उपयोगमें लेनेका उपाय क्या है, जिस उपायको करें तो उपेय मिले। जब हम उसका कभी उपाय ही न बनायें और चाहें कि मिल जाय तो कैसे मिले? उपायोंमे पहिले तो एक चाहिए सत्सगति। इस ही धुनिमें लगे हुए जो आत्मकल्याण चाहते हैं, धर्मकी जिनके धुन लगी है, जो ससारसे मुक्त होना चाहते हैं, जिन्होने धन वैभवको सर्वस्व नहीं माना ऐसे पुरुष चाहे श्रावक हों, चाहें त्यागी हों, उनकी सगति होना यह बहुत जरूरी चीज है। हर एक गाँवमे हर एक मोहल्लेमें ४—५ पुरुष ऐसे होते हैं पर वे बिछुडे-बिछुडे रहते हैं, अपने-अपने घरमें रहते हैं, एकत्रित होकर नहीं रहना चाहते अथवा आलस्य करते हैं एक जगह इकट्ठा बैठने में तो फिर प्रेरणा नहीं मिलती है, स्वच्छन्दता मनमें आ जाती है, तो एक तो सत्सगति अत्यन्त आवश्यक है। न मिले बहुत बड़ी सत्सगति

हमें अपने सरीखों की ही संगति मिले, पर घन्टा आध अन्टा संगतिमें वैठकर चर्चा करके, स्वाध्याय करके आत्माकी वात की जाय यह रोज आवश्यक है। नहीं करते तो मनमें उत्साह नहीं रहता है, दूसरी वात स्वाध्याय अधिक होना चाहिए। समय जब भी मिले सुवह शाम अथवा दोपहरको ही दो तीन घन्टा दो तीन बारमें कोई अध्यात्म ग्रन्थोंका स्वाध्याय होना चाहिए। लग ऐसा रहा होगा कि इसमें कुछ कष्ट करना पड़ता है, कुछ प्रयत्न करना पडता है, लेकिन उपाय किए बिना, काय क्लेश किए बिना हम सत्पथ की बातको कैसे कर सकते हैं? हम सन्तोषके मार्गमें चलना चाहते हैं तो उसके व्यावहारिक उपायमें भी लगना चाहिए। यह व्यावहारिक उपाय दो वातोंमें वटा है—एक स्वाध्याय हो और एक सत्सग हो तो उससे एक ज्ञानधाराके लिए उत्साह मिलेगा। भीतरमें यह प्रेरणा मिलेगी कि मैं अपने ज्ञानको ऐसा बनाऊँ कि मैं ज्ञाता द्रष्टा रहू, किसी को अपना न समझूँ, जान जाये कि ये भी हैं कोई। घरमे रहने वाले पुत्रादिक ये भी जीव हैं, ये धन वैभव, ये मकान महल, ये ठाठ वाट सब मुझसे न्यारे हैं, जब देह भी मेरा साथ देने वाला नहीं है तो फिर और कुछ क्या साथ देगा? इस प्रकारके विचार बना कर मोह ममताका परित्याग करें। सत्संगति और स्वाध्यायका विशेष उपक्रम करके हम अपने आत्मस्वभावका संस्कार बनायें, उसका दर्शन करने की प्रेरणा लेते रहें तो यह हमारे जीवनमे एक अपूर्व साधना बनेगी।

रत्नत्रयसे सत्प्रकृतियोंके बन्धनका अभाव और रागसे बंधनकी सिद्धि—श्रावकजन जो कुछ भी धर्मप्रवृत्ति करते हैं भक्ति दया दान नियम सयम आदिक इन सबमें जितने अशमे वैराग्य है, रत्नत्रय है उतने अंशसे इसके बन्धन होता है, गुणस्थानोंके अनुसार मुनीश्वरोंके जहाँ रत्नत्रयकी आराधना है अर्थात् जहाँ वे अपने आत्मस्वभावको निरखते हैं, उसका उपयोग बनाते हैं, उसमे स्थिर रहनेका यत्न करते हैं तो वे मुनिजन भक्ति दान शील उपवास देव गुरु शास्त्रकी सेवा आदिक शुभोपयोग भी करते हैं। तो यह जो शुभोपयोग है, यह जो देव आयु जैसी पुण्य प्रकृतियोंका बध कराता है और जो उनका अपने आत्माके अन्दरमें लगाव है वह लगाव कर्मनिर्जरा कराता है। तो जो देव आयुका वध मुनिजनोंके हो जाता है उसमे रत्नत्रय कारण नहीं है, किन्तु शुभोपयोग कारण है। यह बात अवश्य है कि रत्नत्रय हुए बिना सर्वार्थसिद्धि आदिक विमानोंमे उत्पत्ति नहीं हो सकती। उस बधमें रत्नत्रय कारण नहीं किन्तु जो राग चल रहा है उस रागसे बन्धन है। तो जैसे तीर्थंकर आदिक पुण्य प्रकृतियोंका बध रत्नत्रयके सम्बन्धसे होता है ऐसे ही जो विशिष्ट पुण्य प्रकृतियाँ हैं चक्रवर्ती आदिककी ये भी सम्यग्दृष्टिके होती हैं, फिर चाहे चक्रवर्ती होकर सम्यक्त्व न रहे, नारायण जैसी पदवी को जो प्राप्त करते हैं उनको भी सम्यक्त्व हुआ था लेकिन पीछे कुछ निदान बाँध लिया, कुछ डिग गए और नारायणका भव पाकर विशेष राज्योंमें विषयोंमें मस्त हो गए, तो बिगाड़ कर लिया, मगर उच्चसे उच्च वैभव सम्यक्त्वके होने पर प्राप्त होता है। सासारिक वैभव भी सम्यग्दृष्टि पा सकता है मिथ्यादृष्टि नहीं।

एकस्मिन् समवायादत्यन्तविरुद्धकार्ययोरपि हि।
इह दहति घृतमिति यथा व्यवहारस्तादृशोऽपि रूढिमित ॥२८॥

एक वस्तुमें विरोधी दो कार्योंका मेल होने से वैसा ही विरुद्ध व्यवहार रूढ़िको प्राप्त है अर्थात् एक ही आत्मामें रत्नत्रय भी है और शुभोपयोग भी है अर्थात् दोनों का मेल है और होता है उनसे पुण्यप्रकृति का बध तो यों रूढ़िसे कह देते कि देखो सम्यग्दर्शन हो तो उसको ऐसी पुण्य प्रकृतिका बध होता, पर पुण्य प्रकृतिका बंध सम्यग्दर्शनसे होता है। जैसे घी जला देता है अग्निके सम्बन्धसे तो उस समय वहाँ दो का मेल है। घी भी है और उष्णता भी है तो लोग यों कह देते हैं कि देखो घी ने कैसा अन्न जला दिया, पर घी के नीचे जो अन्न है वह तो जलानेका कारण नहीं। उसमें जो उष्णताका सम्बन्ध है वह जलानेका कारण है, ऐसे ही रत्नत्रयका जो निजी गुण है वह तो बंधका कारण नहीं किन्तु उसके साथ जो

शुभोपयोग और अनुरागका सम्बन्ध है वह जलाता है, मगर व्यवहार यह हुआ कि जैसे घी ने जला दिया ऐसे ही देखो सम्यक्त्वके होने पर जहाँ और-और चीजें बतायी हैं कि सराग संयम करना, दया दान करना और इनके बारेमे कहते हैं कि ये देव आयुका बंध कराते हैं, वहाँ यह मानना कि सम्यक्त्व भी देव आयुके बंधका कारण है। वह व्यवहार भाषामें लिखा है। उसका अर्थ यह लगाना चाहिए कि सम्यक्त्वके होने पर यदि किसी आयुका बंध हो तो देव आयुका बंध होगा नरक तिर्यञ्च मनुष्यकी अपेक्षा। देव सम्यग्दृष्टि हो तो उसके मनुष्य आयुका वध होगा। हाँ नारकी सम्यग्दृष्टि है तो उसके भी मनुष्य आयुका वध है, और मनुष्य है सम्यग्दृष्टि तो उसके देव आयुका बंध है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये गुण भी किसी भी प्रकृतिके बंधके कारण नहीं हैं। तीर्थंकर प्रकृतिका बंध सम्यक्त्व नहीं कराता। सम्यक्त्वके होने पर जो समस्त प्राणियोंके उद्धारकी भावना है, ये कैसे संसारके संकटोसे छूटें, छूटनेका एक थोडा ही तो उपाय है अपने आत्माकी ओर उन्मुख होना, इतना नहीं किया जा रहा है इन जीवोंसे। यह दृष्टि प्राप्त हो, सबके प्रति ऐसी करुणा जगती है उसके कारण तीर्थंकर प्रकृतिका बंध होता है।

स्वभावमे वन्धकताका अभाव--यहाँ यह निर्णय रखना कि मेरे आत्माका स्वभाव निर्बाध है, स्वभाव वधके लिए नहीं है, स्वभाव मुक्तिके लिए है उस स्वभावका लगाव, उस स्वभावका परिचय, उस स्वभावमें रमना, ये सब बंध छुडानेके लिए हैं, वध करानेके लिए नहीं हैं। यदि स्वभावका विकास ही बंधका हेतु वन जाय तो फिर मुक्तिका क्या उपाय है? अपने आपके उस स्वभावको दृष्टिमें लेना जो सदा मुक्त है, सहज मुक्त है यह मुक्तिका उपाय है। अनादिकालसे अब तक हम रुलते चले आये लेकिन स्वभाव की कला अगर देखो तो वह स्वभाव तो सदा ही विकारसे मुक्त है। चैतन्यमें विकार आया है पर स्वभावमें विकार नहीं आया। जैसे जलमें तो गरमी आयी है पर जलके स्वभावमें गरमी नहीं आयी, जो जल गरम हो गया अग्निपर रखने से अदहन हो गया तो जलमें तो गरमी आयी, पर जलके स्वभावमें गरमी नहीं वसी है। अगर जलके स्वभावमें गरमी हो जैसे कि अग्निके स्वभावमें गरमी है तो फिर जलको भी सदा गरम रहना चाहिए पर ऐसा है नहीं। कितना भी गरम जल रखा हुआ हो पर लोग उसे ठडा कर लेते हैं। जो भी उस जलको ठडा करते हैं उनके चित्तमें यह बात बसी हुई है कि यह जल स्वभावसे ठडा है। अगर यह बात चित्तमे वसी न हो तो जलको कोई ठंडा क्यों करे? तो जैसे जल गरम हो तो भी उस जलका स्वभाव ठडा रहना है इसी प्रकार जीवमें विभाव आते हैं विकार होते हैं पर जीवके ये स्वभाव नहीं है। कितने ही विकार हममे आ गए हों फिर भी हम उद्धारके पात्र हैं, हम फिर भी विकारोंसे छूट सकते हैं, हम अपनी शान्तिका मार्ग बना सकते हैं। क्यों वना सकते है कि विकार मेरे स्वभावमें न थे, न हैं, न होंगे। प्रत्येक पदार्थ अपने स्वभावसे अपने स्वरूपसे अपने ही रूप रहते हैं तो जलमें जैसे गर्मी बन रही है, जल पीवेंगे तो मुँह जल जायेगा उस जलसे नहावेंगे तो शरीर जल जायेगा, इतनी गरमी है जलमें, मगर जलके स्वभाव पर जब हम दृष्टि देते हैं तो यह कहना होगा कि जलके स्वभावमें गरमी नहीं है और यह बात सबको विदित है, चाहे इन शब्दोंमें न कह सके पर जानते सब हैं तभी तो गरम जल को परातमे फैलाकर पखासे ठडा कर लेते हैं। उनको भीतरमें यह परिचय है कि जलके स्वभावमें गरमी नहीं है तब वे उस गरमीको हटा देंगे। जो यह जानते हैं कि जलके स्वभावमें गरमी नहीं है वे ही पुरुष जलको ठडा बना सकते हैं। इसी तरह जो जानते है कि मेरे आत्माके स्वभावमे विकार नहीं है वे ही पुरुष ऐसा उत्साह बना सकते है कि इन विकारोंको हटा दे। अविकारस्वभावी आत्मतत्त्वका ध्यान करके अपने को विकार रहित परिणतिमें ला दे, यह उत्साह उनके ही हो सकता है जिनका यह दृढ निर्णय है कि आत्मामें विकार आ जाते हैं पर आत्माके स्वभावमे विकार कभी नहीं आते। यों विकारस्वभावी चैतन्य-स्वरूपकी उपासनासे ही हमारा उद्धार होगा, शान्ति मिलेगी।

बन्धनका मूल राग—हम यहाँ लोगोंको क्या देखें, इन लोगोंसे क्या आशा करें, इनमें अपने नामकी इज्जत पोजीशनकी क्या धुनि बनायें, ये लोग कोई भी मेरा हित न कर देंगे, ये कोई मेरे रक्षक नहीं हैं, मेरा आत्मा ही मेरा रक्षक है, उसकी दृष्टि बने तो मुझे शान्ति है। सभी परिस्थितियोंमें मुझे शान्ति होती है अपने अविकारस्वभावी आत्मतत्त्वको निरखने से। चीज यहा यह आ पड़ती है कि दो धारायें साथ चल रही हैं—कर्मधारा और ज्ञानधारा। कर्मधारा है अज्ञानी जीवकी और ज्ञानधारा है ज्ञानी जीव की। ज्ञानी पुरुषके ज्ञानकी वृत्ति चल रही है और रागवृत्ति भी। तो जब हम उस अज्ञानकी व त देखते हैं और कर्मबंध भी होता है यों भी निरखते हैं तो रूढ़िसे हम ऐसा कह देते हैं कि देखो ज्ञानीके भी कर्मबन्ध हुआ। अरे वहाँ यह कहो कि रागमें बन्ध हुआ। जितने अशमें राग है उतने अशमें बध है और जो ज्ञान है उस ज्ञानदृष्टिसे उसमें बंध है नहीं। तो यों निरखना कि जितना हमारा लगाव है आत्मा की ओर वह पुरुषार्थ तो मोक्षका कारण है और जितना हमारे बाह्य भक्ति, दया, दान, नियम, सयममें अनुराग बना है वह बधका कारण है। मेरे आत्मस्वरूपका लगाव कभी भी बधका कारण नहीं हो सकता है। ऐसा निर्णय रखना और अपने अविकारी स्वभावकी प्रतीति रखना, जिसके बलसे हम अविकारी परिणति बना सकते हैं।

सम्यक्त्वबोधचारित्रलक्षणो मोक्षमार्ग इत्येष'।
मुख्योपचाररूप' प्रापयति परमपदं पुरुषम् ॥२२२॥

अपने,आपके सहजस्वरूपकी रुचि होना और इस ही सहजस्वरूपका उपयोग बनाये रहना, इस ही में अपने आपको मग्न करना यह ही एक मोक्षका उपाय है। इसे निश्चय रत्नत्रय कहते हैं। ऐसा पुरुषार्थ साक्षात् मोक्षमार्ग है, तत्काल शान्तिको देने वाला है और ऐसा ही अनुभव करने वाले पुरुष जब इसमें नहीं टिक पाते हैं तो उनकी वृत्ति अष्ट अग रूप सम्यग्दर्शनकी होती है और अष्टाङ्ग सम्यग्ज्ञानकी और तेरह प्रकारके सम्यक्चारित्रकी वृत्ति होती है उसे व्यवहार रत्नत्रय कहते हैं। रत्नत्रय इस आत्माको उत्कृष्ट पदमें पहुचा देता है। इस आत्माको अपने आपमें बसे हुए इस परमात्मतत्त्वकी भक्ति उत्पन्न होती है। उसके भव भवके बाँधे हुए कर्मोंकी बेड़िया टूट जाती हैं। अपने आपके उस परमात्मस्वरूपको अपने उपयोगमें विराजमान कर इसका ही वह भक्त स्तवन करता है। हे नाथ! तेरे दर्शन बिना अब तक ससारमें अनन्त काल जन्म मरण किया, मैंने बाहरमें विकल्प कर करके सभी का समागम किया, पर तेरे स्वरूपको जाने बिना अशान्ति नष्ट न हो सकी। हे नाथ! हे आत्मस्वरूप, हे शुद्ध ज्ञान दर्शन, हे विशुद्ध चैतन्य! अपने आपमें विराजमान हे चित्प्रकाश! तेरा आलम्बन लिए बिना जगत्में और कहीं मंगल नहीं है। तू ही मङ्गलस्वरूप है, तेरा ही शरण वास्तविक शरण है। बाहरमें कहा आशा करूँ? किसको प्रसन्न करनेकी चेष्टा करूँ, बाहरमें कोई मेरा प्रभु नहीं, कोई मेरा रक्षक नहीं। है ही नहीं कोई, किन्तु हे निजस्वरूप, तू भी एक ऐसा शरणभूत तत्त्व है कि तेरे लिए यदि मैं सर्वस्व समर्पित कर दू अर्थात् तेरी भक्तिमें सर्व कुछ त्याग कर दू तो तू ऐसा शरण है कि हे प्रभु! सदाके लिए मेरे सकट दूर हो सकते हैं।

आत्मस्वरूपको प्रसन्न करनेकी विधेयता—भैया! आत्मस्वरूपको प्रसन्न करने के लिए उद्यम करना चाहिए। बाहरमें किसी को राजी करके कुछ प्राप्त न होगा। अपने आपको अपना स्वरूप अपने आपकी दृष्टिमें रहेगा, मैं इसके निकट बसा रहा करूँगा तो मुझे शान्ति है, मुझे सब कुछ शरण है। आत्मतत्त्व की लगन नियमसे उत्कृष्ट पदको प्राप्त करा लेती है। यह विषयोंकी लगन चतुर्गतिमें भ्रमण कराकर दुःखी कर रही है, यह जीव केवल लगन ही कर सकता है और क्या करेगा? इन असार सांसारिक भोगोंमें लगन करके तो अशान्ति मिलेगी और दुर्गतिमें भ्रमण करना पड़ेगा। अपने आपके केवल ज्ञानज्योति-

स्वरूपमें लगन करेंगे, उसके निकट रहनेका यत्न करेंगे तो शान्तिकी प्राप्ति होगी। यही एक विशुद्ध मार्ग है। जहाँ इन चर्मचक्षुवोंको पसारकर इन नेत्रोंसे निरखकर बाहरमे लगाव किया और बाहरके लोगो को अपना कुछ हितकारी जानकर उनको प्रसन्न करने के लिए धनी बननेकी होड़ की, कुलवान बननेकी होड़ की और नाना विकल्प किया बस समझिये कि पर्यायबुद्धिके कारण मैंने अपना सब कुछ गंवा दिया। मोह में इस जीवको जो चीज बरबादीका कारण है वह प्रिय लगती है और जो संसारके सकटोंसे छुटानेका कारण है, शान्तिका कारण है वह चीज इसे अप्रिय लगती है। यह सब इस मोह मिथ्यात्वका विषपान करनेका फल है। धन्य हैं वे जीव जो वीतराग होते हैं जिनकी देव देवेन्द्र तक भी समवशरण आदिक विभूति बनाकर उनका अर्चन प्रणाम करते हैं। महत्त्व तो वीतरागताका है। विषय और रागके आचरण का क्या महत्त्व ? जब ज्ञान जगता है तब परिचय होता है। शास्त्रोंमें बहुत कहते सुनते आये कि पञ्चेन्द्रियके विषय असार हैं और मनका विषय लोकेषणा, लोकमें अपनी कीर्ति चाहना, ये सब विषय असार हैं। सुनते चले आये, ज्ञान होने पर स्पष्ट भान होने लगता है कि बस वास्तवमें ये समस्त छः विषय असार हैं, आत्माकी बरबादीके कारणभूत है। जब उपेक्षा होती है, अपने आपके स्वरूपके निकट यह आता है और अपने अनादि कालके बन्धनको दूर करके परमपद प्राप्त करता है।

नित्यमपि निरुपलेपः परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२३॥

नित्यनिरुपलेपपरमपुरुषका परमपदमे अवस्थिता—यह नित्यकर्मरूपी रजसे रहित होकर, अपने स्वरूपमें अवस्थित होकर अत्यन्तनिर्मल यह परम आत्मा एक आकाशकी तरह परमपदमें प्रकाशमान होता है। जैसे आकाशमें धूल नहीं चिपटती, आकाश निर्लेप रहता है इसी प्रकार जो अपने आत्माके स्वरूपके दर्शन करते हैं, अपने आपके स्वरूपके निकट बसते हैं ऐसे पुरुष भी निर्लेप रहते हैं और कर्म नोकर्मके बन्धन को समाप्त करके सदाके लिए निरावरण सदा आनन्दरूप परमपदमें निवास करते हैं। अपने आपके निकट बसनेकी सारी महिमा है, बाहरमें किसी पदार्थकी ओर अपना उपयोग लगानेसे ये सारी विडम्बनाएँ हैं। इतना ही उपदेशका मर्म है कि अपनी ओर दृष्टि लगायेंगे तो आनन्दमग्नताका लाभ है, और परकी ओर दृष्टि लगायेंगे तो केवल बन्धन है, कर्मबन्ध है, आकुलता है, यह बात अनुभव करके देख लो, अपनी ओर बसनेमें, परके विकल्प हटानेमें शान्ति लाभ होता है या नहीं और परकी चिन्ता रखने में, परकी जिम्मेदारी रखने में, परकी दृष्टि आलम्बन करने में इस जीवको अशान्ति लाभ है या नहीं। इतनी मात्र दृष्टि हो कि मैं कुछ लोगों को बताऊँ, उद्धार करूँ, कुछ समझाऊँ इतने तकमें तो अशान्ति है, फिर जो विशेष दृष्टि बने बाहरकी ओर तो उनकी अशान्तिका तो कहना ही क्या है ? स्वरूपमें अवस्थित रहना इतना मात्र शान्तिका उपाय है, फिर बाहरमें क्या होता है, कितना धन रहता है, गरीबी आती है, कोई परिस्थिति होती है तो क्या होता है ? जो होता है सो हो। यही है एक बड़ा भारी त्याग। बाह्यवस्तुवोंकी उपेक्षा करके अपने आत्मस्वरूपकी लगनमें लगना यह है एक बहुत बड़ाभारी त्याग, बहुत बडा भारी बलिदान। इन समस्त आरामोंकी ममता छूटे, इस शरीरके संस्कारोंकी वासना छूटे और एक सहज ज्ञानस्वरूपकी उपासनामें चित्त लगे यह तो एक उत्कृष्ट तपश्चरण है, अपने आपमें एक महान् पुरुषार्थ किया गया है, यही तारने वाला पुरुषार्थ है, बाकी तो और सब गप्पसप्प है, विडम्बना है, कहा चित्त लगाया जाय, किसको प्रसन्न किया जाय, किसके ढिग रहकर अपने को शरण कर लिया जाय ?

कृतकृत्यः परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नन्दति सदैव ॥२२४॥

कृतकृत्य परमानन्दनिमग्न ज्ञानमय परमात्मतत्त्वका अभिनन्दन—अपने आपके ज्ञानस्वरूपकी रुचि हो,

मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकारका ज्ञान हो और ऐसी ही अपने स्वरूपमें लीनता हो तो यह जीव कृतकृत्य हो जाता है। जब कभी भी ज्ञान हो कि मैं बाहरी पदार्थोंमें कुछ कर नहीं सकता, वे भी अपनी सत्तासे परिपूर्ण हैं, मैं अपने सत्त्वसे परिपूर्ण हूं, मेरा द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मुझमें है, परका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव परमें है, एकका स्वरूप दूसरेमें नहीं जाता, क्योंकि सभी पदार्थ स्वरूपतः सत् और परिपूर्ण हैं, तब फिर यह मैं आत्मा जो कुछ कर सकता हूं सो अपने भावोंका परिणमनमात्र कर सकता हूं, भला करूँ बुरा करूँ, शुद्ध करूँ, निर्लेप करूँ, जो कुछ कर सकता हूं अपना परिणमन कर सकता हूं। बाहरी पदार्थमें तो मैं कुछ कर ही नहीं सकता। एक जब ऐसा निर्णय होता है तो कृतकृत्य तो यहीं बन गया, मेरे को बाहरमें कुछ करने को रहा ही नहीं, जो कुछ करता हूं सो अपने आप करता हूं। इतनी बुद्धि आने पर ही यह जीव कृतकृत्यताका अनुभव करता है, तो यह जीव कृतकृत्य होकर कर्मोंसे जब रहित होता है उस समयकी स्थिति बतलाते हैं कि लोकमें समस्त पदार्थ सत् और असत् उसके ज्ञानमें स्पष्ट झलकते हैं और वह परमात्मा परम आनन्दमें निमग्न है, ये संसारके आनन्द, विषयोंके आनन्द ये बड़े धोखे से भरे हुए हैं, इस जीवको कुछ मौजका लोभ दिखाकर इसे बेसुध करते हैं, ये विषयोंके आनन्द इस जीवको जन्म मरणकी परम्परामें रुलाने वाले हैं। इन समस्त धोखा वाले विषयोंके आनन्दसे रहित केवल एक आत्मीय आनन्दमें जो अतिशयरूपसे मग्न है वह परमात्मा केवल ज्ञानस्वरूप, कर्म है नहीं, शरीर है नहीं, रागादिक विकार हैं नहीं, केवल एक ज्ञानका ही विकास है, ऐसा ज्ञानमय वह मुक्त आत्मा सर्वोपरि उत्कृष्ट जो मोक्षपद है उसमें निरन्तर ही आनन्दको भोगता रहता है। वे गुरु जो कर्मोंसे रहित हो जाते हैं वे क्या करते हैं ? उनके ज्ञानमें सारे विश्वका ज्ञान जानने में आता रहता है और विशुद्ध परमआनन्द का अनुभव करते रहते हैं, और कुछ नहीं करते। विकल्प विभाव विचार वहाँ नहीं हैं, एक विशुद्धस्वरूप रह गया। यही विकास मेरा हो ऐसी भावना करें। लोकमें मेरा चमत्कार हो, प्रकाश हो, लोग मुझे कुछ समझें, मेरा महत्त्व हो अथवा कुछ परदृष्टि बनाकर अपने को रीता करके कुछ बोलना चालना ये सारी बातें अनर्थ हैं, अर्थभूत हैं तो एक अपनी दृष्टि और विशुद्ध आनन्दका जो अनुभव है। वही प्रकट हो। यही एक अपना लक्ष्य हो, इसीके लिए जीवन है।

स्वहितमें अपना लक्ष्य, विचार और प्रयत्न—अपना लक्ष्य यह बने कि हे प्रभु मैं अपने स्वरूपमें बसूँ और अपने स्वरूपका ही अनुभव करूँ। बाहरमें मैं कुछ नहीं चाहता, क्योंकि चाहने से लाभ क्या? अन्तमें सब छूटेगा। इन बाहरी पदार्थोंसे कुछ भी शान्ति नहीं है, निराकुलता नहीं है, विह्वलता ही है। यह लौकिक प्रशंसा लौकिक ठाठबाट यह चमत्कार ये सब भी मेरे शत्रुरूप बनते हैं। मैं अपने आपमें रहूं। मुझे कोई मत जानो। मैं भी किसी को न जानूँ, किसी को न मानूँ, अपने आपमें ही गुप्त रहकर अपने आपमें ही स्थिर रहूं, ऐसी स्थिति मिले तो सब कुछ मिला। यह स्थिति न मिली तो कुछ न मिला। बड़े बड़े देवेन्द्रोंकी विभूति, बड़े-बड़े सम्राटों की विभूति, आखिर इनमें सार क्या है ? परकी ओर दृष्टि देना बस यही तो असार काम है, यही विरुद्ध, अपवित्र, मलिन काम है। जब इतनी मलिनता वहाँ बस गई तो वहाँ शान्तिका उदय कैसे हो सकता है ? नियमसे परकी दृष्टि आकुलता रूप ही होती है, वह अशान्तिका बीज ही है। स्वदृष्टि बने, परकी उपेक्षा हो, परकी लगन मिटे, अपने सहजस्वरूपकी लगन बने, केवल इस भावनाको करते हुए अपना जीवन गुजारिये। श्रावक हुए, परिवारका समागम मिला तो भी क्या चिन्ता ? सभी जीव अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं उनका उदय विपरीत है तो मैं चाहे जितना प्रयत्न करूं पर वे सुखी नहीं हो सकते और यदि उनका उदय अनुकूल है तो सहज ही ऐसा योग मिलता जायेगा कि उनका वैभव बढ़ता जायेगा। सभीके साथ कर्म लगे हैं फिर किसकी चिन्ता करना, किसका जिम्मेदार समझना ? अरे आत्मन्! तू अपना ही जिम्मेदार मान, तू अपना ही अपनेमें कुछ कर सकता

है, बाहरमें तेरा कुछ भी अधिकार नहीं। अधिकार समझना केवल कल्पना है, भ्रम है, विकल्प है, सो तू इस कल्पना और भ्रमको ही कर रहा है, बाहरमें और कुछ नहीं कर रहा है। जैसे मुक्त आत्मा इसही आत्मीय पुरुषार्थको करके सदाके लिए संकटोंसे मुक्त हो गए, ऐसे ही तू भी आत्मीय पुरुषार्थ करने की धुन रख और दूसरा लक्ष्य मत कर।

एकेनाकर्पन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥२२५॥

परमहितकरी जैनी नीति--निश्चय रत्नत्रय है अपने सहजस्वरूपका दर्शन ज्ञान और आचरण। व्यवहार रत्नत्रय है निःशंकित आदि अंगोंका पालन। विनय आदिक सम्यग्ज्ञानके अंगका पालन, महाव्रत आदिक सम्यक्चारित्रके अंगका धारण। हमें निश्चयरत्नत्रयका सहारा लेना है या व्यवहाररत्नत्रयका सहारा लेना है ऐसी कोई विवाद वाली समस्या सामने आये तो उसका समाधान स्याद्वादसे कर लेना। व्यवहाररत्नत्रय भी जीवके भलेके लिए है और निश्चयरत्नत्रय भी जीवके भलेके लिए साक्षात् है। जैसे कोई मक्खन बनाने वाली महिला दहीको विलोती है तो उस मथानीमें जो रस्सी लगी है उसको एक हाथ से वह महिला खींचती है और दूसरे हाथसे रस्सी को ढीला करती है। इस प्रक्रियासे अर्थात् उस मंथनसे सार चीज जो मक्खन है वह बनता है और अन्तमें उन दोनों रस्सियोंको छोड़कर उस मक्खनका संग्रह वह महिला कर लेती है, इसी प्रकार वस्तुके स्वरूपके मथनके लिए एक नयका खींचना दूसरे नयका गौण करना, फिर उस नयका खींचना दूसरे नयका गौड़ करना, यों मुख्य और गौणरूप नयोंकी दृष्टि करके वस्तुस्वरूपका मथन होता है। किसी नयका एकान्त करके वस्तुस्वरूप नहीं मथा जाता है लेकिन सब तरह से वस्तुस्वरूपका निर्णय करके अन्तमे करना क्या होता है कि समस्त नयवादोंकी रस्सी को छोड़कर उस मथानीको भी एक ओर टिकाकर एक अनुभवरूप सार एक मक्खनको ग्रहण कर लेना चाहिए। नयवाद तो आत्माका अनुभव कराने के पहिले सार्थक है। केवल नयोंमें ही फसे रहना यह तो मुमुक्षुका प्रयत्न नहीं होता। नयोंका निर्णय करना, फिर समस्त नयोंका त्याग कर एक उस विज्ञात तत्त्वके अनुभवमें लगना, तो जिस प्रकार दही को विलोने वाली महिला दही मथते समय मथानी की रस्सीको एक हाथसे खींचती और दूसरे हाथसे ढीला करके मक्खन तैयार करती है और बादमें दोनों रस्सियोंको छोड़कर एक मक्खनका संचय करती है, इसी तरह समझना कि यह जिनवाणी द्रव्यार्थिकनयसे वस्तुके शाश्वत स्वरूपको दिखाती है। पर्यायार्थिकनयसे वस्तुके उस परिणमन स्वरूपको देखते हैं, इन दोनों नयोंसे वस्तुके पूर्ण स्वरूपका यथार्थ दर्शन होता है, इस तरह सब कुछ जान लेने पर यह मुमुक्षु नयवादका परिहार करके एक आत्मानुभवके अनुभवमे प्रवेश करता है, इससे कोई एकान्त न करना। व्यवहाररत्नत्रय हेय ही है ऐसा एकान्त न करना। अरे उसके ही प्रसादसे तो एक निश्चयरत्नत्रयके पात्र बने हैं, उसकी साधनामें लगे हैं, उसका अनुभव करते हैं। तो जिस पदवीमें जिस जगह जो कुछ उपयुक्त होता है ठीक है, अपना एक लक्ष्य यथार्थ बना लें और यथार्थ लक्ष्य करके केवल एक ही अपना ध्येय बनायें। मुझे तो सर्व विकल्प-जालोंसे रहित होकर केवल एक ज्ञातादृष्टा रहनेकी स्थिति बनाना है, यह काम जिन्होंने किया उन्हें चाहे दुनियाका कोई जानता हो या न जानता हो, इससे क्या, वह तो एक परम आनन्दका अनुभव करता है और सदाके लिए संकटोंसे छूट जाता है। इस श्रावकाचारमें पूज्य अमृतचन्द्रसूरिने श्रावकोंका आचरण अहिंसाके उपदेशमें बताया है कि देखो रागरहित ज्ञानानन्दस्वरूपका विकास हो उसका नाम अहिंसा है। उस अहिंसाकी सिद्धिके लिए पंच प्रकारके पापोंका त्याग करना बताया है। व्रत नियम संयम समाधिमरण आदिक सभी उस अहिंसाकी सिद्धिके लिए बताये हैं, ऐसा श्रावकाचारका वर्णन करनेके पश्चात् अन्तमें एक छन्द द्वारा आचार्यदेव अपने आतमभाव बतलाते है।

वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि।
वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः ॥२२६॥

ग्रन्थकारका तत्त्वमर्मसूचक लघुताप्रदर्शन—यह शास्त्र मैंने नहीं बनाया किन्तु वाक्योंने बनाया। यह भावशास्त्र जो एक विचारमें उपस्थित होता है वहाँ पर भी वाक्य हैं जिन अन्तर्जल्पोंसे बोलते हुए यह भाव भापता है और ये द्रव्य शास्त्र जो इन अक्षरोंमें पाये गए, इनमें भी वाक्य बसे हुए हैं, इन वाक्योंने इस पवित्र शास्त्रको बनाया, मैंने नहीं बनाया। अमृतचन्द्रसूरि अपने आपको ज्ञानमात्र आत्मा निरखकर यह कह रहे हैं। वह तो ज्ञानमात्र है मेरा कर्तापन तो केवल मेरे भावों तक ही है। अपने भावोंका निर्माण कर लेना इतना ही मात्र आत्माका काम है। ये शास्त्र जो बने हैं वे वाक्योंसे बने हैं और ये वाक्य बने हैं तो पदोंसे बने हैं, जिनमें स्वर व्यञ्जन व नाना प्रकारकी विभक्तियां हैं। ये पद नाना प्रकार के अक्षरोंसे बने हैं। अपने आपको ज्ञानमात्र अमूर्त अनुभव करने वाले अमृतचन्द्र जी सूरि ग्रन्थरचना के बाद यह कह रहे हैं कि यह ग्रन्थ बन गया, इसमें मैंने कुछ नहीं किया। यह सब वर्णोंका समूह है, पदोंका समूह है, वाक्योंका समूह है। कोई इस पुस्तकको ही शास्त्र माने तो इस शास्त्रका रचने वाला स्याही अक्षर है। कोई इस अक्षर स्याही को ही शास्त्र माने तो वहाँ यह ही उपादान है, कोई अपने भावों को शास्त्र माने तो उसके वे भाव ही उपादान हैं। मैंने कहां क्या किया? मैंने तो केवल अपने भाव भर किया। यों ग्रन्थकार अपनी यथार्थता इस छंदमें कह रहा है। इसको हम एक लघुताके रूपमें भी देख सकते हैं कि आचार्य महाराज इतना विस्तृत विवेचन करने के बाद भी अपनी लघुताको प्रदर्शित कर रहे हैं कि मैंने इस ग्रन्थमें क्या किया? लेकिन केवल लघुताप्रधानकी ही बात नहीं, ये आचार्यदेव अपने ज्ञानप्रकाशमें ठहरकर यथार्थ कह रहे हैं कि मैंने शास्त्र नहीं किया। जब मैं वचनोंका भी कर्ता नहीं, ये वचन भाषावर्गणासे उत्पन्न होते हैं तो शास्त्रका मैं क्या करने वाला हूं? इस प्रकार ज्ञानमात्र अपने का अनुभव करने वाले अमृतचन्द्र सूरि अपने को कृतकृत्य अनुभव करते हुए और मुझे कुछ करना न था, करना भी नहीं है, यों परमविश्रामकी तैयारीके साथ इस ग्रन्थको समाप्त कर रहे हैं। यह मैं आत्मा ज्ञानमात्र हूं, ऐसा ही अनुभव करना सो इस पुरुषके परमप्रयोजनकी सिद्धिका उपाय है अर्थात् समस्त संकटोंसे छूटनेका एक यही मार्ग है कि अपने आत्माको जानना और अपने ही आत्मासे लगन रखना।

❀ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय प्रवचन तृतीय भाग समाप्त ❀

मुद्रक—मैनेजर, जैनसाहित्य प्रेस, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

की

प्रबन्धकारिणी समितिके सदस्य

•••०•••

पुस्तकें मगाने का पता —

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला,

१८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ० प्र०)

मुद्रकः—मैनेजर, जैन साहित्य प्रेस, १८५ ए, रणजीतपुरी, सदर मेरठ।